भारतीय दर्शन का इतिहास

निखिलमनुजचित्तं ज्ञानसूत्रैर्नवैर्यः
स्रजमिव कुसुमानां कालरन्ध्रैर्विधत्ते ।
स लघुमपि ममैतं प्राच्यविज्ञानतन्तुं
उपहृतमतिभक्त्या मोदतां मे गृहीत्वा ।।

जो मनुष्य मात्र के हृदयों को समयरूपी छिद्रों में होकर पुष्प माला के समान पिरोये हुए नये नये ज्ञान-तंतुओं द्वारा निबद्ध करता है, वह परम शक्ति मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित पूर्वीय ज्ञान राशि का यह सूत्र तुच्छ होते हुए भी गृहण करने की अनुकम्पा करे ।

भारतीय दर्शन का इतिहास

भाग–१

लेखक

एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

कलानाथ शास्त्री

सुधीरकुमार

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
उपलब्ध कराए गए कागज़ से निर्मित।

प्रथम अनूदित संस्करण : 1978
Bhartiya Darshana Ka Itihas

मूल्य : 20·00

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-302004

मुद्रक :
शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस
अलवर-301001

भूमिका

भारत की प्राचीन सभ्यता–कला, स्थापत्य, साहित्य, धर्म, नीति तथा विज्ञान–जितना कि वह तब तक विकसित हो पाया था–इन सबका एक समन्वित मूर्त रूप था। किन्तु भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि थी दर्शन। यही समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक गतिविधियों का चरम लक्ष्य माना जाता था तथा विविध प्रकार की जातियों वाले इस विशाल भूभाग की सामासिक संस्कृति में जो विविधता है–उसमें एकता तथा तादात्म्य स्थापित करने वाला यही एक विन्दु था। यदि भारत की इस एकता को ढूंढना है तो वह आपको न तो विदेशी आक्रमणों के इतिहास में प्रतिबिम्बित मिलेगी न समय-समय पर हुए विभिन्न राज्यों के उद्भव में, न किसी भी महान् सम्राट् के साम्राज्य-विस्तार में। वास्तव में यह एकता हमारी प्राचीन संस्कृति की एक आत्मिक आकांक्षा का फल थी, उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के महत्वबोध का फल थी–जो अन्य सभी मूल्यों की बजाय कहीं अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे–और यह भावना विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनों के युगों की लम्बी यात्रा के बाद आज भी यों की यों जीवन्त है।

जिन आक्रमणकारियों ने इस भूमि पर कब्जा किया और जनता पर शासन किया चाहे वे यूनानी हों, हूण हों, शक हों, पठान हों या मुगल हों, वे यहां के जनमानस पर शासन नहीं कर पाए। ये राजनीतिक उथल-पुथलें इसी तरह आती और जाती रहीं जैसे तूफान आता और जाता है, मौसम आते और जाते हैं–एक सामान्य प्राकृतिक या भौतिक घटना के रूप में, जिसका प्रभाव हिन्दू संस्कृति की आध्यात्मिक एकता पर कभी नहीं पड़ा। यदि आज कुछ शताब्दियों की निष्क्रियता के बाद भारत में पुनः एक चेतना आ रही है तो वह उसकी अपनी मूलभूत एकता, प्रगति और सभ्यता की अपनी थातियों के बल पर है न कि किन्हीं ऐसे मूल्यों की वजह से जो उसने किसी अन्य देश से उधार लिए हों। इसीलिए जो कोई भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा क्षमताओं का सही अध्ययन करना चाहता हो उसके लिए यह अनिवार्य सा हो जाता है कि वह भारतीय विचार दर्शन के इतिहास का सही अर्थों में अध्ययन करे क्योंकि वही एक धुरी है जिसके चारों ओर भारत के उन मूल्यों का विकास होता रहा है जो यहाँ की सर्वोत्तम उपलब्धि कही जा सकती हैं। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के प्रचार ने पहले ही बहुत बड़ी हानि कर रखी है कि भारत की संस्कृति और भारत का दर्शन स्वप्निल और अमूर्त है। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि भारत के लोग तथा बाहर के लोग भारतीय वैचारिक इतिहास के वास्तविक स्वरूप से अधिकाधिक अवगत हों तथा इसके विशेष तत्वों का सही मूल्यांकन कर पाएँ। किन्तु भारत का सही अर्थों में तात्पर्य समझने के लिए या भारत के विचारों के इतिहास के अभिलेख के रूप

में भारतीय दर्शन का अध्ययन आवश्यक हो केवल यही बात नहीं है--दरअसल आधुनिक युग में जिन समस्याओं पर आज भी दार्शनिक विचार मंथन होता रहता है उनमें से अधिकांश ऐसी हैं जिन पर किसी न किसी रूप में प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने भी विचार किया है। उन विचारकों के विमर्शों, कठिनाइयों तथा निष्कर्षों पर यदि हम आज की आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में दृष्टि डालें तो आधुनिक विचारों के भावी इतिहास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का पुनः प्रकाश में लाना और उनके महत्व और संदर्भों की व्याख्या आधुनिक दर्शन के क्षेत्र में उतने ही महत्व की युगान्तरकारी घटना सिद्ध हो सकती है जितनी संस्कृत भाषा की खोज आधुनिक भाषाशास्त्रीय अनुसंधान के क्षेत्र में सिद्ध हुई है। यह खेद की बात है कि अब तक भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के पुनर्निर्वचन और पुनर्मूल्यांकन का कार्य व्यापक पैमाने पर प्रारम्भ ही नहीं हो पाया है। कुछ अपवादों को छोड़कर संस्कृत पंडितों ने भी इस महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा ही की है क्योंकि अधिकांश पंडितों की रुचि दर्शनों की अपेक्षा पुराणों में, भाषाशास्त्र में या इतिहास में अधिक रही है। वैसे बहुत बडी संख्या में महत्वपूर्ण मूल ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है और उनमें से कुछ का अनुवाद भी हुआ है। इस प्रकार कुछ काम तो हुआ है किन्तु संस्कृत के दार्शनिक वाङ्मय में उच्च स्तर की शास्त्रीय संज्ञाओं का प्रयोग होने के कारण, जो अनुवादों में भी प्रयुक्त हुई हैं, इन अनुवादों में से अधिकांश उन पाठकों लिए दुर्बोध हैं जो इन शास्त्रीय संज्ञाओं से परिचित नहीं हैं।

इस दृष्टि से प्रमुख दर्शन शाखाओं का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भारतीय दर्शन का एक समूचा सामान्य विवेचन उन पाठकों के लिए आवश्यक हो जाता है जो किसी एक दर्शन शाखा का और अधिक गहन अध्ययन करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त दर्शन में रुचि लेने वाले सामान्य पाठकों के लिए एवं पाश्चात्य दर्शन के अध्येताओं के लिए भी जिनको किसी विशेष भारतीय दर्शन-शाखा का विशिष्ट अध्ययन करने की इच्छा या समय नहीं है किन्तु जो भारतीय दर्शन के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसी पुस्तक आवश्यक हो जाती है। 'द स्टडी आफ पतंजलि' तथा 'योग फिलोसफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टम्स आफ थाट' नामक मेरी दो पुस्तकों में मैंने सांख्य और योग दर्शनों का विवेचन, उनके अपने सिद्धान्तों तथा अन्य दर्शनों से उनके सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए, करने का प्रयत्न किया है। अब यह प्रस्तुत ग्रन्थ इन दर्शनों के तथा अन्य समस्त दर्शनों के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के विवेचन तथा उनके पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन विशेषकर उनके विकास के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उनकी समीक्षा करने का प्रयत्न है। मैंने जितना सम्भव हो सका, मूल ग्रन्थों के ही पदांकों पर चलने का प्रयत्न किया है तथा संस्कृत और पाली की उन संज्ञाओं को भी उन अध्येताओं की सुविधा के लिए दे दिया है जो इस ग्रन्थ के मार्गदर्शन में आगे और अध्ययन करना चाहते हैं। इन संज्ञाओं का प्रारम्भिक ज्ञान तो अध्येता के लिए

निश्चय ही आवश्यक है ताकि वह दार्शनिक सिद्धान्तों के आधारभूत तत्वों को सही त रह से समझ सके ।

संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादान-शैली तथा विभिन्न विषयों के विवेचन की पद्धति किसी भी आधुनिक दर्शन ग्रन्थ की शैली से बिल्कुल विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। इसलिए पहले मुझे प्रत्येक दर्शन शाखा के विभिन्न ग्रन्थों से सामग्री संकलित करनी पड़ी और फिर मैंने उन सबके आधार पर पूरी दर्शन शाखा का एक ऐसा स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया जो संस्कृत ग्रन्थों की शैली से अपरिचित पाठक के लिए भी सुविधा से बोधगम्य हो सके ।

इसके बावजूद भी मैंने उस स्थिति को बिल्कुल अवांछनीय समझा है कि भारतीय चिन्तन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि वह योरपीय ही लगने लगे । यदि किसी योरपीय पाठक को इस पुस्तक में कुछ स्थल कठिन या विचित्र लगें तो उसका प्रमुख कारण यही है । किन्तु भारतीय चिन्तकों के सिद्धान्तों और अभिव्यक्तियों को सही रूप में प्रस्तुत करते हुए मैंने उन्हें इस प्रकार की व्यवस्थाबद्ध पद्धति में समन्वित करने का प्रयत्न भी किया है जो उनके संकेतों और आशयों के अनुरूप प्रतीत हुई । ऐसा बहुत कम हुआ है जबकि किसी भारतीय संज्ञा को पाश्चात्य दर्शन की संज्ञा से अनूदित किया गया हो और ऐसा तभी किया गया जबकि वे पाश्चात्य संज्ञाएँ भारतीय संज्ञाओं के आशय के निकटतम जान पड़ी । अन्य सभी स्थानों पर मैंने अनुवाद के रूप में उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो किसी विशिष्ट तकनीकी अर्थों में रूढ़ नहीं हुए हैं और निरापद हैं । यह काम कठिन होता है क्योंकि जो शब्द दर्शन में काम आते हैं वे कोई न कोई पारिभाषिक अर्थ अवश्य ले लेते हैं । इसलिए पाठकों से निवेदन है कि उन शब्दों को वे उनके अतकनीकी और अप्रतिबद्ध अर्थों में ही लें तथा जिन संदर्भों में वे प्रयुक्त हुए हैं उनके अनुरूप ही उन्हें समझें । किसी अध्याय में यदि कोई बात अस्पष्ट और दुरुह लगे तो उसका समाधान ध्यानपूर्वक पुनः पढ़ने से हो सकता है ऐसी मेरीआशा है, क्योंकि कई बार अपरिचय भी सही अवबोध के मार्ग में बाधा बन जाता है । यह अवश्य हो सकता है कि कई जगह जहाँ संक्षेप अनिवार्य हो गया हो, पूर्ण व्याख्यात्मक विवेचन नहीं हो पाया हो । इन दर्शनों में भी कभी-कभी ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं क्योंकि कोई भी दर्शन शाखा कठिन और दुरुह स्थलों से मुक्त नहीं रह पातीं ।

यद्यपि मैंने वेदों और ब्राह्मणों के युग से ही आरम्भ किया है किन्तु उसका विवेचन संक्षिप्त ही है । वैसे भी दार्शनिक चिन्तन के विकास का प्रारम्भ यद्यपि परवर्ती वैदिक सूक्तों में प्रतिबिम्बित मिलता है तथापि उस समय वह इतना सुव्यवस्थित नहीं था ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यद्यपि अधिक सामग्री है किन्तु उस युग के चिन्तन के बिखरे सूत्रों को अधिक विस्तार देना मैंने उपयुक्त नहीं समझा । उपनिषद् काल पर मैं अधिक

विस्तार से लिख सकता था किन्तु उस विषय पर योरप में अनेक पुस्तकें पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं और जो लोग विस्तार में जाना चाहते हैं वे उन्हें अवश्य देखेंगे। इसलिए मैंने अपने आपको पूर्ववर्ती उपनिषदों की प्रमुख धाराओं तक ही सीमित रखा है। अन्य चिन्तन-धाराओं का विवेचन दूसरे भाग में अन्य दर्शन-शाखाओं की व्याख्या करते समय किया जाएगा जिनसे वे अधिक सम्बद्ध हैं। यह स्पष्ट होगा कि प्रारंभिक बौद्ध दर्शन के विवेचन में कुछ स्थलों पर मैंने सर्वांगपूर्ण व्याख्या नहीं की है। उसका प्रमुख कारण यह है कि तत्संबंधी ग्रन्थों की प्रकृति सर्वांगपूर्ण नहीं रही है क्योंकि वे बुद्ध के बहुत समय बाद संवादों के रूप में लेखबद्ध किए गए थे जिनमें दर्शनोचित सुसम्बद्धता और शास्त्रीयता आवश्यक नहीं समझी गई थी। यही कारण है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की समस्याओं के निर्वचन के बारे में आधुनिक बौद्ध विद्वानों में अनेक मत उद्भूत हो गए हैं और निष्पक्ष रहते हुए उनमें से किसी भी एक को अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता। वैसे भी, इस ग्रन्थ का उद्देश्य भी यह नहीं है कि ग्रन्थों के ऐसे मत-मतान्तरों का अधिक विस्तृत विवेचन किया जाए, तथापि अनेक जगह मैंने स्वयं अपने मत भी प्रतिपादित किए हैं। वे सही हैं या गलत इसका निर्धारण मैं विद्वानों पर ही छोड़ता हूँ। किसी मत पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ करने का अवकाश इस ग्रन्थ में नहीं था किन्तु आप यह अवश्य पाएँगे कि दर्शन शाखाओं के मेरे निर्वचन कुछ स्थलों पर योरपीय विद्वानों द्वारा किए गए उनके निर्वचनों से विभेद रखते हैं, यह बात मैं उस विषय के विशेषज्ञों पर छोड़ता हूँ कि हममें से कौन अधिक सही हैं। बंगाल के नव्यन्याय पर मैंने अधिक नहीं लिखा है जिसका कारण स्पष्ट है। नव्यन्याय का मुख्य स्वरूप यही है कि पारिभाषिक अभिव्यक्तियों में लक्षणों को ऐसे यथार्थ और तकनीकी शब्दों में परिभाषित किया जाए कि तार्किक निर्वचन और शास्त्रार्थ में वही कसावट बनी रहे। इनकी शब्दावली का अँग्रेजी में अनुवाद करना लगभग असंभव ही है। फिर भी मैंने दार्शनिक दृष्टि से इसमें जो भी महत्वपूर्ण विशेषताएँ पाईं उन सबको शामिल कर लिया है। विशुद्ध तकनीकी स्वरूप के शास्त्रार्थों की इस प्रकार के ग्रन्थ में कोई सार्थकता भी नहीं थी। अन्तिम छः अध्यायों में विभिन्न दर्शन-शाखा की जो पुस्तक सूची दी गई है वह स्वतः पूर्ण नहीं है, केवल उन ग्रन्थों की सूची है जिनका वस्तुतः अध्ययन किया गया था उन अध्यायों के लिखने में जिनसे सहायता ली गई। उन स्थितियों में ग्रन्थों की पृष्ठ संख्या का भी हवाला सामान्यतः दे दिया गया है जिनमें निर्वचन में मतभेद सम्भावित है या जहाँ यह प्रत्याशित है कि मूल ग्रन्थ के संदर्भ लेने से विषय और स्पष्ट होगा या जहाँ आधुनिक लेखकों के मतों को भी शामिल किया गया है।

यहाँ मुझे माननीय महाराजा सर महेन्द्र चन्द्र नन्दी के. सी. आई. ई. कासिम बाजार, बंगाल के प्रति विनीत कृतज्ञता ज्ञापित करने में बहुत प्रसन्नता हो रही है जिन्होंने कृपापूर्वक इस ग्रन्थ के दोनों खण्डों के प्रकाशन के सम्पूर्ण व्ययभार को वहन करने की सहर्ष स्वीकृति दी है।

इन महाराजा ने शैक्षणिक और अन्य महत्वपूर्ण कार्यों का अपनी उदार दानशीलता द्वारा जो उपकार किया है वह इतना महान् है कि इस गरिमामय व्यक्ति का नाम आज बंगाल के घर-घर में आदर से लिया जाता है। अब तक वे 3 लाख पौण्ड दान कर चुके हैं जिनमें से 2 लाख पौण्ड शिक्षा के लिए ही हैं। इनका व्यक्तित्व इन दान कार्यों की अपेक्षा भी कहीं अधिक महान् है। इनका उदात्त चरित्र, विश्वजनीन बन्धुत्व भावना, उदारता, सहृदयता, सबने उन्हें सच्चे अर्थों में बोधिसत्व ही बना दिया है। मैंने ऐसे उदात्त व्यक्तित्व बहुत कम देखे हैं। बंगाल के अन्य अनेक विद्वानों की भांति मुझ पर भी उनका उपकार-भार है क्योंकि उन्होंने मेरे अध्ययन, शोध आदि को जितना प्रोत्साहन दिया है उसके लिए मैं किन शब्दों में उनका आभार और कृतज्ञता व्यक्त करूँ, नहीं जानता।

इस पुस्तक के प्रूफ पढ़ने में मेरे आदरणीय मित्र डा. ई. जे. टामस (केम्ब्रिज विद्यालय पुस्तकालय) तथा श्री डगलस ऐनसली ने भी जो श्रम किया है और मेरी अँग्रेजी में भी कई जगह सुधार किया है उसके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। डा. टामस ने अनेक संस्कृत शब्दों के अनुलेखन में भी सहायता की तथा अनेक स्थलों पर महत्वपूर्ण सलाहें दीं, विशेषकर पुनर्जन्म के कारण के बौद्ध सिद्धान्त की व्याख्या को तो मैं उनके साथ हुए लम्बे विचार-विमर्श की ही देन मानता हूँ।

मेरे मित्र स्वर्गीय श्री एन. के. सिद्धान्त एम. ए. (स्काटिश चर्चेज कालेज) का भी मैं कृतज्ञ हूँ और मदाम पाल पोवी का भी, जिन्होंने अनुक्रमणिका बनाने में सहायता की। इस ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस के अभिषद् सदस्यों ने भी मुझे उपकृत किया है। उन्हें भी धन्यवाद।

भारतीय दर्शन के उन अध्येताओं से जो यह ग्रंथ पढ़ने की कृपा करें और इसमें दोष और कमियां पाएँ, मैं हेमचन्द्र के शब्दों में यही निवेदन कर सकता हूँ—

प्रमाण-सिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥*

ट्रिनिटी कालेज, कैम्ब्रिज,
फरवरी 1922

एस. डी.
(सु. दासगुप्ता)

---

* अपनी मन्दमति के कारण मैंने यहाँ प्रमाण और सिद्धान्त के विरुद्ध यदि कुछ कह दिया हो तो उस पर बुरा मानने की बजाय उदारचेता विद्वान् उसका शोधन करने की कृपा करें।

विषय-सूची

अध्याय–१

प्रारंभिक

अध्याय–२

वेद, ब्राह्मण और इनका दर्शन

अध्याय–३

प्रारम्भिक उपनिषद

अध्याय–६

जैन दर्शन

अध्याय–७

कपिल एवं पातंजल सांख्य (योग)

अध्याय–८

न्याय-वैशेषिक दर्शन

अध्याय—९

मीमांसा दर्शन

अध्याय–१०

शंकर का वेदान्त दर्शन

अध्याय १

प्रारंभिक

दर्शन के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय विचारकों की उपलब्धियों के बारे में समूचे विश्व में आज जितनी सी जानकारी है वह नितान्त अपूर्ण है और यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वयं भारत में स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं है। ऐसे हिन्दू पंडित तथा एकान्त में कहीं शान्त जीवन बिता रहे सन्यासी विद्वान् बहुत थोड़े से होंगे जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् हैं पर उन्हें भी अंग्रेजी नहीं आती तथा आधुनिक विचार-प्रक्रिया से भी वे अवगत नहीं हैं। उन्हें यह भी पसंद नहीं कि वे दर्शन का ज्ञान सर्वसाधारण तक पहुँचाने हेतु जनभाषाओं में किताबें लिखें। योरप एवं भारत की विभिन्न विद्वत्संस्थाओं, विद्वात्परिवारों और विद्वानों के प्रयत्नों के फलस्वरूप संस्कृत तथा पाली के अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है, उनमें से कुछ का अनुवाद भी हुआ है किन्तु उनके अध्ययन तथा सही मूल्यांकन की दिशा में विद्वानों द्वारा अब तक कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किया गया। भारतीय दर्शन की प्रत्येक प्रणाली पर सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हैं पर उनके शतांश का भी अनुवाद नहीं हो पाया है। योरपीय विचारधारा से हमारे भारतीय दर्शन की अभिव्यंजना शैली जिसमें कठिन दार्शनिक संज्ञाएँ बहुत आती हैं, इतनी भिन्न हैं कि पाश्चात्य भाषाओं में उनका बिल्कुल सही अनुवाद हो पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए संस्कृत से अनभिज्ञ किसी भी व्यक्ति के लिए केवल अनुवाद से उस दार्शनिक विचार सरणि को सही सही मायनों में पकड़ पाना असम्भव सा ही है। पाली संस्कृत की अपेक्षा सरल है पर पाली केवल बौद्ध दर्शन के उन प्रारम्भिक मतों की जानकारी में ही सहायक हो सकती है जो उस समय अर्द्ध-दर्शन की सी प्रारंभिक अवस्था में थे। संस्कृत सामान्यत: एक कठिन भाषा ही समझी जाती है किन्तु जिसे वैदिक संस्कृत या सामान्य संस्कृत भाषा का ही परिज्ञान हो उसे दार्शनिक ग्रन्थों में प्रयुक्त तार्किक एवं जटिल संस्कृत शब्दशैली का कोई अन्दाजा नहीं हो सकता। चाहे वेदों, उपनिषदों, पुराणों, धर्मशास्त्रों तथा काव्यों का किसी को पर्याप्त ज्ञान हो, साथ ही योरपीय दर्शनशास्त्र का भी पूर्ण ज्ञान हो फिर भी उसके लिए गूढ तर्कशास्त्र के, ऊँचे ग्रन्थ के या द्वैतवेदान्त के किसी ग्रन्थ के एक वाक्य का समझना भी पूर्णत: असम्भव होगा। इसके दो कारण हैं—एक तो बहुत संक्षिप्त सूत्रात्मक पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग तथा अन्य प्रणालियों के पारिभाषिक सिद्धान्तों के उनमें छिपे संदर्भ। यद्यपि संस्कृत दर्शन की यह एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है कि दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट तथा निश्चितार्थ-बोधक शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त किया जाए किन्तु नवीं शताब्दी

के बाद से स्पष्ट, निश्चितार्थ बोधक तथा अतिसंक्षिप्त अभिव्यक्तियों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ती गई जिसके फलस्वरूप बड़ी मात्रा में दार्शनिक पारिभाषिक संज्ञाएँ उद्भूत होती गई। इन संज्ञाओं की अलग से कोई व्याख्या भी नहीं की गई, यह माना जाता रहा कि जो पाठक दर्शन ग्रन्थों को पढ़ता है वह इनका अर्थ जानता ही होगा। प्राचीन काल में जिस किसी को भी इन ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ करना होता, वह किसी गुरू की सहायता लेता जो उसे इन पारिभाषिक संज्ञाओं का अर्थ समझाता। गुरू को यह ज्ञान अपने गुरू से मिला होता था और उसे फिर अपने गुरू से। दर्शन के ज्ञान को जन साधारण तक पहुँचाने की कोई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती थी क्योंकि यह धारणा उन दिनों आम थी कि दर्शन के अध्ययन के अधिकारी कुछ चुने हुए लोग ही हो सकते हैं जो अन्य सभी तरह से अपने आपको इसके लिए योग्य सिद्ध कर किसी गुरू से यह शास्त्र सीखे। जिनके पास ऐसी कुव्वत तथा उदार नैतिक शक्ति होती थी कि वे अपना समस्त जीवन दर्शन के सही अध्ययन मनन के लिए निछावर कर सकें तथा उसके तथ्यों को अपने जीवन में उतार सकें -- वे ही इसके अध्ययन के पात्र समझे जाते थे।

एक अन्य कठिनाई जो प्रारम्भिक अध्येताओं को आती है वह यह है कि कई बार एक ही पारिभाषिक संज्ञा विभिन्न दर्शन शाखाओं में नितान्त विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। इसलिए दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक दर्शन में प्रत्येक दर्शन के प्रसंगानुसार पारिभाषिक शब्दों के विशेष रूपों और अर्थों से परिचित हो जिसके लिए उसे किसी शब्दकोश से प्रकाश प्राप्त नहीं हो सकता। विभिन्न प्रयोगों के अनुसार इन शब्दों के अर्थ दर्शनशास्त्र में जैसे-जैसे गति होती है, बोधगम्य होते जाते हैं। विद्वान् एवं पंडित पाठकों को भी दर्शनशास्त्र की जटिल मीमांसा, वाद-विवाद एवं अन्य दर्शनों के दृष्टांतों एवं संकेतों को समझने में कठिनाई एवं मति-भ्रम हो जाता है। क्योंकि किसी भी व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सभी दर्शनों के अन्य सिद्धान्तों का अध्ययन किए बिना ही जानता हो, अतः इन व्याख्याओं एवं मीमांसाओं के प्रश्नोत्तरों को समझने में अत्यन्त कठिनाई प्रतीत होती है। संस्कृत साहित्य में भारतीय दर्शन के मुख्य अंगों का संक्षिप्त वर्णन दो महत्वपूर्ण ग्रन्थों में पाया जाता है। सर्वदर्शन संग्रह तथा हरिभद्र द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्च जिस पर गुणरत्न की टीका है, इनमें से प्रथम ग्रन्थ साधारण कोटि का है और किसी भी दर्शन की जीव विकास विज्ञान अथवा भौतिक ज्ञान मीमांसा सम्बन्धी विचारधाराओ को समझने में विशेष सहायक सिद्ध नहीं होता। कॉवेल और गफ महोदय ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है परन्तु सम्भवतः यह अनुवाद आसानी से समझ में नहीं आ सकती। गुणरत्न द्वारा लिखित टीका जैन तत्वों पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डालती है और कभी-कभी अन्य दर्शन सम्बन्धी एवं तत्कालीन पुस्तक सामग्री के सम्बन्ध में भी टिप्पणियों एवं सूचनाओं के लिए महत्वपूर्ण है परन्तु सिद्धान्तों एवं मतों की मीमांसा अथवा व्याख्या से

सम्बन्धित विशिष्ट प्रकाश नहीं डालती जो भारतीय दर्शन के विशिष्ट अंगों को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः किसी ऐसी पुस्तक के अभाव में जो भारतीय विचारकों की मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय अवधारणाओं और सिद्धान्तों को स्पष्ट कर सके, एक संस्कृत के विद्वान् पंडित के लिए भी जिसको दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का परिचय हो, उच्च दर्शन शास्त्रीय साहित्य को समझना कठिन है। भारतीय दर्शन के अध्ययन में उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति पारिभाषिक शब्दों का परिचय प्राप्त कर लेता है और विभिन्न भारतीय विचारकों की मुख्य स्थापना एवं प्रतिपादन के ढंग को समझ लेता है तो प्रयत्न करने पर उसे कोई विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होगा। प्रारंभिक अध्ययन में जो पारिभाषिक शब्द कठिन प्रतीत होते हैं वे कुछ समय पश्चात् लेखक के सही मन्तव्य और तात्पर्य को समझने में अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होते हैं, साथ ही लेखक के अभिमत के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति या संदेह होने की सम्भावना नहीं रहती। यह सर्वविदित ही है कि पारिभाषिक शब्दों का सम्यक् प्रयोग न होने पर दार्शनिक ग्रन्थ शब्दजाल परिपूर्ण एवं जटिल लगने लगते हैं, साथ ही अर्थ भ्रम की सम्भावना भी रहती है। सुगम एवं सुबोध लेखन एक ऐसा गुण है जो बहुत कम पाया जाता है और प्रत्येक दार्शनिक से इसकी आशा भी नहीं की जा सकती परन्तु जब पारिभाषिक शब्द एवं शास्त्रीय कथोपकथन की पद्धति निर्धारित कर दी जाती हैं तो साधारण लेखक भी सरलता से अपने विचारों को सही सही समझ सकता है। इस पुस्तक में भी ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो विभिन्न स्थलों पर अनेक अर्थों पर प्रयुक्त हुए हैं और जिनके कारण ठीक प्रकार से सही अर्थों को समझने में कठिनाई होती है।

प्रश्न यह है कि क्या भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने की कोई आवश्यकता है? कुछ लोगों का मत है कि सही अर्थ में भारतीय दर्शन नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि भारतीय दर्शन केवल साधारण निष्ठा और विश्वासों पर ही आधारित है और वह साधारण सीमा से ऊपर नहीं उठ सका है। कोर्नेल विश्वविद्यालय के आचार्यफ्रैंक थिली ने अपनी पुस्तक 'दर्शन के इतिहास' में कहा है–'विश्व दर्शन का इतिहास सभी जातियों के विचार दर्शन का इतिहास होना चाहिए। परन्तु सभी राष्ट्रों में क्रमबद्ध वास्तविक विचार दर्शन नहीं पाया जाता और बहुत कम ऐसे देश हैं जिनके वैचारिक विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मिलती है। बहुत से ऐसे हैं जो पौराणिक गाथाओं के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाए हैं। यहाँ तक कि पौर्वात्य राष्ट्रों की जैसे हिन्दू, मिस्री, चीनी संस्कृतियों के दर्शन भी गाथाओं और आचार नियमों के सिद्धान्तों तक ही पहुँच पाए हैं। इन संस्कृतियों में पूर्ण विकसित, क्रमबद्ध तर्कमय विचारदर्शन नहीं पाया जाता। उनका आधार केवल काव्यात्मकता एवं श्रद्धा है अतः हम केवल पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन का प्रयास करेंगे और सर्वप्रथम प्राचीन यूनानी दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ करेंगे जिस पर हमारी संस्कृति कुछ अंशों तक आधारित है।' सम्भवतः ऐसे

और भी व्यक्ति हैं जो भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में अनभिज्ञ हैं एवं इस प्रकार के तथ्य-हीन तथा भ्रामक विचारों से पीड़ित हैं। इस प्रकार से ऐसे भ्रमपूर्ण विचारों के निवारण की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि इस पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है स्वतः ही उनकी शंकाओं का समाधान हो जाएगा। यदि वे संतुष्ट नहीं हो पाते हैं और भारतीय दर्शन के अंगों-पांगों के विषय में और अधिक जानना चाहते हैं तो उन्हें पुस्तक की अनुक्रमणिका में दिए ग्रन्थों का मूल रूप में अध्ययन करना पड़ेगा।

एक ऐसा मत भी है कि अभी भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने का उपयुक्त समय नहीं है इस पर दो विभिन्न दृष्टिकोणों से दो प्रकार से तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसा कहा जाता है। कि भारतीय दर्शन का क्षेत्र इतना विशाल है और इतना विशुद्ध साहित्य प्रत्येक दर्शन के सम्बन्ध में उपलब्ध है कि किसी भी व्यक्ति के लिए मूल स्रोतों से यह सारी सामग्री एकत्रित करना तब तक असम्भव है जब तक विशेषज्ञों द्वारा प्रत्येक दार्शनिक धारा का अलग से समूचा साहित्य सूचीबद्ध न कर लिया जाए। यह कथन कुछ अंशों तक सत्य है। दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण अंगों के ऊपर जो साहित्य उपलब्ध है वह अत्यन्त विशाल है परन्तु उनमें अधिकांश ग्रन्थों में एक से ही विषय का पुनः पुनरनुशीलन है। प्रत्येक शाखा के २०-३० महत्वपूर्ण ग्रन्थ ऐसे छांटे जा सकते हैं जो उस विषय में या उस दर्शन के तात्पर्य को पूर्णतः समझने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। मैंने सदैव सर्वश्रेष्ठ मूल ग्रन्थों का आधार लेकर लिखने का प्रयत्न किया है। स्थान की न्यूनता के कारण केवल महत्वपूर्ण प्रसंगों को ही चुना गया है। कई कठिन तत्त्वों की व्याख्या को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा है। अनेक रोचक मीमांसाओं को भी स्थानाभाव के कारण छोड़ देना पड़ा है। इस बात के लिए मैं क्षमा का भी पात्र हूं कि दर्शन का कोई भी इतिहास सम्पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। इस इतिहास में कई प्रकार की त्रुटियां रह गई हैं जो मुझसे अधिक विद्वान् लेखक के लिखने पर नहीं हो सकती थी। मैं यह आशा लेकर चलता हूं। सम्भवतः इस पुस्तक की त्रुटियों से अन्य विद्वानों को अधिक विद्वत्तापूर्वक पुस्तक लिखने की प्रेरणा प्राप्त होगी। त्रुटियों एवं कठिनाइयों के होने के कारण इस प्रकार का प्रयास करना असम्भव ही मान लिया जाए यह तो उपयुक्त न होगा।

दूसरे, ऐसा कहा जाता है कि शुद्ध ऐतिहासिक अभिलेख और जीवन वृत्तांतों के भारत में उपलब्ध न होने के कारण भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना एक असम्भव कार्य है। इस कठिनाई में भी कुछ अंशों तक सत्यता है लेकिन इससे भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। प्रारंभिक काल में यद्यपि बहुत सी तिथियों का पता नहीं चल पाता है परन्तु कुछ काल पश्चात् तिथियों का आधार स्पष्ट होने लगता है और हम विभिन्न विचारधाराओं के पूर्ववर्ती होने की महत्वपूर्ण मीमांसा या कुछ के परवर्ती होने की सत्य परीक्षा कर सकते हैं। चूंकि दर्शन के अधिकांश अंग एक साथ ही विकसित

हुए और अनेक शताब्दियों में उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं आधार भी विकसित हुए, अतः उनका सरलता से अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार के विकास की विशिष्टता का दिग्दर्शन इस पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। अधिकांश दर्शन धाराएँ बहुत प्राचीन हैं। वे प्रारम्भ में साथ साथ ही अनेक शताब्दियों में परम्परागत क्रमिक रूप से विकसित होती रहीं। इसलिए यह सम्भव नहीं है कि एक दर्शन प्रणाली विशेष को लेकर किसी निश्चित काल और समय में उसकी व्याख्या आसानी से की जा सकती हो और फिर उसका तुलनात्मक अध्ययन किसी दूसरे काल में उस प्रणाली के विकास को लेकर किया जा सकता हो। क्योंकि किसी भी उत्तरकालीन अवस्था में पुरानी या पूर्वकाल में विकसित दर्शन परम्परा का लोप नहीं हुआ केवल इतना ही हुआ कि उत्तर काल में वह दार्शनिक प्रणाली अधिक समन्वित एवं तर्कसंगत हो गई। वह मूल दर्शन के सत्य स्वरूप के निकट तो रही, परन्तु उसका दार्शनिक पक्ष अधिक सुनिश्चित हो गया। पाश्चात्य देशों में ऐतिहासिक विकास के साथ साथ ही दर्शन-शास्त्र की विभिन्न धाराओं में अधिक बौद्धिक एवं तर्कसंगत विकास परिलक्षित होता है परन्तु भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास की परम्परा ऐसी रही है कि उसमें यद्यपि दार्शनिक प्रणालियों की विचारधारा में कोई अन्तर नहीं आया किन्तु कालक्रम से इन विचारधाराओं की प्रणालियाँ सुनिर्धारित होती गई और उन्हें एक निश्चित दिशा प्राप्त होती गई। प्रारंभिक अवस्थाओं में भी उन प्रणालियों का अधिकांश स्वरूप उसी प्रकार विद्यमान था परन्तु वह उस स्वरूपहीन अवस्था में था जहाँ उसका विभेदीकरण कठिन था परन्तु विभिन्न मतों की आलोचना प्रत्यालोचना एवं विचार संघर्ष के कारण इनका स्वरूप निरन्तर सुस्पष्ट, सुनिश्चित एवं सु-समन्वित होता गया। कुछ अवस्थाओं में यह विकास स्पष्टतः दृष्टिगोचर भी नहीं होता और कुछ प्रणालियों के प्रारंभिक स्वरूप या तो लुप्तप्राय हो गए हैं या उनका कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध न होने से उनके स्वरूप के बारे में कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती। जहाँ भी इस प्रकार के विश्लेषण का अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ दार्शनिक पक्ष को प्रमुख रखते हुए उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न मैंने किया है। दार्शनिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए कालक्रम निर्धारणात्मक पक्ष का विश्लेपण भी किया गया है परन्तु दार्शनिक पक्ष को ऐतिहासिक पक्ष की अपेक्षा गौण नहीं माना गया अर्थात् कालक्रम स्पष्ट न होने से दार्शनिक स्थापना का निरूपण न करना उचित नहीं समझा गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि दर्शन साहित्य के विकास के सम्बन्ध में कालक्रम के अनुसार ऐतिहासिक सूचना प्राप्त हो सकती तो बहुत सुन्दर होता परन्तु मेरी निश्चित राय यह है कि जो भी ऐतिहासिक आधार हमारे पास हैं उनके द्वारा दर्शनशास्त्र की विभिन्न प्रणालियों की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में तुलनात्मक एवं पारस्परिक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और उससे हमें काफी सहायता भी मिलती है। भारत में यदि दर्शनशास्त्र के विकास की अवस्था ऐसी होती जैसीकि योरपीय देशों में है तो हमारे लिए ऐतिहासिक

पृष्ठभूमि का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता। जब एक दार्शनिक मत लुप्त होकर दूसरे दार्शनिक मत को स्थान देता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस बात की जानकारी करें कि कौन-सा मत किस मत से पहले प्रादुर्भूत हुआ और कौन पीछे। परन्तु जब दर्शन की विभिन्न प्रणालियाँ एक साथ ही विकसित हो रही हों और जब वे समय पाकर और अधिक समृद्ध और परिष्कृत रूप धारण करती जा रही हों तब उनके विकास का कालक्रम के माध्यम से अध्ययन करना केवल ऐतिहासिक रुचि का ही परिचायक होगा। मैंने दर्शन के विभिन्न अंगों के प्रारंभिक विकास की साधारण विवेचना ही की है जिससे उसके सम्बन्ध में साधारण ज्ञान हो सके। यद्यपि इस पुस्तक में उसकी विस्तृत रूप रेखा देना सम्भव नहीं हुआ परन्तु इससे मेरा विवेचन अपूर्ण सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यदि हम विभिन्न विचारकों के कार्यकाल की तिथियों का विवेचन करें तो भी कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि दर्शन विशेष के प्रत्येक विचारक ने किसी नए मत का निरूपण न कर उसी प्रणाली की व्याख्या करते हुए अपने मत की पुष्टि की है और उसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया है। यह प्रणाली पाश्चात्य प्रणाली से निश्चित रूप से भिन्न है।

भारत में वैदिक साहित्य से प्राचीन और कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। अग्नि, वायु आदि प्रकृति के देवताओं की स्तुति में लिखे मंत्र ही इस साहित्य में पाए जाते हैं और हमारे दृष्टिकोण से इनमें कोई विशेष दर्शन प्राप्त नहीं होता। लेकिन परवर्ती वैदिक वाङ्मय के कुछ सूक्तों में जो सम्भवतः ई० पू० १००० वर्ष के आसपास लिखे गए होंगे, दर्शनशास्त्र के कई ब्रह्मांड विषयक रोचक प्रश्न, काव्यात्मकता और कल्पना से संपुटित, प्राप्त होते हैं। उत्तरवैदिककालीन ग्रन्थ ब्राह्मण एवं आरण्यक हैं। ये ग्रंथ मुख्यतया गद्य में है। इन ग्रन्थों में दो विशिष्ट धाराएँ पायी जाती हैं। पहली में पूजा या कर्म-काण्ड की विधि जो चमत्कारात्मक अधिक थी, सम्मिलित है और दूसरी में कल्पनात्मक ढंग पर कुछ विचारणीय तथ्यों का बहुत साधारणीकरण करते हुए चिन्तन के धरातल पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि चिन्तनात्मक पक्ष बहुत कम है, कर्मकाण्डीय ही अधिक है और यह भी स्पष्ट लगता है कि वैदिक वाङ्मय के परवर्ती भाग में जिन थोड़े दार्शनिक विचारों का परिचय मिलता है उस पर वह अधिकांश वाङ्मय जो कर्मकाण्ड की विधियों के ऊपर विशेष बल देता है, हावी हो गया है और अन्त तक कर्मकाण्ड की मरुभूमि में इस धारा का लोप ही हो गया है। इसके पश्चात् गद्य और पद्य में लिखे उपनिषद् नाम के दर्शन ग्रंथ प्राप्त होते हैं जिनमें एकात्मवादी अथवा अद्वैतवादी विविध दार्शनिक विवेचन पाया जाता है। साथ ही द्वैतवाद एवं बहुलवादी (अनेकेश्वरवादी) विचारधाराओं का भी उल्लेख पाया जाता है। इन विषयों का कोई तर्कसंगत प्रतिपादन नहीं किया गया वरन् इनमें स्थान-स्थान पर उन सत्यों की स्थापना की गई है जिनको शाश्वत सत्यों के रूप में दैवी अनुभूति की भाँति मनीषियों द्वारा देखा गया है और जिनके प्रामाण्य के सम्बन्ध

में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। इनकी भाषा बड़ी शक्तिशाली, ओजमय एवं हृदय-ग्राहिणी है। यह सम्भव है कि इस साहित्य का प्रारंभिक भाग ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से ७०० वर्ष पूर्व तक लिखा गया है। बौद्ध दर्शन बुद्ध के प्रादुर्भाव के साथ ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। यह विश्वसनीय ढंग से कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन १०वीं अथवा ११वीं शताब्दी तक किसी न किसी स्वरूप में विकसित होता रहा। बुद्ध काल और ईसामसीह से २०० वर्ष पूर्व के समय के बीच अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। जैनदर्शन संभवतः बौद्ध दर्शन से पहले उद्‌भूत हुआ। जैन दर्शन अन्य हिन्दू दार्शनिक विचार-धाराओं से कभी निकट सम्पर्क में आया हो ऐसा नहीं लगता, यद्यपि प्रारंभिक काल में बौद्ध दर्शन के साथ इसका कुछ संघर्ष रहा था। उत्तरकालीन वैष्णव दर्शन की कुछ धाराओं को छोड़कर, जैन दर्शन का हिन्दू अथवा बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थकारों ने कहीं भी उल्लेख नही किया। यद्यपि हरिभद्र और गुणरत्नादि कुछ जैन लेखकों ने बौद्ध एवं हिन्दू धर्म का खंडन करने का प्रयत्न किया था। जैन धर्म के अहिंसात्मक रुझान एवं आदर्श के कारण वह स्थिति बन गई हो सकती है किन्तु जैन दर्शन का संघर्ष किसी और दर्शन से नहीं हुआ। इसके निश्चित रूप से क्या कारण थे इसका सही अनुमान लगाना कठिन है। यद्यपि जैन धर्म में आन्तरिक सैद्धान्तिक मतभेद और अनेक पन्थ रहे हैं फिर भी बौद्ध दर्शन की भाँति जैन दर्शन अनेक विपरीत दार्शनिक विचारधाराओं एवं शाखाओं में विभक्त नहीं हुआ है।

इस ग्रंथ के प्रथम भाग में बौद्ध और जैन दर्शन एवं भारतीय विचारधारा के दर्शनों का विवेचन किया जाएगा। हिन्दू धर्म की पुरातन दार्शनिक विचारधारा की छः प्रणालियाँ इस प्रकार हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा (जो पूर्व मीमांसा के नाम से प्रख्यात है) और वेदांत (जिसे उत्तर मीमांसा कहा जाता है)। इनमें से जिनको सांख्य और योग की संज्ञाएँ दी जाती हैं वे वस्तुतः एक ही दर्शन की दो विभिन्न शाखाएँ हैं। उत्तर काल में वैशेषिक और न्याय भी इतने समीप आकर घुल मिल गए कि यद्यपि प्रारंभिक काल में वैशेषिक को न्याय की अपेक्षा मीमांसा के समरूप माना जाता था परन्तु उत्तर काल में वैशेषिक और न्याय लगभग एक ही प्रणाली के रूप में लिखे जाने लगे। अतः न्याय और वैशेषिक की एक साथ ही विवेचना की गई है। इनके अतिरिक्त ९वीं शताब्दी में ईश्वरवादी आस्तिक प्रणालियों का भी प्रादुर्भाव होने लगा था। इसका प्रारम्भ सम्भवतः उपनिषद् काल में ही हो गया होगा लेकिन उस समय शायद इन मतों का विशेष बल आचार विचार और धार्मिक समस्याओं पर रहा होगा। यह असम्भव नहीं कि तत्त्वमीमांसात्मक चिन्तन और सिद्धान्तों से भी इनका सम्पर्क रहा हो लेकिन ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है जिसमें इनका प्रामाणिक ढंग से विश्लेषण किया गया हो। इस सम्बन्ध में सबसे प्रारंभिक ग्रंथ भगवद्‌गीता मिलता है। इस पुस्तक को सही ही, हिन्दू चिन्तन की सर्वोत्तम कृति माना जाता है।

यह श्लोकबद्ध है और धार्मिक, नैतिक एवं आत्मिक समस्याओं के ऊपर व्यापक एवं स्वतत्र ढंग से विचार विमर्श करती है। इसकी विशेषता विचार की किसी विशेष प्रणाली से संबद्ध न होना है। इससे इसकी पद्धति उपनिषदों के काव्यात्मक विवेचन के अधिक निकट लगती है। सैद्धान्तिक मीमांसा की जटिल तार्किक शैली में निबद्ध हिन्दू दर्शन की विवेचना पद्धति से परे हटकर काव्यमय सौन्दर्य से यह सभी के हृदयों को अभिभूत कर देती है। ९वीं शताब्दी के पश्चात् इस बात का प्रयत्न किया जाने लगा कि बिखरे हुए सभी ईश्वरवादी सिद्धान्तों को जो धार्मिक निष्ठाओं के अन्तरंग आधार-सूत्र थे, निश्चित दार्शनिक संज्ञाओं एवं तत्व-मीमांसात्मक सिद्धान्तों में निहित किया जाय। आस्तिकवाद, द्वैतवादी और बहुलवादी (अनेकेश्वरवादी) है और ऐसा ही उन सब दर्शनों की प्रणालियों के बारे में कहा जा सकता है जो वैष्णव दर्शन के विभिन्न मतों के नाम से जाने जाते हैं। अधिकांश वैष्णव विद्वान् इस बात की पुष्टि करना चाहते हैं कि उनकी प्रणाली अथवा उनका मत उपनिषदों के द्वारा समर्थित है अथवा उन मतों का स्रोत अत्यंत प्राचीन उपनिषदों में पाया जाता है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने उपनिषदों की अनेक टीकाएँ लिखीं और साथ ही उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा के आधार पर लिखे हुए महत्वपूर्ण आकारग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के ऊपर भी टीकाएँ लिखने का प्रयत्न किया। इन वैष्णव विद्वानों के ग्रंथों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के आस्तिकवादी ग्रंथ लिखे गए जो अधिकांशतया ढंग के थे। इनका प्रारम्भ भी उपनिषद् काल में ही हुआ माना जाता है। यह शैव और तंत्र प्रणाली के नाम से जाने जाते हैं और इनका वर्णन इस ग्रंथ के दूसरे भाग में किया गया है।

इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि हिन्दू विचारधारा की प्रणालियों का प्रादुर्भाव ईसा मसीह से ६०० वर्ष पूर्व से लेकर २०० अथवा १०० वर्ष पूर्व तक हुआ। इन प्रणालियों का पौर्वापर्य निर्धारण अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-सा दर्शन पहले प्रारम्भ हुआ और कौन-सा बाद में यह बताना कठिन है। इस विषय पर अनुमानतः प्रकाश डालने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया गया है परन्तु यह कहाँ तक सही हो सका है यह पाठक ही निश्चय कर सकते हैं। किसी भी दर्शन प्रणाली की प्रारंभिक अवस्था में उसके मोटे-मोटे सूत्र ही मिल पाते हैं। समय के साथ साथ इन प्रणालियों अथवा तंत्रों का समानान्तर विकास होने लगा। गुरु-शिष्य परम्परा की अविच्छिन्न मर्यादाओं में प्रारंभिक काल से १७वीं शताब्दी तक इन मत-मतान्तरों का ज्ञान अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होता रहा। आज भी प्रत्येक हिन्दू दर्शन की प्रणाली के अपने-अपने नैष्ठिक मतावलंबी हैं परन्तु इनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो इन प्रणालियों के सम्बन्ध में कोई ग्रंथ लिखें। हिन्दू विचारधारा की दर्शन प्रणालियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भूतकाल में जैसे-जैसे नयी जिज्ञासाओं का प्रादुर्भाव हुआ वैसे ही प्रत्येक प्रणाली ने अपने मत की परिपुष्टि के लिए अपने सिद्धान्तों की मर्यादाओं में उनके

समाधान का प्रयत्न किया। जिस क्रम में हमने विभिन्न दर्शनों की विवेचना इस ग्रन्थ में की है वह ऐतिहासिक कालक्रम के आधार पर नहीं बनाया गया है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि सांख्य, योग, मीमांसा दर्शन के प्रारंभिक स्रोत बौद्ध और जैन धर्म के पहले प्रादुर्भूत हो चुके हों परन्तु हमने इनकी विवेचना बौद्ध और जैन धर्म के पश्चात् की है क्योंकि इनकी मुख्य स्थापना करने वाले ग्रन्थ बौद्ध ग्रंथों के पश्चात् लिखे गए हैं। मेरी राय में वैशेषिक दर्शन भी सम्भवतः बुद्ध काल से पूर्व का है परन्तु इसका भी वर्णन बाद में किया गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसका सम्बन्ध कुछ न्याय दर्शन के साथ है और दूसरा कारण यह है कि इसकी टीकाएँ बाद में लिखी गई हैं। मुझे यह निश्चित सा लगता है कि प्राचीन दर्शन वाङ्मय का बहुत बड़ा अंश अब विलुप्त हो चुका है और यदि उसका हस्तगत करना सम्भव होता तो हिन्दू दर्शन के विभिन्न दर्शन अंगों और उपांगों के पारस्परिक आधार, प्रादुर्भाव के समय के वाङ्मय एवं विकास के ऊपर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला जा सकता। परन्तु यह साहित्य अब उपलब्ध नहीं है इसलिए जो कुछ अवशिष्ट है अब उसी से संतुष्ट होना पड़ता है। प्रत्येक दर्शन की व्याख्या करने से पूर्व जिन मूल स्रोतों से मैंने सामग्री प्राप्त की है उनका विवरण साथ ही में दे दिया गया है।

मैंने यह प्रयत्न किया है कि मेरी विवेचना में मूल ग्रन्थों का अनुसरण जितनी अधिक शुद्धता के साथ हो सके किया जाए। इसके कारण कहीं-कहीं अभिव्यक्ति का ढंग विचित्र एवं पुरातन सा गया है परन्तु हिन्दू दर्शन की व्याख्या में मैंने यह उचित समझा है कि पाश्चात्य ढंग की अभिव्यक्ति के अपनाने के स्थान पर भारतीय विचारों के उपयुक्त ही शब्दों का चयन किया जाए। इस सबके होते हुए भी अनेक स्थलों पर आधुनिक दार्शनिक सिद्धान्तों से प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों का साम्य दिखाई देगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मानवीय मस्तिष्क,एक प्रकार की ही बुद्धिसंगत विचारधाराओं से आंदोलित होता है। मैंने किसी भी भारतीय विचारधारा के साथ पाश्चात्य विचार-धारा की तुलना करने का प्रयत्न नहीं किया है क्योंकि यह मेरे लेखन क्षेत्र के बाहर की वस्तु है परन्तु मुझे अपनी धारणाओं को प्रकट करने की अनुमति दी जाय तो मैं यह कहूंगा कि पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों में से बहुत अधिक या अधिकांश सिद्धांत ऐसे हैं जो भारतीय दर्शन में शाश्वत रूप से पाए जाते हैं। मुख्य रूप से केवल दृष्टिकोण की ही विभिन्नता है जिसके कारण एक सी ही समस्याएँ दोनों देशों में विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हुई हैं। भारतीय दर्शन के विकास के मूल्यांकन के सम्बन्ध में मेरे विचार इ ग्रंथ के द्वितीय भाग के अन्तिम अध्याय में निहित हैं।

——∞——

अध्याय २

वेद, ब्राह्मण और इनका दर्शन

वेद और उनका प्राच्य काल

भारतवर्ष के पवित्र ग्रंथ वेदों के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह इण्डो यूरोपियन अर्थात् आर्य जाति का सबसे प्राचीन लिखित साहित्य है। यह कहना कठिन है कि इन संहिताओं के प्रारंभिक भागों का किस काल में उद्भव हुआ। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की तर्क पूर्ण कल्पानाएँ की जाती हैं परन्तु इनमें से किसी को भी निश्चित रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। मैक्समूलर महोदय के मत से इनका काल १२०० ई० पू०, हॉग के मत से २४०० वर्ष पूर्व और बाल गंगाधर तिलक के मत से ४००० वर्ष पूर्व इनका काल माना जाता है। प्राचीन भारतीय मनीषी अपने साहित्य का—धार्मिक अथवा राजनैतिक कृतियों का—किसी प्रकार का ऐतिहासिक लेखा नहीं रखा करते थे। अत्यंत प्राचीन समय से गुरु अपने शिष्यों को इन संहिताओं को कंठस्थ करा दिया करते थे और इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से अलिखित रूप से यह साहित्य अनादिकाल से चला आ रहा है। साधारणतया हिन्दुओं का यह विश्वास है कि वेद, अपौरुषेय साहित्य है अर्थात् यह साहित्य किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है। अतः साधारणतया यह मान्यता रही है कि ये शास्त्र स्वयं भगवान् ने ऋषियों को ज्ञान के रूप में प्रदान किए अथवा मंत्रद्रष्टा के रूप में इन ऋषियों ने स्वयं ही अन्तर्दृष्टि द्वारा इनका अभिव्यंजन किया। इस प्रकार वेदों के सृजन के कुछ समय पश्चात् जन साधारण की यह धारणा हो गई कि ये शास्त्र प्राचीन ही नहीं अनादि भी हैं और सृष्टि के प्रारंभ में अज्ञात समय से ऋषियों ने अन्तः प्रेरणा से प्रभु-प्रदत्त रूप में (इल्हाम के तौर पर) प्राप्त किया।

हिन्दू मान्यताओं में वेदों का स्थान

जिस समय वेदों का सृजन हुआ उस समय भारत में सम्भवतः कोई लेखन प्रणाली प्रचलित नहीं हुई थी लेकिन ब्राह्मणों के अदम्य उत्साह के कारण अपने गुरुओं से मंत्रों को श्रवण कर कंठस्थ किया हुआ यह सारा साहित्य कम से कम लगभग पिछले ३००० वर्षों से बिना किसी परिवर्तन या क्षेपकों के शुद्ध रूप से ज्यों का त्यों विद्यमान है।

भारतीय धार्मिक इतिहास में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए परन्तु सभी हिन्दू वर्गों की वैदिक साहित्य में ऐसी श्रद्धा और विश्वास है कि वेद सभी कालों में उच्चतम शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त करते आए हैं। आज भी हिन्दुओं के जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के सारे संस्कार वेद विहित कर्म-काण्ड के अनुसार सम्पन्न किए जाते हैं। जिन मंत्रों के द्वारा ब्राह्मण आज भी दिन में तीनों समय प्रार्थना करते है वे वही वैदिक मंत्र हैं जो आज से २००० या ३००० वर्ष पूर्व प्रचलित थे। साधारण हिन्दू जीवन की थोड़ी सूक्ष्म समीक्षा करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा का जो विधान उसके जीवन में बाद में प्रवेश कर गया उसकी भी सारी विधि और कर्मकाण्ड प्राचीन वैदिक प्रणाली के अनुसार ही संपन्न किया जाता है। अतः एक कट्टर ब्राह्मण इच्छानुसार मूर्ति पूजा का परित्याग कर सकता है परन्तु वैदिक प्रार्थना अथवा उसके द्वारा वेदविहित उपासना आदि को नहीं छोड़ सकता। आज भी अनेक व्यक्ति हैं जो वैदिक यज्ञादि संस्कारों के कराने और वेद शास्त्र के अध्ययन के लिए प्रभूत धन का व्यय करते हैं। वेदों के पश्चात् जितना संस्कृत साहित्य प्रचलित हुआ उन्होंने अपने सत्य की पुष्टि के लिए वेदों का आश्रय लिया और उन्हीं के प्रमाण को मान्यता देदी। हिन्दू दर्शन की सभी प्रणालियाँ वेदों को आधार मानकर उन्हें विशिष्ट सम्मान देती हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक दर्शन प्रणाली के अनुयायी आपस में इस बात पर वाद-विवाद और संघर्ष करते रहे हैं कि उनकी प्रणाली ही वेद सम्मत है और वेदों के दृष्टिकोण को यथार्थ रूप में स्पष्ट करती है और इसलिए वह दूसरी प्रणालियों से अधिक मान्य है। प्राचीन वेदों के प्रमाणों के अनुसार लिखी हुई स्मृतियों के द्वारा निहित हिन्दुओं के सामाजिक, वैधानिक, पारिवारिक और धार्मिक नियमों का आज भी पालन किया जाता है और यह आवश्यक समझा जाता है कि ये सब नियम वेद विहित ही माने जाते हैं। ब्रिटिश प्रशासन के काल में भी सारे वैधानिक मामलों में जैसे पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकार, दत्तक की प्रथा आदि में जिस हिन्दू संहिता का पालन किया जाता है उसका आधार वेद ही माने जाते हैं। इसकी और अधिक विस्तृत व्याख्या करना अनावश्यक ही होगा। केवल इतना ही कहना काफी होगा कि वेदों को प्राचीन मृत साहित्य न मानकर आज भी काव्य और नाटकादि साहित्य को छोड़कर सारे हिन्दू वाङ्मय का स्रोत माना जाता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी परम्परानिष्ठ हिन्दू जीवन आज भी उसी वैदिक जीवन का प्रतिबिम्ब है जो उसे शाश्वत प्रकाश देता रहा है।

वैदिक वाङ्मय का वर्गीकरण

वैदिक काल के बाद के संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करने वाला किसी भी जिज्ञासु का प्रारंभिक अवस्था में अनेक शंकाओं से विचलित हो उठना स्वाभाविक है।

जब उसे ऐसे अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता है जो सभी वेद या श्रुति की संज्ञा से पुकारे जाते हैं और जिनका विषय और अर्थ भिन्न-भिन्न है। व्यापक अर्थ में वेद किसी एक पुस्तक का नाम नहीं है। उस सारे साहित्य विशेष को इस संज्ञा से पुकारा जाता है जो लगभग २००० वर्ष तक की कालावधि में प्रणीत होता रहा। चूंकि इस साहित्य में दीर्घ अवधि तक विभिन्न दिशाओं में भारतीयों की उपलब्धियाँ निहित हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इनके अनेक स्वरूप पाए जाएँ। अगर हम इस सारे वाङ्मय को भाषा, काल और विषय की दृष्टि से वर्गीकृत करें तो हम इसको चार भागों में बांट सकते है–संहिता अथवा मंत्रों का संग्रह, ब्राह्मण, आरण्यक (वन में लिखे हुए ग्रंथ) एवं उपनिषद्। यह सारा साहित्य जो गद्य और पद्य में है इनको लिखना प्राचीन काल में लगभग पाप माना जाता था अतः ब्राह्मण लोग इसको अपने गुरुओं के मुख से प्राप्त कर हृदयङ्गम किया करते थे। इसीलिए इस साहित्य का नाम श्रुति पड़ा अर्थात् सुना हुआ वाङ्मय।

संहिताएँ

वैदिक मंत्रों के संग्रह अथवा संहिताएँ ४ है–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन सबमें ऋग्वेद प्राचीनतम है। सामवेद का अपना कोई स्वतंत्र रूप नहीं है क्योंकि इसके ७५ मंत्रो को छोड़कर शेष सभी ऋग्वेद से लिए हुए हैं। ये सारे छंद विशेष स्वर और लय के साथ गा कर पढ़े जाने के लिए एकत्रित किए गए हैं और इसलिए हम सामवेद को गेय ग्रंथ कह सकते है। यजुर्वेद में ऋग्वेद के मंत्रों के अतिरिक्त कई मौलिक गद्य भाग है। सामवेद के मंत्र, सोमयज्ञ की विधि और अनुष्ठानों के उद्देश्य से संकलित हैं। यजुर्वेद के मंत्र विभिन्न धार्मिक यज्ञों के कर्म-काण्ड के दृष्टिकोण से संकलित हैं। अतः इसको यजुर्वेद अर्थात् यज्ञीय प्रार्थनाओं का वेद कहा जाता है। इसके विपरीत ऋग्वेद के श्लोक विभिन्न देवताओं की स्तुति के क्रम में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम अग्नि की स्तुति में लिखे हुए श्लोक ऋग्वेद में सूक्त के रूप में संकलित पाए जाते हैं और इसके पश्चात् इन्द्र की स्तुति के मंत्र पाए जाते हैं। अथर्ववेद नाम की चतुर्थ संहिता से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद से काफी समय पश्चात् अथर्व संहिता प्रचलित हुई। प्रो० मैक्डनल महोदय का कथन है कि "यह संहिता ऋग्वेद से पूर्णतः भिन्न तो है ही इसकी विचार धारा असाधारण रूप से आदिमकालीन सी भी लगती है। ऋग्वेद मे एक सभ्य सुसंस्कृत समाज के याज्ञिक अनुष्ठानों के उच्च देवताओं की स्तुति संबंधी श्लोक हैं। परन्तु अथर्ववेद में मुख्यतया जनसाधारण के निम्न वर्ग पर प्रभाव डालने वाले प्रेत-माया, जादू-टोने एवं असुरों की तुष्टि-हेतु लिखे मंत्र-तंत्र हैं। इस प्रकार अथर्ववेद और ऋग्वेद वर्ण्यविषय की दृष्टि से एक दूसरे की पूर्ति करने वाले दो अत्यन्त मुख्य ग्रन्थ हैं।"[1]

---

[1] ए० ए० मेक्डनल हिस्ट्री ऑफ [illegible]

ब्राह्मण ग्रन्थ[1]

संहिताओं के पश्चात् उन ब्राह्मण ग्रन्थों का सृजन हुआ जो निश्चित रूप से एक विभिन्न साहित्यिक वर्ग के हैं। ये गद्य में लिखे गए हैं और इनमें उन विभिन्न अनुष्ठानों का महत्व वर्णित हुआ है जिनसे इस सम्बन्ध में न जानने वाले व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्त होता है। प्रो० मैक्डुनल के मतानुसार–'यह उस काल की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि सारे बौद्धिक क्रिया-कलाप, यज्ञ के महत्व, कर्मकाण्ड और आध्यात्मिकता से प्रेरित हुआ करते थे।' यज्ञ के अनुष्ठानों के संबद्ध विधानों, कट्टरपंथी स्थापनाओं और कल्पनात्मक प्रतीक योजनाओं से ये ग्रंथ भरे पड़े हैं। जब प्रारंभिक अवस्थाओं में वैदिक मंत्रों का उदय हुआ होगा तब सम्भवतः यज्ञ का कर्मकाण्ड इतना कठिन नहीं होगा जितना कि इस काल में पाया जाता है। परन्तु इन श्लोकों के परम्परा द्वारा इस काल तक पहुँचते-पहुँचते अनुष्ठान सम्पादन की क्रिया अत्यन्त जटिल हो गई। अतः यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि यज्ञ की क्रियाओं को ब्राह्मणों अथवा विशेषज्ञ के वर्गों में विभक्त कर दिया जाए। हम यह मान कर चल सकते हैं कि इस काल में वर्ण व्यवस्था का उदय हो रहा था और धार्मिक व विद्वान् पुरुषों के लिए यज्ञ एवं उसके जटिल कर्मकाण्ड ही ऐसे विषय थे जो उनको कार्यरत रख सकते थे। कल्पनात्मक एवं मननात्मक क्षेत्र यज्ञ के कर्मकाण्ड की अपेक्षा गौण हो गया था। उसका फल यह हुआ कि इस काल में प्रतीकवादी अद्भुत याज्ञिक क्रियाओं का सूत्रपात हुआ जो सम्भवतः विश्व में अज्ञानवादियों (नॉस्टिक्स) के अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण काल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व तक रहा है।

आरण्यक ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास के क्रम में आरण्यक ग्रंथ प्राप्त होते हैं जिनका अर्थ है

---

[1] वेबर महोदय, हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर पृ० ११ पर लिखते हैं कि ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—वह जो ब्रह्म की स्तुति संबंधी विषय पर लिखा गया है। मैक्समूलर का कथन है (सेक्रेड बुक्स आव द इस्ट भाग १ पृ० ६६) ब्राह्मण का अर्थ है मूल रूप से जो ब्राह्मणों का उपदेश हो चाहे वह साधारण पुरोहितों द्वारा दिए हुए उपदेश हों अथवा ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा। एगलिंग महोदय कहते हैं कि"—इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण इसलिए था कि वे ब्राह्मणों के मार्गदर्शन और शिक्षा के लिए थे अथवा वे उन ब्राह्मणों के शास्त्रोपदेश थे जो वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड के न केवल विशेष वेत्ता थे परन्तु यज्ञ के ब्रह्मा अथवा पौरोहित्य कर्म करने के अधिकारी थे। परन्तु क्योंकि ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मण ग्रंथ भी वेदों की भांति ही अमानवीय हैं अतः वेबर महोदय का कथन अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

वन में लिखे हुए शास्त्र। ये ग्रंथ संभवत: वयोवृद्ध ऋषियों के लिए लिखे गए थे जो जीवन के अन्य कार्यो से उपरत होकर वन में निवास करने लगते थे और जिनके लिए आवश्यक साधन और सामग्री के अभाव में जटिल कर्मकाण्ड-विधियुक्त अनुष्ठानादि करना सम्भव नहीं था। इन ग्रन्थों में विशिष्ट प्रतीकों या संकेतों पर ध्यान और मनन को अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है और शनैः शनैः ध्यान योग, यज्ञ के स्थान पर, अधिक उच्च स्तर का समझा जाने लगा। मेधावी एवं विद्वान् व्यक्तियों के उच्च समुदाय ने कर्मकाण्ड को निम्न कोटि का समझते हुए सत्य की खोज में दार्शनिक मनन एवं अध्ययन को अपनाना आरम्भ कर दिया। उदाहरण के तौर पर बृहदारण्यक के प्रारम्भ के भाग में ऐसा उल्लेख आता है कि अश्वमेघ यज्ञ में अश्व की बलि के स्थान पर अश्व के विराट् रूप को देखने और उसका प्रतीक के रूप में मनन करना चाहिए, जिसमें उषा को अश्व का सिर, सूर्य को नेत्र और वायु को उसकी प्राणवायु के रूप में मनन करने का उल्लेख है। यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड की क्रियाओं के ऊपर यह निश्चित रूप से ध्यान और धारणा की विशिष्टता को मान्यता प्रदान करता है। इस प्रकार मानसिक चिन्तन एवं ज्ञान को जीवन के लिए परम श्रेय समझा जाना बौद्धिक विकास के क्रम में एक नया अध्याय था, जिसमें वैदिक यज्ञानुष्ठान के स्थान पर आत्मज्ञान, ध्यान एवं दार्शनिक मनन को जीवन का एक चरम लक्ष्य समझा जाने लगा। आरण्यक में विचार स्वातंत्र्य के कारण कर्मकाण्ड की वे शृंखलाएँ जिन्होंने जीवन को आबद्ध कर रखा था, शनैः शनैः छिन्न-भिन्न होने लगी। इस प्रकार आरण्यकों ने उपनिषदों के विकास के लिए उचित पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी, साथ ही वेदों के दार्शनिक मनन का सूत्रपात भी किया जिसके कारण हिन्दू उपनिषद् हिन्दू विचार दर्शन के महान् स्रोत के रूप में विकसित हो पाए।

ऋग्वेद एवं तत्कालीन संस्कृति

ऋग्वेद के मंत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखे अथवा किसी एक युग में रचे हुए प्रतीत नहीं होते। सम्भवत: इनका सृजन विभिन्न कालों में अनेक ऋषियों द्वारा हुआ है और यह भी असम्भव नहीं है कि आर्यो द्वारा भारतीय भूमि में प्रवेश करने से पहले इनकी पूर्व रचना की गई हो। ये श्लोक मुख शास्त्र के रूप में गुरु-शिष्यों की परम्पराओं द्वारा हस्तान्तरित किए जाते रहे और पीढ़ी दर पीढ़ी मनीषी कवियों द्वारा इनमें वृद्धि होती गई। इस संग्रह के अत्यंत विशाल हो जाने के पश्चात् सम्भवत: इसको वह स्वरूप दिया गया जो आज उपलब्ध है अथवा किसी ऐसे स्वरूप में इनको सुव्यवस्थित किया गया होगा जिससे आजकल पाए जाने वाले स्वरूप का विकास हुआ। भारत में आने से पूर्व तक इसके पश्चात भी आर्यो की अनेक कालों की सभ्यता एवं प्राच्य संस्कृति का दिग्दर्शन इस साहित्य से होता है। यह अद्भुत ग्रन्थ जो अत्यन्त प्राचीन

लुप्त सभ्यता का प्रतीक है, अद्भुत सौन्दर्य कला एवं काव्य की अमूल्य निधि है। यह आर्य जाति की प्राचीनतम पुस्तक है और इससे आदिकालीन सभ्यता एवं समाज का परिचय प्राप्त होता है। जीवन निर्वाह के साधनों में से मुख्य उस समय पशुपालन एवं कृषि थे। कृषि के लिए उत्तम हल, गेंती, कुदाल आदि औजारों का प्रयोग ही नहीं किया जाता था वरन् सिंचाई के लिए नहरों आदि का प्रयोग भी होता था। कायगी साहब का कथन है कि–"आर्यों का मुख्य भोजन रोटी के साथ दूध की बनाई विभिन्न वस्तुएँ, मक्खन रोटी सब्जियाँ और फल था। सामिष भोजन का प्रयोग बहुत कम था और सम्भवत: विशेष पर्वों अथवा पारिवारिक उत्सवों पर ही वह प्राप्त होता था। पान सम्भवत: भोजन से अधिक महत्व रखता था।" काष्ठकार, युद्ध के रथ और शकट बनाया करते थे। साथ ही अत्यन्त कलात्मक प्याले एवं मूल्यवान् वस्तुओं का भी निर्माण कलाकार करते थे। कुम्भकार लोहा एवं अन्य धातु कर्मी शिल्प कर्मियों का व्यवसाय विशेष रूप से प्रचलित था। स्त्रियाँ सिलाई, बुनाई एवं चटाई आदि बनाने के कार्यों में कुशल थीं। भेड़ की ऊन से मनुष्यों के लिए वस्त्र एवं पशुओं के लिए झूल आवरण आदि बनाए जाते थे। एक ही जाति के व्यक्तियों के समुदाय अथवा गण उच्चतम राजनैतिक संस्था थी। एक ही वंश के परिवार जिनसे जाति विशेष बनती थी, उस परिवार के मुखिया द्वारा अधिशासित होते थे। राजा लोग वंश परम्परा से बनाए जाते थे परन्तु कहीं-कहीं चुनाव के द्वारा भी राजा बनाने का प्रचलन था। राजाओं की शक्ति सर्वोपरि एवं निरंकुश नहीं थी वरन् जनता के मतानुसार सीमित थी। इस देश में न्याय, अधिकार एवं विधि के सम्बन्ध में बड़े उन्नत विचार प्रचलित थे। कायगी महोदय कहते हैं कि[1] "वैदिक श्लोकों और मंत्रों से यह सिद्ध होता है कि जनता के प्रमुख बुद्धिशाली व्यक्तियों में यह विश्वास जम गया था कि विश्व के अधिपतियों के शाश्वत नियम उतने ही सत्य हैं जितने कि सत्य के पहले आचार एवं नैतिक ऋषियों में उतने ही सत्य जितने प्रकृति के नियम–उनको किसी प्रकार से भंग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अनैतिक कर्म के लिए चाहे वह अनजाने में ही हुआ हो, दण्ड अवश्यंभावी है एवं कुछ दण्ड के बिना पाप का शमन नहीं हो सकता।" अत: यह विश्वास करना ठीक ही है कि आर्यों की संस्कृति उस समय अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुँच गयी थी लेकिन इस उच्चतम संस्कृति का सबसे अधिक प्रकाश उनके कर्म में पाया जाता है जो थोड़े से श्लोकों को छोड़कर लगभग सभी श्लोकों की मुख्य विषय वस्तु है। कायगी के मतानुसार–[2]"ऋग्वेद का अधिकतम महत्व इस अर्थ में है कि वह आर्य धर्म का व्यापक इतिहास है जो प्राचीनतम आदिकाल से लेकर चले आ रहे धार्मिक विश्वासों के जो आदिकालीन धार्मिक चेतनाओं से लेकर पुरुष और परमात्मा सम्बन्धी

---

[1] कायगी रचित ऋग्वेद १८८६ संस्करण, पृ० सं० १३।

[2] कायगी रचित ऋग्वेद १८८६ संस्करण, पृ० सं० १८।

गहनतम श्रद्धा एवं विश्वासों के रूप में विकसित हुए, क्रमबद्ध विकास का परिचय देता है।[१]

वैदिक देवता

ऋग्वेद के सभी मंत्र देवताओं की स्तुति निमित्त लिखे गए हैं। अन्य सामाजिक विषय अत्यंत गौण है, क्योंकि ये भी यदा-कदा देवताओं की भक्ति एवं स्तुति के प्रसंग में प्रयुक्त किए गए है। ये देवता प्रकृति के अनेक स्वरूप और शक्तियों के अधिपति के रूप में वर्णित है अथवा उन शक्तियों को आत्मसात् करने वाले महान् शक्ति-प्रतीक हैं। अत: ग्रीक देवताओं के समान उनका कोई निश्चित स्वरूप अथवा चरित्र नहीं है जैसाकि परवर्ती, भारतीय पौराणिक काल के ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ जैसे वर्षा, आँधी एवं मेघ गर्जन आदि आपस में निकट रूप से संबद्ध हैं और उनके देवता भी समान रूप वाले हैं। विभिन्न देवताओं के लिए एक ही प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया गया है और केवल कुछ विशिष्ट गुणों में ही वे एक दूसरे से भिन्न पाए जाते हैं। उत्तरकालीन पौराणिक गाथाओं में देवताओं की इन उद्भावित प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीकत्व का लोप हो जाता है और एक विशेष व्यक्तित्व एवं मानवीय चरित्र का जन्म होता है जो साधारण मानवों के समान दुःख और सुख की कथाओं के नायक हैं। वैदिक देवता उनसे इस बात से भिन्न हैं कि उनका कोई विशेष व्यक्तित्व नहीं है वे केवल प्रकृति की शक्तियों के परिचायक हैं।

उदाहरण के तौर पर कायगी महोदय के कथनानुसार अग्नि के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन आता है–"अग्नि कोमल काष्ठ में ऐसे सुषुप्त रहती है जैसे किसी प्रकोष्ठ में कोई व्यक्ति। जब तक कि प्रातःकाल काष्ठ खंडों के संघर्षो से उसका आह्वान नहीं किया जाता तब तक वह सहसा अपने तेजोमय स्वरूप में जागृत नहीं होती तब यज्ञकर्ता उसे लेकर समिधा में अग्न्याधान करता है। जब पुरोहित घृताहुति देते हैं तब वह अश्व के समान हिनहिनाती हुई तीव्र गति से आकाश की ओर अग्रसर हो उठती है–इसको ऊँचा उठता हुआ देखकर मनुष्य ऐसे ही प्रसन्न हो उठते हैं जैसे अपनी समृद्धि को देखकर प्रसन्न हो उठते है।" वे उसको देखकर आश्चर्यान्वित हो उठते हैं जब वह विविधवर्णा एवं सुसज्जित होकर चारों दिशाओं को अपने सुन्दर स्वरूप से अतिरंजित कर देती है। ऋग्वेद के मंत्र का अर्थ इस प्रकार है–

अग्नि की तेजोमय प्रकाशयुक्त किरणें सर्वभेदी हैं। उसका सुन्दर मुख और नेत्र सारे सुखों और नेत्रों का मनोरम है। जिस प्रकार जल पर प्रतिबिम्ब रूप में अतिरंजित

---

[१] कायगी रचित ऋग्वेद १८८६ संस्करण, पृ० सं० २८।

होते हुए प्रकाशपुंज तैरते हैं उसी के समान अग्नि की किरणें तेजोमय प्रतीत होती हैं और वे शाश्वत रूप से प्रकाशित होती रहती हैं।[1]

—ऋग्वेद १, १४३, ३।

वे वायुवात का वर्णन करते हुए उसकी स्तुति में कहते हैं—यह कहाँ उत्पन्न हुआ, कहाँ से इसका आगमन हुआ? यह परमात्माओं का जीवन प्राण है। वसुधा का महान् पुत्र है, ये वायु देव स्वेच्छा से जहाँ चाहते हैं विचरण करते हैं। इधर उधर विचरण करते हुए उनकी पगध्वनि हमको सुनाई देती है परन्तु उनका कैसा स्वरूप है वह कोई नहीं जानता।[2]

—ऋग्वेद १६८, ३, ४।

वैदिक कवियों की कल्पना और निष्ठा पृथ्वी एवं आकाश अथवा आकाश से परे स्वर्ग में प्रकृति की अनेक शक्तियों और उसके स्वरूपों को देखकर जागृत हो चुकी थी। इस प्रकार कुछ निराकार देवताओं को छोड़कर जिनका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे, हम इन देवताओं को ३ श्रेणियों में बांट सकते हैं—जैसे पृथ्वी में स्थित देवता, स्वर्ग के देवता एवं अंतरिक्ष के देवता।

बहुदेववाद, एकैकाधिदेववाद एवं एकेश्वरवाद

वैदिक देवताओं के अनेक स्वरूप एवं वर्णनों को देखकर साधारण जिज्ञासुओं की यह धारणा हो सकती है कि वैदिक काल के व्यक्ति बहुदेववादी थे परन्तु मेधावी पाठक सरलता से इस बात को समझ सकेगा कि इस काल में न एकेश्वरवाद था न बहुदेववाद वरन् श्रद्धा और विश्वास का एक ऐसा स्वरूप था जिससे इन दोनों की उद्भूति हुई होगी। बहुदेववाद में जिस प्रकार प्रत्येक देवता की अपनी पृथक् निष्ठा निर्धारित होती है वह स्थिति यहाँ नहीं है। भावनाओं एवं श्रद्धा के प्रवाह के कारण कभी जिस देवता की स्तुति प्रारम्भ होने लगती है वह देवता अन्य सभी पर व्याप्त हो जाता है और अन्य सभी पृष्ठभूमि में चले जाते हैं और नगण्य हो उठते हैं। वैदिक कवि प्रकृति का सच्चा पुत्र था। प्रत्येक रूप उसके लिए अद्भुत था जिससे उनकी श्रद्धा और प्रेम जागृत हो उठता था। कवि आश्चर्यचकित हो उठता है जब वह देखता है कि "साधारण अरुण कपिल धेनु श्वेत मधुर दुग्ध देती है।" सूर्य का उदय एवं अस्त वैदिक ऋषि के उद्गारों को झकझोर देता है। उसका मन सूर्य के अस्त को देखकर आनन्द मग्न हो उठता है और आश्चर्यचकित होकर वह यह वर्णन करता है :

---

[1] कायगी द्वारा रचित, 'ऋग्वेद' पृ० ३५।

[2] वही पृ० ३८।

"बिना किसी बंधन के नीचे जाकर भी; अधोमुख होते हुए भी कैसे आश्चर्य की बात है कि सूर्य नीचे नहीं गिरता, उसके उदीयमान मार्ग के दिग्दर्शक को किसने देखा है।" —ऋग्वेद, ४, १३, ५।

ऋषियों को महान् आश्चर्य होता है और वे कहते हैं—"अनन्त काल से नदियों का प्रकाश से खेलता हुआ जल समुद्र में प्रवाहित हो रहा है फिर भी आश्चर्य की बात है कि समुद्र कभी नहीं भरा। वैदिक काल के व्यक्तियों का मन और बुद्धि दोनों निश्च्छल, सरल एवं कोमल थी। यह काल इतना परिपक्व नहीं था कि वे इन सब देवताओं का एक सुनिश्चित स्वरूप स्थापित करते अथवा इन सब देवताओं के स्वरूपों को एकात्मक करते हुए एकेश्वरवाद की स्थापना करते। प्रकृति की जो भी शक्ति, अपने वरदान एवं सौन्दर्य से उनके हृदय को अभिभूत कर देती थी एवं जिसके प्रति वे कृतज्ञता से भर उठते थे उसके प्रति ही अन्तर्मन से उनके हृदय में श्रद्धा एवं स्तुति जागृत हो उठती थी और उसे वह देवत्व प्रदान कर देती थी। एक विशेष काल में जो देवता उनके मन और हृदय को भक्ति एवं श्रद्धा से आन्दोलित करता था वही उस समय सबसे उच्चतम देवता के रूप में पूजित हो उठता था। वैदिक मंत्रों की इस विशिष्टता को मैक्समूलर ने एकैकाधिदेववाद (हेनोथिजम) या केथेनोथिजम के नाम से वर्णित किया है। जिसका अर्थ है 'एकाकी देवता में से विश्वास जिनमें प्रत्येक समय-समय पर उच्चतम स्थान रखता है और इस प्रकार क्योंकि प्रत्येक देवता अपने विशिष्ट क्षेत्र का अधिष्ठाता है वैदिक पाठकर्ता अथवा कवि मनोकामना पूर्ति के हेतु उन देवताओं का आह्वान करते हैं जिससे उन्हें वरदान मिलने की आशा होती है अथवा यह कहा जा सकता है कि जिनके विभाग में उनकी इच्छापूर्ति होने की सम्भावना है। भक्त उस काल में उस एक ही देवता के प्रति श्रद्धावनत होता है और अन्य सब देवता उस समय उसके अन्तर्मन से दूर हो जाते हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य देवताओं की अवहेलना अथवा तिरस्कार कर रहा है। सभी देवता उसके लिए समान रूप से मान्य हैं परन्तु उसकी भक्ति का विषय उसकी आस्था और मनोकामना के अनुसार एक विशिष्ट देवता मात्र हैं।"[१] मेक्डुनल ने अपनी पुस्तक "वैदिक माइथौलोजी"[२] में इस सिद्धान्त के विपरीत यह धारणा व्यक्त की है जो उचित प्रतीत होती है, किसी भी धर्म में देवताओं के पारस्परिक अन्तः सम्बन्ध का वर्णन इतना किया गया है जितना वैदिक देवताओं में। वैदिक देवता अलग थलग या स्वतंत्र नहीं हैं। वेदों के परम शक्तिशाली देवता भी अन्य देवताओं पर निर्भर हैं अथवा उनके अधीन हैं। जैसे वरुण और सूर्य इन्द्र के वशवर्ती बनाए गए हैं (१-१०१)। वरुण एवं अश्विनो विष्णु की शक्ति से

---

[१] कायगी द्वारा रचित ऋग्वेद, पृ० सं० २७।

[२] वही, पृ० ३३। (हेनोथिजम के बारे में एरोस्मीथ की टिप्पणी देखिए)।

प्रेरित होते हैं (१-१५६)। किसी भी देवता की स्तुति जब सर्वोपरि अथवा एकमात्र शक्तिशाली देव के रूप में की जाती है जैसाकि स्तुतियों में स्वाभाविक भी है तो ऐसे वर्णनों में निहित क्षणिक एकेश्वरवाद उसी मंत्र में रूपान्तरित हो जाता है अथवा प्रसंगानुसार दूसरे मंत्रों में अन्य देवताओं की मान्यता की पृष्ठभूमि पर आकर संतुलित हो जाता है।[1] मेक्डुनल महोदय कहते हैं, हेनोथीइज्म एक काल्पनिक स्वरूप मात्र है, उसमें कोई वास्तविकता नहीं है। यह आभास अनिश्चित एवं अविकसित मानवत्वारोपों के कारण है। ग्रीक देवताओं की भाँति वैदिक देवताओं में कोई भी अन्य समस्त देवताओं के सम्मुख मुख्य अधिष्ठाता के रूप में प्रमुख स्थान धारण नहीं कर पाता जिस प्रकार ग्रीक जीयुस करता है। इसलिए वैदिक पुरोहितों एवं स्तुति कर्ताओं की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वे एक विशेष देवता की असाधारण भक्ति एवं प्रशंसापूर्ण स्तुति करते हैं उसके माहात्म्य के संमुख वे उस समय किसी भी दूसरे देवताओं का कोई ध्यान नहीं रखते। उनका यह विश्वास भी है कि उनके मन में अन्ततोगत्वा सभी देवता एक हैं (देखिए ३.३५ सूक्त का आवर्ती वाक्य) और उनमें से प्रत्येक विशिष्ट देवताओं के एकीभूत प्रतीक के रूप में माना जा सकता है।[2] लेकिन चाहे हम इससे हेनोथीइज्म के नाम से पुकारें अथवा देवता-विशेष की शक्तियों की क्षणिक अतिशयोक्तिमय स्तुति समझें, यह स्पष्ट है कि इस स्थिति को न हम बहुदेववाद के नाम से पुकार सकते हैं और न एकेश्वरवाद के नाम से। यह एक ऐसी स्थिति है कि जिसमें दोनों की ओर झुकाव पाया जाता है लेकिन कोई भी स्थिति इतनी सुस्पष्ट नहीं हो पाई है कि हम उसको कोई भी संज्ञा दे सकें। अतिशयोक्ति के कारण प्रत्येक देवता की स्तुति में बीज रूप से एकेश्वरवाद के प्रति प्रवृत्ति मानी जा सकती है और दूसरी ओर प्रत्येक देवता की स्वतंत्र स्थिति के होते हुए भी उन सबकी साथ-साथ रहने की अवस्था को हम बहुदेववाद का बीज सूत्र भी मान सकते हैं।

एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति—प्रजापति विश्वकर्मा

किसी भी देवता की विशेष प्रशंसा, स्तुति एवं उच्चतम महत्व दर्शित करने की ओर झुकाव के कारण धीरे-धीरे इस भावना का जन्म हुआ कि विश्व के सारे प्राणियों का एक प्रभु है जिसको कि प्रजापति के नाम से पुकारा जाने लगा। यह मस्तिष्क के विकास के क्रम की एक विशेष उच्च अवस्था का सूचक था जिसमें एक ऐसे देवता के प्रति निष्ठा प्रकट की गई थी जो सारी नैतिक व भौतिक शक्तियों का स्रोत एवं अधिष्ठाता था, यद्यपि उसका साक्षात् स्वरूप देखना (दिग्दर्शन) सम्भव नहीं था।

---

[1] मेक्डुनल, 'वैदिक माइथोलोजी', पृ० १६, १७।

[2] वही पृ० १७।

इस प्रकार प्रजापति अर्थात् सारे प्राणियों का स्वामी जो एक विशेषण था, एक नए देवता के रूप में उद्भूत हुआ यद्यपि यह विशेषण अन्य देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हो चुका था। वह अब एक ऐसे देवता के लिए प्रयोग में आने लगा जो सर्वोपरि देव या देवाधिदेव है। ऋग्वेद के १०वें मंडल के १२१वें सूक्त में ऐसा कहा है।[1]

'सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ प्रभु का जन्म हुआ जो सभी सृष्टि का स्वामी है जिसने इस पृथ्वी को अवस्थित किया और स्वर्ग की स्थापना की। हम किस देवता की हवि (वलि या नैवेद्य) द्वारा स्तुति करें? ऐसा कौन है जो हमें प्राण देता है, शक्ति देता है और सभी जीव जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं। प्रकाशमय देवता भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, जिसकी छाया से ही मृत्यु होती है और जिसकी जीवनमय छाया अमरत्व देने वाली है ऐसे किस देवता की हविष्य द्वारा स्तुति करें जो अपनी शक्ति से सारी सृष्टि का प्रजापति है ? उन सबका प्राण धारण करता है जो सोते और जागते हैं। मनुष्य और पशुओं का जो अनन्य स्वामी है ऐसे किस देवता के प्रति हम वलि (नैवेद्य) समर्पित करें ? अपनी श्रद्धा को अर्पित करें। जिसकी महान् शक्ति और गौरव को हिमाच्छादित शृंग वाले भूधर, उदधि एवं दूर-दूर सुविस्तृत जल प्रवाह से युक्त नदियाँ तथा नद प्रदर्शित करते हैं। दिशाएँ जिसकी सुदीर्घ भुजाएँ हैं ऐसे किस देवता के प्रति हम हविष्य द्वारा श्रद्धांजलि दें। जिसने अंतरिक्ष को दीप्तिमान किया, पृथ्वी को धारण करने योग्य बनाया जिसने आकाश और स्वर्ग की रचना की, जिसने आकाश में वायु की रचना की ऐसे किस देवता को हम भक्ति और स्नेह से हविष्य (वलि) द्वारा श्रद्धांजलि दें ?"

ऐसे ही गुणों द्वारा विश्वकर्मा (सबको उत्पन्न करने वाला)[2] देवता को भी संबोधित किया गया है। वह सारी सृष्टि का जनन (उत्पति) कर्ता कहा गया है। यद्यपि वह स्वयं अजन्मा है। उसने आदि सृष्टि में जल की रचना की, उसके सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं—

"वह हमारा पिता है हम सबको उत्पन्न करने वाला है और हमारा सृजन करता है। वह प्रत्येक स्थान पर निवास करता है एवं अन्तर्यामी है; प्राणि मात्र को जानने वाला है। इसके द्वारा देवता लोग अपनी संज्ञा प्राप्त करते हैं और संसार के प्राणि मात्र वरदान के लिए उसकी पूजा करते हैं।"[3]

—ऋग्वेद ८२.३।

---

[1] कायगी द्वारा रचित, ऋग्वेद पृ० ८८, ६८।

[2] वही पृ० ८६, और म्योर रचित संस्कृत टेक्स्ट्स भाग ४, पृ० ५-११।

[3] कायगी कृत अनुवाद।

ब्रह्म

वेदान्त दर्शन के उत्तरकाल में ब्रह्म के जिस महान् स्वरूप की कल्पना की गई है उसका ऋग्वेद में याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रभाव एवं सम्पर्क के कारण पूर्णतः सूत्रपात नहीं हो पाया था। वेदों के श्रेष्ठ भाष्यकार सायणाचार्य ने ब्रह्म शब्द के निम्नलिखित अर्थ किए हैं जिनको हेग महोदय ने इस प्रकार संकलित किया है-(अ) वलि या अन्नाहुति (आ) साम गान (इ) तन्त्र और तन्त्र विद्या (ई) सफल याज्ञिक अनुष्ठान (उ) मंत्रोच्चार एवं आहुतियाँ (ऊ) होता द्वारा मंत्र पाठ (ऋ) महान्। रोथ महोदय के अनुसार इस शब्द का अर्थ यह भी है—ब्रह्मानंद की प्राप्ति हेतु आत्मिक प्रेरणा एवं निष्ठायुक्त आत्मानन्द। परन्तु केवल शत पथ ब्राह्मण में ब्रह्म की कल्पना ने वह महत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण किया है जिस पर 'ब्रह्म' की अवधारणा प्रतिष्ठित है। वह एक महान् शक्ति के रूप में बतलाया गया है जो सारे देवताओं की प्रेरक शक्ति है। शत पथ के अनुसार "आदिकाल में यह सारा विश्व (प्रकृति) ब्रह्म के रूप में था।" इस ब्रह्म ने देवताओं का सृजन किया और तत्पश्चात् उनको विश्व में आरूढ़ किया, अग्नि को पृथ्वी पर स्थापित किया, वायु को वातावरण में, और सूर्य को अन्तरिक्ष में स्थान दिया तब स्वयं ब्रह्म दूसरे लोक में गया। परलोक में स्थापित होकर ब्रह्म ने विचार किया कि मैं ब्रह्मांड में किस प्रकार पुनः प्रवेश कर सकता हूं? तब फिर उसने इस विश्व में इन दो स्वरूपों में प्रवेश किया—नाम व रूप। जिस किसीवस्तु की संज्ञा है वह नाम है और जो संज्ञाहीन है वह रूप। इन नामों और रूपों में ही यह सारा संसार अवस्थित है और जो ब्रह्म की इन दो शक्तियों को पहचानता है वह स्वयं महाशक्तिमान् अथवा ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।[1] दूसरे स्थान पर ब्रह्म को विश्व में अद्वितीय चरम शक्ति के रूप में माना गया है और उसको प्रजापति, पुरुष एवं प्राण कहकर सम्बोधित किया गया है। एक अन्य स्थान पर ब्रह्मा को स्वयम्भू कहा गया है अर्थात् जो स्वयं उत्पन्न होता है, जो तपस्वी है एवं जो सारे प्राणियों में स्थित है और इस प्रकार वह सारे प्राणियों का आधार उनका स्वामी है तथा उन पर शासन करता है। ऋग्वेद में जिस पुरुष (महापुरुष) की कल्पना की गई है वह इस विश्व में केवल अपने चतुर्थांश से स्थित है। उसके तीन अंश अन्य लोकों में व्याप्त हैं। वह भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों है।

यज्ञ—कर्मवाद की प्रारंभिक स्थापना

यह कल्पना करना उचित नहीं होगा कि एकेश्वरवाद की ये धाराएँ बहुदेववादी यज्ञानुष्ठानों का स्थान ग्रहण कर रही थीं। यथार्थ में यज्ञादि का कर्मकाण्ड एवं विधि-

---

[1] इगलिंग महोदय कृत शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद देखिए, भाग १, पृ० २७-२८।

विधान विशेष रूप से विस्तृत एवं जटिल होते जा रहे थे। इसका सीधा प्रभाव तो यह हुआ कि देवताओं का महत्व अपेक्षाकृत कम होने लगा। मनोकामना की पूर्ति के लिए यज्ञानुष्ठान का चमत्कारपूर्ण विधान एक विशेष परम्परा का स्थान ग्रहण कर रहा था। यज्ञों में बलि और आहुति उस प्रकार की भक्ति और निष्ठा से प्रेरित नहीं होती थी जिस प्रकार की भक्ति वैष्णव और ईसाई धर्म में पाई जाती है। हॉग के मतानुसार यज्ञ एक प्रकार का स्वतः सम्पूर्ण तंत्र था जिसका सम्पूर्ण विधान एक दूसरे से गहरा जुड़ा हुआ और सुसमन्वित था। इसके एक भाग में थोड़ी सी त्रुटि के कारण भी जैसे ठीक प्रकार घृताहुति अग्न्याधान में पात्रों का संस्थापन अथवा समिधा या दर्भ को सही स्थान पर रखना इनमें से किसी में भी थोड़ी त्रुटि रह जाने से समस्त यज्ञ के असफल एवं भंग होने की पूर्ण सम्भावना थी चाहे वो कितना ही भक्ति भाव से सम्पन्न किया गया हो। मंत्र के शब्दों के अशुद्धोच्चारण मात्र से अर्थ का अनर्थ होने का भय रहता था। जब त्वष्टा ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश करने वाले असुर की उत्पत्ति के लिए यज्ञ किया तब एक शब्द के अशुद्ध प्रयोग से उस दैत्य ने स्वयं यज्ञ कर्ता त्वष्टा का संहार कर दिया। परन्तु यज्ञ के विधिपूर्वक शुद्धरूपेण सम्पन्न हो जाने पर कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो उसके फल और प्रभाव को नष्ट कर सके। इस प्रकार यज्ञ का साफल्य देवताओं की कृपा पर न होकर यज्ञ के विधिपूर्वक करने में निहित था। इन अनुष्ठानों के चमत्कार से मनोवांछा की पूर्ति उसी प्रकार अवश्यंभावी थी जैसे कि प्रकृति के नियम अटल एवं अवश्यंभावी होते हैं। वेदों के समान ही यज्ञ भी अत्यन्त प्राचीन एवं अनादि कहे जाते हैं। इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति ही ब्रह्मा के द्वारा किए हुए महान् यज्ञ का फल है। हॉग के अनुसार—"यह सृष्टि अमूर्त और अदृष्ट रूप से सदैव विद्यमान् है, जैसे विद्युत् सदैव विद्यमान् है, केवल उसका रूप किसी संयंत्र के प्रचालन से प्रकाशित हो जाता है।" यज्ञ में दी हुई बलि एवं आहुति केवल देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अथवा उनसे विश्व का कल्याण अथवा स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करने के लिए नहीं दी जाती। यह सब तो यज्ञ करने मात्र से स्वयमेव सम्भव है, यदि यज्ञ संस्कार विधि-विहित नैष्ठिक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता है जो यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए परमावश्यक है। प्रत्येक यज्ञ में विशिष्ट देवताओं का आह्वान किया जाता है और यद्यपि उनको बलि दी जाती है तथापि ये देवता यज्ञ की धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति में साधन मात्र हैं। अतः यज्ञ अपनी रहस्यमय शक्तियों के कारण देवताओं से भी विशिष्ट माना गया है और यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ के चमत्कार से मनुष्यों ने अनेक बार देवत्व प्राप्त किया। यज्ञ करना और कराना मनुष्य का एक मात्र कर्त्तव्य माना जाने लगा और इसको कर्म अथवा क्रिया के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा और ऐसा समझा जाने लगा कि इस कर्म का फल नियमानुसार श्रेय अथवा अश्रेय के रूप में निश्चित एवं अटल रूप से फलित होगा। अश्रेय के लिए इसलिए कि कई बार अनेक अनुष्ठान शत्रुओं के विनाश करने के लिए और सांसारिक शक्ति एवं समृद्धि के लिए भी

किए जाते थे। प्रकृति के महान् नियमों अथवा ब्रह्मांड के स्थिति क्रम की कल्पना भी इस समय प्रारम्भ हुई जिसके अनुसार परमात्मा की सत्ता के अन्तर्गत प्रकृति अपना कार्य संपादन करती है। ये प्रकृति के नियम अटल एवं अटूट हैं। इस महान् अनुशासन अथवा नियम को ऋत शब्द से सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है जो कुछ हो रहा है वह इसी के कारण ब्रह्मांड को या प्रकृति का प्रवाह को धारण किए हुए है। जैसे मेक्डुनल महोदय कहते हैं–"यह सत्ता ईश्वरीय नैतिक जगत् में सत्य और धार्मिक जगत् में विधान अथवा यज्ञ की अवधारणा के रूप में समझी जा सकती है।"[1] प्रत्येक कर्म का फल तदनुसार प्राप्त होगा यह भी इस सत्ता का अटल नियम है। भारतीय विचार धारा पर आज तक जिस कर्मवाद का महान् प्रभाव है उस वाद का सूत्रपात इसी काल में हुआ। यह एक अत्यंत रोचक विषय है। इस प्रकार हमें एक ओर सरल विश्वास और श्रद्धा द्योतित करने वाली वैदिक धारणाओं की अपेक्षा यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड के महत्त्व के प्रख्यापन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, दूसरी ओर परमात्मा को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार करने की दार्शनिक एकेश्वरवादी विचारधारा से भी सम्पर्क होता है।

सृष्टि रचना पौराणिक एवं दार्शनिक आधार पर

ऋग्वेद में वर्णित सृष्टि रचना पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है–पौराणिक आधार पर, (२) दार्शनिकता के आधार पर। पौराणिक आधार की दो मुख्य धाराएँ है। जैसाकि प्रो० मेक्डुनल कहते हैं–"एक विचारधारा विश्व को एक यांत्रिक रचना के रूप में देखती है जो किसी काष्ठ कर्मी अथवा शिल्पी की प्रतिभा के फल के समान है और दूसरी धारा इसको एक स्वाभाविक प्राकृतिक विकास[2] के रूप में देखती है।" ऋग्वेद में कवि एक स्थान पर कहता है–"कौन से वृक्ष और कौन से काष्ठ के द्वारा स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की गई।"[3] तैत्तिरिय ब्राह्मण में इसका उत्तर है–"ब्रह्म ही वह काष्ठ है और ब्रह्म ही वह वृक्ष है[4] जिससे इस पृथ्वी और स्वर्ग का निर्माण हुआ।" स्वर्ग और पृथ्वी को कहीं-कहीं ऐसा प्रदर्शित किया है जैसे वह स्तम्भों पर आधारित हो।[5] कहीं-कहीं इन दोनों को विश्व के जनक और जननी के रूप में वर्णित

---

[1] वमेडुनल, वैदिक माइथौलोजी, पृ० ११।

[2] वही पृ० ११।

[3] ऋग्वेद, १०, ८१, ४।

[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २, ८, ६, ६।

[5] मेक्डुनल, वैदिक माइथौलोजी, पृ० ११। ऋग्वेद ११, १५, ४, ५६।

किया गया है और कहीं अदिति एवं दक्ष को जगत् के माता व जगत् के पिता के रूप में वर्णित किया गया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ-कुछ बहुदेवात्मक पुरुष सूक्त[1] हमारे ध्यान को आकर्षित करता है। यह सारा विश्व आदि पुरुष के रूप में देखा गया है। जो भी वर्तमान में है और भविष्य में होगा वह चर और अचर जगत् में सर्वत्र व्याप्त है, वह अमर है एवं सारे प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है। उसके चरणों से प्रकृति की रचना हुई, उनकी नाभि प्रदेश से वायुमंडल का सृजन हुआ, उसके सिर से आकाश की रचना हुई और उसके श्रोत्र से चारों दिशाएँ उत्पन्न हुई। अन्य ऋचाओं में सूर्य को समस्त चर और अचर जगत्[2] में प्राण (आत्मा) के रूप में प्रदर्शित किया है। ऐसा भी उल्लेख है कि परमात्मा एक है यद्यपि उस एक ही सत्य को ऋषियों[3] द्वारा अनेक नामों द्वारा पुकारा जाता है। परमात्मा को कई स्थानों पर विश्व के महान् स्वामी के रूप में पुकारा जाता है जिस विश्व को हिरण्यगर्भ[4] के नाम से सम्बोधित किया गया है। कहीं कहीं पर कहा गया है "ब्रह्मणस्पति ने विश्व में, लौह-कर्मी द्वारा फूंक कर निकाले हुए लौह पदार्थों के समान, जीवन का संचार किया। देवताओं के प्रारम्भिक काल में अमूर्त से मूर्त की उत्पत्ति हुई तत्पश्चात् लोकों की रचना हुई और फिर उत्तानपाद[5] द्वारा विश्व रचा गया।" सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सुन्दर सूक्त जिसमें कि विश्व रचना के रहस्य की दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा और विचारण की गई है, वह ऋग्वेद के १०वें मंडल के १२९वें सूक्त के रूप में पाया जाता है।

(१) इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व न असत् (Not Being) था और न सत् (Being) था। उस समय न लोग थे और न परम आकाश था जो आकाश से परे हैं वह भी न था। उस समय ऐसा कौनसा पदार्थ था जो सबको चारों ओर से व्याप्त किए हुए था? और यदि था तो कहाँ था और किसके आश्रय में था? तो फिर कोई ऐसा गहन पदार्थ था जिसमें किसी वस्तु का प्रवेश न हो सके अथवा जिसका कोई आर पार न लग सके या जिसकी अगाधता का पता न लग सके। तब क्या कोई व्यापक भासमान 'अप्' तत्व विद्यमान था।

---

[1] ऋग्वेद १०, ९०।

[2] ऋग्वेद १.११५।

[3] ऋग्वेद १.१६४.४६।

[4] ऋग्वेद १०.१२१.६।

[5] ऋग्वेद का म्योर द्वारा अनुवाद १०, ७२ म्योर की संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग ५ पृ० ४८।

(२) उस समय न मृत्यु थी और न उस समय अमृत था अर्थात् जीवन की सत्ता और जीवन के लोप नहीं थे। रात्रि और दिन का उस समय विभेद अथवा कोई ज्ञान नहीं था। जो तत्त्व विद्यमान था प्राण शक्ति के रूप में था परन्तु वह वात अर्थात् स्थूल वायु वाला न था वह अपनी ही शक्ति से सारे संसार को धारण करने वाली शक्ति से व्याप्त था परन्तु उस अत्यन्त सूक्ष्म व्याप्त शक्ति से परे और कुछ भी न था।

(३) सृष्टि के होने से पूर्व तमस अर्थात् अन्धकार था जो स्वयं गहन अन्धकार से आवृत था। वह ऐसा था जो ज्ञान से परे था वह व्यापक, गतिमान, प्रवाहमान तत्त्व (सलिल) से व्याप्त था, जो कुछ था वह सूक्ष्म रूप से एक विशाल शून्य में लिया हुआ था। वह ताप की महान् सामर्थ्य से प्रकट हुआ।

(४) सृष्टि के पूर्व में सर्व प्रथम मन से उत्पन्न होने वाली एक कामना का उदय हुआ जो इस जगत् की प्रारम्भिक बीज थी। ऋषि, तत्त्वज्ञानी पुरुष, हृदय में पुनः पुनः विचार कर असत् में से सत् शक्ति को, अस्तित्व को बांधने वाले चेतन स्वरूप के रूप में देखते हैं।

× × × ×

(६) इस सत्य को कौन ठीक-ठीक जान सकता है, इस विषय में कौन उत्तम रूप से प्रवचन कर सकता है, यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई और इसका मूल कारण क्या है ? क्या समस्त देवता प्रकाशमान, तेजमान सूर्य, चन्द्र आदि लोक इस जगत् को रचने वाले मूल कारण के पश्चात् ही उत्पन्न हुए ? तो फिर कौन इस तत्त्व को जानता है जिससे यह जगत् चारों ओर प्रकट हुआ ?

(७) यह सृष्टि जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है अथवा जो इस संसार का सृजन कर रहा है अथवा जो विसृजन कर रहा है, वह इसका अन्तर्यामी प्रभु, परमलोक में अर्थात् उच्चतम लोक में विद्यमान है। केवल वह इस सब तत्त्व को जानता है यद्यपि और कोई चाहे न जाने।[1]

इसका प्राचीनतम भाष्य शतपथ ब्राह्मण के एक संदर्भ में मिलता है (१०.५.३.१) जिसमें उल्लेख है–"आदि काल में यह विश्व न सत् था न असत्, प्रारम्भ में यह विश्व अस्थिति में होते हुए भी नहीं था एवं नहीं होते हुए भी स्थित था। उस समय केवल एक अव्यक्त चेतन था। अतः ऋषियों ने यह वर्णन किया है न 'सत्' था न 'असत्' केवल एक अव्याप्त व्याप्त चेतन शक्ति थी। इस चेतन की उत्पत्ति के पश्चात् जब इसने प्रकट होने की इच्छा की तो अधिक स्थूल और निश्छल रूप से प्रकट होना चाहा,

---

[1] कायगी पृ० ६० । ऋग्वेद, १०, १२६ ।

शरीर धारण किया और फिर तपस्या में लीन होकर सत्[1] के रूप में प्रकट हुआ।" अथर्ववेद में भी ऐसा उल्लेख है कि स्कम्भ देवता में विश्व के सारे रूप निहित हैं अथवा स्कम्भ देवता से विश्व के सभी अंगों की उत्पत्ति हुई।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल में एक प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा की उत्पत्ति हुई, कम से कम ऐसे अनेक व्यक्तियों के मन में यह प्रश्न उठता है कि वास्तव में इस विश्व की उत्पत्ति हुई अथवा नहीं। तब वे इस सृष्टि के उद्‌भव के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करने लगे कि विश्व में सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य सत् और असत् के अन्तर में छिपा हुआ है, अर्थात् सृष्टि से पहले कुछ था या नहीं इस सम्बन्ध में कल्पना की जाने लगी। इस जिज्ञासा के परिणामस्वरूप यह कल्पना जागृत हुई कि आदिकाल में एक अनादि चेतन था जिसके चेतन की अभिव्यक्ति सृष्टि की उत्पत्ति करने की आन्तरिक इच्छा के कारण हुई और जिससे कालान्तर में शनैः शनैः विश्व के समस्त भौतिक स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मणों में सृष्टि रचना के सम्बन्ध में एक दूसरे प्रकार का उल्लेख आता है जिसमें सृष्टि कर्ता की अनिवार्य रूप से उपस्थिति की कल्पना की गई है यद्यपि सदैव वह सृष्टि के आदिकारण के रूप में नहीं माना जाता। सृष्टि के स्वतः विकास और सृष्टि के किसी कर्ता द्वारा उत्पन्न किए जाने के मतों को एक साथ मिला दिया गया है जिसके कारण कई स्थलों पर प्रजापति को सृष्टि कर्ता की संज्ञा दी गई है और अन्य स्थानों पर सृष्टि कर्ता को आदि जल में प्रवाहमान एक अण्डे के रूप में अथवा बीज शक्ति के रूप में तैरते हुए बतलाया है।

परलोकविद्या : आत्मा का सिद्धान्त

वेदों में इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया जाता है कि अचेतन अवस्था में आत्मा शरीर से अलग हो सकती है और मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अलग अस्तित्व होता है। लेकिन हमको इस सिद्धान्त का कोई विकसित स्वरूप प्राप्त नहीं होता कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार का उल्लेख आता है कि जो सम्यक् ज्ञान के साथ उचित कर्म नहीं करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेते हैं और पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०-५८) के मंत्र के अनुसार "मनुष्य की आत्मा का अथवा मन का जो संभवतः अचेतन है, पुनः आह्वान सूर्य, आकाश एवं वनस्पतियों से किया गया है। अनेक सूक्तों में अन्य लोकों की कल्पना भी की गई है जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया गया है कि जो मनुष्य यज्ञादि कर्मकाण्ड भक्ति पूर्वक करते हैं उन लोगों को सारे भौतिक

---

[1] एगलिंग का अनुवाद, शतपथ ब्राह्मण, भाग ४३, पृ० ३७४-३७५।
[2] अथर्ववेद १०.७.१०।

एवं आत्मिक सुख प्राप्त होते हैं और अन्धकारमय नरक की कल्पना भी की गई है जहाँ पापियों को उनके पापों का दण्ड प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं उनको दो अग्नियों को बीच से पार करना पड़ता है, जो पापियों को जला देती हैं और पुण्यात्मा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देती हैं।"[1] ऐसा भी उल्लेख है कि मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को फिर जन्म धारण करना पड़ता है और उसके पूर्व जन्म के कृत्यों की मीमांसा की जाती है अथवा उनको तोला जाता है और तदनुसार उसके शुभ व अशुभ कर्मों के लिए यथाविधि दण्ड अथवा पुरस्कार दिया जाता है। इस प्रकार यह अध्ययन करना सरल है कि इन बिखरे हुए विचारों में शुभ अशुभ कर्मों के फलाफल के उस दर्शन का प्रारम्भिक सूत्रपात इस काल से होता है जिसको हम पुनर्जन्मवाद के नाम से पुकारते हैं। यह कल्पना कि मनुष्य अनेक कर्मों के अनुसार दूसरे संसार अथवा इसी संसार में पुनर्जन्म के द्वारा सुख अथवा दुःख प्राप्त करता है, नैतिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त के रूप में प्रथम बार सामने आती है। यद्यपि ब्राह्मणों के युग में 'शुभ कर्म का तात्पर्य मुख्यतः यज्ञादि क्रियाओं के करने के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता था तथा अन्य श्रेयस्कर कर्म अथवा भलाई के कार्य करने की अवधारणा उस समय विकसित नहीं थी। मनुष्य के मानवीय सुख और दुःख के अशुभ कर्मों के साथ संभावित सम्बन्ध की कल्पना और विश्व का संचालन करने वाला अटल नियम और व्यवस्था ऋत नाम की महान् शक्ति की अवधारणा के साथ उद्भूत होती गई, इन दोनों भावनाओं से कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विकास इस काल में हुआ। ऋग्वेद में 'आत्मा' के तात्पर्य में मनस्, आत्मा एवं असु शब्दों का प्रयोग हुआ है। आगे चलकर भारतीय विचारधारा में 'आत्मा' शब्द सुप्रचलित हो गया। इसका अर्थ वेदों में जीवन देने वाली प्राण शक्ति से है। मन भावनाओं और विचारों का उद्गम स्थान है और संभवतः जैसा मेक्डुनल महोदय कहते हैं—इसका स्थान हृदय माना गया है।[2] यह समझना कठिन है कि आत्मा अर्थात् प्राण वायु जो एक अलग होने वाले अंग के समान मृतक के शरीर को छोड़ देती है, मनुष्य और विश्व में एक मात्र व्याप्त महान् शक्ति के रूप में किस प्रकार मानी जाने लगी। ऋग्वेद में एक स्थल है जहाँ कवि ने अन्तरतम रहस्य में प्रवेश करते हुए क्रमशः गहराई में जाकर पहले 'असु' फिर रक्त तक पहुँचना बताया, तदनन्तर 'आत्मा' को सबसे सूक्ष्म, गहनतम तत्त्व बताया। उसे विश्व की अन्तरतम चेतन शक्ति के रूप में देखा। "सर्वप्रथम जन्म प्राप्त करने वाला अस्थि सहित शरीर किस प्रकार अस्थिरहित से जन्मा, यह किसने देखा और अनुभव किया (अर्थात् स्वरूपरहित प्रकृति में से सशरीर पदार्थों को जन्म लेते हुए

---

[1] देखें, शतपथ ब्राह्मण १, ९, ३ तथा मेक्डुनल कृत 'वैदिक माइथोलोजी'; पृ० १६६-१६७।

[2] मेक्डुनल, 'वैदिक माइथोलोजी,' पृ० १६६, और ऋग्वेद ८, ८९।

किसने देखा?) प्राण, रक्तमय शरीर और आत्मा कहाँ थी और कहाँ से उत्पन्न हुई? इस विषय को जानने के लिए कौन उस विद्वान् के पास जाएगा जो इसको जानता है।"[1] यद्यपि तैत्तिरीय आरण्यक में प्रथम अध्याय के २३वें मंत्र में ऐसा कथन है कि प्रजापति ने पहले अपने आप में से विश्व को प्रकृति के रूप में जन्म दिया और फिर उसकी आत्मा के रूप में स्वयं उसमें प्रवेश किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने आत्मा को सर्व व्यापक माना है और यह कहा है "जो इस आत्मा को जानता है वह पाप में लिप्त नहीं होता।" इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रागुपनिषदिक वैदिक साहित्य में आत्मा को मनुष्य के प्राण वायु के रूप में, फिर विश्व की चेतन शक्ति के रूप में, तत्पश्चात् मनुष्य की चेतन शक्ति के रूप में माना गया है। इस अन्तिम स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की आत्मा को ही क्रमशः विश्व में सर्व व्यापक महान् शक्ति के रूप में देखा गया है जिसके ज्ञान से मनुष्य पाप रहित एवं निर्मल हो जाता है।

उपसंहार

ऋग्वेद दर्शन के क्रमिक उद् विकास की विवेचना से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम विचारों का एक ऐसा क्रम विकसित हुआ जिसमें सारे ब्रह्मांड को विभिन्न अंगों के समन्वय के रूप में अथवा विभिन्न अंगों से बनी हुई एक कृति के रूप में देखा गया। किन्तु इसका सृजन एक ऐसी शक्ति के द्वारा हुआ माना गया जो विश्व में ओत प्रोत है फिर भी इस विश्व के ऊपर है, उससे महान् है और उससे परे है। जिज्ञासा और शंकालुता की भावना जो दर्शनशास्त्र की जननी है कभी-कभी इतनी प्रबल हो उठती है कि सृष्टि के आधारभूत विषय पर भी प्रश्न करना प्रारम्भ कर देती है—"यह कौन जानता है कि इस विश्व की कभी रचना भी की गई अथवा नहीं?" दूसरी ओर यज्ञादि के कर्मकाण्ड के विकास के साथ साथ एक अटल और विशिष्ट नियम की धारणा भी स्थापित हुई। वह यह थी कि यज्ञादि कर्म का प्रभाव और फल निश्चित रूप से मिलेगा। इस कारण देवताओं के इस विश्व के अनन्य स्वामी होने की धारणा और उनका महत्व कम होने लगा और इस प्रकार क्रमशः एकैकाधिदेवत्ववादी भावनाओं से होकर अद्वैतवादी धाराओं का प्रचलन होने लगा। तीसरी ओर एक सिद्धान्त और जन्मा जो आत्मा सम्बन्धी था। मनुष्य की आत्मा को ऐसी शक्ति के रूप में माना गया जो अपने मानवीय शरीर से अलग है और जो दूसरे लोक में भी अपने अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार सुख और दुःख प्राप्त करती है। यह सिद्धांत कि मनुष्य की आत्मा वृक्षादि एवं मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी प्रवेश कर सकती है अनेक

---

[1] ऋग्वेद, १, १६४, ४ड यूसन का लेख 'आत्मा' पर, (एनसाइक्लोपिडिया आव रिलीजन एण्ड इथिक्स)।

स्थलों पर संकेतित मिलता है। इस प्रकार उत्तरकालीन पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सूत्र-पात इस काल में हो जाता है। आत्मा को एक स्थान पर विश्व की चेतन शक्ति के रूप में बताया गया है और जब हम इस कल्पना को ब्राह्मणों में और आरण्यकों तक आकर देखते हैं तो प्रकट होता है कि वहां आते-आते आत्मा की धारणा विश्व और मनुष्य दोनों में व्याप्त महान् चेतन शक्ति के रूप में विकसित हो गई। इस प्रकार उपनिषदों में महान् आत्मा का जो सिद्धांत है उसका प्रारंभिक स्वरूप इस काल में ही परिलक्षित हो जाता है।

अध्याय ३

प्रारम्भिक उपनिषदें[1]

(७०० ई० पू० से ६०० वर्ष ई० पू०)

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान

साधारणतया ऐसा माना जाता है कि उपनिषद् आरण्यकों के परिशिष्ट के रूप में है और आरण्यक ब्राह्मणों के उपग्रन्थ है। लेकिन यह कहना कठिन है कि ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों को सदैव मूलतः भिन्न शास्त्रों के रूप में ही माना गया। कई स्थानों में जिस विषय के सम्बन्ध में हम यह आशा करते हैं कि वह ब्राह्मणों में वर्णित होना चाहिए वह आरण्यकों में उपलब्ध होता है और आरण्यकों की सामग्री को उपनिषदों की शिक्षाओं में समाविष्ट कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये तीनों साहित्य एक ही विकास शृंखला की कड़ियां हैं और एक ही साहित्य के रूप में इनको स्वीकार किया गया है। यद्यपि उनके वर्ण्य विषय विभिन्न हैं। ड्यूसन के अनुसार-"इनके विभाजन का सिद्धांत इस प्रकार है। ब्राह्मण ग्रन्थ गृहस्थियों के लिए ही लिखे गए। आरण्यक वानप्रस्थों के वृद्धावस्था में गार्हस्थ्य जीवन के उपरान्त प्रयोग हेतु बनाए गए और उपनिषद विश्वबंधन का परित्याग करने वाले मुमुक्षु सन्यासियों के

---

[1] टिप्पणी :

उपनिषदों की संख्या ११२ बतायी जाती है। जिन उपनिषदों को निर्णय सागर प्रेस ने १६१७ में प्रकाशित किया है वे उपनिषद् इस प्रकार हैं—
(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुंडक (६) मांडूक्य (७) तैत्तिरीय (८) एतरेय (६) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर (१२) कौषीतकि (१३) मैत्रेयी (१४) कैवल्य (१५) जाबाल (१६) ब्रह्म विन्दु (१७) हंस (१८) आरूणिके (१६) गर्भ (२०) नारायण (२१) नारायण (२२) परम हंस (२३) ब्रह्म (२४) अमृतनाद (२५) अथर्वशिरस (२६) अथर्वशिखा (२७) मैत्रायणी (२८) बृहज्जाबाल (२६) नृसिह पूर्व-तापिनी (३०) नृसिहोत्तरतापिनी (३१) कालाग्नि रुद्र (३२) सुबाल (३३) क्षुरिका (३४) यन्त्रिका (३५) सर्वसार (३६) निरालम्ब (३७) शुकरहस्य

जबकि वेदों का विषय कर्मकाण्ड है। पौराणिक हिन्दू मतानुसार वेद शास्त्रों में जो कुछ लिखा गया है वह धार्मिक कर्तव्यों के विधि के रूप में अर्थात् उन कर्तव्यों के विधान के रूप में हैं जिनको करना चाहिए, और उन कार्यों के निषेध के रूप में हैं जिनको निषिद्ध कर्म की संज्ञा दी गई है। कथा अथवा दृष्टांतों के रूप में जो कुछ कहा गया है वह भी इस हेतु से है कि उनसे मनुष्य धार्मिक कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करे और जो नहीं किये जाने वाले निषिद्ध कर्म हैं उनके द्वारा मिलने वाले कष्ट के फल को दृष्टि में रखते हुए शिक्षा प्राप्त करें। किसी व्यक्ति को वैदिक निर्देशों के ऊपर शंका करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वेद तर्कों से परे हैं और क्योंकि बुद्धि वैदिक विधि विधान और ज्ञान को समझने में समर्थ नहीं है, अतः वेद ईश्वरीय आदेश और निषेध के रूप में प्रकट किये गये है जिससे कि मनुष्य मात्र आनन्द का सत्य मार्ग धारण कर सके। अतः वैदिक शिक्षा कर्म मार्ग की ओर अग्रसर करती है और वैदिक यज्ञ कर्म-काण्ड आदि के करने की प्रेरणा देती है। दूसरी ओर उपनिषद किसी कर्मकाण्ड का विधान नहीं करतीं वरन् शाश्वत सत्य एवं यथार्थ का निरूपण करती है जिसके ज्ञान से मनुष्य बन्धनों से मुक्त हो जाता है। हिन्दू दर्शन के ज्ञाता इस बात से भलीभाँति अवगत हैं कि वेदों के अनुयायी और वेदान्ती अर्थात् उपनिषद् मतावलंबी व्यक्तियों में सदैव से तीव्र विवाद रहता आया है। वैदिक शास्त्री अनेक स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि उपनिषद् वेदों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है और उनका मत यह नहीं है कि कर्मकाण्ड नहीं करना चाहिए। इनके अनुसार उपनिषदों में कर्मकाण्ड के अनेक महत्वों को वर्णित किया गया है जबकि वेदान्तियों का मत है कि उपनिषद् वेद शास्त्रों से परे हैं और कर्मकाण्ड को स्थान न देते हुए सुपात्र जिज्ञासुओं को ज्ञान के मार्ग के द्वारा शाश्वत सत्य की अनुभूति का आनन्द प्रदान करती हैं। उपनिषदों के महान् भाष्यकार श्री शंकराचार्य कहते हैं कि उपनिषद् उन ज्ञानियों के लिए हैं जो सांसारिक एवं भौतिक सुखों से उपरत हो गए हैं और जिनके लिए वैदिक कर्मकाण्ड का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा है। ऐसे सुपात्र व्यक्ति कहीं भी हों, चाहे वे विद्यार्थी हों, गृहस्थ हों अथवा संन्यासी, उनके अन्तिम मोक्ष के लिए उपनिषद् सत्य ज्ञान का प्रकाश देती हैं। जो वैदिक कर्मकाण्ड अनुष्ठानादि करते हैं वे निम्न स्तर पर है। परन्तु जिनके हृदय में कोई अभिलाषा और कामना नहीं रह गयी है और जो निष्काम भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उपनिषद् का अध्ययन करने के लिए वे ही सुयोग्य पात्र है।[1]

---

[1] अधिकार भेद के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है कि जो अनुष्ठान आदि करते हैं वे उपनिषदों को सुनने के योग्य पात्र नहीं होते हैं और जो उपनिषदों का श्रवण एवं मनन करते हैं उनको यज्ञादि करने की आवश्यकता नहीं।

उपनिषदों के नाम : ब्राह्मणोत्तर प्रभाव

उपनिषदों को वेदान्त के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे वेद के अन्तिम भाग हैं। अतः उपनिषदों का दर्शन वेदान्त दर्शन के नाम से प्रचलित है। उपनिषदों की भाषा शास्त्रीय संस्कृत है और उनके उद्देश्यों से भी ज्ञात होता है कि उस युग के महानतम बौद्धिक दर्शन के सत्य प्रतीक उपनिषद् ही हैं। क्योंकि ये वेदों के उपसंहार के रूप में लिखे गए थे अतः वेद की जिस शाखा के अन्तर्गत किसी दर्शन विशेष का अध्ययन किया गया था उस शाखा के वैदिक शब्दों व नामावली का प्रयोग भी उस दर्शन विशेष में पाया जाता है।[1] इस प्रकार जो उपनिषद् ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों से सम्बद्ध हैं उन्हें ऐतरेय और कौषीतकि उपनिषद् के नाम से पुकारा जाता है। सामवेद के तलवकार एवं ताण्डिन भागों से सम्बन्धित उपनिषद् तलवकार (केन) एवं छान्दोग्योपनिषद् नामों से जाने जाते हैं। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से तैत्तिरीय और महानारायण उपनिषद्, कठ शाखा से काठक उपनिषद् और मैत्रायणी शाखा से मैत्रायणी उपनिषद् का प्रादुर्भाव माना जाता है। शत पथ ब्राह्मण की वाजसनेयी शाखा से वृहदारण्यक उपनिषद् की उत्पत्ति मानी जाती है। ईशोपनिषद् भी शत पथ ब्राह्मण से संबद्ध मानी जाती है। लेकिन श्वेताश्वतर उपनिषद् किस शाखा से सम्बन्धित है यह नहीं जाना जा सका है। हो सकता है वह शाखा लुप्त हो गई हो। इन उपनिषदों के बारे में ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये शाखा विशेष के दार्शनिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती हैं। उत्तरकालीन उपनिषदों में से अधिकांश अथर्ववेद से अपनी ज्ञान धाराओं का प्रकाश प्राप्त करती हैं और इनमें से अधिकतर वैदिक शाखा के नाम की संज्ञा ग्रहण न कर किसी विशेष विषय का अध्ययन करती हैं। उन्हीं के अनुसार उनके नाम रखे गए हैं।[2]

---

[1] संहिताओं के पाठ निश्चित हो जाने के पश्चात् देश के विभिन्न भागों में इन्हें कंठस्थ कर लिया गया और शिष्यों ने अपने गुरुओं से इस ज्ञान को प्राप्त किया। इसके साथ ही गुरुओं द्वारा यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि के सम्बन्ध में विशेष विवरणों को गद्य में लिखा गया जिनको ब्राह्मण नाम से पुकारा जाने लगा। इस ब्राह्मणीय गद्य साहित्य में स्थान-स्थान पर विभिन्न वेदपाठियों के आवश्यकतानुसार अनेक परिवर्तन होते रहे जिसके कारण उन ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठों में भी अनेक प्रकार के विभेद पाए जाते हैं जो एक ही वेद शाखा से सम्बन्धित हैं। ये विभिन्न मत उन विशेष शाखाओं के नाम से पुकारे जाते थे जैसे ऐतरेय अथवा कौषीतकि जिनसे इन ब्राह्मण ग्रन्थों का संबंध था। इसी प्रकार ब्राह्मणों की विभिन्न शाखाओं के मतानुसार उपनिषदों के आकार में भी अन्तर पाया जाता है।

[2] गर्भोपनिषद्, आत्मोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि इसके उदाहरण हैं। इसके कुछ अपवाद भी हैं—जैसे माण्डूक्य, जाबाल, पैंगल, शौनक आदि।

यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि उपनिषदों में स्थान-स्थान पर ऐसे स्थल आए हैं, जिनके अनुसार कई बार ब्राह्मण क्षत्रियों से उच्चततम दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए और पाली ग्रंथों में ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जिनसे जनसाधारण की दार्शनिक जिज्ञासा का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रियों में उस समय दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट जिज्ञासा थी और ऐसा भी लगता है कि उपनिषदों के निर्माण में जिज्ञासा और उत्कंठा ने अच्छा प्रभाव डाला है। साधारणतया उपनिषदों की शिक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा से एक दम अलग नहीं मानी जाती तथापि इस अनुमान में कुछ सत्यता का अंश हो सकता है कि यद्यपि उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों की परम्परा के अनुसार हैं फिर भी उनके विकास में ब्राह्मणेतर चिन्तन का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है और सम्भवतः या तो उपनिषद् के सिद्धान्तों का सूत्रपात इस विचारधारा के कारण ही हुआ हो, अथवा उनकी ज्ञान परम्परा के परिपक्व होने में उसने पर्याप्त योगदान दिया हो। वैसे इन्हें अन्तिमतः सुललित ज्ञानमय रूप ब्राह्मणों के हाथों ही मिला।

ब्राह्मण और प्रारंभिक उपनिषद्

दर्शन साहित्य के इतिहास में भारतीय चेतना का ब्राह्मणों के युग से उपनिषद् युग में प्रवेश करना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। हम यह जानते हैं कि वैदिक सूक्तों में एकेश्वरवाद की अत्यन्त सुन्दर भावना का विकास पाया जाता है परन्तु इनका स्वरूप उपनिषद् के कट्टर अद्वैतवाद से उसी प्रकार भिन्न है जैसे टालमीय सिद्धान्त एवं कोपरनिकस की ज्योतिष प्रणालियाँ अलग-अलग हैं। विश्वकर्मा और हिरण्यगर्भ की उपनिषद् के आत्मा और ब्रह्म से समानता अथवा तुलना करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु मैं यह मानने के लिए तैयार हूं कि आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के विकास के होने के पश्चात् उसका वैदिक सिद्धान्तों के इन देवताओं के स्थान पर एक मात्र तत्त्व की अवधारणा के रूप में छा जाना सम्भव है। किसी भी प्रारंभिक उपनिषद् में विश्वकर्मा हिरण्यगर्भ या ब्रह्मणस्पति का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता न ऐसा कोई प्रसंग पाया जाता है कि उन्हें उपनिषदों की अवधारणाओं के साथ जोड़ा जा सकता हो।[१] उपनिषद् में पुरुष शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों में आता है परन्तु उसका अर्थ और व्याख्या ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में प्रयुक्त पुरुष शब्द के अर्थ से एक दम भिन्न है।

---

[१] विश्वकर्मा का नाम श्वेताश्वतर ४,१७ में पाया जाता है। इसी ग्रन्थ में (३.४ और ४.१२ हिरण्यगर्भ का प्रयोग सर्व प्रथम जिसको रचा गया हो ऐसे अर्थ में आता है। सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भ शब्द जिसका उल्लेख डियूसन महोदय करते हैं—नृसिंह उपनिषद् ६ में पाया जाता है। ब्रह्मणस्पति शब्द उपनिषदों में किसी भी स्थान पर नहीं पाया जाता।

ऋग्वेद में विश्वकर्मा का वर्णन ऐसे सृष्टिकर्ता के रूप में आता है जो चल अचल जगत् की घटनाओं का कारण है और जिसकी उपासना भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। "सब कुछ जानने वाले अन्तर्यामी विश्वकर्मा ने अपनी महान् शक्ति से किस स्थिति, किस कारण और किस सिद्धान्त से इस पृथ्वी और आकाश को जन्म दिया। उस एक देव ने जिसके अनेक मुख हैं और प्रत्येक दिशा में जिसकी भुजाएँ और जिसके चरण स्थित हैं, उसने इस आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करते समय अपने बाहुओं तथा पैरों से विशेष स्वरूप दिया। हे विश्वकर्मन् आप अपने आराधकों को अपने वे उत्तम लोक दीजिए जो सर्वोच्च हैं अथवा जो आकाश और पृथ्वी पर स्थित हैं, आप हमें उदार चेता पुत्र दीजिए।"[1] ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ८२वें सूक्त में पुनः उल्लेख आता है—"विश्वकर्मा ज्ञानमय, शक्तिमय, सृष्टिकर्ता, विधाता और इन्द्रियातीत है, वह हमारा पिता, कर्ता एवं भाग्यविधाता है जो सारे लोकों को और उनमें बसने वाले सारे प्राणियों को जानता है जो प्रकाशमान देवों को उनकी संज्ञा देता है, उस परमात्मा का ज्ञान के लिए सभी प्राणी अवलम्ब ग्रहण करते हैं।"[2] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२९वें सूक्त में हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में ऐसा प्रसंग आया है "आदि काल में हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। वह स्वयं ही सभी सत् पदार्थों का स्वामी था। उसने पृथ्वी और आकाश की स्थापना की। हम किस देवता को बलि या हविष्य दें। वह हमारी रक्षा करे जो इस पृथ्वी की उत्पत्ति करता है और जिसने निश्चित सिद्धांतों के अनुसार राज्य करते हुए स्वर्ग और दीप्तिमान जल को उत्पन्न किया। हम ऐसे किस देवता को हविष्य अर्पित करें। हे प्रजापति इस संसार के चर अचर जगत् के आप स्वामी हैं। हम उन वांछित वस्तुओं को प्राप्त करें जिनके लिए हम आपका आह्वान करते हैं। हम समृद्धि को प्राप्त करें।"[3] पुरुष के सम्बन्ध में ऋग्वेद ऐसा उल्लेख करता है—"पुरुष के इन सहस्त्रों सिर, नेत्र एवं सहस्त्रों चरण इस पृथ्वी के चारों ओर परिव्याप्त हैं और वह दश अंगुलि के आकार से ऊपर को भी उठा। उसने आकाशगामी पक्षियों की एवं पालतू पशुओं की भी सृष्टि की" आदि आदि।[4] इसके अन्तिम भाग में कहा गया है, इस सृष्टि का निर्माण किस मूल तत्त्व और कारण से हुआ अथवा यह सृष्टि उत्पन्न हुई अथवा नहीं हुई, इस तत्त्व को केवल इस सृष्टि का अध्यक्ष जो परमलोक में विद्यमान है वही जानता है अन्य कोई नहीं।

---

[1] म्योर महोदय की संस्कृत टेक्स्ट भाग ४ पृ० ६,७।

[2] वही पृ० ६,७।

[3] वही, पृ० १६-१७।

[4] म्योर का संस्कृत टेक्स्ट भाग ५ पृ० ३६८,३६९। ऋग्वेद (१०/१२९)का वह प्रसिद्ध सूक्त भी उल्लेखनीय है जो इस प्रकार प्रारंभ होता है—"सृष्टि के आदि में न सत् था न असत् न आकाश था और न पृथ्वी।"

उपनिषद् की स्थिति इस सम्बन्ध में भिन्न है और इनमें जिज्ञासा का केन्द्र सृष्टि-कर्ता न होकर आत्मा है। वेदों के एकेश्वरवाद का विकास स्वाभाविक रूप से आस्तिक-वाद का कोई स्वरूप होना चाहिए न कि यह सिद्धान्त कि आत्मा ही एक मात्र यथार्थ है और यह सर्वोपरि है। यहाँ न तो किसी आराध्य देवता एवं आराधक का प्रसंग है, न कोई स्तुतियाँ उसकी की गई हैं। केवल महान् सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है और विश्व में सबसे बड़े यथार्थ के रूप में मनुष्य में स्थित आत्मा का उल्लेख किया गया है। दार्शनिक स्थापना में यह परिवर्तन बड़ा रोचक एवं महत्वपूर्ण है। वस्तुवादी चेतना का आत्मवादी चेतना में किस प्रकार परिवर्तन हुआ उसके सम्बन्ध में कोई वाद-विवाद, युक्ति, तर्क आदि उपनिषदों में नहीं पाए जाते। मस्तिष्क का अथवा तत् सम्बन्धी बुद्धि का विश्लेषण और अन्वेषण भी प्राप्त नहीं होता है। इस चेतना को एक स्पष्ट अन्तर्ज्ञान के रूप में देखा गया है और जिस गहन विश्वास के साथ इस सत्य को आंका गया है उससे पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। ब्राह्मणों की अर्थहीन कल्पनाओं और अनुमानों से यह सिद्धान्त प्रकट हुआ होगा इस बात पर साधारणतया विश्वास नहीं होता।

बालाकि गार्ग्य एवं अजातशत्रु (बृहदा० २,१) श्वेतकेतु एवं प्रवाहण जैवलि (छान्दोग्य ५,३ एवं बृहदा० ६, २) और आरुणि एवं अश्वपति कैकेय (छां० ५/११), इन छन्दों के आधार पर गार्बे महोदय का विचार है कि "इस बात को सिद्ध किया जा सकता है कि ब्राह्मणों के ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाला 'एक ब्रह्म' का सिद्धान्त जिसका प्रभाव आधुनिक जीवन धारा तक में पाया जाता है, केवल ब्राह्मणों के समाज द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया।"[1] सम्भवतः "इस सिद्धान्त की उत्पत्ति क्षत्रिय समाज में हुई।"[2] यदि यह कथन सत्य है तो फिर ऐसा मानना पड़ेगा कि उपनिषद्, वेद, ब्राह्मण और आरण्यकों से परे विकास को प्राप्त हुई लेकिन तथ्यों के आधार पर यह बात कहाँ तक सत्य है इसका अन्वेषण करना पड़ेगा। गार्बे महोदय ने जिन उक्तियों और प्रमाणों को प्रस्तुत किया है उनकी छानबीन करना आवश्यक है। बालाकि गार्ग्य एक आत्म-प्रशंसा करने वाला अभिमानी व्यक्ति है जो क्षत्रिय अजातशत्रु को वास्तविक ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान कराना चाहता है लेकिन इस विषय में असफल रहता है तो वह उससे शिक्षा लेना चाहता है। इस पर अजातशत्रु उत्तर देता है जो स्वयं गार्बे महोदय के अनुसार निम्न प्रकार है—"यह साधारण परम्परा की विधि है कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय से शिक्षा प्राप्त करे और क्षत्रिय उसको ब्रह्म विद्या की दीक्षा दे।"[3] इससे यह स्पष्ट है कि स्वाभाविक परम्परा के अनुसार ब्राह्मण ग्रंथों की दीक्षा ब्राह्मणों

---

[1] गार्बे का लेख "हिन्दू मोनिज्म" पृ० ६८।

[2] वही, पृ० ७८।

[3] वही, पृ० ७५।

द्वारा क्षत्रियों को दी जाती थी और किसी ब्राह्मण का किसी क्षत्रिय के पास शिक्षा ग्रहण करने जाना असाधारण था। वार्तालाप के प्रारम्भ में अजातशत्रु ने बालाकि को एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा देने का संकल्प किया था यदि वह उसे ब्रह्म ज्ञान की दीक्षा दे सके क्योंकि साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म विद्या[1] के सम्बन्ध में वार्तालाप करने के लिए जनक के पास जाया करता था। दूसरे आख्यान श्वेत केतु एवं प्रवाहण जैवलि से ऐसा स्पष्ट होता है कि आत्मा के पुनर्जन्मवाद के देवयान एवं पितृयान सिद्धान्तों का क्षत्रियों में उद्गम रहा होगा। परन्तु उस उच्च ज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है जिसके अन्तर्गत अन्तरात्मा को ब्रह्म के शाश्वत के रूप में जाना गया है।

आरुणि एवं अश्वपति कैकेय (तीसरा अध्याय छान्दोग्य ५) भी अधिक विश्वसनीय नहीं है। पाँच ब्राह्मण आत्मा एवं ब्रह्म की जिज्ञासा को लेकर उद्दालक आरुणि के पास जाते हैं। पर उसको पूर्ण ज्ञान न होने के कारण वह इन लोगों को लेकर क्षत्रिय नरेश, अश्वपति कैकेय के पास जाता है जो इस विषय का अध्ययन कर रहा था। लेकिन अश्वपति उनको वैश्वानराग्नि के सम्बन्ध में थोड़ी बहुत शिक्षा देता है और इसको किए हुए यज्ञों के महत्व को बताता है। "यह ब्रह्म ही सत्यात्मा है" इस संबंध में वह कुछ नहीं कहता। हमको इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि बहुत थोड़े से ऐसे प्रसंग आते हैं जहाँ क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों को शिक्षा देते हैं परन्तु अधिकांश प्रसंगों में यही पाया जाता है कि ब्राह्मण ही आत्म ज्ञान के सम्बन्ध में वार्ता एवं उपदेश दिया करते थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि "गार्बे महोदय ब्राह्मणों के प्रति कटुता के कारण पूर्ण मनन किए बिना जल्द-बाजी में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म-विद्या क्षत्रिय प्रणीत थी। विंटरनीज भी कुछ अंश तक गार्बे महोदय से सहमत हैं और उन्होंने भी उपनिषद् के इन्हीं दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।[2] परन्तु सत्य यह है कि कुछ क्षत्रियों ने और कुछ स्त्रियों ने उपनिषदों में वर्णित धर्म और दर्शन की सत्य संबंधी जिज्ञासा में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। ये जिज्ञासु इतने उत्सुक थे कि ब्राह्मणों से शिक्षा ग्रहण करने में अथवा जो शिक्षा उन्होंने प्राप्त की है उस शिक्षा को दूसरों को देने में उन्होंने जाति, लिंग भेद आदि की चिन्ता नहीं की।[3] इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि उपनिषदों का दर्शन क्षत्रिय समाज में उत्पन्न हुआ अथवा इन उपनिषदों का विकास आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं पाया जाता जिनको ब्राह्मणों ने लिखा था।

---

[1] बृहदा० ४/३ पुनः देखिए याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश।

[2] विंटरनीज गेशिष्टे डर इनडीसेन लिटरेचर १, पृ० १९७।

[3] याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कथा (ब्राह्मण २,४) और जाबाला के पुत्र सत्यकाम और उसके गुरु की कथा (अध्याय ४/४)।

ब्राह्मण विचारधारा का आरण्यक विचारधारा में परिवर्तन होना मूल्यों के परिवर्तन का एक दूसरा चरण है। विभिन्न भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए तपस्या-चरण एवं यज्ञानुष्ठान की बजाय उसके प्रतीक स्वरूप ध्यानोपासनादि पर अधिक बल दिया जाना इस परिवर्तन का स्वरूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१, १) में हम देखते हैं कि अश्वमेध यज्ञ के स्थान पर इस सारे विश्व को अश्व के रूप में मानकर उसका ध्यान योग द्वारा यज्ञ का निर्देश है। ऊषा अश्व का शिर है, सूर्य उसके नेत्र हैं, वायु उसका प्राण है, अग्नि उसका मुख और वर्ष उसकी आत्मा है और उसी प्रकार अन्य उपमाओं से एक विराट् रूप का वर्णन किया गया है। कहा है, क्षेत्रों में चरने वाला अश्व कौन-सा है और उसकी बलि से क्या लाभ है? उत्तर है, यह प्रवहमान विश्व ही अश्व है जो बुद्धि को चमत्कृत करने वाला है और इस गतिमान प्रकृति का ध्यान ही वास्तविक अश्वमेघ यज्ञ है। ध्यान के रूप में विचारों की क्रिया ने यज्ञ के बाह्य स्वरूप और पूजन का स्थान ले लिया। विधि-विहित यज्ञानुष्ठान एवं यज्ञ सामग्री आदि का महत्व इस युग में समाप्त प्राय हो गया और उसका स्थान योग ध्यान आदि ने ग्रहण कर लिया। इसके साथ ही ब्राह्मण वर्ग के यज्ञ अनुष्ठान आदि के साथ साथ ही प्रतीकात्मक ध्यान योग प्रणाली का प्रचलन हो उठा था जिसको यज्ञ की पार्थिव क्रिया और कर्मकाण्ड से उच्च समझा जाने लगा था। ये प्रतीक केवल सूर्य, वायु आदि के रूप में बाह्य विश्व से ही नहीं लिए गए थे अपितु मनुष्य के शरीर और शरीर के अन्य जीवन तत्वों को भी इनके प्रतीक के रूप में देखा गया। इसके अतिरिक्त कुछ कुछ विशेष अक्षरों को भी प्रतीक रूप में स्वीकार कर लिया गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि इन अक्षर रूपी बीज मंत्रों का भी ध्यान और विचार विशेष रूप से श्रेयस्कर है। इस प्रकार यज्ञानुष्ठानों का महत्व धीरे-धीरे कम हो रहा था और उनके स्थान पर अनेक रहस्यमय विभिन्न क्रियाएँ अर्थपूर्ण एवं कल्याणकारी समझी जाने लगी थीं।[1] ऋग्वेद में उल्लिखित एक उक्थ को ऐतरेय आरण्यक ग्रंथ में प्राण के रूप में देखा गया है।[2] सामवेद में प्रयुक्त उद्‌गीथ को ओम्, प्राण, सूर्य और नेत्र का रूप माना गया है। छान्दोग्य के दूसरे अध्याय में साम को ओम्, वर्षा, सलिल, ऋतु, प्राण आदि के रूप में माना गया है। छान्दोग्य (३ अध्याय १६, १७) में मनुष्य को एक यज्ञ के रूप में वर्णित किया है। उसके जीवन में भूख, प्यास और दुःखों से इस यज्ञ का संस्कार प्रारम्भ होता है। उसकी जीवनचर्या में हँसना, बोलना और भोजन ग्रहण करना यही मंत्रों का उच्चारण है। सत्य, अहिंसा, श्रद्धा, दानशीलता एवं साधु-वृत्ति इस यज्ञ की दक्षिणा है। सुसस्कृत, वैदिक भारतीय का मस्तिष्क उर्वर और सुसमृद्ध था और वे चाहते थे कि वह किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाए परन्तु

---

[1] छान्दोग्य ५/११।

[2] ऐतरेय आरण्यक ५/११।

विचारों में और चिन्तन में युक्ति संगत तार्किक प्रणाली का विकास नहीं हुआ था और उसके फलस्वरूप हमें आरण्यकों में बड़े अद्भुत एवं काल्पनिक रूपक और संयोजन मिलते हैं जिनका वास्तव में एक दूसरे से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। किसी भी कार्य के लिए किसी भी प्रकार की कारणता प्रस्तुत करना निश्चित तादात्म्य के रूप में माना जाता था। ऐतरेय आरण्यक (२, १-३) में एक एक संदर्भ मिलता है जिसमें कहा गया है "तत्पश्चात् भोज्य पदार्थो के उद्गम का विषय आता है।" देवताओं से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। वर्षा से देवता की उत्पत्ति हुई, वनस्पति से वर्षा उत्पन्न हुई। अन्न से वनस्पति बनी। अन्न का उत्पादक बीज है। और प्राणियों से अन्न की उत्पत्ति हुई। प्राणियों का मूल हृदय है। हृदय का मूल मन है। "मन का मूल वाक् है। वाक् का मूल कर्म है। कर्म का मूल मनुष्य है जो ब्रह्म का निवास है।"[1]

भाष्यकार सायण के अनुसार 'ब्रह्म' के इतने अर्थ हैं--मंत्र, यज्ञ अथवा अनुष्ठान, होता, पुरोहित एवं महान हिले ब्रांत महोदय बताते हैं कि ऋग्वेद में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अभूतपूर्व है एवं पितरों द्वारा उत्पन्न माना गया है। इसका उद्गम ऋत से है, यज्ञ की ध्वनि के साथ यह उत्पन्न होता है। मंत्रोच्चार के द्वारा सवन पर्व मनाने के अवसर पर सोम रस की उत्पत्ति के साथ ब्रह्म प्रकट होता है। देवताओं की सहायता से अनेक युद्धों में सोम द्वारा रक्षित एवं स्थिर रहता है। इन मंत्रों के आधार पर हिले ब्रांत, हॉग महोदय के इस अनुमान की सत्यता पुष्ट करते हैं कि ब्रह्म एक रहस्यमय शक्ति है जिसका आह्वान अनेक प्रकार के अनुष्ठानों के द्वारा किया जा सकता है और उनकी परिभाषा के अनुसार ब्रह्म वह विचित्र शक्ति है जो विधिपूर्वक उच्चारित मंत्र श्लोकादि एवं यज्ञाहुतियों द्वारा आह्वान की जाती है अथवा उनसे प्रकट होती है।[2] मेरे विचार से यह अर्थ आरण्यक उपनिषदों में आए हुए अनेक संदर्भों के अर्थ से साम्य रखता है। इन संदर्भों में जो अर्थ आया है उसके अनुसार इसको रहस्यमय विचित्र शक्ति और महान् शक्ति के रूप में देखा गया है। इन दोनों अर्थों में परिवर्तन हो जाना कठिन नहीं है अर्थात् रहस्यमय शक्ति को महान् शक्ति के रूप में माना जा सकता है। यज्ञों का महत्व कम होने के पश्चात् भी जिनका स्थान मनन और ध्यान ने ग्रहण कर लिया था, यज्ञ की शक्तियों के बारे में विश्वास लुप्त नहीं हुआ था। इसके फलस्वरूप उपनिषदों में अनेक स्थलों में वर्णन आया है कि इस महान् शक्ति ब्रह्म का अनेक व्यक्ति ध्यान, चिन्तन और मनन करते हैं। इस ब्रह्म को अनेक प्रतीकों के रूप में देखा जाता है जिसमें मानवीय शरीर के कार्यकलाप एवं प्राकृतिक वस्तुओं को सम्मिलित किया गया है।

---

[1] ऐतरेय आरण्यक का कीथ कृत अनुवाद।

[2] ब्रह्म पर हिले ब्रान्त का लेख (ई. आर. ई.)।

यज्ञ क्रियाओं से रुचि हटकर जब ध्यान और चिन्तन में विशेष रूप से निहित होने लगी तब यज्ञों की विशिष्ट क्रियाओं को शारीरिक क्रियाओं के साथ नियोजित करते हुए ब्रह्म को इन क्रियाओं के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जाने लगा। इन क्रियाओं के सम्यक् ज्ञान के बिना ब्रह्म को समझना और प्राप्त करना कठिन है। पंचाग्नि विद्या के अर्थो प्रयोगों एवं शरीर क्रियाओं द्वारा किए जाने वाले यज्ञों के रूपक में पुनः पुनः उल्लेख किए जाने से यह सिद्ध होता है कि बहुत से लोग ऐसा सोचने लगे थे कि ध्यान के बिना कोई यज्ञ अथवा अनुष्ठान सफल नहीं हो सकता। ऋषियों ने जब इस महान् सत्य का दर्शन किया कि वह मनुष्य ज्ञान-रहित है जो देवताओं के अस्तित्व को मनुष्य के अस्तित्व से भिन्न देखता है। जिस प्रकार मनुष्य अनेक पशुओं से पोषण प्राप्त करता है उसी प्रकार देवता भी मनुष्यों से पोषण प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार यह मनुष्य को अरुचिकर होता है कि उसके पशुओं का हरण कर लिया जाए उसी प्रकार देवताओं को यह अरुचिकर है कि मनुष्य इस महान् सत्य को पहचाने।[1]

केन उपनिषद् मे यह बतलाया गया है कि देवताओं की सारी शक्ति ब्रह्म पर निर्भर है जैसे अग्नि की दाहक शक्ति, वायु की बहने की शक्ति। ब्रह्म के द्वारा ही सारे देवता और मनुष्य विभिन्न क्रियाकलापों में संलग्न होते हैं। उपनिषदों का सारा विचारक्रम यह प्रकट करता है कि यज्ञ के द्वारा उत्पन्न रहस्यमय शक्ति जो ऋत के साथ संबंधित है वह विश्व की सर्वोपरि शक्ति है। उपनिषदों में अनेक कथाएँ आती है जिनके द्वारा ब्रह्म नाम की महान् शक्ति की खोज में अनेक लोगों ने इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। जिसको प्रारम्भ में पूर्णरूपेण बहुत कम लोग ठीक रूप से समझ सके थे। इन लोगों ने ब्रह्म को एक आश्चर्यजनक प्रभावकारी शक्ति के रूप में देखा। सूर्य, चन्द्र एवं मनुष्य की चेतना शक्ति के रूप में, अनेक प्रतीकों के रूप में इस ब्रह्म शक्ति को उन लोगों ने समझने का प्रयत्न किया और सम्भवतः कुछ समय तक उनको यह संतोष रहा कि उनका ज्ञान कुछ सीमा तक पर्याप्त है। परन्तु शनैः शनैः अनुभव करने लगे कि यह ज्ञान अपूर्ण है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्म मनुष्य की अन्तरतम चेतना में निवास करता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द 'सद्' धातु से बना है जिसमें 'नि' प्रत्यय लगा हुआ है। मेक्समूलर के अनुसार इसका प्रारंभिक अर्थ गुरु के समीप उपदेश सुनने के लिए श्रद्धापूर्वक बैठना है। उपनिषद् की भूमिका में उन्होंने कहा है–संस्कृत भाषा के इतिहास और संस्कृति के

---

[1] बृहदा० १/४/१०।

अनुसार यह निश्चित ही है कि उपनिषद् का प्रारंभिक अर्थ एक ऐसी गोष्ठी से था जिसमें शिष्य गुरु के चारों ओर आदर और श्रद्धा के साथ एकत्रित होते थे।[1] ड्यूसन महोदय अपने ग्रन्थ उपनिषदों के दर्शन में कहते हैं कि इस शब्द का रहस्य अथवा रहस्यमय उपदेश के रूप में था और यह अर्थ उपनिषदों के अनेक संदर्भो से सिद्ध होता है। मेक्समूलर महोदय भी ड्यूसन के अर्थ की पुष्टि करते हैं।[2] उपनिषदों में इस प्रकार का आदेश है कि ब्रह्म ज्ञान के रहस्य को प्रकट करना उचित नहीं, यह ज्ञान ऐसे पात्र को देना चाहिए जिसने यम, नियम और संयम के द्वारा अपने आपको योग्य पात्र के रूप में सिद्ध किया हो। उपनिषदों के महान् भारतीय भाष्यकार शंकराचार्य ने उपनिषद् शब्द को 'सद्' धातु से लिया है जिसका अर्थ किया है–जो नष्ट करता है। उन्होंने कहा है कि उपनिषद् भ्रम और अज्ञान को नष्ट करती हैं और सत्य ज्ञान के दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति में सहायता करती है परन्तु यदि हम अपनी उपनिषदों में आए हुए उपनिषद् शब्द का मनन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ड्यूसन महोदय का अर्थ ही उचित एवं मान्य है।[3]

विभिन्न उपनिषदों का निर्माण एवं विकास

प्राचीनतम उपनिषद् गद्य में लिखी हुई हैं। इनके पश्चात् हमें वे उपनिषद् मिलती हैं जो लौकिक संस्कृत श्लोकों से मिलते हुए श्लोकों में लिखी हुई हैं। जैसाकि स्पष्ट है जो उपनिषदें जितनी पुरानी हैं उतनी ही उनकी भाषा पुराने ढंग की है। प्रारंभिक उपनिषदों की भाषा बड़ी प्रभावशाली, रहस्यमयी तथा शक्तिशाली है और भारतीयों के हृदय को प्रभावित कर देती हैं। इनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सरल और हृदय को प्रभावित करने वाली है। अनेक बार पढ़ने के पश्चात् भी इससे तृप्ति नहीं होती। इन पंक्तियों का भी एक अपना रोचक सौन्दर्य है। उनका अर्थ तो गरिमामय है ही। जैसाकि हमने पूर्व पंक्तियों में विवेचन किया है उपनिषद् शब्द का प्रयोग रहस्यमय सिद्धान्त एवं उद्देश्य के अर्थो में किया जाता था। अतः इनका उद्देश्य भी केवल ऐसे जिज्ञासुओं को इस ज्ञान का वितरण था जो मोक्ष की आकांक्षा से संयम और नियमों का पालन करते थे और जिनका चरित्र उच्च था और जिन्होंने अपने आप को इस योग्य बना लिया था। उन्हीं को गुरु द्वारा इस रहस्य की दीक्षा दी जाती थी। अतः धार्मिक जिज्ञासुओं के लिए उपनिषदों के शब्दों और काव्यात्मक अभिव्यक्ति शैली में एक

---

[1] मेक्समूलर कृत "ट्रांसलेशन ऑव दि उपनिषद्स" (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट) खंड १, पृ० ८१।

[2] से. बु. ऑ. ई. खंड १, पृ० ८३।

[3] ड्यूसन कृत "फिलासफी आव दी उपनिषद्स" (पृ० १०-१५)।

अद्भुत चमत्कार दृष्टिगोचर होने लगा था। इसका फल यह हुआ कि यद्यपि संस्कृत भाषा में गद्य और पद्य में नवीन प्रचलित स्वरूप भी ग्रहण होने लगे, उपनिषदों की रचना के ढंग में कोई अवसान या परिवर्तन नहीं आया। अत: यद्यपि प्रारम्भिक उपनिषदें ईसा से ५०० वर्ष पूर्व लिखी गयी थीं, नवीन उपनिषदें भी मुस्लिम काल के प्रारम्भ होने के पश्चात् भी उसी प्रकार लिखी जाती रही। इन उपनिषदों में सबसे प्रमुख और प्रारम्भिक उपनिषदें वे है जिनकी टीका शंकराचार्य ने की है। जैसे बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक एवं माण्डूक्य।[1] ध्यान देने की बात यह है कि विभिन्न उपनिषदें अपनी विषय वस्तु एवं व्याख्या में एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार उनमें से कुछ जहाँ आत्मा के एकतत्त्ववाद के ऊपर विशेष बल देती हैं वहाँ कुछ दूसरी उपनिषदें योग, तप, शैव एवं वैष्णव दर्शन अथवा शरीर विज्ञान के ऊपर विशेष प्रकाश डालती है। इन उपनिषदों को इसी कारण योगोपनिषद्, शैवोपनिषद्, विष्णपनिषद् एवं शारीर उपनिषद् नाम दिए गए हैं। ये सारी उपनिषदें मिलाकर संख्या में लगभग १०८ हैं।

आधुनिक समय में उपनिषदों के अध्ययन की पुनर्जागृति

यूरोप में उपनिषदों का परिचय किस प्रकार हुआ इसकी कहानी अत्यन्त रोचक है। १६४० में शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह जब काशमीर में ठहरा हुआ था तब उसने उपनिषदों के बारे में कुछ वार्तालाप सुने। तत्पश्चात् उसने बनारस से कितने ही पंडितों को देहली बुलाया और उपनिषदों को फारसी भाषा में अनुवाद करवाने का कार्य प्रारम्भ करवाया। शुजाउद्दौला के दरबार में फैजाबाद में फ्रांसिसी राजदूत श्री ली जैन्टील रहा करते थे। इनके एक मित्र थे जिनका नाम एंकेतील दुपरों था जिन्होंने जेन्द अवेस्ता की खोज की थी। सन् १७७५ में ली जेन्टील महोदय ने उन्हें उपनिषदों के इस फारसी अनुवाद की एक पाण्डुलिपि भेंट की। एकेतील महोदय ने इनका लेटिन भाषा में अनुवाद किया जो १८०१-१८०२ में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह अनुवाद

---

[1] ड्यूसन महोदय का मत है कि कौषीतकि उपनिषद् भी प्रारम्भिक उपनिषदों में से एक है। मेक्समूलर और श्रोदर का मत है कि मैत्रायणी उपनिषद् भी प्रारम्भिक उपनिषदों में से एक है परन्तु ड्यूसन महोदय के मतानुसार यह परवर्ती है। विंटरनीज महोदय उपनिषदों को चार कालों में विभक्त करते है। पहले काल में उनके अनुसार बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि एवं केन उपनिषदें आती हैं। दूसरे काल में काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण आती हैं। तीसरे काल में प्रश्न, मैत्रायणी एवं माण्डूक्य उपनिषदें सम्मिलित की गयी है। शेष उपनिषद् चतुर्थ काल की है।

अत्यन्त क्लिष्ट एवं दुरूह था तब भी शोपनेहॉर ने इसको बड़े उत्साह के साथ पढ़ा। शोपनेहॉर यह स्वीकार करते हैं कि इनके दार्शनिक विचारों पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम—"वैल्ट अलस विल एण्ड वास्टेलंग" है। इसकी भूमिका में लेखक ने लिखा है,[1] "इस नवीन शताब्दी में सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उपनिषदों के अनुवाद ने वेदों के अपरिमेय ज्ञान का मार्ग खोल दिया है। मेरा यह विश्वास है कि संस्कृत साहित्य का प्रभाव उतना ही गम्भीर और व्यापक होगा जितना कि १५वीं शताब्दी में ग्रीक साहित्य का पुनरुत्थान काल में हुआ था। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति ने प्राचीन भारतीय पवित्र दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है और उसको समझा है तो उसको जो कुछ मैं कहना चाहता हूं वह और भी अधिक आसानी से स्पष्ट हो जाएगा। उपनिषदों में वर्णित अनेक सूत्र जो अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं एवं अनेक संदर्भ जो क्लिष्ट हैं सम्भवत: मेरे वर्णन को सरलता एवं सुबोधता के साथ समझ सकेगा परन्तु साथ ही यह सत्य नहीं है कि मेरा वर्णन उपनिषदों में पाया जायगा।" दूसरे स्थान पर शोपनेहॉर महोदय फिर लिखते हैं—"उपनिषदों की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ कितना निश्चित, सुस्पष्ट एवं मधुर है। प्रत्येक वाक्य गंभीर (गहरा), मौलिक एवं प्रौढ़ विचारों से युक्त, सारा ग्रन्थ पवित्र एवं उच्च विचारों से आप्लावित है। यह सत्य की जिज्ञासा से ओत प्रोत है। सारे विश्व में उपनिषदों के समान कल्याणकारी एवं श्रेयस्कर कोई भी अन्य विद्या नहीं है। यह मेरे जीवन में एक विचित्र आत्मिक आनन्द देती रही है और मृत्यु पर्यन्त मेरे लिए शान्ति एवं धैर्य का कारण होंगी।"[2] शोपनेहॉर के माध्यम से जर्मनी में उपनिषदों की ओर अनेक व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित हुआ। संस्कृत के अध्ययन के प्रति रुचि बढ़ने के साथ-साथ ये ग्रन्थ यूरोप के अन्य भागों में भी प्रचलित हो गए। राजा राम मोहनराय के प्रयत्नों से बंगाल में उपनिषदों के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन मिला। इन्होंने उपनिषदों का हिन्दी, अंग्रेजी व बंगाली भाषा में अनुवाद किया तथा अपने ही खर्चे से प्रकाशित किया। श्री राय ने साथ ही बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसके मुख्य सिद्धान्त उपनिषदों से लिए हुए हैं।

---

[1] हाल्डेन एवं केम्प कृत अनुवाद, खंड १ पृ० १२,१३।

[2] उपनिषदों की अपनी भूमिका में मेक्समूलर ने कहा है (से. बु. ऑ. ई. पृ० ६२, तथा देखें पृ० ६०-६१) कि शोपनेहॉर द्वारा उपनिषदों को "उच्चतम मनीषा की उपज" बतलाया जाना, तथा इसके साथ यह तथ्य कि उपनिषदों के बहुदेववाद को उसने ब्रूनो मेलब्रांश, स्पिनोजा और स्काटस एरिजेना के बहुदेववाद से कहीं ऊँचा बतलाया है, इस महान् ज्ञान भाण्डागारों को उच्चतम स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। मैं इनके पक्ष में कुछ कहूं उससे कहीं अधिक सबल ये प्रमाण हैं।

उपनिषद् और उनकी व्याख्या

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने उपनिषदों के विभिन्न अर्थ किए हैं और अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं। ये व्याख्याएँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि जिसके कारण उपनिषदों के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हो गए हैं। इनके दर्शन के सम्बन्ध में कोई भी विवेचन करने से पहले यह आवश्यक है कि इन मतभेदों की पृष्ठभूमि की जानकारी की जाय। उपनिषदों को वेदान्त के नाम से पुकारा गया है क्योंकि वे वैदिक साहित्य के उपसंहार के रूप में लिखे गए थे। हिन्दुओं में यह विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है एवं उच्चतम सत्य तथा ज्ञान इन्हीं के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तर्क को इस धारा के अनुसार गौण स्थान दिया गया है। इसका प्रयोग केवल वेदों के द्वारा दिए हुए ज्ञान को सम्यक् रूप से निर्वचन करने में ही किया जाना उचित समझा गया है। शाश्वत सत्य और यथार्थ का दर्शन केवल उपनिषदों में ही हो सकता है ऐसी मान्यता रही है। तर्क केवल अनुभव के आलोक में उसी शाश्वत सत्य और यथार्थ का उद्घाटन मात्र कर सकता है। आधुनिक युग की यह मान्यता है कि तर्क और अनुभूति से प्रतिदिन नए तथ्यों की खोज होती है और पुराने तथ्य प्रतिदिन अपना स्वरूप बदलते रहते हैं। किसी भी सत्य सिद्धान्त के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यह अन्तिम सत्य है और इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। अतः हमें हमारी बुद्धि और अनुभव के अनुसार जिस सत्य की प्राप्ति होती है उसी से संतुष्ट होना पड़ता है। हिन्दू दर्शन के जिज्ञासुओं को यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि जहाँ तक धार्मिक सत्यों का सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध में यह मान्यता थी कि वेद और उपनिषदों में अवस्था सभी कालों के लिए जिस शाश्वत सत्य की स्थापना की है वह एक ऐसा सत्य है जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने सीमित दृष्टिकोण व अनुभव के द्वारा किसी नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का दुःसाहस करता था तो चाहे वह कितना विद्वान् हो, दुःसाहसी मात्र माना जाता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह सिद्ध करे कि उसकी स्थापना और मन्तव्य वेद और उपनिषद् के द्वारा मान्य हैं। अतः हिन्दू दर्शन की सभी शाखाओं ने अपने मत की पुष्टि में उपनिषदों की व्याख्या विभिन्न रूप से की। इन व्याख्याओं के द्वारा इन शाखाओं ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनका मत ही वेद सम्मत है अन्य वाद भ्रान्तिमय है। अतः जिस किसी व्यक्ति ने शाखा-विशेष का अनुसरण किया उसने साथ-साथ यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह वेदान्तवादी है और उसकी शाखा वेदान्त द्वारा मान्य है।

उपनिषदों में अनेक प्रकार के विचार बीजरूपेण अनेक स्थलों पर पाए जाते हैं जो किसी एक विशेष विचारधारा के क्रम में नहीं हैं अतः किसी भी एक व्याख्या को उपनिषद् की सही व्याख्या के रूप में समझाना और भी कठिन हो जाता है। अतः

प्रत्येक टीकाकार उपनिषदों के उन अर्थों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता है जिनसे उनके मत की पुष्टि होती है। जो सूत्र अथवा स्थल उनके मत के अनुरूप नहीं होते उन्हें वह स्वभावतः छोड़ देता है। उपनिषदों की विभिन्न व्याख्याओं का अध्ययन करने से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि शंकराचार्य ने जो उपनिषदों की व्याख्या की है वह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है और प्राचीन उपनिषदों के मन्तव्य को सही रूप से प्रकट करती है। अतः प्रायः शंकराचार्य के द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार ही वेदान्त दर्शन का निरूपण किया जाता है। इसीलिए शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को ही मुख्य वेदान्त दर्शन कहकर पुकारा जाता है यद्यपि ऐसी बहुत सी दूसरी शाखाएँ भी हैं जो वेदान्ती सिद्धान्तों को अपने मतानुसार विभिन्न स्वरूप देती हैं परन्तु इन सबकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार हम उपनिषदों को केवल एक विशिष्ट विचारधारा मात्र का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थ नहीं कह सकते। इनका दर्शन बड़ा समृद्ध एवं विशाल है। यह कहा जा सकता है कि यह महान् दर्शन उनके आधार पर प्रचलित अनेक दर्शनों का उद्गम स्रोत रहा है। अनेक धाराएँ इनसे विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं परन्तु विशेष रूप से हम यह कह सकते हैं कि सभी प्राचीन उपनिषदों में शंकराचार्य के अद्वैतवाद की विचारधारा प्रमुख रूप से पायी जाती हैं। आधुनिक अध्येता के लिए यह आवश्यक है कि वह सारे उपनिषदों को एक ही प्रकार के परस्पर सम्बद्ध दर्शन की शृंखला न मानकर प्रत्येक उपनिषद् के कथनों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करे और उनके अर्थों का मनन करने का प्रयत्न करे। साथ ही यह भी जानने का प्रयत्न करे कि कौन से मंत्र, कौन से श्लोक किस संदर्भ में कहे गए हैं। इस प्रकार हम उपनिषदों में सारे भारतीय दर्शन के स्वरूपों को सूत्र रूप से देखने में समर्थ हो सकेंगे और तब हम यह मालूम कर सकेंगे कि किस प्रकार विभिन्न धाराओं के आदि स्रोत हैं।

ब्रह्म जिज्ञासा-उसकी खोज के प्रयत्न एवं असफलताएँ

सभी प्रारंभिक उपनिषदों में एक आधारभूत मूल सिद्धांत पाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का वाह्य स्वरूप परिवर्तनशील है। परन्तु इस वाह्य प्रकृति के अन्तर में जो चेतन शक्ति निहित है वह शाश्वत यथार्थ है। वह इस प्राकृतिक शरीर की आत्मा है। वही आत्मा मानवीय शरीर को चेतन शक्ति प्रदान करती है। यदि हम पेरिमिनीडीस अथवा प्लेटो के ग्रीक दर्शन का अध्ययन करें अथवा कान्ट के आधुनिक दर्शन को पढ़ें तो दोनों में हमें इसी प्रकार की भावना मिलती है जिसमें एक अवर्णनीय अस्तित्व को भव्य रूप देते हुए एक महान् यथार्थ के रूप में मान्यता दी गई है। उपनिषदों के सम्बन्ध में मैं पहले यह लिख चुका हूं कि ये किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखा गया कोई क्रमबद्ध दर्शन विशेष का प्रतिपादन नहीं है। इन ग्रन्थों में अनेक विद्वानों के उपदेश,

वार्तालाप, आख्यान एवं दृष्टान्त दिए हुए हैं। स्थान-स्थान पर साधारण वाद-विवाद भी इनमें पाया जाता है। परन्तु इनमें कहीं भी पाण्डित्य अथवा तर्क की जटिल उलट फेर दिखाने का प्रयत्न नहीं किया गया। साधारण से साधारण पाठक भी इनकी सरलता और सौन्दर्य से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। ये ऋषियों के अदम्य उत्साह की परिचायक है। इनमें एक ही जिज्ञासा से प्रेरित होकर उसके शमन के लिए यत्र तत्र सर्वत्र एक ही खोज का उल्लेख है कि उसको ऐसा गुरु मिले जो उनको यह बता सके कि ब्रह्म क्या है, यह कहाँ पर स्थित है, उसका स्वरूप क्या है, उसकी प्रकृति किस प्रकार की है ?

संहिताओं के अन्तिम काल में यह धारणा अनेकत्र बद्धमूल हो उठी थी कि इस जगत् का सृष्टिकर्ता एवं पालन कर्ता एक ही देवता है जिसको प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है लेकिन यह दैविक शक्ति इस समय तक केवल एक देवता के रूप में ही देखी जाती थी। इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नही बन पाई थी। इसके स्वरूप, इसकी प्रकृति और इसकी अवस्थिति के बारे में उपनिषद् काल में दार्शनिक जिज्ञासा का विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ। प्रकृति के बहुत से दृश्यमान पदार्थ जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु आदि के रूप में इसे देखने का प्रयत्न किया गया, अनेक मानसिक क्रियाकलापों के साथ इस महान् शक्ति का साम्य करने का प्रयत्न किया गया किन्तु जिस भव्य रूप की कल्पना की गई थी उसके बारे में इन पार्थिव पदार्थों के साथ तुलना करने पर किसी प्रकार का परितोष प्राप्त नहीं हो सका। उपनिषद् काल में ऋषियों ने यह कल्पना की थी कि सृष्टि को नियंत्रण करने वाला, मानवीय भाग्य एवं विश्व चक्र का विधायक एक महान् आत्मा है जिसको परमात्मा की संज्ञा दी जा सकती है लेकिन इसकी प्रकृति और रूप के बारे में बड़ी जिज्ञासा थी। प्रश्न यह था कि प्रकृति के अन्य देवताओं के समान यह कोई शक्ति थी अथवा कोई नवीन देवता था अथवा इस प्रकार कोई देवता था ही नहीं। इस ब्रह्म जिज्ञासा के इतिहास और इसके फलस्वरूप जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसका विशद वर्णन उपनिषद् करती है।

लेकिन यदि हम केवल इस जिज्ञासा मात्र का विश्लेषण करें तो ऐसा लगता है कि आरण्यकों की कल्पना से परे इसका कोई विशेष समाधान प्रकट नहीं हो पाया था। वही प्रतीकवाद भी दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य के जीवन में प्राण शक्ति को विशेष महत्व दिया गया था। प्राण को नाक, कान, मुख आदि अन्य अवयवों से ऊपर महत्व दिया गया था। सारा शरीर का व्यापार प्राण के द्वारा ही सम्पादित होता है ऐसा माना गया था। प्राण के इस महत्व के कारण आत्मा को सर्वोच्च शक्ति मानकर आत्मा में ध्यान को नियोजित कर ब्रह्म अथवा परमात्मा को प्राप्त करने की प्रेरणा की गई थी। आकाश को अनन्त एवं व्यापक मानकर इसमें भी ब्रह्म के स्वरूप को देखने का प्रयत्न किया गया था। मन तथा आदित्य (सूर्य) को भी ब्रह्म के रूप में ध्यान

करने योग्य माना गया था। जहाँ ब्रह्म को सूर्य, वायु, प्राण, आकाश आदि के साथ समन्वित करते हुए एक विशेष शक्ति के रूप में देखा जाने लगा वहाँ यज्ञ और कर्मकाण्ड का स्थान, ध्यान और धारणा ने ले लिया, इससे यह स्पष्ट है। इस प्रकार ब्रह्म की खोज में इस काल में एक उत्कृष्ट जागृति उत्पन्न हो गई थी। इस समय एक विशेष विचारधारा ऐसी भी प्रचलित हो गई थी कि ऋषि लोग व्यर्थ ही यज्ञादि कर्मकाण्ड की भ्रांति में पड़े हुए हैं। यज्ञादि का स्थान ध्यान ने ले लिया था किन्तु केवल ध्यान ही सर्वोच्च ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है, यह धारणा भी पाई जाने लगी थी।

ध्यान द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति न होने पर ऋषि मुनियों ने ब्रह्म को सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, वायु, वज्र आदि की शक्ति के साथ समन्वित करते हुए जानने का प्रयत्न किया लेकिन उनकी वह भव्य कल्पना इनसे भी संतोष प्राप्त नहीं कर सकी जो उन्होंने ब्रह्म के सम्बन्ध में निश्चित की थी। इन सारे उदाहरणों को दोहराने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनका दोहराना केवल यहीं उबा देने वाला लगेगा सो बात नहीं है, मूल उपनिषदों में भी वह सारा वर्णन बड़ा थका देने वाला है। इससे केवल यही ज्ञात होता है कि ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने के लिए पहले अनेक प्रयास किए गए। दार्शनिक मनन, चिन्तन, ध्यान इत्यादि करते हुए ऋषि मुनियों ने ब्रह्म की खोज में अपना बहुत सा समय बिताना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनुष्ठान यज्ञादि कर्मकाण्ड में शनैः शनैः जो कमी हुई उसके पीछे भी लम्बा संघर्ष रहा। इस काल का उपनिषदीय इतिहास यह बताता है कि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए ऋषियों को कितना संघर्ष करना पड़ा और इस मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

ब्रह्म का अविदित रूप और उसके जानने का निषेधात्मक प्रकार

यह बात सत्य है कि प्रारम्भ में कुछ समय तक ब्रह्म का पूजन प्रतीक के रूप में अर्थात् यज्ञादि के फल प्रदायक देवों के लगभग समान रूप में होता रहा और ब्रह्म को जन साधारण देवता के रूप में मानने लगा। वैदिक कवि बड़े लम्बे समय से ऐसे देवताओं की पूजा करते आए थे जिनकी बाह्य शक्तियों का चमत्कार अत्यंत प्रभावशाली था। अतः ब्रह्म की कल्पना को भी वे उसी प्रकार के निश्चित स्वरूप एवं निश्चित आकार प्रकार से अविशिष्ठत करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने ब्रह्म का अनेक प्रकार के गुणों से और प्रकृति की दिव्य शक्तियों से तादात्म्य करने का प्रयत्न किया। लेकिन इससे उनको वास्तविक संतोष प्राप्त नहीं हुआ। उनकी आत्मा के अन्तरतम तल में ब्रह्म के बारे में एक अनिश्चित सी धारणा एवं दिव्य भावना थी। परन्तु वे नहीं जानते थे कि इसका वास्तविक रूप क्या है। इस भव्य स्वप्निल कल्पना को वे मूर्त रूप देने में असमर्थ थे लेकिन यह कल्पना उनको एक विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित कर

रही थी। अब वे महान् एवं उच्चतम परमात्मा के स्वरूप के पास ही थे। किसी भी छोटी मोटी पार्थिव कल्पना से संतुष्ट होने वाले वे नहीं थे।

ब्रह्म को जिसे उन्होने अन्तिम एवं शाश्वत सत्य के रूप में देखा था वे परिभाषित नहीं कर पा रहे थे, उसे कोई भी निश्चयात्मक आकार नहीं दे पा रहे थे। यद्यपि उन्होने इस दिशा में अनेक प्रयत्न किए परन्तु उसके लिए कोई भी निश्चित परिभाषा असम्भव प्रतीत हुई। जब उनके लिए ब्रह्म की निश्चयात्मक परिभाषा करना कठिन हो गया तब उन्होने अवर्णनीय तथ्य को प्रकट करने के लिए निषेधात्मक शब्दावली का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार यह कहा गया कि परमात्मा हमारे अनुभव में आए हुए सभी वस्तुओं से भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने कहा है "वह परमात्मा न यह है, न वह है (नेति नेति)। वह कल्पनातीत है क्योंकि उसके स्वरूप की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। वह परिवर्तनशील नही है क्योंकि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, उसको छुआ नहीं जा सकता, वह शस्त्र के विद्ध नहीं होता, वह अक्षत है अर्थात् उसे किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती, उसे किसी प्रकार की चोट नहीं लग सकती।"[1] वह असत् है अर्थात् वह अस्तित्वहीन है क्योंकि ब्रह्म का जो अस्तित्व है वह साधारण बुद्धि एवं अनुभव से परे है। फिर भी उसका अस्तित्व है क्योंकि विश्व में केवल उसका ही यथार्थ अस्तित्व है, और यह विश्व उस महान् आत्मा के आधार पर स्थित है। हम सब स्वयं ब्रह्म हैं परन्तु हम नहीं जानते कि ब्रह्म क्या है। हमारा अनुभव ज्ञान और अभिव्यक्ति सीमित है परन्तु वह असीम (सीमा रहित) और इस जगत् का आधार है। "वह परमात्मा शरीरहीन, निराकार है, अविनाशी है। वह गन्धहीन एवं रसहीन है। वह अजर, अमर है, शाश्वत है और महान् से भी महान् है, वह स्थिर है जो इसे जानता है वह मृत्यु से छुटकारा पा जाता है।"[2] वह स्थान, काल और क्षणभंगुरता के बंधन में बंधा हुआ नहीं है क्योंकि वह उनका आधार है और साथ ही उनसे परे है। वह अनन्त है, विशाल है और साथ ही लघु से भी लघु है। छोटी से छोटी वस्तु से भी छोटा है। वह यहाँ भी है और वहाँ भी है। वहाँ इसी प्रकार स्थित है जैसे यहाँ पर है जैसे यत्र, तत्र, सर्वत्र है, उसका कोई निश्चित स्वरूप वर्णित करना असम्भव है। उसके बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि वह निर्गुण है, वर्णनातीत है। किसी भी प्रकार की परिभाषा अथवा सम्बन्ध से परे है। इस पार्थिव

---

[1] बृहदा० ४, ५, १५। ड्यूसिन, मेक्समूलर और रोग्रर ने इस संदर्भ का अर्थ ठीक रूप में नहीं किया। असितो शब्द का निर्वचन विशेषण के रूप में किया गया है यद्यपि इस बात का कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं होता। यह असि शब्द का रूप है जिसका अर्थ है तलवार।

[2] कठ, ३-१५।

विश्व के जितने भी भौतिक उपादान हैं जो कार्य कारण के नियम से संचालित हैं उन सब नियमों से वह स्वतंत्र है। स्थान, काल और कारणों के बन्धन से मुक्त है। वाष्कलि ने एक बार बाह्व से ब्रह्म के स्वरूप में जिज्ञासा प्रकट की। तब उस प्रश्न के उत्तर में बाह्व मौन धारण कर शान्त हो गए। "महर्षे, मुझे ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश दो," वाष्कलि ने कहा किन्तु बाह्व फिर भी मौन रहे। परन्तु जब वाष्कलि ने दो तीन बार यह प्रश्न पूछा तब बाह्व ने उत्तर दिया कि, "मैं ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की ही तो शिक्षा दे रहा हूं। परन्तु तुम समझ नहीं पा रहे हो। उसकी सर्वोत्तम परिभाषा मौन है क्योंकि शब्दों से उसका बोध नहीं हो सकता। उसके वर्णन का एक ही मार्ग है। नेति नेति (नहीं नहीं) के द्वारा ही हम उसके बारे में कह सकते हैं। क्योंकि कोई भी परिभाषा हमारी कल्पना और विचारधारा से सीमित होती है अतः उस असीम की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती।

आत्म सिद्धान्त

उपनिषदों की सारी शिक्षाओं का सार इसको सिद्ध करने में निहित है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। हम यह देख चुके हैं कि ऋग्वेद में आत्मा को कभी विश्व की आधारभूत चेतन शक्ति के रूप में और कभी मनुष्य के प्राण रूप में देखा गया है। फिर उपनिषदों में ऐसा वर्णन आता है कि विश्व में व्याप्त चेतन शक्ति ब्रह्म है और मनुष्य में जो चेतन् शक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। उपनिषद् इस बात पर पुनः पुनः बल देते हैं कि ये दोनों चेतन शक्तियाँ एक ही हैं। इस स्थान पर प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का आधार तत्त्व क्या है? मनुष्य के आत्म तत्त्व के बारे में एक अनिश्चयात्मक भावना है अर्थात् इसका स्वरूप अस्पष्ट सा है। अन्न से निर्मित मनुष्य के भौतिक शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है लेकिन इस अन्नमय कोष के अन्दर जो मनुष्य की प्राणदायिनी शक्ति है उसको प्राणमय आत्मा के रूप में वर्णित किया है अथवा प्राणमय कोष कहा गया है। इस प्राणमय कोष से भी सुक्ष्म मनन शक्ति को मनोमय आत्मा के रूप में पुकारा गया है। मन से सूक्ष्म मनोमय कोष के अन्तर्गत जो चेतन तत्त्व है उसे विज्ञान-मय आत्मा अथवा विज्ञान कोष के रूप में वर्णित किया है। इस विज्ञानमय कोष के अन्तर में निहित सूक्ष्मात्म कोष आनन्दमय आत्मा अथवा आनन्दमय कोष है जो आत्म तत्त्व का अन्तिम आधार है और जो दिव्य विशुद्धानन्द का स्थान है। शास्त्रों में कहा गया है, "वह आनन्दमय हो जाता है जिसको इस आनन्द की प्राप्ति होती है। वह दिव्यामृत का पान करता है। यदि वह आकाश आनन्दमय नहीं होता तो कौन इस विश्व में जीवित रह सकता और कौन प्राण धारण कर सकता? जो आनन्द का व्यवहार करता है वह आनन्दस्वरूप हो जाता है। जिस किसी को उस वर्णनातीत, अदृश्य, अवर्ण्य, अनाधार, विश्वातीत की प्राप्ति हो जाती है वह निर्भय हो जाता है,

परन्तु जहाँ आत्मा और परमात्मा में भेद की अनुभूति है वहाँ संसार के सारे भय उनको सताते हैं ।"[१]

एक दूसरे स्थान पर प्रजापति ने कहा है, "जो आत्मा पाप से मुक्त है, अजर और अमर है, भूख प्यास आदि के बंधों से परे है जो सद्विचार सदिच्छाओं से युक्त है ऐसी आत्मा की खोज आवश्यक है । ऐसे आत्म तत्त्व का चिन्तन और मनन करने से और इस आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने पर सारी जिज्ञासाओं की तृप्ति और पूर्ति हो जाती है ।"[२] देवता और दैत्यों ने प्रजापति से ऐसा सुनकर इन्द्र और विरोचन को अपने अपने प्रतिनिधि के रूप में प्रजापति से आत्म तत्त्व के बारे में ज्ञान ग्रहण करने के लिए भेजा । प्रजापति ने उनको शिक्षा देना स्वीकार कर लिया । एक पात्र में जल भरकर उन्होंने दोनों शिष्यों को आज्ञा दी कि वे उसमें अपना स्वरूप देखें और बतावें कि वे उसमें अपने आपको कितना देख पाते हैं । इस पर उन दोनों ने उत्तर दिया कि 'हम पूर्णरूपेण अपने आप को इसमें देख सकते हैं यहाँ तक कि हमारे नख और बाल भी उसमें दिखाई दे रहे हैं ।' तब प्रजापति ने कहा 'जो तुम देखते हो वही आत्मा है वह भय से रहित, मृत्यु से मुक्त, आत्म तत्त्व है, वही ब्रह्म है ।' इस पर वे दोनों प्रसन्न होकर चले गए लेकिन प्रजापति ने सोचा कि ये दोनों आत्म तत्त्व का अनुभव किए बिना ही, उसको बिना समझे ही, चले जा रहे हैं । विरोचन इस विश्वास को लेकर वापिस लौट आया और कहा कि यह शरीर ही आत्मा है । परन्तु इन्द्र देवताओं के पास न जाकर वापिस प्रजापति के पास लौट आए । उनके मन में अनेक संशय और जिज्ञासाएँ थीं । उन्होंने प्रजापति से कहा कि यदि यह बाह्य स्वरूप ही आत्म तत्त्व है तो शरीर के सुन्दर वस्त्र धारण करने पर सुसज्जित और स्वच्छ होने पर यह भी स्वच्छ एवं अलंकृत हो जाएगा और उसी प्रकार शरीर के नेत्रहीन अथवा एकाक्ष होने पर यह आत्मा भी अन्धा अथवा काणा हो जाएगा । उसी प्रकार यदि यह शरीर क्षत-विक्षत होता है तो आत्मा भी पंगु हो जाएगी और यह शरीर नष्ट होता है तो आत्मा भी नष्ट हो जाएगी । अतः आपके बताए इस सिद्धान्त से मुझे सन्तोष नहीं होता । यह सिद्धान्त सुन्दर प्रतीत नहीं होता । प्रजापति ने तत्पश्चात् उसे पुनः उपदेश दिया कि जो स्वप्न को देखता है वह आत्मा है । वह मृत्यु और भय से परे है अतः वह ब्रह्म है । इन्द्र ऐसा सुनकर चल दिए लेकिन फिर उन्हें संशय हुआ और उन्होंने फिर वापिस आकर कहा कि यद्यपि यह सत्य है कि जो (मनस्तत्त्व) कल्पना और स्वप्न को देखता है वह शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता, शरीर के साथ अन्धा अथवा काणा नहीं होता, क्षत-विक्षत भी नहीं होता परन्तु यह कष्टों से और दुःखों से व्याप्त है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह इनसे प्रभावित होता रहता है, रोता रहता है ।

---

[१] तैत्तिरीय २, ७ ।

[२] छान्दोग्य ८, ७, १ ।

अतः यह सिद्धान्त भी मुझे मान्य नहीं है। प्रजापति ने तब उसको और अधिक उच्च स्तर की शिक्षा दी और कहा "जब कोई मनुष्य पूर्ण तुष्टि के साथ प्रगाढ़ निद्रा में सोया रहता है और जब उसको कोई स्वप्न दिखाई नहीं देता तब मृत्यु और भय से रहित जो चेतना है वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।" इन्द्र देव पुनः विदा लेकर चल दिए परन्तु थोड़ी देर पश्चात् उनके मन में फिर से अनेक शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं और वे वापिस लौट आए। उन्होंने प्रजापति से कहा निद्रा अवस्था में आत्मा अपने आप को नहीं जानती न उसको किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान रहता है। एक प्रकार से वह आत्मा उस काल में लुप्त और विनष्ट हो जाती है। मुझे इस सिद्धान्त में भी औचित्य नहीं दिखाई देता। जब प्रजापति ने यह देखा कि इन्द्र को क्रमिक रूप से जो उच्च स्तर की शिक्षा दी उससे संतोष नहीं हुआ और वह प्रत्येक बार अपनी योग्यता के कारण दी हुई शिक्षाओं के अधिकाधिक गहनतल तक पहुंचकर सत्य को खोजने में समर्थ रहा तब उन्होंने अन्तिम और उच्चतम शिक्षा दी और आत्मा के सम्बन्ध में सत्य का निर्देश किया। "यह शरीर अमर एवं अपार्थिव आत्मा का आधार है। शरीर धारण करने के पश्चात् आत्मा को आनन्द, सुख व दुःख होता है। जब तक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है तब तक सुख और दुःख से आत्मा मुक्त नहीं हो सकती परन्तु शरीर के बंधन से मुक्त होने पर आत्मा को सुख और दुःख प्रभावित नहीं कर सकते।"[1]

जैसा इस दृष्टान्त से विदित है कि उस समय के दार्शनिक मनीषी ऐसे अपरिवर्तनशील और ऐसे तत्त्व की खोज में थे जो किसी प्रकार के परिवर्तन की सीमाओं से परे था। इस आन्तरिक सत्य को कभी कभी एक ऐसी चेतना के रूप में वर्णित किया गया है जो भौतिक पार्थिव जगत् के परे है जो वास्तविक यथार्थ है अर्थात् जो सत्य है जो आनन्दमय शिव है। यह दृश्यमान जगत् को देखने वाला है, श्रव्य जगत् का सुनने वाला है एवं जो कुछ ज्ञातव्य है उसको जानने वाला है। यह सब कुछ देखते हुए दिखाई नहीं देता। सब कुछ सुनता है परन्तु स्वयं सुनाई नहीं देता। यह सब कुछ जानता है लेकिन स्वयं अज्ञेय है। यह सब दीप्तिमान वस्तुओं की दीप्ति है। यह एक लवण खंड के समान है जिसका आभ्यन्तर और बाह्य भिन्न नहीं है परन्तु जो सारा का सारा लावण्यमय है। इसी प्रकार इस आत्मा का न कोई आभ्यन्तर है न कोई बाह्य है। लेकिन यह सारा आत्मा ज्ञानमय है। आनन्द इसका गुण नहीं है परन्तु यह आनन्दमय है। ब्रह्म की स्थिति की तुरीयावस्था (स्वप्नहीन निद्रा, ज्ञानमय निद्रा) से तुलना की गई है। जो इस आनन्द को प्राप्त कर लेता है उसको किसी प्रकार का भय नहीं रहता। तब यह आत्मा पुत्र, भ्राता, पति-पत्नी, धन और समृद्धि इन सबसे अधिक प्रिय लगता है। इसके द्वारा और इसके कारण ये समस्त वस्तुएँ उनको प्रिय एवं

---

[1] छान्दोग्य, अध्याय ८, ७, १२।

महत्वपूर्ण लगती हैं। यह अन्तरतम में निहित आत्मा समस्त वस्तुओं से भी अधिक प्रिय है। जितने सांसारिक बंधन हैं वे दुःख के कारण हैं। अनन्त असीम ब्रह्म ही उच्चतम आनन्द का द्योतक है। जब मनुष्य को इस महान् आनन्द की प्राप्ति होती है तब वह ब्रह्मानंद में लीन हो जाता है क्योंकि यदि यह आकाश इस आनंदमय अमृत तत्त्व से आच्छन्दित नहीं होता तो ऐसा कौन मनुष्य है जो एक क्षण के लिए भी श्वास ले सकता अथवा जीवित रह सकता? वह ब्रह्म ही आनन्दमय है। जब मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है जब उसे अवर्णनीय इन्द्रियातीत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी उसे वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्थान

मनुष्य के शरीर में ही केवल आत्मा नहीं है अपितु विश्व के सभी पदार्थों में जैसे सूर्य, चन्द्र एवं पार्थिव जगत् में भी एक चेतन तत्त्व व्याप्त है, इस विश्व में व्याप्त वही चेतन आत्मा ब्रह्म है। इस आत्मा से परे और कुछ भी नहीं है अतः इसके परे और कोई तत्त्व विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी के खंड को जानने के पश्चात् जो कुछ उससे बना हुआ है उसको आसानी से जाना जा सकता है; जैसे काले लोहे के खंड को जान लेने के पश्चात् जो कुछ उस धातु से बना हुआ है उसको पहिचाना जा सकता है, इसी प्रकार इस आत्मा रूपी ब्रह्म को जानने के पश्चात् सब कुछ जान लिया जाता है। मनुष्य में और विश्व में जो चेतन तत्त्व है वह एक ही ब्रह्म का रूप है।

अब प्रश्न यह उठता है कि रंग, रूप, गन्ध, ध्वनि एवं रस युक्त जो यह विश्व है और जो विश्व के भौतिक व्यापार हैं उनको किस रूप में जाना जाए। लेकिन हमें यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उपनिषदों में दर्शन की किसी तर्कयुक्त प्रणाली अथवा मत वाद का शास्त्रीय संविधान नहीं किया गया है, उपनिषद् तो उन दृष्टाओं और मनीषी ऋषियों के स्वप्नों को वाणी देती हैं जो इस ब्रह्म की प्रेरणा से ओतप्रोत थे। वे ब्रह्म की एक रूपता और प्रकृति की अनेक रूपता के विरोधाभास को नहीं देखतीं। अनेक रूपी प्रकृति की वास्तविकता को देखकर वे इसे स्वीकार करती हैं फिर भी साथ ही यह घोषित करती हैं कि ये सब ब्रह्म ही है। यह सब प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है और ब्रह्म में ही लीन हो जाएगी। इस ब्रह्म ने उस प्रकृति को अपने आप से ही प्रकट किया है फिर वह स्वयं अन्तर्यामी के रूप में इस प्रकृति के कण कण में व्याप्त है। इस प्रकार यहाँ एक प्रकृति और ब्रह्म के द्वैतवादी रूप का संकेत स्पष्ट ही मिलता है जिसमें ब्रह्म प्रकृति को नियंत्रित करता है। यद्यपि दूसरे स्थानों पर बड़े विश्वस्त रूप से ऐसा कहा गया है कि ये केवल नामों और रूपों मात्र का ही भेद है। जब ब्रह्म को जान लिया तो और सब कुछ जान लिया। इन दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करने

का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है जैसाकि वेदान्त के महान् आचार्य शंकर ने इन दो अर्थ वाले संदर्भों को समझाने का प्रयत्न किया है। इस विश्व को सत्य के रूप में माना गया है परन्तु इसमें जो कुछ यथार्थ है वह केवल ब्रह्म है। ब्रह्म के कारण ही अग्नि जलती है और वायु प्रवाहित होता है। इस सकल विश्व में ब्रह्म ही सक्रिय तत्त्व है और फिर भी वह सबसे अधिक शांत व अचल है। यह विश्व ही उसका शरीर है और वह स्वयं इसके अन्तर में निवास करने वाली आत्मा है। "वह सृष्टि कर्ता है। उसकी इच्छा के अनुसार ही सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। वह रस और गन्ध का स्वामी है, सर्व व्यापक है, शांत है और शाश्वत है जो किसी वस्तु से प्रभावित नहीं होता।"[1] वह ऊपर नीचे, पीछे और सामने, दक्षिण व उत्तर सभी दिशाओं में अवस्थित है। वह यह सब है।[2] "पूर्व व पश्चिम से प्रवाहित होने वाली जिन नदियों का समुद्र से ही उद्गम है वे पुनः समुद्र में विलीन होकर समुद्र बन जाती हैं यद्यपि वे इसको नहीं जानतीं। इसी प्रकार प्राणी मात्र उस महान् आत्मा से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं और ये नहीं जानते कि वे उस महान् चेतन तत्त्व के ही अंश हैं। विश्व में जो सूक्ष्मतम तत्त्व है वह आत्मा है और वह सब यथार्थ सत्य है। हे श्वेतकेतु तुम वही आत्मा हो।"[3] जैसे ड्यूसन महोदय कहते हैं–ब्रह्म काल के पूर्व कारण रूप में विद्यमान् था और यह प्रकृति इस महान् कारण से कार्य रूप में उत्पन्न हुई। यह विश्व आन्तरिक रूप से ब्रह्म के ऊपर निर्भर है। वास्तव में ब्रह्म का ही स्वरूप है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि ब्रह्म ने इस प्रकृति को स्वयमेव उत्पन्न किया है। इसी प्रकार मुंडक उपनिषद् के पहले अध्याय १, ७ श्लोक में भी कहा है–

"जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल के तन्तुओं को स्वयं में से उत्पन्न करती है और फिर समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी में से वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार मनुष्य के सिर पर और जीवित शरीर पर केश उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अविनाशी ब्रह्म से प्रकृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी के प्रतिरूप सहस्त्रों की संख्या में स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से अनेक जीवधारी प्राणी उत्पन्न होकर पुनः उसी में समा जाते हैं।"[4]

यह विश्व-सिद्धांत सबसे अधिक प्रिय है और उपनिषद् की उच्चतम शिक्षा है। "वह तुम ही हो (तत्त्वमसि)।"

---

[1] छान्दोग्य, अध्याय ३। १४, ४।

[2] वही, ७। २५ १, तथा मुण्डक, २-२-११।

[3] छान्दोग्य, अध्याय ६, १०।

[4] ड्यूसन द्वारा रचित, फिलासफी ऑव द उपनिषद्स, पृ० १६४।

इस सिद्धांत के विकास के साथ कि ब्रह्म इस विश्व को संचालित करता है, वही अन्तर्यामी है और प्रकृति की सभी शक्ति में और कण कण में वह विद्यमान है, प्राणी मात्र की आत्मा, संसार के सारे कार्य उसकी इच्छा से सम्पादित होते हैं और उसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नही कर सकता, इन सबसे एक अन्य आस्तिकवादी विचारधारा का जन्म हुआ जिसमें ब्रह्म एक ऐसे परमात्मा के रूप में माना जाने लगा जो सबसे अलग और साथ ही सारे विश्व को संचालित करने वाली अतिमानुष शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। ऐसा कहा गया है कि सूर्य और चन्द्र पृथ्वी और आकाश परमात्मा की इच्छा के अनुसार अपने अपने स्थान पर स्थित हैं।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रसिद्ध श्लोक में आत्मा और परमात्मा का भेद बतलाते हुए कहा है–

"दो दिव्य पंखों वाले अभिन्न हृदय मित्र एक ही वृक्ष के चारों ओर उड़ रहे हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के मीठे फलों का रसास्वादन करता है और दूसरा बिना कुछ खाए केवल नीचे देखता रहता है।"[2]

लेकिन इस आस्तिकवादी धारा के होते हुए भी और अनेक स्थानों पर ईश अथवा ईशान शब्द के प्रयोग के बावजूद भी इसमें कोई संदेह नहीं दिखाई देता कि आस्तिकवाद इसके वास्तविक अर्थ में कभी भी प्रमुख नहीं रहा। विश्व के महान् स्वामी के रूप में उसे मानने की अवधारणा भी इस कारण है कि आत्मा का एक महान् सक्रिय तत्त्व के रूप में इस विश्व में कौषीतकि उपनिषद् में तृतीय अध्याय के ९वें श्लोक में कहा है– "वह शुभ कर्मो से न महान् होता है और न दुष्ट कर्मों से उसके गौरव में किसी प्रकार की कमी आती है परन्तु जिसे वह उत्थान की ओर ले जाना चाहता है उसे वह पुनः शुभ कर्मो की प्रेरणा देता है और जिस पर उसकी कृपा नहीं होती है वह अशुभ कर्मों के करने के लिए उद्यत हो जाता है। वह विश्व का संरक्षक है, विश्व का अधिष्ठाता एवं स्वामी है, वही मेरी आत्मा है।" इस प्रकार परमात्मा अपनी महानता के बावजूद आत्मा के रूप में देखा गया है। दूसरे अन्य संदर्भों में कई स्थानों पर ब्रह्म को विश्वव्यापी एवं सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म को एक शाश्वत सत्तावान् वृक्ष कहा गया है। वह एक ऐसा अमर वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर उत्पन्न होती हैं और जिसकी शाखाएँ नीचे होती हैं। सारी सृष्टियाँ उस पर आधारित हैं और कोई उसके परे नहीं है। यह वह है–"जिसके भय से अग्नि जलती है, सूर्य चमकता है, जिसके भय से इन्द्र और वायु संचालित होते हैं तथा पाँचवा मृत्यु भी जिसके भय से ही संचालित है।"[3]

---

[1] बृहदा०, अध्याय ३,८,१।

[2] श्वेताश्वतर ४/६ तथा मुंडक ३/१/१, साथ ही ड्यूसन कृत "फिलासफी ऑव द उपनिषद्स, में इसका अनुवाद (पृ० १७७)।

[3] कठ २/६/१ और ३।

यदि हम उपनिषदों के छोटे-छोटे उप मतों की चिन्ता न करें और उनकी प्रमुख विचारधाराओं पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दर्शन के अनुसार इस संसार में ब्रह्म को ही यथार्थ सत्य के रूप में माना गया है। ब्रह्म अथवा परमात्मा के अनन्तर और जो कुछ है वह सब असत्य है, अर्थहीन है। दूसरी प्रमुख विचारधारा जो अधिकांश उपनिषद् शास्त्रों में पाई जाती है वह बहुदेववादी विचारधारा है जिसमें आत्मा अथवा ब्रह्म को व्यापक विश्व के रूप में माना गया है अथवा जिसमें प्रकृति और परमात्मा में कोई भेद नहीं माना गया है। तीसरी विचारधारा वह ईश्वरवादी मत है जिसके अनुसार ब्रह्म को इस सकल विश्व का महान् संचालक एवं अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सारी विचारधारा अनिश्चित रूप में थी और किसी एक विशेष विचारधारा का क्रमबद्ध, ठोस विकास नहीं हुआ था। अतः उत्तरकाल में वेदान्त के महान् आचार्य शंकर और रामानुज इनके विभिन्न अर्थों पर सदैव विवाद करते रहे क्योंकि वे चाहते थे कि इस दर्शन में तर्कयुक्त क्रमबद्ध वैदान्तिक दर्शन प्रणाली को वे सिद्ध कर सकें। इस प्रकार माया का यह सिद्धान्त जिसका थोड़ा वर्णन बृहदा० में मिलता है और ३ बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी पाया जाता है, शंकर के वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार बन जाता है। इस दर्शन के अनुसार विश्व में केवल ब्रह्म ही सत्य है, और दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ब्रह्म के अतिरिक्त और सब माया है।[1]

विश्व या संसार

हम यह देख चुके हैं कि प्रकृति रूप समस्त विश्व ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसमें चेतन तत्त्व है। यह विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। हम यह मानते हुए भी कि प्रकृति और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं उस संसार को नहीं नकार सकते जिसका हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव एवं साक्षात् होता है। शंकर के मतानुसार बाह्य प्रकृति को उपनिषदों में जान बूझकर इसलिए मान्यता दी गई है कि ब्रह्म की वास्तविकता और सत्य को जान लेने के पश्चात् सृष्टि स्वयमेव असत्य दिखाई देने लगेगी और इस प्रकार प्रकृति को यथार्थ आपेक्षिक सत्य कहा जा सकेगा। परन्तु शंकराचार्य के इस मत को हम इस यत्किंचित् रूपान्तरण के साथ स्वीकार कर सकते हैं कि उपनिषद्कार ऋषि मुनियों ने किसी उद्देश्य विशेष से दृढ़तापूर्वक इस बात की धारणा प्रतिपादित नहीं की है कि दृश्य जगत् एक आपेक्षिक सत्य है। वे यद्यपि ब्रह्म को परम तत्त्व के रूप में मानते हैं तथा ब्रह्म के भीतर सभी वस्तुओं को असत्य मानते हैं तब भी वे इस पार्थिव प्रकृति की सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते थे इसलिए उनके दर्शन में इसकी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो गया था। अतः इस पार्थिव प्रकृति की

---

[1] बृहदारण्यक २, ५, ९। श्वेताश्वतर १/१०, ४/९, १०।

भौतिक सत्ता के साथ ब्रह्म की अन्तिम एवं वास्तविक सत्य होने की स्थिति के विरोधाभास को मिटाने के लिए उन्होंने यह स्वीकार किया कि प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है। यह उसी की सत्ता से संचालित है एवं उसी में विलीन हो जाएगी।

इस प्रकृति के दो स्वरूप विशेष रूप से वर्णित किए गए हैं। (१) चेतन प्रकृति (२) अचेतन (जड़) प्रकृति। जो भी चेतन वस्तुएँ हैं अथवा जीवधारी पदार्थ हैं, वनस्पति, पशु अथवा मनुष्य सभी प्राणियों में आत्मा है।[1] ब्रह्म ने अनेक रूपों में प्रकट होने की इच्छा की और अग्नि (तेजस्व), जल (अप) और पृथ्वी (क्षिति) को उत्पन्न किया। तब स्वयंभू ब्रह्म ने इन तीनों में प्रवेश किया और इनके विनियोग से संसार के अन्य सब पदार्थ उत्पन्न हुए।[2] इस प्रकार विश्व में सब पदार्थ इन तीनों तत्त्वों के संमिश्रण से उत्पन्न हुए। इन आदि तत्त्वों के त्रिगुणात्मक विभाजन में सांख्य दर्शन की उस विचार धारा का सूत्रपात होता है जिसमें शुद्ध सूक्ष्म तत्त्व (तन्मात्रा) और भौतिक तत्त्वों का विभेद किया गया है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक भौतिक अथवा मिश्रित तत्त्व आदि तत्त्वों के कणों से बना हुआ माना गया है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ८वें श्लोक में कहा गया है कि मिश्रित भौतिक तत्त्व उनके सूक्ष्म तत्त्व से भिन्न है जैसे पृथ्वी का सूक्ष्म तत्त्व और पृथ्वी मात्रा भिन्न है। तैत्तिरीय उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक में आकाश तत्त्व को ब्रह्म से उत्पन्न माना है और अन्य तत्त्व वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में कहा है कि इनमें से प्रत्येक की उत्पत्ति उस सूक्ष्म तत्त्व से हुई है, जो इनसे पूर्व इनके सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में विद्यमान थे।

विश्वात्मा

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर से उसकी आत्मा का सम्बन्ध है उसी प्रकार विश्व के भौतिक शरीर का एक चेतन आत्मा से संबंध है। इसकी व्याख्या सर्वप्रथम ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १२१वें सूक्त के प्रथम मंत्र में आती है। इसके अनुसार आदिम जल से सर्व प्रथम इस आत्मा की उत्पत्ति हुई। श्वेताश्वर उपनिषद् के तीसरे अध्याय, चतुर्थ श्लोक, चतुर्थ अध्याय के १२वें श्लोक में दो बार ऐसा प्रसंग आता है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इसके पूर्व किसी उपनिषद् में इस आत्मा का उल्लेख नहीं पाया जाता। दो संदर्भों में जहाँ इस आत्मा का वर्णन आया है वहाँ इसका पौराणिक स्वरूप स्पष्ट है। इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति के क्रम में यह तत्त्व सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ ऐसा माना जाता है परन्तु ब्रह्म अथवा आत्मा संबंधी दर्शन के विकास मेंइसका कोई स्थान

---

[1] छान्दोग्य, ६, २।

[2] छान्दोग्य, अ० ६। २, ३, ४।

अथवा महत्व नहीं है। उपनिषदों के प्रारंभिक विकास में पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ आदि का कोई मुख्य उल्लेख न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की ऐकेश्वरवादी विचारधाराओं से उपनिषदों का सीधा सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। श्वेताश्वतर में आए हुए इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के १२१वें सूक्त के १०वें मंडल में जो हिरण्यगर्भ को महत्व एवं प्रमुख स्थान दिया गया है उसकी उपेक्षा उपनिषदों में कर दी गई है तथा उसको साधारणतया अन्य उत्पन्न वस्तुओं के समानान्तर रख दिया गया है। हिरण्यगर्भ सिद्धांत के दार्शनिक महत्व को समझाते हुए ड्यूसन महोदय कहते है "सारी भौतिक प्रकृति का आधार ज्ञानमय सक्रिय चेतन तत्त्व है।" भौतिक प्रकृति का आधार यह सक्रिय चेतन तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है परन्तु यह उससे अभिन्न नहीं है। भौतिक पदार्थ काल गति से नष्ट हो जाते हैं परन्तु प्रकृति विनष्ट नहीं होती एवं उन भौतिक पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी प्रकृति उसी प्रकार स्थित रहती है। अतः अनन्त सक्रिय चेतन तत्त्व इस प्रकृति का आधार है जिसे हिरण्यगर्भ कह सकते हैं। इस चेतन तत्त्व में आकाश और काल निहित है और इसी से इनकी उत्पत्ति होती है अतः यह स्वयं काल और आकाश से परे हैं और तदनुसार आनुभविक दृष्टिकोण से इसकी कोई 'स्थिति' नहीं है, यह अभूत है, यह यथार्थ सत्य न होकर दार्शनिक सत्य है।[1] मेरे मत के अनुसार यह तर्कसंगत नहीं दिखाई देता क्योंकि हिरण्यगर्भ के सिद्धांत का उपनिषदों में कोई दार्शनिक महत्व नहीं है।

कारण सिद्धान्त

कारण सिद्धांत की उपनिषदों में कोई तर्क संगत व्याख्या नहीं मिलती। वेदान्त दर्शन के अन्तिम आचार्य शंकर ने सदैव इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उपनिषदों में कारण सिद्धांत को केवल परिवर्तन का आधार माना गया है क्योंकि कारण प्रकृति में स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल परिवर्तन का आभास प्रतीत होता है। इसको शंकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् (६ अध्याय, पहला श्लोक) से कई उदाहरण लेते हुए बताया है। भौतिक पदार्थों से निर्मित वस्तुएँ जैसे मिट्टी का जल पात्र, अपने आकार, जैसे घड़ा, में परिवर्तन होने के उपरांत भी वास्तविक तत्त्व रूप में मिट्टी का खंड ही है; यद्यपि इसके स्वरूप में अनेकरूपता एवं विभिन्नता है परन्तु घड़ा, थाली, पात्र आदि केवल नाम मात्र से ही अलग-अलग दिखाई देते हैं। रूप अथवा नाम के वाह्य आवरण को छोड़कर देखने पर सबके मूल तत्त्व में मिट्टी ही छिपी हुई है। इसी प्रकार आदि कारण अपरिवर्तनशील ब्रह्म ही शाश्वत ध्रुव सत्य है। वाह्य रूप से प्रकृति का अनेक रूपों में परिवर्तन होते हुए यद्यपि हमें ऐसा आभास

---

[1] ड्यूसन कृत "फिलासफी ऑव द उपनिषद्स", पृ० २०१।

होता है कि यह भौतिक प्रकृति सत्य है परन्तु यह भौतिक जगत् आभास मात्र है; उसी ब्रह्म की माया है जो मृग मरीचिका की भांति सत्य दृष्टिगोचर होते हुए भी सत्य नहीं है। ब्रह्म ही इस विश्व में एक मात्र सत्य है। केवल उसी की स्थिति यथार्थ स्थिति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण उपनिषदों में अत्यन्त साधारण एवं अपूर्ण ढंग से कहीं-कहीं पर प्रस्तुत किया गया है परन्तु इसके साथ ही एक दूसरा दृष्टिकोण भी दिया गया है। जिसमें प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विभिन्न स्थितियों में अनेक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया से कारण, विशेष द्वारा सम्पादित हुआ माना गया है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कारण के बिना किसी कार्य की स्थिति नहीं है। प्रकृति के प्रत्येक व्यापार के पीछे की पृष्ठभूमि में वास्तविक कारण निहित है। इस प्रकार जहाँ प्रकृति के विभिन्न पदार्थों के स्वरूप का वर्णन एक स्थान पर आया है वहाँ उनको त्रिभूत अग्नि, जल एवं पृथ्वी के संयोग से उत्पन्न माना गया है जो उनके संयोग का वास्तविक विशिष्ट फल है। इस विचारधारा में हम सांख्य दर्शन के कारण सिद्धांत के परिणामवाद का सूत्रपात देखते हैं जिसका स्पष्टीकरण बाद में हम करेंगे।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

वैदिक काल के मनुष्य शरीर का दाह संस्कार देखते थे, उनके मन में यह धारणा रहती थी कि मनुष्य की दृष्टि सूर्य में विलीन हो जाती है। उसके श्वास, वायु में विलीन हो जाते हैं, उसकी वाणी अग्नि में समा जाती है एवं उसके विभिन्न अवयव विश्व के विभिन्न अवयवों में मिल जाते है। उनका यही विश्वास था कि पुण्य कर्मो का एवं अशुभ कर्मो का फल दूसरे लोक में प्राप्त होता है और यद्यपि ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मनुष्य की आत्मा के वृक्षादि में प्रवेश का वर्णन है परन्तु पुनर्जन्म अथवा आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश करने के सिद्धांत का प्रचलन इस समय नहीं हुआ था।

लेकिन उपनिषदों में इस दिशा में विशेष रूप से इस ओर प्रगति दो चरणों में दृष्टिगोचर होती है। प्रथम चरण में वैदिक कर्म फल के सिद्धांत के साथ पुनर्जन्म के सिद्धांत को जोड़कर देखा जाता है और दूसरे चरण में अन्य लोक में कर्म फल प्राप्ति के सिद्धांत को छोड़कर केवल पुनर्जन्म के सिद्धांत पर विशेष बल दिया गया है। ऐसा कहा गया है कि जो लोग पुण्य कर्म करते है एवं लोक कल्याण की भावना से कुए आदि बनाने का शुभ कार्य करते हैं उनकी आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् पितृयान अर्थात् पितरों के मार्ग का अनुसरण करती हुई चन्द्र लोक को प्राप्त करती है। मृत्यु के पश्चात् ये आत्माएँ पहले धूम में प्रवेश करती हैं फिर रात्रि में प्रवेश करती हैं, रात्रि से कृष्ण पक्ष में और कृष्ण पक्ष से चन्द्र लोक में पहुँचती हैं। जब तक उस आत्मा के पुण्य कर्म समाप्त नहीं होते तब तक वे चन्द्र लोक में आनन्द से समय व्यतीत करती हैं तत्पश्चात

वे आकाश, वायु, धूम, धुन्ध, मेघ, वर्षा, वनस्पति, अन्न एवं बीज से होती हुई भोजन तत्त्व के द्वारा मनुष्य में प्रवेश पाकर माँ के गर्भ में प्रविष्ट होती हैं और तत्पश्चात् जन्म लेती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये आत्माएँ न केवल पुण्य कर्मों का फल प्राप्त करती हैं अपितु इस विश्व में पुनर्जन्म लेती हैं।[1]

दूसरा मार्ग देवयान है अर्थात् देवताओं का मार्ग है। यह उनको प्राप्त होता है जो श्रद्धा और तप की साधना करते हैं। ये आत्माएँ मृत्यु के उपरान्त अग्नि, दिवस, शुक्ल पक्ष, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् एवं वर्ष के शुक्लार्ध में होती हुई अन्त में ब्रह्म में प्रविष्ट होती हैं जहाँ वे पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाती हैं। ड्यूसन महोदय कहते हैं कि इसका यह अर्थ है पुण्य आत्मा शुभ कर्म करने पर मृत्यु के उपरान्त शनैः शनैः प्रकाश की ओर बढ़ती है और इस प्रकार उस प्रकाशमय ब्रह्म को प्राप्त करती है जिसमें विश्व में जो कुछ प्रकाशमान् उज्ज्वल एवं सुन्दर है वह निहित है और जो ज्योतिषाम् ज्योति है।

दूसरी विचारधारा दूसरे लोकों में जाने के मार्गों के अथवा पितृयान एवं देवयान के द्वारा कर्मवाद के फल प्राप्ति वाले सिद्धांत के साथ जोड़े बिना पुनर्जन्म के सिद्धांत की व्याख्या करती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, "जबकि आत्मा निर्बल हो जाती है (शरीर की निर्बलता के साथ बाह्य निर्बलता) और जब यह मूर्छित हो जाती है तब मनुष्य के इन्द्रिय तत्त्व इसकी ओर आकर्षित होते हैं और ये उनको अपने में समेट लेती है। यह आत्मा इन प्रकाश के परमाणुओं को अपने में समेटकर हृदय में केन्द्रीभूत हो जाती है। इस प्रकार जब दृष्टि-पुरुष आत्मा में विलीन हो जाता है तब आत्मा रंग रूप नहीं देख पाती। क्योंकि ये सभी इन्द्रियाँ आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं और तब जन साधारण उसके लिए कहते हैं कि वह देख नहीं सकता, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ उस मनुष्य के साथ उस चेतन तत्त्व में विलीन हो जाती हैं, वह गन्ध नहीं ले सकता, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। वह रसास्वादन नहीं कर सकता, समझ नहीं सकता, सुन नहीं सकता, स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उसके हृदय का एक कोना दिव्य प्रकाश से भर जाता है और इस मार्ग से फिर आत्मा शरीर का त्याग कर देती है। जब कभी भी यह आत्मा नेत्र, सिर अथवा शरीर के किसी भाग से बाहर जाती है तब प्राण उसका अनुसरण करते हैं और अन्य सारी इन्द्रियाँ प्राणों का अनुसरण कर प्राणों का त्याग कर देती हैं तब वह मनुष्य एक सूक्ष्म निश्चित चेतना के रूप में स्थिर हो बाहर आ जाता है। तत्पश्चात् ज्ञान अथवा प्रज्ञा, कर्म और पूर्व अनुभव के साथ बाहर आ जाते हैं। जिस प्रकार इल्ली पत्ते की नोंक तक पहुँचकर अपने आप को पुनः सिकोड़ लेती है उसी प्रकार यह आत्मा शरीर

---

[1] छान्दोग्य, अध्याय ५, श्लोक १०वां।

को विनष्ट कर, अज्ञान का निवारण कर, एक विशेष गति से अपने आप को सिकोड़ लेती है। जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण खंड को लेकर उसको एक नया एवं सुन्दर स्वरूप प्रदान करता है उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को नष्ट कर, अज्ञान को मिटाकर, नवीन एवं अधिक सुन्दर स्वरूप को धारण करती है जो पितृयोनि, गन्धर्भयोनि, देवयोनि, प्रजापति अथवा ब्रह्म अथवा और किसी दिव्ययोनि के अनुरूप होता है। जैसे वह कर्म और व्यवहार करती है वैसी ही वह पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा अथवा दुष्ट कर्मों से दुष्टात्मा बन जाती है। सुन्दर कर्मों से पुण्यात्मा और पाप कर्मों से वह पापी कहलाती है। मनुष्य कामनाओं से परिपूर्ण है। वह कामनाओं के अनुसार संकल्प करता है। जैसा वह संकल्प करता है वैसा ही वह कार्य करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही कर्म क्रियान्वित होता है। कर्म फल के अनुसार पूर्ण भोग करने के पश्चात् वह वापस इस विश्व में आता है और पुनः कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।[1] ऐसा उन लोगों के साथ होता है जिनके हृदय में अनेक कामनाएँ हैं। जो निष्काम हैं, जिनको कोई कामना नहीं है, जो सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो गए हैं, जो अपने आप में संतुष्ट हैं उनकी बुद्धि विकृत नहीं होती, उनकी चेतना नष्ट नहीं होती। वे कर्म के स्वरूप को आत्मसात् कर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करते हैं। यह शास्त्रों का वचन है, हृदय की समस्त कामनाओं से मुक्त होकरमर्त्य अमर हो जाते हैं और फिर ब्रह्मत्व को प्राप्त होते हैं।[2]

इस संदर्भ की सूक्ष्म समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान जीवन की समाप्ति पर आत्मा स्वयं शरीर को नष्ट कर अपने लिए एक नवीन एवं अधिक सुन्दर ढांचे या आवास का निर्माण अपने ही क्रियाकलापों द्वारा करती है। मृत्यु के समय आत्मा सारी इन्द्रियों और मन को अन्तर्मुखी कर लेती है और मृत्यु के पश्चात् ज्ञान एवं अनुभव आत्मसात् होकर संस्कार आत्मा में निहित हो जाते हैं। मृत्यु के समय शरीर का विनाश, नवीन शरीर धारण करने के लिए ही होता है। आत्मा इस लोक में अथवा अन्य लोकों में नवीन शरीर धारण करती है। यह आत्मा जो इस प्रकार पुनर्जन्म लेती है अनेक संस्कारों को जो इसके पूर्व जन्मों में अर्जित होते हैं अपने में समाविष्ट रखती है। ऐसा कहा गया है कि "उसमें ज्ञान, जीवन, दृष्टि, श्रुति और पंचभूतों के सूक्ष्मतम तत्त्व अन्तर्निहित रहते हैं। (जिनके द्वारा आवश्यकतानुसार पार्थिव शरीर का निर्माण हो सकता है)। इस आत्मा में कामना, संयम, क्रोध, अक्रोध, धर्म, अधर्म और उन सब वस्तुओं के संस्कार जो प्रकट हैं अथवा जो अप्रकट हैं समाविष्ट रहते हैं।"[3] इस प्रकार

---

[1] ऐसा सम्भव है कि यहाँ पर स्पष्ट रूप से वह सिद्धांत संकेतित हो कि हमारे कर्मों का फल हमको दूसरे लोकों में मिलता है।

[2] बृहदारण्यक, चतुर्थ अध्याय, भाग ४, १, ७।

[3] बृहदारण्यक, अध्याय ४, ४, ५।

वह आत्मा जिसका पुनर्जन्म होता है न केवल मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक संस्कारों का समन्वय है वरन् वे सारे तत्त्व जिनसे यह भौतिक प्रकृति बनी है उसमें सूक्ष्म रूप से विद्यमान माने गए हैं। परिवर्तन का यह सारा क्रम उसके इस स्वभाव के कारण ही होता है क्योंकि जो कुछ वह कामना करता है उसी के अनुसार निश्चय करता है, तदनुसार कार्य करता है और उस कर्म के अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म और कर्म फल की उत्पत्ति का कारण उसके आन्तरिक संस्कारों के रूप में उसी में निहित होते हैं क्योंकि वह नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्वभाव तथा साथ ही प्रकृति के तत्त्वों का एक समन्वित रूप है।

वह आत्मा जिसका पुनर्जन्म होता है और जो अनेक प्रकार के प्राकृतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक संस्कारों से आविष्ट है तथा भौतिक तत्त्वों से उसमें परिवर्तन का स्वरूप बीज रूप में विद्यमान रहता है। इस सबका मूल आत्मा की कामना और उस कामना की पूर्ति के लिए किए हुए कर्म और उसके फल में निहित हैं। जब मनुष्य की आत्मा कामना में बँधकर कर्म करती है तब उसका उसे फल प्राप्त होता है, तब उस फल का भोग करने के लिए पुनः संसार में आती है और पुनः कर्म बन्धन में लिप्त होती हैं। यह संसार कर्म क्षेत्र माना जाता है जहाँ पर मनुष्य इच्छानुसार कर्म करता है जबकि कर्म फलों के भोग के बारे में यह समझा जाता है कि यह दूसरे लोकों में प्राप्त होता है जहाँ पर मनुष्य देवयोनि में जन्म लेता है। परन्तु उपनिषदों में इस सिद्धान्त के ऊपर विशेष बल नहीं दिया गया है। पितृयान सिद्धान्त का यहाँ एक दम परित्याग नहीं किया गया है परन्तु यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त का एक भाग है जिसमें दूसरे लोकों में अथवा इस लोक में पुनर्जन्म का सारा क्रम आत्मा पर निर्भर बतलाया गया है जो कामनाओं से बंधी हुई अनेक प्रकार के कर्म करती है। परन्तु यदि यह कामनाओं का परित्याग कर देती है और निष्काम कर्म करती है तो पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त होकर अमर हो जाती है। इस मत का सबसे विशिष्ट लक्षण यह है कि यह कामनाओं को ही पुनर्जन्म का कारण मानता है, कर्म को नहीं। कर्म, कामनाओं एवं पुनर्जन्म के बीच की एक कड़ी है क्योंकि ऐसा कहा गया है कि मनुष्य जैसी इच्छा करता है वैसा ही निश्चय करता है और जैसा निश्चय करता है वैसा ही कर्म करता है।

एक दूसरे स्थल पर ऐसा कहा गया है कि "मनुष्य जानबूझ कर जैसी इच्छा करता है, जैसी कामना करता है उसी के अनुरूप पुनर्जन्म लेकर उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन स्थानों पर जाता है, जहाँ उनकी इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है। परन्तु जिनकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो गयी हैं, जिन्होंने आत्मानुभव किया है उनकी सब कामनाएँ विलुप्त हो जाती है" (मुंडक, अध्याय ३, पृ० २, २)। आत्मा के पूर्ण ज्ञान से कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। "जो अपने आप को जानता है, अर्थात् जो यह पहचानता है कि आत्मा ही मैं हूं, मैं वह व्यक्ति हूं, वह अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए शरीर

को क्यों कष्ट देना चाहेगा और यहाँ इस लोक में होते हुए भी यदि हम यह जानते हैं तो ठीक है। अन्यथा अज्ञान के कारण कितना विनाश होता है (बृहदारण्यक ४, ४, १२ और १४)।" प्राचीन काल में बुद्धिमान् व्यक्ति पुत्रों की कामना नहीं करते थे। यह विचारकर कि हम पुत्रों को क्या करेंगे जबकि हमारी आत्मा ही ब्रह्मांड है। उपनिषदों में कर्म सिद्धान्त की वे बारीकियाँ नहीं पाई जातीं जो हिन्दू धर्म के उत्तर-कालीन कर्मवाद के दर्शन में मिलती हैं। यह सम्पूर्ण प्रणाली काम के सिद्धान्त को लेकर स्थापित की है और कर्म, काम एवं उस काम के कारण मनुष्य द्वारा किए हुए कर्म के बीच की कड़ी है।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों में बारम्बार काम द्वारा ही पुनर्जन्म होता है। इस मत के अनुरूप ही कुछ उपनिषदों में यह मत मिलता है कि स्त्री के गर्भ में कामना के कारण वीर्यपात को मनुष्य का प्रथम जन्म माना है। वास्तविक रूप में पुत्र की उत्पत्ति को दूसरा जन्म और मृत्यु के पश्चात् किसी और लोक में जन्म को तीसरा जन्म माना है। इस प्रकार यह कहा गया है कि "मनुष्य में सर्व प्रथम जीवाणु का जन्म होता है जो वास्तव में शरीर के सत्व वीर्य के रूप में स्थित है जो स्वयं में आविष्ट है और जब वह गर्भ में प्रवेश करता है तब यह उसका प्रथम जन्म है। यह भ्रूण उस स्त्री के शरीर के साथ आत्मसात् हो जाता है तब यह उसको हानि नहीं पहुँचाता है। वह इस भ्रूण की रक्षा करती है और अपने गर्भ में उसका विकास करती है जिस प्रकार वह इस भ्रूण की रक्षा करती है उसी प्रकार उस (स्त्री) की रक्षा करना भी आवश्यक है। जन्म के पूर्व स्त्री गर्भ को धारण करती है परन्तु जन्म के पश्चात् पिता पुत्र की चिन्ता करता है और इस प्रकार वह अपनी ही रक्षा करता है, क्योंकि पुत्रों के द्वारा ही वंश-रक्षा होती है, यह उसका दूसरा जन्म है। मनुष्य अपनी आत्मा के इस स्वरूप को अपने प्रतिनिधि के रूप में सारे शुभ कर्म करने के लिए निर्दिष्ट करता है। परन्तु उसका दूसरा स्वरूप अथवा आत्मा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर स्वयं पूर्णावस्था प्राप्त कर संसार का परित्याग करता है और इस प्रकार जाकर वह पुनर्जन्म लेता है और यह इसका तीसरा जन्म है। (ऐतरेय. अध्याय २, १,४०)।[1] उपनिषदों में कामवासना अथवा पुत्र की कामना के ऊपर कोई विशेष बल नहीं दिया गया है। सभी प्रकार की इच्छाएँ काम शब्द से निर्दिष्ट की गई हैं। इस प्रकार पुत्र की इच्छा ऐसी ही है जैसी धन की इच्छा। धन की इच्छा इसी प्रकार की है जैसे अन्य कोई सांसारिक काम (बृहदारण्यक, अध्याय ४, २२वां श्लोक)। इस प्रकार कामवासना उसी स्तर पर आँकी गई है जैसे अन्य कोई साधारण इच्छा।

---

[1] कौषीतकि भी देखें, २/१५।

मोक्ष या मुक्ति

दूसरा सिद्धान्त जो विशेष रूप से महत्वपूर्ण है वह मुक्ति का है। देवयान के सिद्धान्त में हम यह देख चुके हैं कि वे व्यक्ति जो श्रद्धा और भक्ति के साथ तप आदि धर्म कार्य में प्रवृत्त होते हैं, देवयोनि को प्राप्त होकर पुनर्जन्म के कष्ट से मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत पितृयान अर्थात् पितरों के मार्ग का जो अनुसरण करते हैं वे दूसरे लोकों में कुछ समय तक अपने सुन्दर कर्मों का सुख भोग करते हुए पुण्यों के क्षीण होने के पश्चात् पुनः इस पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। इस प्रकार जो श्रद्धा के मार्ग को अपना कर भक्ति करते हैं उनका गन्तव्य स्थान एवं लक्ष्य उनसे भिन्न है जो साधारण शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते है, यह भेद मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण रूपेण समझा जा सकता है। उपनिषदों के अनुसार मुक्ति मनुष्य की वह अपार्थिव अवस्था है जब वह अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म लोक को जाता है। पुनर्जन्म की शृंखला उन लोगों के लिए है जो ज्ञानी नहीं हैं। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे सांसारिक कामनाओं से उपरत होकर निष्काम, शुद्ध ब्रह्म रूप प्राप्त करते है और कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

> "वे ज्ञानी पुरुष जो परमात्मा का उच्चतम एवं गहनतम या गूढ़तम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उनके हृदय के बन्धन खुल जाते हैं। वे निःसंशय होकर कर्मफल से मुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं होते।"[1]

आत्मा का पूर्ण ज्ञान होने पर यह अनुभव हो जाता है कि हृदय की सारी वासनाएँ और विकार, इन्द्रियजन्य ज्ञान की सीमाएँ, हृदय की शुद्धता, अनुदारता और जीवन की क्षणभंगुरता, ये सब मिथ्या है। हम यद्यपि जानते नहीं हैं, फिर भी हम हैं पूर्ण ज्ञान स्वरूप। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान की परिधि से ऊपर उठकर हम स्वयं पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं। वह ज्ञान जो शुद्ध है, इन्द्रियातीत है, हमारा स्वरूप है। अनन्त एवं असीम होकर हम बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। अमर होकर मृत्यु के त्रास से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मुक्ति किसी नयी अवस्था की प्राप्ति नहीं है किसी कर्म का फल अथवा प्रभाव से परे है। हमारी आन्तरिक प्रकृति का यह शाश्वत सत्य है, यह किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं होती। स्वयं आत्मा में स्थित है। हम सदैव मुक्त एवं स्वच्छन्द हैं। कठिनाई केवल यह है कि हम अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचानते और इसीलिए पुनर्जन्म आदि अनेक कष्टों को भोगते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि आत्मा का सत्य ज्ञान मोक्ष को देने वाला नहीं है वरन् यह ज्ञान ही मोक्ष है। कष्ट एवं बन्धन तब तक ही सत्य प्रतीत होते हैं जब तक कि हम अपने सत्य स्वरूप को नहीं

---

[1] ड्यूसन, फिलॉसफी ऑव उपनिषद्स, पृ० ३५२।

पहचानते। मोक्ष ही मनुष्य का एक मात्र स्वाभाविक लक्ष्य है क्योंकि मनुष्य का सत्य स्वरूप इसी में निहित है। हम अपनी वास्तविक प्रकृति और स्वभाव का पूर्णरूपेण अनुभव करते हैं तो यह अनुभूति ही मुक्ति है क्योंकि वास्तविक रूप में हम सभी मुक्त जीव हैं। हमें इसका ज्ञान आवश्यक है कि हम मुक्त हैं, इस ज्ञान के बिना अकारण ही बन्धन के चक्र में ग्रसित रहते हैं। अतः आत्म ज्ञान ही वह वस्तु है जिसके कारण हम मिथ्या ज्ञान एवं जन्म मरण की माया से मुक्त हो सकते हैं। कठोपनिषद् में ऐसी कथा आती है कि मृत्यु के देवता यम ने गौतम के पुत्र नचिकेता की इच्छानुसार तीन वर मांगने की उसे आज्ञा दी। नचिकेता ने यह जानकर कि उसके पिता गौतम उससे रुष्ट हैं, पहला वरदान मांगा कि हे यम ! मुझसे मेरे पिता गौतम प्रसन्न हो जावें और मेरे प्रति उनका क्रोध समाप्त हो जाय। इस वर की प्राप्ति के पश्चात् नचिकेता ने दूसरा वर मांगा कि स्वर्ग में जो अग्नि स्थापित है जिससे स्वर्ग प्राप्त होता है, अर्थात् वैश्वानर नामक अग्नि उसका मुझे ज्ञान दें। यम ने इस वर की भी स्वीकारोक्ति दी। तब नचिकेता ने तीसरा वर मांगा—"मैं आपसे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूं कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या स्वरूप होता है ? कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा नष्ट हो जाती है और कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा जीवित रहती है। आप इस विषय में मुझे पूर्ण ज्ञान दीजिए। यह मेरा तीसरा वर है।" यम ने उसको कहा कि यह अत्यन्त प्राचीन जिज्ञासा है। देवता लोग भी इसको जानने में प्रयत्नशील हैं। इसको समझना अत्यन्त कठिन है। तुम इसके स्थान पर कोई दूसरा वर मांगो। क्योंकि यह प्रश्न अत्यन्त दुरुह है, मुझे इसका उत्तर देने के लिए बाध्य मत करो। नचिकेता ने तब उत्तर दिया कि हे यम ! तुम कहते थे कि देवता भी इस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं और यदि यह विषय अत्यन्त दुरुह है तब तो इसके उत्तर देने में आपके अतिरिक्त और किसी की सामर्थ्य नहीं है, न इससे अच्छा और कोई आप वरदान दे सकते हैं, अतः मैं आपसे पुनः प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे यही वरदान दें। यम ने फिर कहा—"शतायु वाले पुत्र पौत्रों का वर मांगों। हाथी, घोड़े, स्वर्ण और पशुधन की आकांक्षा करो। इस विशाल पृथ्वी की आकांक्षा करो और जब तक इच्छा हो तब तक जीने का वर मांगों और यदि कोई इससे भी अच्छा वरदान चाहते हो तो धन और दीर्घ जीनव के साथ उसकी मांग करो। इस अखिल पृथ्वी के सम्राट् बनो, मैं तुम्हारी मनो-कामना की पूर्ति का वर दूंगा। तुम उन सब दुर्लभ आकांक्षाओं की पूर्ति का वर मांगो जो मनुष्य लोक में प्राप्त नहीं होती हैं। तुम स्वर्ग की संगीतमय उन अप्सराओं का वर मांगो जो मनुष्यों को अप्राप्य हैं। मैं यह सब तुमको देने को तैयार हूं परन्तु मृत्यु के विषय में यह जिज्ञासा मत करो। नचिकेता ने यह कहा कि यह जीवन क्षणिक है, मृत्यु के साथ ही संगीत और नृत्य समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य समृद्धि से और धन से संतुष्ट नहीं होता। यह सिद्धि तब तक ही है जब तक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। हम उतनी ही देर तक जीवित रहते हैं तब तक तुम इच्छा करते हो। जिस वर को

मैं चाहता था वह मैंने निवेदन कर दिया। यम ने तब कहा, एक वस्तु श्रेयस्कर है और दूसरी आनन्दमय। वह मनुष्य धन्य है जो श्रेयस्कर वस्तु को चुनते हैं क्योंकि जो आनन्दमय वस्तुओं को चुनते है वे अपने निर्दिष्ट मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु तुमने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए लक्ष्य की असलियत समझ ली है और सांसारिक कामनाओं पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया है। ये दोनों वस्तुएँ अर्थात् अज्ञान जिससे क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है और ज्ञान जिससे श्रेय की प्राप्ति होती है, एक दूसरे से भिन्न हैं और दोनों का लक्ष्य अलग-अलग है। जो यह विश्वास करते हैं कि यह संसार ही सत्य है और कोई दूसरे दुःख नहीं है वे चेतना रहित युवक मेरे (मृत्यु) त्रास से चिन्तित रहते हैं। जो ज्ञान तुम चाहते हो वह तर्क से प्राप्त नहीं होता। मैं यह जानता हूं कि सांसारिक सुख क्षणभंगुर है क्योंकि जो स्वयं अस्थिर और क्षणिक है उसके आधार पर स्थायी सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वान् पुरुष आत्मज्ञान का मनन करते हुए और उसको जानते हुए जिसका दर्शन कठिन है, सुख और दुःख दोनों को त्याग देता है। हे नचिकेता तुम ऐसे गृह के समान हो जिसका द्वार ब्रह्म के लिए खुला है। ब्रह्म मृत्युहीन है, अमर है। जो उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है। ज्ञानी पुरुष न जन्म लेते हैं न मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनकी उत्पत्ति कहीं नहीं होती। जिसका जन्म नहीं होता जो अनन्त एवं अमर है उस आत्मा को कोई नहीं मार सकता, यद्यपि शरीर को नष्ट किया जा सकता है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान् से भी महान् है। दूर जाते हुए भी बैठा है और एक स्थान पर लेटा हुआ ही वह सभी स्थानों में व्याप्त है। आत्मा को पार्थिव वस्तुओं में व्याप्त अपार्थिव तत्त्व समझकर क्षणिक प्रकृति में स्थायी समझकर ज्ञानी अपने कष्टों से मुक्त हो सकते हैं। इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से या बहुश्रुतता से नहीं जाना जा सकता। जिसको वह यह ज्ञान देना चाहती है उसी को वह अपने सत्य स्वरूप का दर्शन देती है। जब तक यह आत्मा काम से मुक्त नहीं होती तब तक इच्छा करती है। तब तक इच्छा और कर्म के चक्र में फंसकर इस जन्म से और अगले जन्म में कर्मफल का भोग करती रहती है। परन्तु जब यह अपने सम्बन्ध में उच्चतम सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है जब इसे यह ज्ञान होता है कि इस विश्व की उच्चतम चेतन तत्त्व और परम ब्रह्मानंद, अमर एवं असीम परम आत्मा का यह अंश है तब सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और निष्काम बुद्धि से शाश्वत सत्य का दर्शन कर अपरिमित अमृत तत्त्व को प्राप्त होती है। मनुष्य इस विश्व की उच्चतम कृति है और सुन्दरतम तत्त्वों से विरचित है। शरीर के अन्नमय कोष, जीवन के प्राणमय कोष, इच्छा और कामनाओं के मनोमय कोष, विचार और ज्ञान के ज्ञानमय कोष से मनुष्य का स्वरूप निर्मित हुआ है। जब तक वह अपने आपको इन कोषों में सीमित रखता है वह अनेक वर्तमान जीवन एवं भविष्य के अनेक जीवनों की अनेक अनुभूतियों को प्राप्त करता हुआ संचरण करता रहता है। ये अनुभव उनकी स्वयं की इच्छा के अनुसार होते हैं और इस प्रकार उसी

के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। वह सुख, दुःख, रोग और मृत्यु के दुःखों से संतापित होता रहता है। परन्तु यदि वह इन सबसे उपरत हो जाता है और अपनी अविनाशी आत्मा को पहचान लेता है तो वहाँ वह आनन्दात्मक अनुभव से एकाकार हो जाता है और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ कोई परिवर्तन या विचलन नहीं होता। इस स्थिति के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह साधारण अनुभूतियों से परे है और इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसके बारे में यही कहा जा सकता है कि न यह है, न वह है, (नेति, नेति)। इस अनन्त सत्य स्वरूप में किसी प्रकार का द्वन्द, अन्तर, संघर्ष नहीं है। यह एक विशाल समुद्र की तरह है जिसमें भौतिक जीवन इसी प्रकार घुल जाएगा जैसे समुद्र के जल में लवण। "हे मैत्रेयी, जिस प्रकार जल में डाली हुई नमक की डली घुलकर लुप्त हो जाती है और उसको अलग से प्राप्त नहीं किया जा सकता परन्तु जल के जिस भाग को भी पीया जाए वह खारा लगता है उसी प्रकार यह महान् अनन्त सर्वव्यापक सत्यपूर्ण ज्ञान के रूप में इन सम्पूर्ण भौतिक प्राणियों में प्रकट होता है, उन्हीं में लुप्त हो जाता है और तब इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो पाता।" (बृहदा० २/४/१२) वास्तविक सत्य भौतिक जीवन की सभी क्रियाओं में दृष्टिगत होता है परन्तु जब यह अपने आप में निहित हो जाता है तब इस भौतिक जीवन की क्रियाओं में इसको देखना असम्भव हो जाता है। पूर्ण ज्ञान की अनन्तावस्था, शुद्धतम स्वरूप एवं ब्रह्मानन्द ही महानतम स्थिति है।

——∞——

अध्याय ४

भारतीय दर्शन प्रणाली का सामान्य विवेचन

भारतीय दर्शन का इतिहास किस अर्थ में संभव है ?

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास जिस ढंग से लिखा गया है उस ढंग से भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना कठिन हो गया है। यूरोप में प्रारंभिक काल में विभिन्न दार्शनिक एक युग के पश्चात् दूसरे युग में उत्पन्न हुए और उन्होंने दर्शन शास्त्र में अपनी स्वतंत्र विवेचना प्रस्तुत की। आधुनिक इतिहासकार की भूमिका केवल इतनी सी रह जाती है कि इन सिद्धान्तों को क्रमानुसार व्यवस्थित कर इनके पारस्परिक प्रभाव एवं समय-समय पर मतों के परिवर्तनों की विवेचनात्मक व्याख्या कर दी जाय। परन्तु भारत में मुख्य दार्शनिक प्रणालियों का प्रादुर्भाव ऐसे युग में हुआ जिसका इतिहास साधारणतया उपलब्ध नहीं है अतः ठीक-ठीक प्रकार से यह कहना कठिन है कि वे किस युग में प्रारम्भ हुए। विभिन्न प्रणालियों का अर्थात् एक दर्शन पर दूसरी दर्शन प्रणाली का कब-कब और कैसे प्रभाव पड़ा उसका भी उचित रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता। संभवतया ये सारी शाखाएँ प्रारंभिक उपनिषदों के थोड़े समय पश्चात् से ही उद्भूत होने लगी थीं ऐसा प्रतीत होता है।

उस काल में गुरु एवं लघु सूत्रों के द्वारा अनेक दर्शनों पर उत्तम शास्त्रों की रचना की गई परन्तु इनमें विषय-विशेष की पूर्ण व्याख्या न होकर पाठकों के लिए सूत्ररूपेण उन व्याख्याओं को अंकित किया गया था जिनसे वह दर्शनकार परिचित था। यह ग्रन्थ स्मृति लाभ हेतु ही लिखे गए थे। जिन्होंने गुरु मुख से इन विषयों पर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली थी, उनके लाभ हेतु संकेत रूप में ये शास्त्र लिखे गए थे। इन सूत्रों से दर्शन की किसी प्रणाली विशेष के पूर्ण महत्व की कल्पना करना कठिन है। साथ ही यह भी पता लगाना कठिन है कि वास्तव में जिन व्याख्याओं एवं वादविवादों को इन सूत्रों ने जन्म दिया वे कहाँ तक मूल दर्शन के सिद्धान्तों पर आधारित थे। सम्भव है कि उस दर्शन के आचार्य का मत मूलतः भिन्न रहा हो। वेदान्त दर्शन के सूत्रों का उदाहरण लीजिए। इन सूत्रों का शारीरिक सूत्र अथवा बादरायण के ब्रह्म सूत्र के नाम से जाना जाता है। इनका स्वरूप ऐसा दुरूह एवं अस्पष्ट है कि इन सूत्रों

के लगभग ५-६ भाष्य मिलते हैं और इनमें से प्रत्येक भाष्य के संबंध में कहा जाता है कि यही वास्तव में वेदान्त दर्शन है। इन सूत्रों का स्थान और महत्व इतना उच्च था कि उत्तरकाल के प्रत्येक दर्शन शास्त्री ने प्रयत्न किया कि वह अपनी दर्शन प्रणाली को इन सूत्रों के आधार पर सिद्ध कर पाये। प्रत्येक ने अपने मत की पुष्टि में यह घोषणा की कि उनका मत ही इन सूत्रों के आधार पर सत्य मत है। साथ ही इन दर्शन प्रणालियों का ऐसा महत्व था कि प्रत्येक दार्शनिक अपने आप को इन दर्शन-प्रणालियों में से एक का अनुयायी अवश्य मानता था। उनके शिष्य भी स्वाभाविक रूप से अपने गुरुओं से किसी दर्शन शाखा विशेष का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करते थे। अतः उनके लिए विचार स्वातंत्र्य सम्भव नहीं था। वे जिस शाखा का अध्ययन करते थे उस शाखा की मत की पुष्टि करना ही उनका कर्त्तव्य एवं धर्म था। इस प्रकार भारत में स्वच्छंद विचारकों के लिए वातावरण अनुकूल नहीं था। प्रत्येक शाखा के शिष्यगण यह प्रयत्न करते थे कि उनकी विशिष्ट शाखा के परम्परागत मत को वे संरक्षण दें और उसकी ही पुष्टि करने में अपने ज्ञान और समय का उपयोग करें। अपने विषय की स्थापना और उसका प्रतिपादन करते हुए ये लोग दूसरे मतों पर प्रहार करते थे और अपने मत की रक्षा करने का प्रयत्न करते रहते थे। उदाहरण के तौर पर दर्शन की न्याय शाखा के सूत्र गौतम द्वारा रचित माने जाते हैं जिनको अक्षपाद के नाम से भी पुकारा जाता है। इन सूत्रों के ऊपर प्रारंभिक टीका वात्स्यायन ने लिखी थी जिसको वात्स्यायन-भाष्य के नाम से पुकारते थे। इस भाष्य की बौद्ध मुनि दिङ्नाग ने कड़ी आलोचना की। इस आलोचना का उत्तर देने के लिए उद्योतकर ने इस टीका पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम है भाष्य वार्तिक। समय की गति के साथ इस ग्रन्थ का महत्व कम हो गया और इस शाखा के गौरव को अक्षुण्य रखने में यह समर्थ न हो सका। तब वाचस्पति मिश्र ने द्वितीय टीका के ऊपर एक और टीका लिखी जिसका नाम वार्तिक तात्पर्य टीका है जिसमें उसने न्याय दर्शन के ऊपर जितने भी अन्य शाखाओं के द्वारा, विशेषकर बौद्धों के द्वारा, आक्षेप किए गए थे उन सबका उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इस टीका पर, जिसे न्याय तात्पर्य टीका के नाम से पुकारते हैं, एक और टीका लिखी गई जिसका नाम है "न्याय तात्पर्य टीका-परिशुद्धि" जिसको महान् विद्वान् उदयन ने लिखा था। इस टीका के ऊपर एक और दूसरी टीका मिलती है जिसको "न्याय निबन्ध प्रकाश" कहते हैं जो सुप्रथित गङ्गेश के पुत्र वर्धमान ने लिखा था। इस पर पुनः वर्धमानेन्दु नाम की पद्मनाभ मिश्र द्वारा एक और टीका लिखी गई और इस टीका पर श्री शंकर मिश्र ने न्याय तात्पर्य मंडन नाम की टीका लिखी। वात्स्यायन, वाचस्पति और उदयन बड़े प्रसिद्ध एवं महान् व्यक्तियों में से हैं परन्तु ये लोग भी अपनी शाखा विशेष की टीका लिखकर ही संतुष्ट हो गए और उन्होंने किसी नए मत एवं शाखा को प्रारम्भ करना उचित नहीं समझा। भारत में बुद्ध के पश्चात्

हुए सबसे महान् धर्माचार्य शंकर ने भी अपने जीवन को ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् एवं भगवद् गीता की व्याख्या करने में ही व्यतीत कर दिया।

जैसे-जैसे समय बीतता गया और दर्शन की एक प्रणाली स्थापित होती गई वैसे-वैसे प्रत्येक दर्शन शाखा को बड़ी कड़ी आलोचना एवं विरोधियों का सामना करना पड़ा। इन सब आलोचना-प्रत्यालोचनाओं के लिए ये शाखायें तैयार नहीं थीं अतः प्रत्येक शाखा के अनुयायियों को इस बात का विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ा कि इन विरोधी तत्वों के तर्कों का उचित रूप से उत्तर दिया जाए, अपने मत की पुष्टि की जाए एवं दूसरे मत का खंडन किया जाय। जिस समय एक मत-विशेष प्रारम्भ में स्थापित किया गया था और सूत्रों द्वारा वर्णित किया गया था उस समय उस शाखा के लिए कोई विशेष कठिनाई नहीं थी परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों विरोधियों का उत्तर देने के लिए अनेक ऐसी समस्याओं का निदान करना पड़ा जो यद्यपि उस विषय से संबंधित थी, फिर भी प्रारंभिक शाखा के समय उनका कोई स्थान विशेष नहीं था और उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। इस प्रकार प्रत्येक शाखा एक के बाद एक आने वाले टीकाकारों के कहने से अधिक परिपुष्ट होती गई और सब प्रकार के तर्कों और विरोधों का सामना करने के योग्य हो गई। सूत्रों में वर्णित दर्शन शाखा अस्पष्ट एवं नवजात शिशु के समान दुर्बल थी परन्तु १७वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते पूर्ण विकसित मनुष्य की भाँति परिपुष्ट हो गई है। अतः भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास के इतिहास को लिखना कठिन है परन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक शाखा का स्वतंत्र रूप से विचार किया जाए और इसके विकास को समझने का प्रयत्न किया जाय।[1] भारतीय दर्शन के इतिहास में ऐसा सम्भव नहीं है कि एक विशेष दर्शन प्रणाली का एक युग विशेष के साथ ही अध्ययन किया जाए जैसे पाश्चात्य दर्शन प्रणालियों में है क्योंकि जब तक वे जीवित रहीं तब तक ही उनको महत्वपूर्ण समझा गया उसके बाद वे आलोचना का विषय रह गई। इसके विपरीत भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा इनके अनुयायियों द्वारा इतिहास के विभिन्न कालों में अधिकाधिक पुष्ट एवं परिवर्तित की जाती रहीं और इस विकास का इतिहास उस मत के संघर्षों का ही इतिहास है। प्रत्येक दर्शन शास्त्र के भक्त, भाष्यकार, टीकाकार आदि शास्त्रियों के द्वारा अपने-अपने मत का मण्डन और प्रतिपादन ऐसे विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया जाता रहा है कि जब तक इन सब का अध्ययन न किया जाय तब तक किसी भी दर्शन प्रणाली के ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

---

[1] एक दो प्रणालियों के संबंध में प्रारंभिक अवस्थाओं की व्याख्या करना आसान है परन्तु इन प्रणालियों को पूर्णरूपेण समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन शाखाओं पर उत्तरकाल में जो विशेष व्याख्याएं की गई उनमें उनको सही रूप से समझा जाए।

दार्शनिक वांग्मय का विकास

यह कहना कठिन है कि प्रारंभिक काल में दार्शनिक शाखाएँ किस प्रकार उत्पन्न हुई तथा किन प्रभावों के अन्तर्गत इनका विकास हुआ। प्रारम्भ में उपनिषद् काल में दार्शनिक जिज्ञासा की भावना का आरम्भ हो गया था यह हम पहले ही देख चुके हैं। इस जिज्ञासा का आधार यह था कि आत्मा ही वह सत्य है जिसकी खोज करना आवश्यक है और जब तक हम इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते तब तक इतने से ही संतोष करना पड़ेगा कि इसका स्वरूप ऐसा नहीं है जैसा हम किसी अन्य दृश्य वस्तु का पाते हैं अर्थात् उसे यों समझाना पड़ेगा कि वह यह नहीं है। उसी को नेति नेति के रूप में समझाया गया है। लेकिन उपनिषदों के अलावा भी और दिशाओं में दार्शनिक खोज हो रही थी। इस प्रकार उपनिषद् काल के तुरन्त पश्चात् ही बुद्ध ने ६२ प्रकार के पाखंडों या अधर्मो की गणना की थी[1] जिसका वर्णन उपनिषदों में उपलब्ध नहीं है। इसी काल में जैन जिज्ञासा का भी उदय हुआ परन्तु उपनिषदों में इसका कहीं प्रसंग नहीं आया है। इस प्रकार हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उपनिषदों के प्रणेता ऋषियों के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा का उदय हो चुका था। परन्तु इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक वृत्त प्राप्त नहीं है। यह संभव है कि हिन्दू दर्शन जिन ऋषियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया वे यद्यपि उपनिषदीय विचारधारा को मानते थे तो भी विरोधी विचारधाराओं से एवं अन्य नास्तिक सिद्धान्तों से परिचित थे। इन ऋषियों एवं उनके शिष्यों की संगोष्ठियों में नास्तिक एवं विरोधी विचारधाराओं के ऊपर वाद विवाद हुआ करते थे और अनेक युक्तियों से इन विरोधी सिद्धान्तों का खंडन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह क्रम कुछ काल तक इसी प्रकार चलता रहा जब तक कि गौतम अथवा कणाद जैसे ऋषि मनीषियों ने इन सारे वाद विवादों को एक क्रम में व्यवस्थित कर दार्शनिक शाखाओं को मूर्त रूप नहीं दे दिया और युक्तिसंगत ढंग से इन्हें व्यवस्थित कर उन पर अनेक सूत्रों की रचना नहीं की। इन सूत्रों से दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओं का ज्ञान होता है जिनके वर्गीकरण एवं क्रमबद्ध व्यवस्था का श्रेय इन यशस्वी मुनियों को है। ये सूत्र उन लोगों के लिए लिखे गए थे जो अनेक मौखिक शास्त्रार्थों में भाग ले चुके थे और संकेत मात्र से ही इनके पूर्ण प्रसंग को समझने में समर्थ थे। इस प्रकार विरोधी पक्षों के मतों का स्थान-स्थान पर इनमें उद्धरण प्राप्त होता है और साथ ही इनसे यह भी ज्ञान होता है किस प्रकार इन विरोधी पक्षों का खंडन किया जा सकता है। इस प्रकार भाष्यकार गुरु-शिष्य की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त वाद-विवादों के अर्थ समझने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करते थे और इस प्रकार विभिन्न विचार

---

[1] ब्रह्म जाल सूत्र, दीघा १, पृ० १२ से।

धाराओं से पूर्ण रूपेण परिचित रहते थे। परन्तु उनको इन परम्परागत व्याख्याओं के ऊपर अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण रूपेण स्वतंत्रता थी। अपनी इच्छानुसार वे इन युक्तियों को अपने तर्क के द्वारा और अधिक पुष्ट कर सकते थे एवं इच्छानुसार इनमें संशोधन अथवा परिवर्तन भी कर सकते थे। यदि उनको ऐसी कठिनाई प्रतीत होती कि एक व्याख्या विशेष को किसी कारणवश यों की यों स्वीकार नहीं किया जा सकता तो भी वे उसमें इच्छानुसार कुछ परिवर्तन भी कर दिया करते थे। विपक्षी शाखाओं के मेधावी पंडितों के विरोध के कारण उन्हें ऐसे नवीन तथ्यों के ऊपर विचार करना पड़ता था जिसका उन्होंने पहले कोई विचार नहीं किया होता था और इस प्रकार संपूर्ण शाखा की एकरसता को अक्षुण्ण रखने के लिए नए संशोधनों की आवश्यकता प्रतीत होती रहती थी और इसमें वे बिल्कुल नहीं हिचकिचाते थे। इन संशोधनों अथवा व्याख्याओं के होते हुए भी परम्परागत शास्त्रीय प्रणाली में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। क्योंकि नवीन भाष्यकारों ने कभी भी मूल सिद्धान्तों का विरोध नहीं किया वरन् वे उन्हें पुष्ट करने का ही प्रयत्न करते रहे। वे इन शास्त्रों की अपने मतानुसार सुरुचिपूर्ण व्याख्या किया करते थे अथवा जिन विषयों पर प्राचीन गुरुओं ने कुछ नहीं कहा है उन्हीं के सम्बन्ध में नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार किसी भी दार्शनिक शाखा के विकास का अध्ययन किसी भी भाष्यकार के व्यक्तिगत विचारों के अध्ययन से नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर अनावश्यक पुनरावृत्ति हो जाएगी। केवल उन्हीं स्थलों पर जहाँ कहीं नवीन विचारधारा का विकास हुआ है यह आवश्यक होगा कि प्राचीन शास्त्र में नई युक्तियों का भाष्यकारों या भाष्यकारों के नवीन विचारों के साथ मनन किया जाए जिससे उस शाखा के दर्शन का उचित रूप से निरूपण हो सके।

विपक्षी मतों के निरंतर संघर्ष के कारण भारतीय दर्शन शास्त्रियों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे अपने सभी ग्रन्थों को शास्त्रार्थ खंडन-मंडन या पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के रूप में ही लिखा करते थे। लेखक यह अनुमान करता था कि जो वह कुछ कहेगा उसके संबंध में विपक्षी मतावलंबी अवश्य कोई प्रश्न उठाएँगे। प्रत्येक चरण पर या प्रत्येक स्तर पर लेखक यह कल्पना करता है कि उसके विरोध में ये प्रश्न किए जाएँगे। इन प्रश्नों की पहले से ही कल्पना कर लेखक इनका युक्ति युक्त उत्तर प्रस्तुत करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि जो शंकाएँ इस संबंध में की गई हैं वे निराधार हैं। इस प्रकार लेखक अनेक प्रकार की शंकाओं, विवादों आदि के मनन से अपना मार्ग निश्चित करता है और घुमावदार मार्ग से अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचता है। अनेक स्थानों पर विपक्षियों की शंकाओं का इतना संक्षेप में प्रसंग दिया जाता है कि वही व्यक्ति इसको समझ सकते हैं जो विपक्षियों के मत से अवगत हैं। इन कठिनाइयों के साथ-साथ ही साधारण संस्कृत की अपेक्षा अधिकांश टीकाओं की संस्कृत शैली इतनी

कठिन एवं संक्षिप्त है, साथ ही विभिन्न दर्शन शाखाओं के पारिभाषिक शब्दों से वह इतनी दुरूह हो गई है कि अच्छे गुरु की सहायता के बिना इनको समझना असंभव सा हो जाता है। इस प्रकार जिन्होंने सारे दर्शन शाखाओं का भली भांति अध्ययन नहीं कर लिया है वे सरलता से शाखा विशेष के विचार क्रम को नहीं समझ सकते। विशेषतया कोई दार्शनिक मत दूसरे मतों के प्रसंगों के बिना दिए हुए स्थापित नहीं किया जा सकता था। अपने-अपने युग मे प्रत्येक दर्शन की विरोधी विचारधाराओं के बीच ऐसा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया कि किसी भी शाखा की न तो उपेक्षा की जा सकती है और न दूसरी शाखा एवं विरोधी मतों का गहन अध्ययन किए बिना उनको समझा जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि इन सभी दर्शनों का, एक साथ, उनके पारस्परिक पक्ष विपक्षों का ध्यान रखते हुए एकरूपता के दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाए। इस कार्य के लिए यह प्रस्तुत ग्रन्थ भूमिका का कार्य करेगा।

इन सूत्रों और इनकी टीकाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली के छोटे-छोटे स्वतंत्र ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है जो श्लोकों में लिखे गए हैं। इन्हें 'कारिकाओ' के नाम से पुकारा जाता है। इन कारिकाओं में महत्वपूर्ण विषयों को काव्य रूप में संक्षिप्त ढंग से वर्णित किया गया है। इस प्रकार के एक ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' का उदाहरण दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली पर भाष्य, टीकाएँ और शास्त्रार्थ आदि उपलब्ध होते हैं जिन्हें पद्यों में लिखा गया है और जिनको वार्तिक के नाम से पुकारा जाता है। कुमारिल का 'श्लोक-वार्तिक' अथवा सुरेश्वर का 'वार्तिक' इसके उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। इन सब वार्तिकों और कारिकाओं के ऊपर इनको स्पष्ट करने के लिए टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त इन शाखाओं के ऊपर विशिष्ट शास्त्रीय ग्रन्थ भी मिलते है जिनको गद्य में लिखा गया है जिनमें लेखक ने किसी विशेष सूत्र का अनुसरण किया है अथवा स्वतंत्र रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। पहले प्रकार के उदाहरण के रूप में जयन्त की 'न्याय मंजरी' का उल्लेख किया जा सकता है और दूसरे प्रकार के उदाहरण में प्रशस्तपाद भाष्य, मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित अद्वैत सिद्धि अथवा धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा लिखित वेदान्त परिभाषा का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसे शास्त्रों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वे ग्रन्थ है जिनमें लेखकों ने उस मत की स्थापना की जिसका वे अनुसरण करते हैं। इन शास्त्रार्थ ग्रन्थों में लेखकों ने अपनी उच्चतम मानसिक शक्तियों एवं आकाट्य युक्तियों का परिचय दिया है। इन ग्रन्थों पर भी उनको सरल करने के लिए टीकाएँ उपलब्ध हैं। लेखक के मतानुसार भारतीय दार्शनिक साहित्य के विकास का प्रारंभ ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हो गया था जबकि बुद्ध मत का उदय हुआ और १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह युग समाप्त हो गया। यद्यपि आधुनिक युग में भी कई छोटे-छोटे ग्रन्थ इन पर प्रकाशित होते रहते हैं।

भारतीय दर्शन शास्त्र की प्रणालियाँ

हिन्दू मतानुसार दर्शन की प्रणालियों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है अर्थात् नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन। नास्तिकवादी विचारधारा के अनुसार वेद, साधारण ग्रन्थ के रूप में माने जाते हैं, स्वतः प्रमाण नहीं माने जाते और यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए केवल वेदों को ही आधार माना जाय। ये नास्तिक दर्शन मुख्यतया ३ हैं—बौद्ध, जैन एवं चार्वाक। आस्तिक दर्शन जो सनातन धारा के अनुयायी हैं षडंग के रूप में प्रचलित हैं एवं ये निम्न ६ शाखाओं में विभाजित हैं, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, न्याय एवं वैशेषिक ये साधारणतथा षड् दर्शन[1] के नाम से प्रचलित हैं।

सांख्य के प्रणेता पुराण प्रसिद्ध कपिलमुनि माने जाते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस विषय पर लिखे आदि ग्रन्थ विलुप्त हो गए हैं। पतंजलि ऋषि के द्वारा योग दर्शन लिखा गया है ऐसी मान्यता है और इस दर्शन के आदि सूत्रों को पातंजल योग सूत्र के नाम से पुकारा जाता है। साधारणतया इन दोनों दर्शनों में आत्मा प्रकृति सृष्टि रचना एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्षादि के संबंध में एकसी विचारधाराएँ पाई जाती हैं। इन दोनों में केवल इतना अन्तर है कि यौगिक प्रणाली में ईश्वर को

---

[1] 'दर्शन' शब्द सर्वप्रथम दार्शनिक पारिभाषिक संज्ञा के रूप में कणाद ऋषि द्वारा रचित वैशेषिक सूत्र में पाया जाता है (देखिए अध्याय ६, द्वितीय खंड १३वां सूत्र)। यह ग्रन्थ बौद्ध काल के पूर्व लिखा गया था बौद्ध पिटकों ने (४०० ई० पू०) विरोधी विचारों को 'दिट्ठि' संज्ञा से पुकारा है (इसका संस्कृत दृष्टि है। दोनों मूल धातु (दृश्) है। इसी से दर्शन शब्द बना है)। हरिभद्र (५वीं शताब्दी) दर्शन शब्द का प्रयोग दार्शनिक प्रणाली के अर्थ में करते हैं। "सर्व-दर्शन वाच्योऽर्थ" (षड्दर्शन समुच्चय भाग १)। दसवीं शताब्दी के अन्त में रत्न कीर्ति ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। "यदि नाम दर्शने दर्शने नाना प्रकारं सत्व लक्षणम् उक्तामस्ति" (क्षणभंगसिद्धिः "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स" पृ० २०) माधव ने सन् १३३१ में अपने दर्शन प्रणालियों के महान् समुच्चय ग्रन्थ का नाम "सर्व दर्शन संग्रह" रखा था। दूसरी प्रणालियों के विचारों का उद्धरण देते हुए 'मत' शब्द का भी अनेक बार प्रयोग किया गया है। परन्तु दार्शनिकों का बोध कराने के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता। बौद्ध लोग अन्य मतावलंबियों को "तैर्थिक" नाम से पुकारा करते थे। सिद्ध एवं ज्ञानी शब्द आधुनिक दार्शनिक शब्द के अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते थे। इनका अर्थ उस समय ऋषि एवं परमहंस (जिसने सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों) के अर्थ में लिया जाता था।

मान्यता दी जाती है (आत्मा के अलावा ईश्वर को भी मान्यता दी जाती है) और कुछ रहस्यमय क्रियाओं के ऊपर विशेष बल दिया जाता है जिन्हें यौगिक क्रियाओं के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी मान्यता है कि योग द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है दूसरी ओर सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को नही माना गया है। वहाँ ईश्वर के दर्शन को कोई महत्व नहीं दिया जाता। श्रद्धा पूर्वक सत्ता को ग्रहण करने एवं उत्तम संस्कारों को जीवन में अपनाने मात्र से वहाँ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा संभव है कि सांख्य दर्शन जो कपिल द्वारा प्रणीत एवं योग दर्शन जो पतंजलि द्वारा प्रणीत माना जाता है, दोनों प्रारम्भ में एक ही रहे हों अर्थात् दोनों उस एक ही सांख्य दर्शन की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हों, जिसका प्रसंग हमें यत्र तत्र मिलता है। ये दोनों दर्शन यद्यपि साधारणतया अलग-अलग माने जाते हैं परन्तु वास्तविक रूप में इन्हें सांख्य प्रणाली की ही दो भिन्न-भिन्न धाराओं के रूप में मानना चाहिए। हम इनमें से एक को कपिल सांख्य और दूसरे को पतंजलि सांख्य के नाम से पुकार सकते हैं।

पूर्व मीमांसा (मीमांसा शब्द मन धातु से बना है जिसका अर्थ है विचार करना—अर्थात् तर्क संगत विचार) को हम वास्तविक अर्थों में दार्शनिक प्रणाली के रूप में मान्यता नहीं दे सकते। यह वेद शास्त्रों की यज्ञादि क्रियाओं को समझने के लिए कुछ सिद्धान्तों का केवल क्रमबद्ध रूप से संग्रह हैं जिससे वैदिक मंत्रों का अर्थ सुलभ हो जाए। यज्ञादि क्रियाओं के लिए मंत्रोच्चारण के संबंध में अनेक बार शब्दों के वास्तविक संबंध और वाक्यों में उनकी स्थिति अथवा महत्व के ऊपर यज्ञ कर्ताओं में विवाद हो जाया करता था। वैदिक मंत्रों के संबंध में अनेक बार वाक्य खंडों के अर्थों के संबंध में अथवा उनके मंत्र रूप के प्रयोग आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत विवाद का कारण बन जाते थे। अतः मीमांसा ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की जिनके द्वारा इन सब कठिनाइयों का सम्यक् फल प्राप्त हो सके। इन सिद्धान्तों की रचनाओं के पूर्व इन मीमांसाओं के अन्तर्गत आत्मा, प्रकृति, तर्क, ऐन्द्रिय ज्ञान एवं वेद शास्त्रों की मान्यता आदि पर विचार विमर्श किया गया है क्योंकि वेद शास्त्रों के अनुसार यज्ञादि कर्म करने के पहले यह आवश्यक है कि सृष्टि क्रम और उसमें मनुष्य के जीवन का महत्व, वैदिक शास्त्र का मनुष्य जीवन आदि से सम्बन्ध के बारे में विशिष्ट मान्यताओं को भली भाँति समझ लिया जाए। यद्यपि मीमांसा में सृष्टि, जीवन आदि से संबद्ध ये विचार विमर्श गौण स्थान रखते हैं परन्तु मन्त्र शास्त्र और उनके मनुष्यों के लिए व्यावहारिक लाभ के महत्व को स्थापित करने की दृष्टि से संक्षेप में तत् सम्बन्धी दर्शन का थोड़ा सा ज्ञान कराया गया है। अतः मीमांसा को इस संक्षिप्त विचार-विमर्श की दृष्टि से दर्शन के रूप में पुकारा जा सकता है। वैदिक शब्दों एवं वाक्य खंडों के निर्वाचन के लिए मीमांसा के सिद्धांतों की आज भी उतनी ही मान्यता है जितनी उस समय थी। मीमांसा सूत्र जैमिनी ऋषि द्वारा लिखे हुए माने जाते हैं और शबर ने इस मीमांसा सूत्र पर एक

भाष्य लिखा है। मीमांसा साहित्य में जैमिनी और शबर के पश्चात् कुमारिल भट्ट एवं उसके शिष्य प्रभाकर का नाम प्रसिद्ध है जिसने अपने गुरु के मत की ऐसी कठिन आलोचना की है कि कुमारिल भट्ट अपने शिष्य को व्यंग्य में गुरु के नाम से पुकारा करते थे। आज भी प्रभाकर के मत को गुरु मत के रूप में पुकारा जाता है और कुमारिल भट्ट के मत को भाट्ट मत के नाम से जाना जाता है।

वेदान्त सूत्र जिसे उत्तर मीमांसा भी कहते हैं बादरायण द्वारा लिखा गया है। इसको ब्रह्म सूत्र के नाम से भी पुकारते है और यह वेदान्त के ऊपर उपलब्ध प्रथम अधिकृत ग्रन्थ है। वेदान्त शब्द का अर्थ है वेद का अन्त जिससे उपनिषद् और वेदान्त सूत्र अभिहित किए जाते हैं। इस प्रकार उपनिषदों के उपदेशों का संक्षिप्त वर्णन इसमें मिलता है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभाजित है और इन अध्यायों में से प्रत्येक के चार पाद हैं। इन ग्रन्थों के प्रथम चार सूत्र चतुः सूत्री के नाम से जाने जाते हैं— (१) ब्रह्म के संबंध में किस प्रकार जिज्ञासा की जाय (२) जन्म मृत्यु का स्रोत कौन है ? (३) वेद ईश्वरीय ज्ञान है और (४) उपनिषदों के सम्यक् प्रमाण से यह जाना जाता है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में वेदान्त मत की स्थापना है और विरोधी शाखाओं द्वारा किए गए आक्षेपों का उत्तर है। दूसरे पाद में अन्य शाखाओं के मतों का खंडन है। इस पुस्तक के अन्य अध्यायों में उपनिषद् शास्त्रों की विभिन्न संदर्भों की सुन्दर व्याख्या है, ऐसे स्थलों की जिनके संबंध में संदिग्ध मत प्रकट किया जाता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का वास्तविक दर्शन संबंधी ज्ञान प्रथम चार सूत्र एवं दूसरे अध्याय के प्रथम व द्वितीय पाद से ही प्राप्त होता है। दूसरे भागों में केवल उपनिषदीय

---

[1] इस सम्बन्ध में ऐसी कथा है कि एक बार कुमारिल एक संस्कृत वाक्य का अर्थ ठीक रूप से नहीं समझ सके। यह वाक्य है : "अत्र तुनोक्तम् तत्रापि नोक्तम् इति पौन सुक्तम्" (अतः दो बार कहा गया)। तुनोक्तम् पद के दो संधि-विच्छेद हो सकते हैं न+उक्तम् (भी नहीं कहा गया) दूसरा संधि विच्छेद तुना+उक्तम् (यहां तु के द्वारा कहा गया) और दूसरे वाक्य खंड 'तत्रापिनोक्तम्' के दो संधि विच्छेद हो सकते हैं। तत्र+अपि न+उक्तम् (वहां भी नहीं कहा गया) तत्र+अपिना+उक्तम् (वहां अपि के द्वारा ऐसा कहा गया है)। पहले संधि-विच्छेद के प्रसंग के प्रयोग से इस वाक्य का अर्थ होगा यहां भी नहीं कहा गया और वहां भी नहीं कहा गया। इसलिए दो बार कहा गया है। इस अर्थ में कुमारिल भट्ट कठिनाई में पड़ गए तब प्रभाकर ने इससे संधि विच्छेद को लेकर उनको यह अर्थ समझाया कि यहां पर 'तु' शब्द से समझाया गया है और वहां पर 'अपि' शब्द से। अतः इसका दो बार संकेत आया है। कुमारिल इस घटना से अति प्रसन्न हुए और अपने शिष्य को गुरु की उपाधि से अलंकृत किया।

टीकाएँ एवं भाष्य है। यद्यपि इन भागों में वेदान्त प्रणाली है किन्तु बहुत सी धार्मिक व्याख्याएँ और कल्पनाएँ भी मिलती है। ब्रह्म सूत्र की प्रथम टीका सम्भवतः बौधायन ने लिखी थी परन्तु अब यह उपलब्ध नहीं है। सबसे प्रथम अविकृत टीका शंकराचार्य के द्वारा लिखी हुई उपलब्ध होती है। ब्रह्म सूत्र की व्याख्या, टीका एवं अन्य ग्रन्थ जो तत्पश्चात् शंकराचार्य ने लिखे थे वही साधारणतया वेदान्त दर्शन के रूप में माने जाते है। यद्यपि वास्तविक रूप से शंकराचार्य के दर्शन को वेदान्त दर्शन की विशुद्धाद्वैत शाखा के रूप में मानना चाहिए। क्योंकि यह वेदान्त दर्शन का वह अंग है जो केवल एक ब्रह्म की सत्ता मे विश्वास करता है जो ब्रह्मेतर किसी को सत्य मानकर नहीं चलता। द्वैतवाद दार्शनिक मतों की विभिन्न धाराएँ जिनके प्रतिनिधि वैष्णव, शैव, रामापत इत्यादि थे वे भी ब्रह्म सूत्र के अनुसार अपने मत की पुष्टि करते हैं। परन्तु वे आदि सूत्रों से द्वैतवाद की उत्पत्ति मानते हुए अपने मत की स्थापना करते हैं। इस प्रकार द्वैतवादी विद्वान् जैसे रामानुज, वल्लभ, मध्व, श्रीकंठ, बलदेव आदि अपने ढंग से ब्रह्म सूत्र की स्वतंत्र टीकाएँ लिखते हुए यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदों के दर्शन के हिसाब से जिसे ब्रह्म सूत्र में सार रूप में वर्णित किया गया है उनके मत की पुष्टि मिलती है। इन विद्वानों ने अपने मतानुसार ही ब्रह्म सूत्र की टीकाएँ और भाष्य लिखे हैं। ये टीकाएँ और भाष्य शंकर से कई स्थानों पर भिन्न मत रखते हैं और अनेक स्थल पर शंकराचार्य की टीका की कड़ी आलोचना करते हुए उनके मत का खंडन करते हैं। इन विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित मत भी वेदान्त दर्शन के रूप में जाने जाते जाते हैं क्योंकि इनका यह दावा रहता है कि इनके द्वारा लिखे गए भाष्य ही ब्रह्म सूत्र अथवा उपनिषदों के ज्ञान को सही रूप से प्रकट करते हैं। इन दर्शन प्रणालियों में रामानुज द्वारा रचित दर्शन शाखा विशेष महत्व रखती है।

न्याय सूत्र गौतम ऋषि द्वारा रचित माना गया है जिनको अक्षपाद भी कहते हैं। कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र की रचना की थी। उनको उलूक नाम से भी संबोधित किया जाता है। इन दोनों सूत्रों में वास्तव में एक सा ही दर्शन पाया जाता है। आगे चल कर इन दोनों सूत्रों में बहुत साधारण सा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक इन सूत्रों का संबंध न्याय सूत्र से है, ये तर्क शास्त्र के नियमों पर विशेष बल देते हैं, जबकि वैशेषिक सूत्र अधिकांश रूप में भौतिकवाद एवं भौतिक शास्त्र की व्याख्या करते हैं। इन षड् दर्शनों के अतिरिक्त तंत्रों के भी अपने दर्शन हुआ करते थे किन्तु उन्हें हम एक प्रकार से वेदान्त और सांख्य दर्शनों की उपशाखाओं के रूप में कह सकते है यद्यपि तंत्र दर्शन का अपना स्वतंत्र ज्ञान भी ध्यान देने योग्य है।

विभिन्न दर्शनों में समान धारणायें

(१) कर्मवाद :

इन सभी दर्शनों में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार्वाक के दर्शन को

छोड़कर ये सब आधारभूत सिद्धान्तों पर एक सा मत रखते हैं। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि यह केवल मानसिक चमत्कार और उत्तेजन की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न नहीं हुआ। इस पद्धति से जो विचारधाराएँ उत्पन्न होती है वे अधिकांश अस्पष्ट कल्पनाओं के द्वारा अमूर्त भावनाओं को जन्म देती हैं जिनकी पृष्ठ भूमि का कोई आधार नहीं होता। परन्तु भारतीय दर्शन के मूल में जीवन के धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति एवं सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा सदैव से रही है। यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न मत और प्रणालियों में एक सा ही लक्ष्य एवं प्रतिपादन का ढंग पाया जाता है। उनके मतों की विभिन्नता होने के पश्चात् भी जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य था उस विषय में सभी दर्शन प्रणालियाँ एक मत थीं। इस स्थान पर इनमें से कुछ विषयों पर विचार विमर्श रोचक सिद्ध होगा।

इनमें सबसे प्रथम कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ले सकते हैं। सभी भारतीय दर्शन इस बात पर एक मत हैं कि मनुष्य या व्यक्ति जो कर्म करता है उस कर्म का फल सुख अथवा दुःख कर्म के क्रमशः शुभ एवं अशुभ होने के फलस्वरूप मनुष्य को प्राप्त होता है। जब इन कर्मो का फल आधुनिक जीवन में प्राप्त नहीं किया जा सकता अथवा मनुष्य योनि में नहीं प्राप्त किया जा सकता तब उसे मनुष्य योनि में अथवा और किसी योनि में उस भोग को पूरा करने के लिए जन्म लेना पड़ता है।

यह वैदिक विश्वास कि संपूर्ण संस्कारों के साथ यज्ञ में शुद्ध उच्चारण से किए हुए मंत्र पाठ से जो वेद विहित ढंग से किया जाता हैं और जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती, तत्काल मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है, संभवतः कर्मवाद का प्रारंभिक स्वरूप होना चाहिए। यह विश्वास अन्तर्मन की इस धारणा पर आधारित है कि कुछ रहस्यमय अथवा धार्मिक क्रियाएँ ऐसी हैं जो किसी निकट भविष्य में ऐसा फल दे सकती हैं जो साधारण भौतिक कार्य-कारण सिद्धान्त की परिधि से परे हैं अर्थात् साधारण ज्ञान से यह सम्भव नहीं है कि इन धार्मिक कृतियों के द्वारा किए हुए कर्म फल को सरलता से जाना जा सके। यज्ञ को सम्पूर्ण करने के पश्चात् उस कर्म से ऐसे रहस्यमय गुण की प्राप्ति होती है जिसे अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं, जिसके द्वारा मनोवांछित फल की रहस्यमय ढंग से पूर्ति हो जाती है; यद्यपि इस अपूर्व अथवा अदृष्ट द्वारा फल साधन किस प्रकार होता है इसका जानना कठिन है। संहिताओं में ऐसा विचार भी आता है कि जो इस लोक में दुष्ट कर्म करते हैं वे दूसरे लोकों में अपने पाप का फल भोगते हैं और जो शुभ कर्म करते है वे पार्थिव व अपार्थिव आनन्द का सुख भोग करते हैं। यह भावना सम्भवतः 'ऋत' की कल्पना से निःसृत है जिसका अर्थ है कि इस विश्व में जो क्रम स्थापित है वह कभी भंग नहीं होता। इस प्रकार संभवतः इन तत्वों से कर्म सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ जिसका वर्णन हम उपनिषदों में पूर्ण रूपेण पाते हैं परन्तु जिस पर वहाँ बहुत अधिक बल नहीं दिया गया है वहाँ यह भी कथन

पाया जाता है कि मनुष्य अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार अच्छी व बुरी योनियों में उत्पन्न होते हैं।

कर्म सिद्धान्त के कुछ अन्य मुख्य तत्व इस प्रकार है—आस्तिक दर्शन के अनुसार मर्मवाद में कर्म करने के कुछ समय पश्चात् अदृष्ट प्राप्त होता है। चाहे उस कर्म का सुख हो अथवा दुःख। ये कर्म फल एकत्रित होते जाते हैं और इस प्रकार कर्म करने वाले के अन्य जन्म में सुख और दुःख भोग का विधान निश्चित करते हैं। केवल उन कर्मों के फल ही जो अत्यन्त पुण्यमय अथवा अत्यन्त दुष्टतापूर्ण होते हैं कभी-कभी इस जन्म में प्राप्त होते हैं। दूसरे जन्म में जो योनि प्राप्त होती है वह इस जीवन के शुभ अथवा अशुभ कर्मानुसार होती है जिसके एकत्रित फलानुसार उत्तम या निकृष्ट योनि प्राप्त होती है और उस योनि में भी सुख व दुःख पूर्व जन्म के कर्मानुसार मिलता है। यदि उसके कर्म ऐसे हैं जिसका भोग प्राप्त करने के लिए बकरे का जन्म लेना पड़ेगा तो मनुष्य मरने के पश्चात् बकरे की योनि में जन्म लेगा। जिस प्रकार वह प्रकृति का प्रभाव अनादि है उसी प्रकार मनुष्य के जन्म और मरण का प्रभाव भी अनादि है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने किस समय से कर्म प्रारंभ किए। मनुष्य ने अनेक योनियों में अनेक बार जन्म लिया है और उसमें प्रत्येक जीवन के संस्कार प्रसुप्ता में विद्यमान हैं जब वह किसी भी योनि में मनुष्य अथवा पशु की भाँति जन्म लेता है तब ये अन्यधाराएँ वातावरण के अनुसार संस्कार के रूप में स्थिर हो उठती हैं जिनको पारिभाषिक भाषा में वासना कहा जा सकता है। इन वासनाओं के अनुसार मनुष्य कर्म करते हुए आनन्दमय अथवा दुःखमय अनुभूतियों के बीच में जीवन व्यतीत करता है। जीवन की अवधि भी पूर्व जन्म में किए हुए कार्यों के द्वारा और भोग के अनुरूप अवधि के अनुसार सुनिश्चित होती है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। किए हुए कर्म जब परिपक्व हो जाते है तो उनका फल एवं तत्सम्बन्धी अनुभूतियाँ भोगनी ही पड़ती हैं परन्तु यदि कर्म अपूर्ण हैं एवं फल देने के लिए परिपक्व नहीं हुए, तब ऐसे कर्म सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और इनका फल भोगना नहीं पड़ता। परन्तु शुभ कर्म करने वाले मुक्त पुरुष भी सुख व दुःख के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकते जो उनके पूर्व जन्म में अथवा अदृष्ट में लिखे हुए रहते हैं। कर्म चार प्रकार के है। (१) श्वेत अथवा शुक्ल अर्थात् उत्तम कर्म (२) भ्रष्ट अथवा दुष्ट कर्म (३) शुक्ल-कृष्ण अर्थात् कुछ धार्मिक एवं कुछ अधार्मिक कृत्य (४) अशुक्ल अकृष्ण ऐसे कर्म जिनमें फल की कोई कामना नहीं है, जहाँ सांसारिक कामनाओं का परित्याग कर दिया गया है अर्थात् निष्काम कर्म। जब कोई मनुष्य संयम द्वारा अपने जीवन को ऐसा बना लेता है जिसमें किसी प्रकार की वासना अथवा कामना, नहीं है तब वह निष्काम कर्म करता हुआ कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उस स्थिति में उसे केवल पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल भोगना पड़ता है। अगर इस अवधि में वह सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो इसके साथ ही पूर्व-कर्म-फल-भोग भी नष्ट हो जाता है अर्थात् पहले जन्म में किए

हुए कर्मों का फल उसे इसलिए प्राप्त नहीं होता कि शुभ कर्मों के द्वारा वो इनके भोग बंधन से छुटकारा पा गया है। इस प्रकार, क्योंकि उसके नवीन कर्म और अशुक्ल और अकृष्ट कर्म हैं अतः उन कर्मों का कोई फल नहीं होता और शनैः शनैः वह पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों के फलों का भोग पूरा कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जैन लोगों का मत है कि मनुष्य के मन, शरीर एवं वाणी के क्रियाकलापों से एक सूक्ष्म तत्व की उत्पत्ति होती है जिसको कर्म नाम से पुकारा जा सकता है। मनुष्य की वासनाएँ एक ऐसे चुम्बकीय तत्व के समान हैं जो इस कर्म द्रव्य को आकर्षित करती हैं और यह कर्मद्रव्य इस प्रकार आत्मा में प्रवेश कर वहाँ चिपक जाता है, स्थापित हो जाता है। यह सूक्ष्म तत्व जो आत्मा को आच्छादित कर लेता है कर्म शरीर कहा जाता है। आत्मा को आविष्टित किए हुए यह कर्मद्रव्य परिपक्व होने लगता है और इसका ह्रास और परिवृद्धि मनुष्य के लिए नियत फलों के सुख अथवा दुःखमय भोग के अनुसार होती रहती है। जहाँ कर्मद्रव्य का व्यय होता रहता है वहाँ अन्य कर्मों के द्वारा सूक्ष्म तत्व पुनः एकत्रित भी होता जाता है। इस प्रकार यह कर्म तत्व मनुष्य को सुख व दुःख प्राप्ति की क्रिया में सदैव संलग्न रखता है। यह कर्मद्रव्य आत्मा के के साथ संलग्न होकर एक प्रकार के वर्ण की उत्पत्ति करता है जिसको लेश्या कहते हैं। लेश्या श्वेत या कृष्ण आदि वर्ण की हो सकती हैं। ये आत्मा के स्वरूप और चरित्र का निर्धारण करती हैं। यौगिक दर्शन के शुक्ल व कृष्ण कर्मों के वर्गीकरण का आधार सम्भवतः यह जैन दृष्टिकोण ही रहा होगा। जब मनुष्य वासनाओं से मुक्त हो जाता है और जब धर्मानुसार आचरण में प्रवृत्त होता है तब उसके कर्मों से जिस कर्म की उत्पत्ति होती है वह क्षणिक होता है और तत्काल नष्ट हो जाता है। ऐसे मनुष्य जो कर्म पहले संचित कर चुके हैं उनके फलभोग की सीमाएँ पूर्व निर्धारित रहती है और उनका फल अवश्य मिलता है तत्पश्चात् अर्थात् फल भोग के पश्चात् ही वह कर्म नष्ट होता है। परन्तु जब ध्यान एवं (पाँच व्रतों) के कठिन पालन से नए कर्म की सृष्टि नहीं होती तब पूर्व कर्म का ह्रास होकर मनुष्य का भौतिक अस्तित्व बहुत शीघ्रता से समाप्त होने लगता है। तब ध्यान की अन्तिम अवस्था में सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं, आत्मा शरीर को छोड़ देती है और ब्रह्मांड के ऊपर एक उच्च लोक में प्रवेश करती है जहाँ पर ऐसी आत्माएँ शाश्वत रूप में निवास करती हैं।

बौद्ध-दर्शन में कर्म-सिद्धान्त के कुछ नवीन तत्व पाए जाते हैं परन्तु वे उनके दर्शन से ही विशेष रूप से संबद्ध है अतः वे उस समय स्पष्ट किए जाएँगे जबकि बौद्ध दर्शन

(२) मुक्ति का सिद्धान्त :

भारतीय दर्शन प्रणालियां विभिन्न मनुष्यों के सुख व दुःख के भोग के अन्तर को स्वीकार करती हैं और साथ यह भी स्वीकार करती हैं कि जन्म और पुनर्जन्म का क्रम

आदि काल से मनुष्य के कर्म के आधार पर चला आ रहा है। सुख व दुःख का भोग जीवन में कर्मानुसार मिलता है और इसी प्रकार जन्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था मनुष्य के किए हुए कर्म के आधार पर अवस्थित है। परन्तु साथ ही जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म का यह क्रम यदि कभी प्रारम्भ हुआ तो इसका कहीं अन्त भी होना चाहिए। यह अन्त किसी सुदूर काल में अथवा किसी सुदूर राज्य में न होकर अपने ही भीतर कहीं होना आवश्यक है। कर्म के द्वारा हम इस अनन्त जन्म मरण के चक्र में फँसते हैं और यदि हम सारे सन्तापों को विचारों और कामनाओं का परित्याग कर दें जिनके द्वारा कार्य की प्रेरणा होती है तो हमारी निष्काम आत्मा सुख व दुःख दोनों से मुक्त हो जाएगी। न यह कोई कर्म करेगी न पुनर्जन्म होगा। सांसारिक जीवन के द्वन्द्वों में फँसकर जब भारतीय लोग इससे ऊब गए तब उन्होंने किसी शान्तिमय लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा की और इस शांति को उस शांति का मूल आधार उन्होंने अपनी मूल आत्मा में देखा। मनुष्य का यह विश्वास है कि किसी स्तर पर ऐसा सम्भव हो सकता है कि आत्मा कर्म और बन्धन की इच्छा से मुक्त हो जाए। इस विचार ने इस भावना को जन्म दिया कि सांसारिक द्वन्द्व काल्पनिक हैं वाह्य हैं एवं माया के कारण हैं। आत्मा अपने वास्तविक रूप में साधारण जीवन की अपवित्रता से प्रभावित नहीं होती लेकिन हम अपने अज्ञान और वासनाओं के कारण जो कि हमें पूर्व जन्मों के कर्म संस्कारों के फलस्वरूप मिली होती हैं आत्मा को इन सब तत्वों से अशुद्ध हुई मानने लगते हैं। अनन्त जन्म एव पुनर्जन्म का चक्र जो कर्म के द्वारा संचालित होता है उसका एक मात्र लक्ष्य यह है कि हम आत्मा के विशुद्ध परात्पर रूप को पहचाने। बौद्धों ने आत्मा के अस्तित्व को नहीं माना है परन्तु कर्म का अन्तिम लक्ष्य कर्म के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है ऐसा स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के अगले पृष्ठों पर विमर्श किया जाएगा।

(३) आत्मा का सिद्धान्त :

बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय शाखाएँ एक शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार करती हैं जिसको अपने अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। आत्मा, पुरुष और जीव की संज्ञा देते हैं। इस आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अवश्य अनेक मतभेद हैं। न्याय-दर्शन आत्मा को निर्गुण एवं निराकार, वर्णनातीत एवं अनिर्धारित स्वरूपवती स्वीकार करता है और सांख्य दर्शन इस आत्मा को विशुद्ध चेतना के रूप में मानता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार यह वह आधारभूत तत्व है जो पूर्ण है चेतना अर्थात् चित्पूर्चानन्द अर्थात् आनन्द एवं पूर्ण सत्य है। वह इसे विशुद्ध अस्तित्व अर्थात् सत् शालिनी के रूप में वर्णन करता है लेकिन इस बात पर सब एक मत हैं कि आत्मा विशुद्ध है और स्वयं में अविकल्प है अर्थात् उसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं होती। वासना अथवा कर्म की विकृतियाँ आत्मा के वास्तविक रूप से परे हैं। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति

के लिए यह आवश्यक है कि जीवन की सारी विकृतियों और संस्कारों को दूर कर परम शुद्ध निर्मल आत्मा के रूप को हृदयंगम किया जाए और बाह्य सांसारिक माया से उपरत हो जाए।

संसार की ओर निराशावादी भाव और अन्त में आशावादी श्रद्धा

यद्यपि सभी दर्शन प्रणालियों में प्रमुख रूप से ऐसा नहीं कहा गया है कि यह संसार दुःखमय है परन्तु अधिकांशतः संसार के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है। सांख्य, योग एवं बौद्ध दर्शन में सांसारिक दुःखों पर विशेष रूप से बल दिया गया है। सुख व दुःखों का अनन्त बन्धन साधारणतया छूटने वाला नहीं है परन्तु वह हमें कर्म, पुनर्जन्म एवं तत्स्वरूप दुःखों के चक्र में फंसाता है, ऐसी मान्यता थी। जो कुछ सुख के रूप में हमारे सामने आता है वह सब दुःख का ही हेतु है। अर्थात् कोई भी सांसारिक सुख स्थायी आनन्द नहीं दे सकता। सुख की प्राप्ति में भी दुःख है और सुख के त्याग में भी दुःख होता है क्योंकि इस आनन्द की कामना की पूर्ति के लिए मनुष्य को कष्ट उठाना पड़ता है और यह क्षणिक आनन्द अन्त में मनुष्य को दुःख ही देता है अर्थात् सांसारिक आनन्द क्षणिक एवं दुःखदायी है। तब यह निश्चित है कि सुख भी दुःख के साथ इतने अधिक संलग्न होते हैं, अतः सुख स्वयं दुःख का ही कारण है। हम प्रमादवश इन क्षणिक सुखों को खोजते हैं और उसका अन्त दुःख में होता है। संसार की हमारी जितनी अनुभूतियाँ हैं वे दुःखमय हैं और उनसे और अधिक दुःख उत्पन्न होता है। विश्व की सारी क्रियाएँ दुःखमय हैं। साधारण मनुष्यों को ही यह क्षणिक सुख आनन्द-मय प्रतीत होता है। विद्वान् योगी पुरुषों को उनके निर्मल दृष्टिकोणों के कारण वह कष्टमय दिखाई देता है। मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ ही सांसारिक अनु-भूतियों के दुःखों का ज्ञान भी बढ़ता जाता है। योगी लोग नेत्र की पुतली के समान हैं। जिस प्रकार नेत्र में थोड़ी-सी भी किरकिराहट से अपार कष्ट होता है उसी प्रकार योगी लोग भी थोड़े-से सांसारिक बन्धन से भी दुःखी हो जाते हैं। सांसारिक दुःखों का कोई निदान नहीं है क्योंकि एक दुःख के पश्चात् दूसरा दुःख चलता रहता है। यह आलस्य से अथवा आत्म हत्या से दूर नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव इसको कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और आत्म हत्या से मनुष्य के सुख-दुःख का चक्र समाप्त नहीं होता क्योंकि आत्म हत्या के पश्चात् दुःख भोग पूर्ण करने के लिए पुनः जन्म लेना पड़ता है। इस बन्धन से मुक्त होने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर परमहंस पद प्राप्त किया जाए। हमारे अज्ञान के कारण ही हम सुख व दुःख की अनुभूति करते हैं। हमारे मन की विकृति से कामनाओं और वासनाओं को जन्म देते हैं जिससे हम ऐसे कर्म करते हैं जो हमें दुःख की ओर ले जाते हैं। जीवन में उच्चतम नैतिक उत्थान कर मनुष्य सांसारिक अनुभूतियों से ऊपर उठकर निष्काम

भावना से शरीर, मन और वाणी से सांसारिक सम्बन्धों से मुक्त हो सकता है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो आत्मा प्रकाशमय हो सकती है। तब इसका सत्य स्वरूप पहिचान लिया जाता है। फिर आत्मा कभी अज्ञान के चक्र में नहीं फंसती। इस स्तर पर चित्तवृत्ति निरोध द्वारा आत्मा मुक्त होकर सांसारिक दुःखों पर विजय प्राप्त करती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुक्ति संसार के कर्मों के प्रति उदासीनता धारण करने पर नहीं होती जैसा कि कभी-कभी एक निराश मनुष्य किया करता है। परन्तु यह इस बात के महत्व को समझने से होती है कि मुक्ति ही दिव्य आनन्दमय तत्व है। प्रत्येक दर्शन प्रणाली की निराशावादी धारा उस शाखा की तर्कसंगत विचारधारा के अनुसार उत्पन्न हुई है। जीवन के कर्मों के प्रति उपेक्षा की भावना अथवा अपने कर्त्तव्यों के न करने की भावना को कभी स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु निर्मल बुद्धि से पुण्य कर्म करते हुए जीवन के इन छोटे द्वन्द्वों से ऊपर उठने की भावना ही मुख्य है। जब मनुष्य उच्चतम आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह यह समझ जाता है कि सारे सांसारिक सुख व दु:ख, यहाँ तक कि स्वर्ग के सुख भी, आत्मानुभूति के सामने नगण्य हैं। यही नहीं वरन् वे सब दुःखमय और घृणाजनक दिखाई देने लगते हैं। इस प्रकार जब मनुष्य का मस्तिष्क सारे साधारण सुखों की ओर से उदासीन हो जाता है तब वह अपने लक्ष्य, मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। वास्तव में भारत में एक बड़ी गहन धार्मिक अभिलाषा रही है कि मनुष्य परम मोक्ष को प्राप्त करे और आत्मानुभूति का आनन्द उठाए। इसी भावना से भारतीय दर्शन का जन्म हुआ है। हमारे लिए इस सांसारिक दुःखमय बंधन का कोई भय नहीं होगा यदि हम यह स्मरण रखें कि हम मूलतः विशुद्ध, आनन्दस्वरूप एवं दुःख से रहित हैं। निराशावादी दृष्टिकोण का सारा भय अन्त में समाप्त हो जाता है क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार मोक्ष का लक्ष्य सदैव सामने रहता है और उसके कारण उसके अन्तिम भविष्य और आनन्द के बारे में अटल विश्वास बना रहता है।

भारतीय साधनों की एकता
की एकवाक्यता (दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक प्रयत्न)

भारतीय दर्शन प्रणाली मोक्ष की प्राप्ति के हेतु नैतिक आचरण के मूल सिद्धान्तों पर एकमत है। वासनाओं पर नियंत्रण कर संयमपूर्ण जीवन, अहिंसा और सांसारिक विषय भोगों की ओर से उदासीनता, यह सिद्धान्त सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। मनुष्य के जीवन में जब नैतिक आचरण के कारण सात्विक वृत्ति का उदय होता है तब वह चित्त शुद्धि एवं एक धार्मिक ज्ञान की एकाग्रता के कारण से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग्य पात्र बन जाता है। सारी भारतीय दर्शन शाखाएँ इस पात्रता को प्राप्त करने के साधनों पर अथवा यम नियमों के पालन करने के सम्बन्ध में एक मत हैं।

नामादि की तफसील में या अन्य विवरण में कहीं-कहीं अन्तर अवश्य दिखाई देता है परन्तु मूल रूप से सभी दर्शन योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित विधि को आत्म सिद्धि के लिए मान्य समझते हैं। केवल उत्तरकाल में वैष्णव दर्शन के प्रभाव में भक्ति को विशेष महत्व दिया जाने लगा। इस प्रकार यद्यपि विभिन्न शाखाओं में अनेक प्रकार के मतमतान्तर विभिन्न रूप से मिलते हैं परन्तु जहाँ तक मोक्ष प्राप्ति एवं तत्संबंधी साधन, जीवन का लक्ष्य और संसार के प्रति जीवन में व्यवहार आदि हैं, इन सब पर सभी दर्शन एक मत हैं। भारत के सभी भागों में धर्म के लिए अपार श्रद्धा एवं जिज्ञासा रही है और साधनों की एकता के कारण भारतीय विचार-दर्शन में एक प्रकार की एकरसता पाई जाती है।

——∞——

अध्याय ५

बौद्ध दर्शन

अनेक विद्वानों का ऐसा मत है कि सांख्य और योग भारतीय दर्शन की प्रमुख प्रारंभिक धाराएँ हैं। यह भी कहा जाता है कि बौद्ध दर्शन में सांख्य एवं योग दर्शन से ही अधिकांश प्रेरणा प्राप्त हुई है। इस दृष्टिकोण में काफी सत्य भी हो सकता है परन्तु यह भी सत्य है कि सांख्य एवं योग दर्शन के जो क्रमबद्ध शास्त्र हमको मिलते हैं वे बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् लिखे गये थे। हिन्दू दर्शन के जिज्ञासु यह भली भांति जानते हैं कि बौद्ध धर्म के संघर्ष के कारण हिन्दू दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में दार्शनिक जिज्ञासा का जागरण अधिक तेजी से हुआ, अधिकांश दार्शनिक ग्रन्थ इस काल में लिखे गये। अतः विभिन्न हिन्दू दर्शनों के पूर्ण-रूपेण अध्ययन करने के लिए बौद्ध दर्शन का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है ताकि हम बौद्ध दर्शन के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन कर सकें। अतः सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन से मैं इस विषय को प्रारम्भ करना उचित समझता हूं।

बुद्ध से पूर्व भारत में दर्शन की स्थिति

बौद्ध धर्म के उद्भव से पूर्व भारत में जो दार्शनिक कल्पनाएँ प्रचलित थीं उनका निश्चित स्वरूप वर्णन करना कठिन है। उपनिषदों के सिद्धान्त सर्वविदित हैं और उनका पहले भी वर्णन किया जा चुका है। परन्तु केवल यही सिद्धान्त प्रचलित नहीं था। इनके अतिरिक्त कई प्रकार के मत मतान्तर, धार्मिक विचार प्रचलित थे जिनका प्रसंग उपनिषदों में भी प्राप्त होता है, विशेषकर नास्तिक मतों का।[1] सृष्टि की उत्पत्ति और उनकी क्रियाओं में अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। कुछ लोगों का मत था कि काल ही केवल सृष्टि की उत्पत्ति और नाश का कारण है। दूसरा मत था कि प्रकृति किसी कारण विशेष से उत्पन्न न होकर स्वयमेव अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। कुछ लोगों के मत से प्रकृति अथवा सृष्टि एक अटल प्रारब्ध से उत्पन्न होती है अथवा अनेक कारणों के सन्निपात से, सहसा, एक अतर्कित घटना-क्रम में सृष्टि की उत्पत्ति हुई है

---

[1] श्वेताश्वतर १ अ० श्लोक २
"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।"

अथवा प्रकृति पंचभूतों के मेल से (संमिश्रण से) उत्पन्न हुई है अर्थात् इसकी उत्पत्ति भौतिक तत्वों द्वारा हुई है। अनेक प्रकार के धर्म विरोधी सिद्धान्तों का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है लेकिन इन सिद्धान्तों पर विस्तृत विवरण नहीं मिलता। उपनिषदों में वर्णित वस्तुवाद के समान दर्शन के दो अंग चार्वाक दर्शन में पाये जाते हैं। इन्हें धूर्त एवं सुशिक्षित की संज्ञा दी गई है। इनका उल्लेख उत्तरकालीन साहित्य में प्राप्त होता है परन्तु ये मत ठीक-ठीक किस काल में प्रचलित रहे इसका निश्चय करना कठिन है।

परन्तु ऐसा लगता है कि उपनिषदों में जिस वस्तुवादी दर्शन का प्रसंग आया है वह चार्वाक अथवा उसी प्रकार के अन्य दर्शनों की ओर संकेत करता है। चार्वाक वेदों को अथवा अन्य धार्मिक शास्त्रों को मान्य नहीं समझते थे। उनके अनुसार आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है जीवन एवं चेतना के भौतिक तत्वों के आमिश्रण से उत्पन्न होते हैं जैसे श्वेत और पीत रंग को मिलाने से लाल रंग उत्पन्न होता है अथवा जैसे राब में नशे का तत्व मद्यसार (मदशक्ति) अपने आप पैदा हो जाता है। इस जीवन के पश्चात् और कोई दूसरा जीवन नहीं है और कर्मों का अच्छा या बुरा फल नहीं होता क्योंकि पाप और पुण्य इन दोनों का ही अस्तित्व नहीं है। जीवन आनन्द के लिए है। जब तक जीवन है तब तक किसी और वस्तु के बारे में सोचना व्यर्थ है। मृत्यु के साथ जीवन और शरीर समाप्त हो जाता है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् जब शरीर को जला दिया जाता है तब शरीर राख बन जाता है अतः मनुष्य के पुनर्जन्म का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुमान में उनकी कोई आस्था नहीं है। जो प्रमाण प्रत्यक्ष है वह सत्य है क्योंकि किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए जिस हेतु को महत्व दिया जाता है वह फल उसका हेतु न होकर यह भी सम्भव है कि वह फल किसी और हेतु से हुआ हो और इससे वास्तविक हेतु का संभ्रम हो गया हो। अतः जिस हेतु के आधार पर जिस अनुमान को मान्य समझा गया है उसका आधार भ्रमपूर्ण होने से जिस नतीजे पर पहुँचते हैं वह स्वयं अमान्य है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि कुछ अवस्थाओं में घटनावश (संयोगवश) कोई अनुमान सत्य निकल आए तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह संयोगवश हुआ है अथवा किसी निश्चित कारण से हुआ है। इन लोगों को चार्वाक इसलिए कहा जाता था कि वे किसी प्रकार की धार्मिक व नैतिक जिम्मेवारी स्वीकार नहीं करते थे और खाने पीने में विश्वास करते थे। इस शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से है जिसका अर्थ है खाना, चर्वण करना। धूर्त चार्वाक के मतानुसार यह संसार चार तत्वों से अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि के द्वारा बना हुआ है और यह शरीर अणु के मेल से बना हुआ है। संसार में न कोई आत्मा है, न कोई स्वीय तत्व है, और न पाप है, न पुण्य। सुशिक्षित चार्वाक यह मानते थे कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी है परन्तु शरीर के विनाश के साथ-साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। चार्वाकों का आदि ग्रन्थ सम्भवतः बृहस्पति ने सूत्र रूप में

लिखा था। जयन्त एवं गुणरत्न ने इस ग्रंथ से दो सूत्रों का उद्धरण दिया है। इस मत का साधारण वर्णन जयन्त रचित न्यायमंजरी में, माधव रचित सर्व दर्शन संग्रह और गुण रत्न रचित तर्क रहस्य दीपिका में पाया जाता हैं। महाभारत में एक आख्यान आता है जिसमें युधिष्ठर से चार्वाक नाम का एक व्यक्ति मिलता है।

वस्तुवादी चार्वाक दर्शन के साथ-साथ ही हमें आजीवक का ध्यान भी आता है। मक्खलि गोशाल जो सम्भवत: जैन मुनि महावीर के शिष्यों में से एक थे और जो बुद्ध और महावीर के समकालीन थे, इस मत के प्रमुख नेता थे। इस मत के अनुसार मनुष्य धर्म करने में स्वतंत्र नहीं है। उसके सारे कर्म पूर्व निश्चित क्रम के अनुसार अथवा एक निश्चित अटल प्रारब्ध के अनुसार होते हैं। इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म करने में न वह स्वतंत्र है और न वह उन कर्मों के लिए उत्तरदायी है। मक्खलि के मत का मूल तत्व है कि "मनुष्य के पापी अथवा पुण्यात्मा होने के लिए तात्कालिक अथवा दूरस्थ कोई कारण नहीं है। बिना किसी कारण के वे अच्छे या बुरे हो सकते हैं। अपने स्वयं के प्रयत्न पर कोई वस्तु निर्भर नहीं कर सकती न किसी दूसरे के प्रयत्न से अच्छा या बुरा कर्म हो सकता है। संक्षेप में मनुष्य का प्रयत्न अर्थहीन है। मनुष्य शक्तिहीन है और वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। मनुष्य की विभिन्न अवस्थाएँ एक अटल भाग्य के कारण हैं अथवा वातावरण और प्राकृतिक अवस्था के अनुसार है।"[1]

अजित केशकंबली एक दूसरे मत के अधिष्ठाता थे। उनकी शिक्षा के अनुसार अच्छे अथवा बुरे कर्मों का कोई फल नहीं है। दूसरा कोई लोक नहीं है न यह लोक ही सत्य है। इस जीवन का माता पिता के या किसी और जीवन से सम्बन्ध नहीं है। हम कुछ भी करें जीवन के पश्चात् मृत्यु अवश्यंभावी है और मृत्यु के पश्चात् सब कुछ समाप्त हो जाता है।[2]

इस प्रकार तीन विशिष्ट विचारधाराएँ प्रचलित थीं। प्रथम यह कि आन्तरिक क्रियाओं द्वारा यज्ञादि कर्म से कोई भी मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त कर सकता था। दूसरी उपनिषद् की शिक्षा जिसके अनुसार ब्रह्म आत्मा अभिन्न है, वही वास्तविक सत्य है और उसी का वास्तविक अस्तित्व है। इसके अन्दर जो कुछ है वह केवल नाम और रूप मात्र है, अर्थात् जो माया है वह क्षणभंगुर है और जो शाश्वत तत्व है वह ही सत्य एवं यथार्थ है, वह आत्मा है। तीसरी शून्यवादी (निहिलिस्टिक) विचारधारा जिसके अनुसार न कोई नियम है न कोई शाश्वत सत्य है, जिसके अनुसार अनेक

---

[1] सामञ्ञफलसुत्त, दीघ, खंड १, पंक्ति २०।
हॉरनली द्वारा लिखित आजीवकों पर लेख (ई. आर. ई.)।

[2] सामञ्ञफलसुत्त ११, २, ३।

संवृत्तियों या घटनाओं के मेल से वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं अथवा ये किसी ऐसे प्रारब्ध से होती हैं जिसके बारे में मनुष्य द्वारा कुछ भी किया जाना संभव नहीं है। इन तीनों मतों से दर्शन के विचारमंथन की गति अवरुद्ध हो गई। इस देश में उस समय यौगिक क्रियाएँ भी प्रचलित थीं जो परम्परा के अनुसार भी मान्य थीं एवं जिनका सम्मान इस कारण से भी था कि इन क्रियाओं को करने वाले व्यक्ति अद्भुत शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियाँ इन क्रियाओं द्वारा प्राप्त किया करते थे। परन्तु कोई युक्तिसंगत आधार इन क्रियाओं की पृष्ठभूमि में नहीं था जिसके आधार पर वे इनका दार्शनिक विवेचन कर सकें। इसी समय कुछ अनिर्धारित दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधृत सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव हो रहा था। सम्भवत: योग दर्शन उसी समय से अपने आप को सांख्य सिद्धान्तों के साथ नियोजित कर दार्शनिक रूप पाने का उपक्रम कर रहा था। ठीक इसी समय बुद्ध ने दर्शन के एक मौलिक एवं नवीन, भव्य, स्वरूप को जन्म दिया जिसने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए दर्शन का एक नया मार्ग प्रस्तुत किया। यदि उपनिषदों का ब्रह्म जो एकमात्र एवं महान् तत्व माना गया है वही एकमात्र सत्य है तब अन्य किसी तत्व या सिद्धान्त पर दार्शनिक विमर्श करने की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि उस ब्रह्म के अनन्तर सब कुछ असत्य एवं अयथार्थ है। दूसरी ओर यदि वस्तुवादियों के अनुसार संसार में होने वाले व्यापार केवल असाधारण घटनावश हैं जिनका कोई युक्ति संगत आधार नहीं है तब उस मत में फिर दर्शन के लिए किसी युक्ति अथवा तर्क से किसी भी विचारधारा की संगति करना असंभव है क्योंकि तर्कहीन दर्शन की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। तीसरी ओर तान्त्रिक जादू टोने अथवा रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध में भी किसी दर्शन के विकास का प्रश्न कठिन सा ही था। इस प्रकार यदि बुद्ध के पूर्व भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की दशा का विश्लेषण करें तब हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि बुद्ध की दार्शनिक देन कितनी महत्वपूर्ण है।

बुद्ध और उनका जीवन

गौतम बुद्ध नेपाल की घनी तराई में स्थित कपिल-वस्तु के निकट लुम्बिनी कुंज में ई० पू० ५६० में पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य वंश के राजा थे, उनकी मां का नाम रानी महामाया था। गाथाओं के अनुसार उनके सम्बन्ध में ऐसी भविष्य-वाणी की गई थी कि जिस दिन बुद्ध एक अपाहिज रुग्ण मनुष्य या मरे हुए आदमी को देखेंगे उस दिन संन्यास ग्रहण कर लेंगे। उनके पिता ने उनको इन सब दृश्यों से दूर रखने का प्रयत्न किया और उनको विलास की सामग्री से घेरकर उनका विवाह भी कर दिया। परन्तु जब वे महल से बाहर निकले तब एक-एक करके उन्हें बुढ़ापा, मृत्यु, बीमारी आदि के दृश्य दिखाई दिये जिससे उनका हृदय दुःख और आश्चर्य से भर गया।

यह सब देखकर उनके हृदय ने अनुभव किया कि सभी सांसारिक वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं अतः उन्होंने गृह-त्याग का निश्चय किया और मनुष्य के दुःखों को मिटाने हेतु अमरत्व की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग खोजने का निश्चय किया। जब वे २९ वर्ष के थे तब उन्होंने अपने पितृगृह से महाभिनिष्क्रमण कर घर छोड़ दिया और राजगृह तक वे पैदल ही चलते गए और वहाँ से उरूवेला गए जहाँ वे अन्य पांच साधुओं के साथ आत्म संयम एवं कठोर साधना में लीन हो गए। कठिन तपस्या के कारण वे मृत प्रायः हो गए और एक दिन वेहोश होकर गिर पड़े और लोगों ने उन्हें मरा हुआ समझा। ६ वर्ष तक कठिन तपस्या करने के पश्चात् उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल कठोर तपस्या से सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और तत्पश्चात् साधारण ढंग से सावना करते रहे। अन्त में उन्होंने महान् सत्य के दर्शन किए और आत्म ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात् बुद्ध ४५ वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। जब वे ८० वर्ष के हो गए तब उन्होंने अनुभव किया कि अब जीवन त्याग करने का समय आ गया है। तब वे ध्यान में बैठ गए और ध्यान योग की उच्चतम क्रियाओं को करते रहे और निर्वाण को प्राप्त हुए। इस महान् उपदेशक के दर्शन में जिस प्रकार के विशद् परिवर्तन एवं विकास हुए हैं उनका इस देश में अथवा अन्य देशों में पूर्ण एवं गहन अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है और सम्भवतः अभी इसके अध्ययन सम्बन्धी समस्त सामग्री के एकत्रित होने में अनेक वर्ष लगेंगे। परन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे यह प्रामाणिक ढंग से सिद्ध किया जा सकता है कि यह मानवीय बुद्धि की महत्तम देनों में से एक है, आश्चर्यजनक, सुन्दर एवं रहस्यमय दर्शन है। भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता अनेक शताब्दियों तक निरन्तर होते रहने वाले इसके गहनतम प्रभाव के सदैव ऋणी हैं।

प्रारंभिक बौद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म के पाली ग्रन्थों के तीन प्रकार के संग्रह मिलते हैं सुत्त (सिद्धान्त संबंधी सूत्र), विनय (भिक्षुओं के परिचर्या एवं अनुशासन सम्बन्धी लेख) अभिधम्म सूत्रों में साधारण विषय वर्णित परन्तु उनकी विशद एवं विद्वत्तापूर्ण धार्मिक व्याख्या) बौद्ध-धर्म के विद्वान् इन ग्रंथों के निर्माण अथवा इन सूत्रों के संग्रह आदि का निश्चित मयस निर्धारित करने में अभी तक सफल नहीं हो पाए हैं लेकिन सुत्त अभिधम्म से पहले लिखे गए है और ऐसा सम्भव है कि ये सारे धर्मादेश सम्बन्धी ग्रंथ २४१ ईसा पू० तक पूरे लिख लिए गए होंगे जबकि अशोक के राज्यकाल में तीसरी महासभा की बैठक हुई थी। सुत्त मुख्यतया बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं तथा विनय ग्रंथ भिक्षुओं के अनुशासन सम्बन्धी नियमों का। अभिधम्म का विषय यही है जो सुत्तों का विषय है अर्थात् धर्म की व्याख्या। बुद्धघोष लिखित अत्थसालिनी टीका धम्म-संगणि

की टीका है। उसकी भूमिका में बुद्धघोष कहते हैं कि अभिधम्म नाम इन्हें इसलिए दिया गया क्योंकि ये सुत्तों में वर्णित धम्म की विशेष रूप से व्याख्या (धर्मातिरेक) करते हैं जिसके लिए तप धर्मातिरेक एवं 'धम्मविशेषत्तेन' विवेचना की संज्ञा दे सकते है। अभिधम्म में ऐसा कोई नया सिद्धान्त नहीं पाया जाता जो सुत्तों में न हो। वे सुत्तों में वर्णित सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या ही करते है। बुद्धघोष सुत्तों एवं अभिधम्म में अन्तर बताते हुए लिखते हैं कि सुत्तों के मनन से ध्यान की एकाग्रता (समाधि) का लक्ष्य प्राप्त होता है जबकि अभिधम्म के अध्ययन से ज्ञान और बुद्धि प्राप्त होती है (पञ्ञासम्पादम्)। इस उक्ति के पीछे सम्भवतः यह तथ्य है कि सुत्तों के अध्ययन से मन और बुद्धि परिष्कृत होते हैं और उस परिष्कार से ध्यान और समाधि की ओर रुचि होती है जिससे दुःखप्रद बन्धन से मुक्ति मिलती है। अभिधम्म के अध्ययन से युक्ति, तर्क एवं प्रमाणों से धर्म सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या की एवं उसके प्रतिपादन की अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सुत्त शुद्ध भक्ति, ध्यान, धारणा आदि की ओर मन को अग्रसर करते हैं और अभिधम्म, धर्म-सम्बन्धी तार्किक वाद विवाद एवं बाह्य दार्शनिक विवेचन में गति प्रदान करते हैं। कथावत्थु नाम के अभिधम्म ग्रन्थ अन्य अभिधम्म ग्रन्थों से भिन्न है क्योंकि ये उन मतों को, जो धर्म सम्मत नहीं है, प्रश्नोत्तर की प्रणाली से, विपक्षियों के उत्तरों में विरोधाभास बताते हुए, मूर्खतापूर्ण सिद्ध करते हैं।

सुत्त-ग्रन्थों के पांच संग्रह उपलब्ध है जिनको निकाय कहते हैं (१) दीघनिकाय—इसे सुत्तों की दीर्घता के कारण दीर्घनिकाय कहा जाता है (२) मज्झिम निकाय—इसका नाम सुत्तों का कलेवर मध्यम प्राय होने के कारण ऐसा रखा गया है। (३) संयुत्त निकाय—विशेष गोष्ठियों में अथवा 'संयोगों में' जो उपदेश दिया जाता था वह इसमें वर्णित है। इन संयोगों में (गोष्ठियों में) विशेष व्यक्तियों से मिलने का अवसर प्राप्त होता था और उस अवसर पर जो उपदेश हुआ करते थे वे सम्युत्त निकाय में उपलब्ध है। (४) अंगुत्तर निकाय—यह नाम इसलिए पड़ा कि इन ग्रन्थों के प्रत्येक अध्याय में जिन विषयों पर शास्त्रार्थ किया गया है उनकी संख्या प्रत्येक अध्याय में एक अधिक हो जाती थी अर्थात् एक से बढ़ जाती थी।[1] (५) खुद्दक निकाय—इसमें निम्न विषय पाये जाते हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-नियात, विमानवत्थु, प्रेतवत्थु, थैरगाथा, थैरीगाथा, जातक, निदेश पतिसंभिदामग्ग, अपादान, बुद्धवंश एवं चर्यापिटक।

अभिधम्म-ग्रन्थ निम्न है—पत्थान, धम्मसंगणि, धातुकथा, पुगलपञ्ञत्ति, विभंग, यमक, एवं कथावत्थु। इन ग्रन्थों के विभिन्न भागों पर टीका साहित्य भी मिलता है जिनको अत्थकथा के नाम से भी पुकारते हैं। मिलिन्दपन्ह, अर्थात् 'राजा मिलिन्द के प्रश्न' नाम का ग्रन्थ (तिथि अनिश्चित) बड़े दार्शनिक महत्व का है।

---

[1] बुद्ध घोष, अत्थसालिनी, पृ० २५।

जो सिद्धान्त और विचार इस साहित्य में मिलता है उसे साधारणतया स्थविरवाद या 'थेरवाद' के नाम से जाना जाता है। थेरवाद नाम की उत्पत्ति के संबंध में द्वीपवंश नामक पुस्तक में लिखा है कि प्रथम महासभा में थेरगण अर्थात् वृद्धजन एकत्रित हुए और सारे सिद्धान्तों को उन्होंने एक स्थान पर एकत्रित किया। अतः इन्हें थेरवाद कहते हैं।[1] ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन जैसाकि वह पाली साहित्य में वर्णित है बुद्ध घोप के समय (४०० ई०) के पश्चात् और अधिक विकसित नहीं हो पाया। बुद्ध घोप ने विशुद्धि मग्ग (थेरवाद सिद्धान्तों का संग्रह ग्रन्थ) लिखा और कई ग्रन्थों की टीका की जिसमें दीघनिकाय एवं धम्मसंगणि मुख्य हैं।

उत्तरकालीन हिन्दू दर्शन बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओं द्वारा बहुत प्रभावित हुआ दिखता है परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि पाली भापा में लिखित बौद्ध दर्शन का हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों पर कोई प्रभाव पड़ा हो। मुझे किसी भी ऐसे तत्कालीन हिन्दू लेखक का पता नहीं लग पाया है जो साथ ही पाली का भी विद्वान् हो।

प्रारंभिक बौद्ध धर्म का कारण-सिद्धान्त[2]

बौद्ध शास्त्रों में धम्म शब्द का चार अर्थों में प्रयोग किया जाता है। (१) शास्त्र (२) गुण (३) कारण (हेतु) (४) सत्वरहित एवं जीवरहित (नि.सत्व एवं निर्जीव)।[3] इन सबमें अन्तिम अर्थ बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रारंभिक बौद्ध दर्शन में किसी एक ऐसे अस्तित्व को नहीं माना गया है जिसको यथार्थ अथवा वास्तविक सत्य के रूप में समझा गया हो। बौद्ध दर्शन के अनुसार जो भी तत्व हैं वे केवल सत्वहीन घटनाएँ ही हैं जिनको उन्होने धम्म या धम्मों के नाम से संबोधित

---

[1] ओलडनबर्ग का दीपवंश, पृ० सं० ३१।

[2] इस बात पर मतभेद है कि कारणों के बारह समूहों का जो सिद्धान्त सम्म्युत्तनिकाय में दिया हुआ है वह बौद्ध दृष्टिकोण से कारण सिद्धान्त का सर्वप्रथम मत है अथवा नहीं क्योंकि सम्म्युत्त निकाय बौद्ध सुत्तों का प्राचीनतम ग्रन्थ नहीं माना जाता, परन्तु क्योंकि यह कारणों का सिद्धान्त बौद्ध धर्म का आधार माना जाता है अतः मैंने इसके विशेप विवाद में पड़ना उचित नहीं समझा कि यह सर्वादिक सिद्धान्त है या नहीं। इस संबंध में मेरा ध्यान ई० जे० टोमस ने आकर्षित किया था।

[3] अत्थसालिनी पृ० ३८। धम्म शब्द और भी अर्थो में प्रयोग किया जाता है जैसे धम्मदेशना जहाँ इसका अर्थ है धार्मिक शिक्षा। लंकावतार ने धर्म की व्याख्या "गुण-द्रव्य पूर्वका धर्माः" के रूप में की है अर्थात् धर्म वे हैं जो वस्तु के रूप गुण को स्पष्ट करते हैं।

किया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि वास्तव में कोई यथार्थ अथवा पार्थिव तत्व नहीं है तो कोई व्यापार अथवा घटनाएँ या सवृत्तियाँ कैसे हो सकती है ? परन्तु सांसारिक क्रम अर्थात् घटनाक्रम चलता रहता है। बुद्ध के लिए विशेष महत्वपूर्ण वस्तु यह जानकारी करना था कि 'जो कुछ यह हो रहा है उसके परे और क्या है' अथवा 'जो कुछ नहीं हो रहा है उसके परे और क्या नहीं है।' ये सारी घटनाएँ एक क्रम में हो रही हैं और हम यह देखते हैं कि एक घटना अथवा कार्य दूसरे कार्य के लिए कारण रूप हो जाता है और उससे फिर अन्य कार्य की उत्पत्ति होती है। इसे पतिच्च समुप्पाद कहते हैं अर्थात् जहाँ कार्योत्पत्ति किसी कारण पर निर्भर है। लेकिन यह समझना और अधिक कठिन है कि इस निर्भरता का वास्तविक रूप क्या है। बुद्ध के हृदय में ज्ञान प्राप्त करने के पहले इस संबंध में अनेक शंकायें उठीं जैसाकि संयुत्त निकाय में दिया हुआ है। उन्होंने विचार किया कि मनुष्य ऐसी दुःख भरी स्थिति में क्यों हैं ? वे जन्म लेते हैं, बुरे होते है, मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इस दुनियाँ से चले जाते हैं और फिर जन्म लेते है। इस मृत्यु और दुःख से छुटकारा पाने के लिए उनको मार्ग दिखाई नहीं देता।

दुःख मृत्यु, और बुढापे से छुटकारा पाने के लिए मार्ग किस प्रकार ढूंढा जाये ? फिर उन्होंने सोचा कि यदि मृत्यु और जरा है तो इसके होने का क्या कारण है ? इस विषय पर विशेष मनन करने के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जरा और मृत्यु तभी हो सकती है जब कि जन्म हो। अतः जरा और मृत्यु जन्म (जाति) पर निर्भर करती है। उन्होंने पुनः मनन किया कि यदि जन्म का अस्तित्व है तब यह जन्म अथवा जाति इस पर निर्भर करती है इसका हेतु क्या है। तब वह इस नतीजे पर पहुँचे कि जन्म तभी हो सकता है जबकि जन्म के पूर्व कोई अस्तित्व हो जिसे बौद्ध दर्शन के अनुसार (भाव[1]) नाम दिया है अर्थात् भाव जाति का हेतु है। फिर उन्होंने सोचा कि पूर्वस्थित भाव किस पर निर्भर है अथवा वह कौनसी वस्तु है जिसके होने से भाव की उत्पत्ति होती है अर्थात् जो भाव का हेतु है। उन्होंने मनन किया कि अस्तित्व तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसका कोई आधार न हो जिसे उन्होंने उपादान[2] के नाम

---

[1] चन्द्रकीर्ति ने अपनी पुस्तक माध्यमिक वृत्ति में पृ० ५६५ (लाविली पूर्सो संस्करण) भाव की व्याख्या करते हुए कहा है कि भाव वह कर्म है जिससे पुनर्जन्म होता है। (पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च)।

[2] अत्थसालिनी पृ० सं० ३८५। उपादानन्तिदलहग्गहणम्। चन्द्रकीर्ति उपादान का अर्थ करते हुए कहते है कि मनुष्य जब किसी वस्तु की दृढ कामना करता है तब वह उस कामना की पूर्ति के लिए जो साधन है उनको विशेष मोह से पकड़े रहता है। (यत्र वस्तुनि सतृष्णस्तस्य वस्तुनोर्जनाय विधापनाय उपादानमुपादत्ते तत्र प्रार्थयते) माध्यमिक वृत्ति पृ० ५६५।

से संबोधित किया है। फिर उन्होंने सोचा कि उपादान का हेतु क्या है। उपादान वासना (तन्हा[1] अथवा तृष्णा) पर निर्भर है। यदि तृष्णा नहीं है तो उपादान संभव नहीं है। परन्तु फिर यह इच्छा किस पर निर्भर है। वासना अथवा तृष्णा के लिए वेदना की आवश्यकता है, वेदना का क्या कारण है और यह किस पर निर्भर है ? वेदना की अनुभूति के लिए आवश्यक है ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क अर्थात् इन्द्रियजन्य चेतना जिसे स्पर्श[2] नाम दिया है। यदि इन्द्रियजन्य चेतना न हो तो अनुभूति नहीं होती। यह स्पर्श किस पर निर्भर है ? सम्पर्क के छः क्षेत्र है जिनको आयतन[3] कहा गया है। इन छः आयतनों का क्या हेतु है ? तब वह इस नतीजे पर पहुँचे कि आयतनों के लिए बुद्धि और शरीर का होना आवश्यक है। शरीर अथवा बुद्धि (नाम रूप) ही छः आयतनों का आधार है। फिर ये नाम रूप किस पर निर्भर करते है ? फिर इनका क्या हेतु है ? चेतना के बिना नाम रूप नहीं हो सकते। चेतना (विज्जयान) ही नाम रूप का आधार[4] अथवा हेतु है। फिर विज्ञान का क्या अर्थ है ? बौद्ध

---

[1] चन्द्रकीर्ति तृष्णा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं। आस्वादनाभिनंदनाध्यवसान-स्थानादात्मप्रियरूपैर्वियोगो मा भूत्, नित्यमपरित्यागो भवेदिति, येयम् प्रार्थना— यह उत्कट इच्छा कि जिन भोगों से हमें परितृप्ति होती है उनसे हमारा कभी वियोग न हो, इस उत्कट कामना को तृष्णा कहते है। वही, पृ० ५६५।

[2] कई स्थानों पर फस्सायतन फस्सकाय शब्द प्रयोग में आये हैं जैसे मध्यमनिकाय दूसरा खण्ड, पृ० २६१ तीसरा खण्ड पृ० २८० आदि। चन्द्रकीर्ति संस्कृत में कहते हैं— पड्भिरायतनद्वारैः कृत्यप्रक्रियाः, प्रवर्तन्ते, प्रज्ञायन्ते तन्नामरूपप्रत्ययन् पडायतनन् उच्च्यते पड्भ्यचायतनेभ्यः पट् स्पर्शकायाः प्रवर्तन्ते, वही, पृ० ५६५।

[3] आयतन से अर्थ छः ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं से है। आयतन का शाब्दिक अर्थ कार्यक्षेत्र है। जैसे आँख देखती है और जिसने स्वरूप को देखा है वह उस दृष्टि का कार्यक्षेत्र है। पडायतन का अर्थ है, छः ज्ञान चेतना चन्द्रकीर्ति आयतनद्वारैः का प्रयोग करता है।

[4] मैंने नामरूप शब्द को शरीर और शुद्धि के अर्थ में अंग (Aung) महोदय के अनुवाद से लिया है।, कम्पेन्डियम (Compendium) पृ० २७१। यह अर्थ मुझे काफी सही लगता है। प्रत्येक जन्म में चार स्कन्ध 'नाम' शब्द से पुकारे गये हैं। इनका रूप अथवा द्रव्य (Matter) के साथ 'नाम रूप' शब्द से उल्लेख होता है। इनका विकास होने से छः ज्ञानेन्द्रयों के द्वार से जगत् की प्रक्रियाओं के कारण ज्ञान की प्राप्ति होती है। मध्यमनिकाय पृ० ५६४। गोविन्दानन्द जिन्होंने ब्रह्म सूत्र की शकर भाष्य पर टीका लिखी है नाम रूप की एक दूसरी व्याख्या करते हैं जो संभवतः विज्ञानवाद के दृष्टिकोण के अनुसार है परन्त इसकी जाँच करने का हमारे पास कोई

शब्द (विञ्ञान) है। विञ्ञान का आधार संखार-संस्कार है।[1] फिर इस पर विचार किया कि संस्कार का क्या आधार है? फिर इसके आधार के लिए इस नतीजे पर पहुँचे कि संस्कार का आधार अविज्जा (अविद्या) है। अविज्जा के नाश से संखार

साधन नहीं है। वे कहते हैं—क्षणभंगुर वस्तुओं को स्थायी मानना अविद्या है। इस अविद्या के कारण मोह, वितृष्णा, क्रोध, ममता आदि के संस्कारों की उत्पत्ति होती है, इनसे विज्ञान अथवा उत्पत्ति के विचार की सृष्टि होती है, फिर उससे आलय विज्ञान और चार तत्वों की (जो नाम द्वारा बोध्य होते हैं इसलिए उनको 'नाम' कहते हैं) उत्पत्ति होती है उनसे श्वेत और कृष्ण की तथा रक्त और वीर्य की उत्पत्ति होती है जिसको रूप कहते हैं। वाचस्पति एवं अमलानंद गोविन्दानन्द से सहमत हैं कि नाम, वीर्य और रज के लिए प्रयुक्त हुआ है। रूप का अर्थ उस बौद्धिक शरीर से है जो इस बीच से उत्पन्न हुआ है। गर्भ में विज्ञान ने प्रवेश किया और उसके कारण नाम रूप की पूर्व कर्मो के संघात से उत्पत्ति हुई। देखिये वेदान्त कल्पतरु पृ० २७४-७५। गर्भ में विज्ञान के प्रवेश करने के सिद्धान्त को तुलनात्मक रूप से देखने के लिए पढ़िये दूसरा खण्ड, पृ० संख्या ६३।

[1] यह कहना कठिन है कि संखार का सही अर्थ क्या है। बुद्ध उन प्राथमिक विचारकों में थे जिन्होंने दर्शनाशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों और मुहावरों का प्रयोग सुचारु ढंग से प्रारम्भ किया था परन्तु उनको कई बार एक ही शब्द का कई अर्थों में प्रयोग करना पड़ा। अतः बहुत सी दार्शनिक परिभाषाएँ परवर्ती संस्कृत दर्शन की वैज्ञानिक परिभाषाओं की तुलना में लचीले अर्थ वाली हैं। इस प्रकार संयुक्तनिकाय तीसरा खण्ड, पृ० ८७ में कहा है "संकटम् अभिसंकरन्ती" संखार का अर्थ इस प्रकार किया है—वह जो मानसिक विषमताओं में समन्वय करता है। कम्पेडियम में इसका अर्थ संकल्प और कर्म के रूप मे दिया है। औंग महोदय इसका अर्थ कर्म के रूप में करते हैं। संखार खण्ड में, जिस अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है उससे इसका अर्थ भिन्न है। संखार खण्ड में इसका अर्थ है मानसिक स्थितियाँ। धम्मसंगति पृ० १८ में संखार खण्ड को निर्मित करने वाली ५१ मानसिक स्थितियों का वर्णन किया गया है। धर्म संग्रह पृ० सं० ६ पर दूसरी ४० मानसिक स्थितियों का वर्णन आया है। इन ४० के अलावा जिन्हें चित्तसम्प्रयुक्तसंस्कार नाम दिया गया है। १३ अन्य मानसिक स्थितियों का वर्णन भी आया है जिन्हें चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार नाम से वर्णित किया गया है। चन्द्रकीर्ति इनका अर्थ ममता, मोह और घृणा के रूप में करते हैं। देखिये पृ० ५६३, गोविन्दानन्द शंकर के ब्रह्म सूत्र की टीका में (दूसरा खण्ड, दूसरा अध्याय पृ० १९) इस शब्द का प्रयोग प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के सिलसिले में करते हैं और वहाँ इसका अर्थ ममता, विराग और मोह के रूप में करते हैं।

का नाश होगा।[1] संस्कार के नाश से विज्ञान नष्ट हो जायेगा और इसी प्रकार इसी क्रम से मनुष्य जन्म और मरण से छूट जायेगा।

जीवन के अस्तित्व के इस हेतु के चक्र से जिसको कभी कभी भव चक्र के नाम से भी पुकारते है, बुद्ध का वास्तव में क्या अर्थ था, यह कहना कठिन है। जन्म के बिना जरा और मरण संभव नहीं है[2] यह स्पष्ट है, परन्तु इसके पश्चात् कठिनाई प्रारम्भ हो जाती है। हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों में प्रारम्भ हुआ था। बृहदारण्यक में ऐसा लिखा है कि जैसे घास की पत्तियों पर चलती एक इल्ली एक पत्ती से दूसरी पत्ती पर चली जाती है इसी प्रकार आत्मा एक शरीर के अन्त तक पहुँचकर दूसरे शरीर में चली जाती है। इस प्रकार यह जीवन दूसरे जीवन को पहले से ही मानकर चलता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ बुद्ध के पहले अथवा पश्चात् पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का अथवा इसका खण्डन करने का कभी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया।[3] दर्शन के सारे ही अंग इस सिद्धान्त को मानते रहे है केवल चार्वाक दर्शन ने इसको नहीं माना है। परन्तु चार्वाक दर्शन के सूत्रों के संबंध में हम इतना कम जानते हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि उनके सूत्रों में इस सिद्धान्त के खण्डन का कोई विशेष संदर्भ आया है अथवा नहीं। बुद्ध भी इसको एक वास्तविक तथ्य के रूप में मानते है और कहीं इसकी आलोचना नहीं करते हैं। अतः यह जीवन पूर्व जन्मों की श्रृंखला की एक कड़ी है। भविष्य में भी यह कल्पना की जाती है कि अनेक जन्म लेने होंगे। केवल वे कुछ थोड़े से लोग, जिन्हें निर्वाण प्राप्त हो जाता है, इस जन्म मरण की श्रृंखला से कुछ समय के लिए मुक्त हो जाएँगे। यह सिद्धान्त जन साधारण में सर्वमान्यथा और बुद्धि ने भी इस विषय पर मनन किया तो उनको यह मानना पड़ा कि यह जन्म पूर्व जन्म के अस्तित्व के कारण है जिसको भव शब्द से उन्होंने स्पष्ट किया है। यदि भव का अर्थ कर्म से है जिसके कारण पुनर्जन्म

---

[1] संयुत्तनिकाय, दूसरा अध्याय, पृ० सं० ७८।

[2] जरा और मरण से शोक (अफसोस) होता है, परिवेदना (रोना, पीटना) होता है, दुःख (पीड़ा) होता है, दौर्मनस्य (कष्ट और परेशानी की भावना) और अपायास (सब कुछ छूट गया है, नष्ट हो गया है ऐसी भावना) उत्पन्न होता है जबकि मनुष्य अपनी या अपने प्रिय जनों की मृत्यु की कल्पना करता है इन सबसे मनुष्य को कष्ट एवं दुख होता है जो जाति (जन्म) के कारणः होता है। माध्यमिकवृत्ति पृ० २०८।

शंकर अपने भाष्य में इन सारे शब्दों को जरा के अतिरिक्त वर्णित करते हैं। यह सारा शब्दक्रम दुःख-स्कन्ध की सम्पूर्णता को स्पष्ट करता है।

[3] हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न न्याय दर्शन में किया गया है परन्तु यह अति संक्षिप्त और अपर्याप्त है।

होता है जैसाकि चन्द्रकीर्ति मानते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही यह जन्म संभव है। यहाँ हमें उपनिषद् के इस वाक्य का स्मरण हो उठता है जिसमें कहा गया है कि मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करेगा उसी प्रकार उसका जन्म होगा—यत् कर्म कुर्यात् तत्अभिसम्पद्यते—(वृहदारण्यक चतुर्थ खण्ड, चतुर्थ अध्याय, ५वां श्लोक) अस्तित्व की अपेक्षा भव शब्द का अर्थ कर्म के रूप में जो चन्द्रकीर्ति ने किया है अधिक ठीक दिखाई देता है (पुनर्भव जनकं कर्म) संभवतः यह शब्द अस्पष्ट रूप से "कर्मभव" के लिए प्रयुक्त किया गया था। भव शब्द प्रारम्भिक उपनिषदों में नहीं पाया जाता है और दर्शनशास्त्रीय शब्द के रूप में केवल पाली भाषा के शास्त्रों में इसका प्रयोग हुआ है। लेकिन यह भव किस वस्तु पर निर्भर करता है? यदि मनुष्य कामना के वशीभूत होकर कर्म नहीं करता तो पूर्व जन्म नहीं होता। इस प्रकार सकाम कर्म अथवा मोह को उपादान नाम दिया गया है। उपनिषदों में कहा है जिसके लिए उसके मन में मोह होता है वैसा ही वह कर्म करता है "यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते," (वृहदारण्यक चतुर्थ खण्ड, चतुर्थ अध्याय, ५ वां श्लोक)। यह कामना तृष्णा पर निर्भर है इसलिए बौद्ध दर्शन में कहा है कि उपादान के लिए 'तनहा' की आवश्यकता है। उपनिषदों में भी कहा है कि जैसी मनुष्य इच्छा करता है उसी प्रकार वह कर्म करने को उद्यत होता है (स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति)। उपादान और तृष्णा शब्द (तनहा नाम के शब्द के लिये संस्कृत का शब्द) प्रारंभिक उपनिषदों में नहीं पाये जाते लेकिन इनमें वह भाव है जो संस्कृत के शब्द ऋत् व काम में पाया जाता है। तृष्णा इन्द्रियजन्य अनुभूति के ऊपर निर्भर करती है। इन्द्रियजन्य अनुभूति चेतना के छः कार्य-क्षेत्रों[1] (आयतनों) पर निर्भर करती है। षड् चेतनाएँ अथवा के कार्यक्षेत्र मनुष्य के शरीर और बुद्धि के समन्वय के कारण जन्मी मनः स्थिति पर आश्रित हैं और इसी मनस्तात्विक स्थिति को 'नाम-रूप' शब्द से पुकारा गया है जो शरीर और बुद्धि के एक साथ कार्य करने की शक्ति को स्पष्ट करता है। उपनिषदों में यह शब्द आया है परन्तु वहाँ पर इसका प्रयोग निश्चित स्वरूप और नाम के अर्थ में हुआ है जहाँ पर कि भौतिक स्वरूप वाले तत्वों की तुलना में उनके विपरीत अनिश्चित अवर्णनीय यथार्थ[2] अथवा सत्य का उल्लेख किया जाता है। बुद्धघोष 'विसुद्धिमग्ग' (विशुद्धिमार्ग) में कहते हैं कि

---

[1] आयतन शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर प्रारंभिक उपनिषदों में भी आया है। इसका अर्थ उपनिषदों में 'क्षेत्र' अथवा 'स्थान' के रूप में किया गया है। छान्दोग्य, १:५ वृहदारण्यक ३:९-१० लेकिन सदायतन शब्द का प्रयोग नहीं आता है।

[2] चन्द्रकीर्ति नाम की इस प्रकार व्याख्या करते हैं। वेदनादयोऽरूपिणश्चत्वारः स्कन्धास्तत्र तत्र भावे नामयन्तीति नाम। सह रूपस्कन्धेन च नामरूप चेति नामरूपमुच्यते। चार स्कन्ध प्रत्येक जन्म में नाम के रूप में माने जाते हैं। ये रूप के साथ मिलकर नाम रूप कहलाते हैं।

नाम शब्द से तीन शब्द-समुच्चयों का बोध होता है जो इस प्रकार हैं। संवेदना, प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान और पूर्व वृत्ति अथवा अभिवृत्ति रूप शब्द से चार तत्व और चार (भूत) से उत्पन्न रूप समझे जाते हैं।[1] पुनः कहते हैं कि नाम द्वारा भौतिक परिवर्तन नहीं हो सकते हैं जैसे खाना, पीना अथवा अन्य क्रियाएँ। इसी प्रकार रूप अपने आप से कोई इस प्रकार से परिवर्तन नहीं कर सकता लेकिन ये दोनों लंगड़े व अन्धे मनुष्य की भाँति एक दूसरे के पूरक हैं[2] और मिलकर परिवर्तन करने में समर्थ होते हैं। परन्तु नाम और रूप की उत्पत्ति के लिए किसी प्रकार की वस्तुओं के संग्रह को मानने की आवश्यकता नही है "ठीक उसी तरह जिस प्रकार बांसुरी बजाते समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसके लिए किसी वस्तु भण्डार की आवश्यकता नहीं होती न कहीं ध्वनि का कोइ भण्डार होता है जहां से ये स्वर आते है। जब वीणावादन बन्द हो जाता है तब भी कोई ऐसा स्थान नहीं होता जहाँ पर ध्वनि लौट जाती है। इसी प्रकार वे सारे तत्व जो रूप और नाम के तौर पर स्थित होते हैं वे यद्यपि पहले नहीं होते (उनकी कोई पूर्व स्थिति नहीं है) फिर भी वे अस्तित्व ग्रहण करते हैं और अस्तित्व ग्रहण करने के पश्चात् पुनः लुप्त हो जाते हैं।"[3] नाम रूप को इस अर्थ के अनुसार हम बुद्धि और शरीर के रूप में नहीं ले सकते। इस नयी व्याख्या के अनुसार नाम रूप का अर्थ होगा इन्द्रियजन्य चेतना के कार्य और शरीर का वह भाग जो चेतना के छः द्वारों के सम्पर्क से कार्य करता है (षडायतन)। यदि हम नाम रूप का यह अर्थ देते हैं तो हम देखेंगे कि विञ्ञान (विज्ञान) अर्थात् चेतना के ऊपर निर्भर हैं। मिलन्दपन्ह ने सचेतनता की तुलना एक ऐसे चौकीदार से की है जो चौराहे[4] पर खड़ा हुआ किसी भी दिशा से आने वाली सारी वस्तुओं को देख रहा है। बुद्ध घोष अपनी पुस्तक अत्थशालिनी में कहते हैं कि चेतना से अर्थ है किसी वस्तु विशेष के बारे में सोचने वाली विचारधारा। इस अन्तःचेतना के गुण धर्म की व्याख्या करने हेतु यह कहा जा सकता है कि यह वह है जो जानता है (विजानन्) अग्रगामी होता है अर्थात् पहले ही वस्तु-विशेष तक पहुंच जाता है। (पुबंगम्) संबंध स्थापित करता है (सन्धान) और इसकी स्थिति नाम रूप पर है (नामरूपपदत्थानम्) जब इस अन्तश्चेतना को मार्ग मिलता है तब उस स्थान पर वह इन्द्रियजन्य ज्ञान से संलग्न वस्तु को समझता है (आरम्मन-विभावनत्थाने) और यह पहिले वहाँ जाकर पूर्ववर्ती हो जाता है। जब नेत्र किसी दृश्यमान वस्तु को देखता है तो उसको इस अन्तश्चेतना के द्वारा पहिचानता है और इसी प्रकार जब धम्म मन

---

[1] वारेन द्वारा लिखित "बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स, पृ० सं० १८४।

[2] वही, पृ० सं० १८५, विशुद्धिमार्ग, अध्याय १७ वां।

[3] वही, पुस्तक, पृ० १८५-८६, विशुद्धि मार्ग १७ वां अध्याय।

[4] वारेन का "बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन" पृ १८२, मिलिन्दपन्ह (६२)।

की वस्तु बन जाते हैं तब यह मन उनको भी अन्तश्चेतना से पहचानते हैं।"[1] ऊपर आये हुए मिलिन्दपन्ह से लिये हुए दृष्टान्त का भी उद्धरण बुद्धघोष अपनी पुस्तक में देते हैं। वे पुनः कहते हैं कि चेतना के पश्चात् एक रूप से दूसरे रूप की स्थिति का क्रम निरन्तर चलते रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये आपस में सम्बन्धित हैं। जब पंच स्कन्धों के समूह एकत्रित हो जाते हैं तब यह चेतना लुप्त हो जाती है परन्तु चार स्कन्धों के समूह में नाम के ऊपर अब स्थित रहती है और इसलिये यह कहा जाता है कि ये नाम-रूप के ऊपर अब स्थित है। वह पुनः पूछता है कि क्या यह चेतना वही है जो पूर्व काल या पूर्व जन्म में थी अथवा उससे विभिन्न है? उनका उत्तर है कि यह वही है। जिस प्रकार सूर्य जब उदय होता है तो वह अनेक रंगों तथा ताप आदि के साथ उदय होता है परन्तु वास्तव में ये रंग और ऊष्मा सूर्य से अलग नहीं है। इसी प्रकार चित्त अथवा बौद्धिक चेतना स्पर्श की क्रिया से संयुक्त है और उसको जानती है। अतः यद्यपि यह एक ही है फिर भी इससे अलग है।[2]

बारह कारणों के प्रसंग पर पुनः विचार करते हुए हम यह स्पष्ट पाते हैं कि जाति अथवा जन्म से जरा और मरण होते हैं। जाति, शरीर धारण करने को कहते हैं अथवा पांचों स्कन्धों से सम्मिलित प्रभाव को जाति नाम से पुकारते हैं। जाति का निश्चय भव द्वारा होता है अर्थात् भव पर जाति निर्भर है। भव को हम उन कर्मों के अर्थ में समझा सकते हैं जिनके द्वारा पुनर्जन्म होता है।[3] उपादान उग्र तृष्णा का वह

---

[1] अत्थशालिनी, पृ० सं० ११२।

[2] वही, पृ० सं० ११३। यथा हि रूपादीनि उपादाय पञ्ञत्ता सूर्योदयो न अत्थन्तो रूपादीनिही अने होती तेन इव यशमिन समये सूर्योउदयति तश्मिन् समये तरस तेज संखातम् रूपम् पीति। एवं वुच्चमाने पि न रूपादीनि अनं सूर्यो नाम अत्थि। तथा चितम् फस्सादयो धम्मे उपादया पनञ्ञापियति। अत्थतो पन इत्थ तेहि अञ्ञम् इव। तेन यशमिन् समये चित्तम् उप्पन्नम् होति एकंसेन इव तसमिन् समये फस्सादिही अत्थतो अञ्ञन् एवं होती ति।

[3] शंकर भाष्य पर लिखी अपनी टीका रत्न प्रवाह में श्री गोविन्दानन्द (दूसरा खण्ड, दूसरा अध्याय, पृ० १९) कहते हैं कि भव वह वस्तु है जिससे कोई वस्तु होती है जैसे धर्मादि। 'विभंग' (पृ० १३७) और वारिन महोदय के बुद्धितम इन ट्रान्सलेशन्स (पृ० २०१) भी इस सम्बन्ध में देखिये। औंग महोदय "अभिधम्म अत्थ संग्रह" पृ० १८९ पर कहते हैं कि भवों के अर्थ में कम भवों (अस्तित्व का सक्रिय स्वरूप) और उपपत्ति भवों (निष्क्रिय स्वरूप) भी सम्मिलित है। व्याख्याकार ऐसा अर्थ करते है कि भव कर्म भव का संक्षिप्त रूप है जो कर्म के अर्थ में प्रयोग किया गया है जिससे उन सब क्रियाओं का बोध होता है जिससे मनुष्य कर्म बंधन में बंधता है।

रूप है जिससे मोह[1] उत्पन्न होता है। उपादान तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा वेदना (सुख व दुःख) से। परन्तु यह वेदना अविद्या के कारण उत्पन्न वेदना है क्योंकि अर्हत सन्तों को भी वेदना हो सकती है परन्तु अविद्या न होने के कारण उस वेदना से तृष्णा उत्पन्न नहीं होती। इस वेदना का विकास होने पर यह तत्काल उपादान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार वेदना का अर्थ है, सुख-दुःख की अथवा औदासीन्य की भावना। एक ओर यह वेदना तृष्णा की ओर अग्रसर करती है और दूसरी ओर यह स्वयं स्पर्श से उत्पन्न होती है। स्पर्श का यहां अर्थ है इन्द्रिजन्यि सम्पर्क। प्रो० डी० ला० वेली पूसिन कहते हैं कि श्रीलाभ (विद्वान) वेदना की उत्पत्ति में तीन क्रियाओं का पृथक् विश्लेपण करते हैं। अर्थेति प्रथम इन्द्रिय चेतना विशेप का वस्तु के साथ सम्पर्क होता है फिर उस वस्तु का बोध होता है और फिर वेदना उत्पन्न होती अर्थात् इन्द्रिय चेतनात्मक सम्पर्क और बोध के पश्चात् सुख व दुःख की प्रतिक्रिया होती है। उसी प्रदान स्पर्श के साथ एकदम वेदना उत्पन्न हो जाती है। पूसिन महोदय मज्झिमनिकाय (तृतीय अध्याय, पृ० २४३) का आधार लेते हुए अपना मत व्यक्त करते हैं कि जिस प्रकार दो लकड़ियों का रगड़ने से ऊष्मा उत्पन्न होती है।[2]

उसी प्रकार स्पर्श की उत्पत्ति पडायतन से होता है और पडायतन की उत्पत्ति नाम रूप से। नाम-रूप विज्ञान से उत्पन्न हौता है। विज्ञान मां के गर्भ में स्थित होकर ५ स्कन्धों की उत्पत्ति करया है जिनको नाम रूप कहते हैं और इन स्कन्धों में ६ इन्द्रियों की ज्ञान चेतना का निवास होता है।

संभवतः विज्ञान मां के गर्भ में अन्तर्वंधि अथवा चेतना का बीज रूप हैं जो नये शरीर के पंच भूतों अथवा पंच तत्त्वों को अवस्थित करता है। यह अन्तश्चेतना पूर्व कर्मों अथवा संस्कारों का फल है जो पिछले समय में मृत्यु के समय तक पूर्ववर्ती जीवन में संकलित किये गये थे।

---

[1] प्रो० डी० ला० वेलीं पसिन अपनी पुस्तक थ्योरी दे डोज कौजेज (पृ० सं० २६) में कहते हैं कि सालिस्तंभ सूत्र उपादान शब्द की व्याख्या तृष्णा—वैपुल्य रूप में करता है अर्थात् विपुल्य तृष्णा और चन्द्रकीर्ति महोदय भी इसको सही अर्थ देते हैं। मध्यम्मिकवृत्ति (पृ० सं० २१०) देखिये। गोविन्दानन्द उपादान को तृष्णा के द्वारा उत्पन्न प्रवृत्ति के रूप में समझाते हैं अर्थात् कामना की पूर्ति के लिए सक्रिय मनोवृति परन्तु यदि उपादान से अर्थ आधार से है तो ये पंच स्कन्धों को सूचित करेंगे। मध्यम्मिकावृत्ति में कहा है कि उपादानम् पंचस्कन्धलक्षणम् पंचोपादानस्कन्धाख्यम् उपादानम्। मध्यम्मिकवृत्ति २७:६।

[2] पूसिन की थ्योरी दे दौज कौजेज, पृ० २३।

बौद्ध लोगों का यह विश्वास था कि आदमी के मरते समय जो विचार होते हैं उसके अनुसार ही उसको अगले जन्म में योनि प्राप्त होती है।[1] गर्भ में विज्ञान की स्थिति पूर्व जन्म के पिछले विज्ञान के द्वारा निश्चित होती है। कुछ दार्शनिकों के मत से यह उस स्वरूप का प्रतिबिंब है जिस प्रकार गुरु से शिष्य को ज्ञान अवतरित होता है। जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश से दूसरा दीपक जलता है अथवा जिस प्रकार मोम या गरम चपड़ी पर मोहर का चिन्ह बनता है, जिस प्रकार सारे स्कन्ध जीवित तत्व के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। उसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार का परिवर्तन है। उत्पत्ति और नाश का क्रम प्रवाह रूप से सदैव चलता रहता है। इस क्रम में कहीं अवरोध नहीं होता। जिस प्रकार तुला के दो पलड़े बराबर ऊपर नीचे होते रहते हैं। उसी प्रकार नये स्कन्ध जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् पूर्व कर्म से जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह उस मां के गर्भ में प्रवेश कर जाता है जिसमें नव स्कन्ध परिपक्व हो रहे हों। इस प्रकार यह विज्ञान नये जीवन का नया सिद्धान्त निश्चय करता है। इस विज्ञान में नाम व रूप संलग्न हो जाते हैं।

विज्ञान संस्कारों से उत्पन्न होता है। नये अस्तित्व (उत्पत्ति) में किस योनि और किस स्वरूप को विज्ञान निश्चित करेगा (नामयति) यह भी संस्कारों[2] के द्वारा निश्चित होता है। वास्तव में मृत्यु का होना (मरण भव) और नये जीवन के प्रारंभ में विज्ञान का गर्भ प्रवेश करना (उपपत्तिभव) एक साथ न होते हुए भी एक के पश्चात् एक के क्रम में होते हैं। यह क्रम इस प्रकार चलता रहता है कि कभी-कभी यह कह दिया जाता है कि मृत्यु और जन्म एक साथ ही होते हैं। यदि विज्ञान गर्भ में प्रवेश करता तो नाम रूप प्रकट नहीं हो सकता था।[3]

---

[1] वन वाटिका वृक्ष और पौधों की देवताओं ने गृह स्वामी चित्त को बीमार देखकर कहा कि आप संकल्प करें कि मैं अगले जन्म में चक्रवर्ती राजा बनूंगा—संम्युत्त चतुर्थ खण्ड, पृ० ३०३।

[2] स चेदानन्द विज्ञान मातुः कुक्षि नेवक्रामेत् न तत् कललं कललत्वायसंन्निवर्तेत—मध्यमवृत्ति (५५२)। इससे तुलना कीजिये चरक, शरीर, (तीसरा अध्याय पृ० सं० ५-८) जहां पर उहपादक सत्व की बात कही गई है जो आत्मा को शरीर से जोड़ता है और जिसके अभाव में गुण व चरित्र में परिवर्तन हो जाता है, इन्द्रियां मूढ़ हो जाती हैं और जीवन समाप्त हो जाता है। जब यह अपने विशुद्ध रूप में होता है तो पूर्व जन्म की भी स्मृति हो आती है। चरित्र, चित्त, बुद्धि, विराग, स्मृति, भय, स्फूर्ति सभी मानसिक शक्तियां इससे ही उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार रथ बहुत से तत्वों के मेल से बनता है उसी प्रकार भ्रूण या गर्भ भी अनेक तत्वों से बनता है।

[3] माध्यमिकवृत्ति पृ० २०२-२०३। पूसिन "दीघ (दूसरा अध्याय, पृ० ६३) से उद्धरण देते हैं। यदि विज्ञान नहीं उतरता तो क्या नाम रूप हो सकते थे? गोविन्दा-

इन बारह कारणों की शृंखला तीन जन्मों तक चलती है। इस प्रकार पूर्व जन्म की अविद्या और संस्कार के द्वारा विज्ञान नाम रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव की इस जन्म में उत्पत्ति होती है जिससे आगामी जन्म का निर्वारण होता है। यह भव जाति और जरा मरण दूसरे जन्म के लिए निर्धारित करता है[1]

इस शृंखला की ये बारह कड़ियां जो तीन जन्मों में तीन शाखाओं में फैली हुई हैं जो दुख भोगने का माध्यम है स्वाभाविक रूप से एक दूसरे का हेतु है। अभिणम्मात्थ संग्रह में कहा गया है कि इन बारह कारणों में से प्रत्येक कारण एक निमित्त है। जन्म के फलस्वरूप दुःख आदि कष्ट होते हैं। पुनः अज्ञान और चित्त की प्रवृत्ति की गणना कर लेने के पश्चात् यह सरलता से समझ में आ जाता है कि इसके पश्चात् उत्कट कामना (तृष्णा) परिग्रह और लोक अर्थात् उपादान और कर्म के पश्चात् अज्ञान और चित्त-प्रवृत्ति का हिसाब आसानी से समझ में आ जाता है। तत्पश्चात् पुनर्जन्म, जरा एवं मरण का सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाता है। यहां तक कि इनसे मिलने वाले पुनर्जन्म एवं अन्तश्चेतना और पांच प्रकार के कर्म फल भी आसानी से समझे जा सकते हैं।

पिछले जन्म में पांच कारण अर्थात् पांच हेतु और उनसे उत्पन्न ५ प्रकार के फल अथवा भोग।

इस जीवन में पांच हेतु और आने वाले जीवन में पंच फल अथवा पंच भोग इनसे मिलकर २० प्रकार बनते हैं—तीन युग्म (१) संस्कार और विज्ञान (२) वेदना और तनहा (३) भव और जाति। फिर चतुर्थ समुच्चय (पूर्व जन्म में एक कारण समुच्चय इस जन्म में उसके फलस्वरूप एक समूह, इस जन्म में पुनः एक वर्ग, इस प्रकार इस

नन्द ब्रह्म सूत्र के शांकरभाष्य में कहते हैं (पृ० १६ द्वितीय अध्याय, दूसरा खण्ड) कि भ्रूण में पूर्व जन्म के संस्कार के द्वारा प्रथम अन्तर चेतना की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् चार तत्वों की जिनको वह नाम कहता है और उससे श्वेत और लाल रज और वीर्य और भ्रूण की प्रथम अवस्था (कलल-बुद्बुदअवस्था) की उत्पत्ति होती है।

[1] यह व्याख्या प्रारम्भिक पाली ग्रन्थों में नहीं पाई जाती। लेकिन बुद्ध घोष महानिदानसूत्ततन्त पर लिखी अपनी व्याख्या समंगलविलासिनी में इसका वर्णन करते हैं। यह हमें अभिधम्मत्थ संगह आठवां अध्याय (पृ० ३) भी मिलता है। अविद्या और चित्त की क्रियाएँ पिछले जीवन की वस्तुएँ हैं। जाति जरा और मरण भविष्य के हैं। इसको अभिणम्म तृतीय अध्याय २०-२४ पृष्ठ पर त्रिकाण्डक नाम दिया है। दो भविष्य की शाखा में और आठ मध्यम्म शाखा में बताये हैं—सेप्रतित्यसम्मुत्तपादो द्वादशअंगस्त्रिकाण्डकः पूर्वापरान्तयोद्वे द्वे मध्येष्टो।

कारण कार्य समुच्चय का प्रत्येक समूह ५ प्रकारों से बनता है और इस तरह ये २१ तरह का वर्णित है।[1]

ये परस्परनिर्भर बारह कड़ियां (द्वादश अंश) पतिच्चसमुप्पाद प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का भाग है और यह माना जाता है कि ये बारहों कड़ियाँ अपनी एक शृंखला पर निर्भर है[2] जो स्वयम् दुःखात्मक हैं और दुःखों के इस चक्र के साधन हैं। पतिच्च सम्मुपाद अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या बौद्ध साहित्य में अनेक रूपों में की[3] गई है। सम्मुत्पाद का अर्थ है प्रकट होना (प्रादुर्भाव) और प्रतीत्य प्रति ईय का अर्थ है प्राप्त होने के पश्चात्। इन दोनों शब्दों के मिला देने से अर्थ होता है "प्राप्त होने के पश्चात् प्रादुर्भाव।" वे तत्व जिनसे प्रादुर्भाव होता है उनको हेतु और पच्चय (भूमि अथवा आधार) कहते हैं। ये दोनों शब्द कई बार एक ही अर्थ में पर्याय की तरह प्रयुक्त किये जाते हैं। परन्तु पच्चय कभी-कभी विशेष अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि अविज्जा संस्कार का पच्चय है उससे यह अर्थ होता है कि अविज्जा संखारों के उत्पन्न होने की आधार भूमि (थिती) है। यह उनकी प्रक्रियाओं का भी आधार है-वह निमित्त है जिससे वे कायम रहती है (निमित्तात्थिती)। यही उनके आयुहन (समुच्चय), उनके एक दूसरे से सम्बन्ध, उनके बौद्ध, उनके एक साथ प्रकट होने, उनके हेतु रूप कार्य और जिन वस्तुओं के लिए वे स्वयम् हेतु हैं उन क्रियाओं के लिए भी यह आधार है। इस तरह अविज्जा इन सारे नौ प्रकारों के संखार का आधार है-अविज्जा इस तरह नौ प्रकारों से भूत व भविष्य दोनों में संखार का आधार है, यद्यपि अविज्जा स्वयम् अन्य आधारों[4] पर निर्भर हैं। जब इस कारण शृंखला के हेतु तत्व का मनन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के पश्चात् एक वस्तु एक दूसरे का हेतु होने से यह क्रम निरन्तर चलता रहता है परन्तु जब हम पच्चय तत्व को देखते हैं तो हमको इस कारण के स्वरूप का आधार के

---

[1] औंग और मिसेज राइज डेविड्ज कृत "अभिधम्मअथसंगह" का अनुवाद पृ० १८६-१६०।

[2] यह द्वादश अंग अथवा १२ कड़ियां बौद्ध दर्शन में सदैव एक से ही नहीं पाये जाते हैं। "डाइलॉग्स ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक में (द्वितीय अध्याय पृ० २३) अविज्जा और संखार का वर्णन नहीं है। इसमें अन्तः चेतना से इस चक्र का प्रारम्भ किया गया और यह कहा गया कि बोध-ज्ञान नाम और रूप से परे नहीं जाता।

[3] मा० वृ०, पृ० ५ से।

[4] देखिये-पतिसंभिदामग्ग पहला खण्ड पृ० सं० ५०। मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय, पृ० सं० ६७, संखार अविज्जानिदाना अविज्जासमुदाया अविज्जाजातिका अविज्जा-पभवा।

पर स्पष्टीकरण हो जाता है। दृष्टान्त के तौर पर जब यह कहा जाता है कि अविद्या उपर्युक्त नौ प्रकारों से संस्कार का आधार है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संस्कार अविद्या के ही रूप है।[1] परन्तु यह दृष्टिकोण बौद्ध दर्शन में विशेष रूप से विकसित नहीं हो पाया हैं अतः इसके आधार पर आगे बढना उचित नहीं होगा।

खन्धों (स्कन्धों) का वर्णन

यह शब्द खन्ध जिसका संस्कृत स्वरूप स्कन्ध है साधारणतया समूह अथवा समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है यद्यपि इसका शाब्दिक अर्थ वृक्ष का तना है। बुद्ध के अनुसार आत्मा की कोई स्थिति नहीं है। उनका मत है कि जब मनुष्य ये कहते हैं कि उन्होंने वहु चर्चित आत्मा का पता पा लिया है तब वास्तव में स्थिति यह होती है कि उन्हें पांच स्कन्धों का अथवा उनमें से किसी एक का पता लग पाता है। ये स्कन्ध भौतिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियों का समुच्चय है जो हमारी वर्तमान अवस्था का कारण है और पंच वर्गो में विभाजित हैं-(१) रूप शरीर और इन्द्रियां और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान आदि (इसके चार तत्व हैं), (२) वेदना (सुख दुःख अथवा सुख-दुख से परे होने की अनुभूति) (३) संज्ञा (संकल्पनात्मक ज्ञान) (४) संखार (संस्कार) [मनोदशा, ऐन्द्रिय ज्ञान, अनुभूतियों और कल्पना के द्वारा सामूहिक रूप से उत्पन्न सूक्ष्म ज्ञान से संबंधित] और (५) विज्ञान (बोध चेतना)।

ये सारी स्थितियाँ एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक के पश्चात् दूसरी उत्पन्न होती है (पतिच्चसमुप्पादों) और जब कोई एक व्यक्ति कहता है कि वह आत्मा को देखता है तो वह अपने आप को धोखा देता है क्योंकि वह इन स्कन्धों में एक एक अथवा एक से अधिक को देखकर यह मान लेता है कि वही आत्मा है। रूप खण्ड में रूप शब्द तत्व और भौतिक गुणों के लिए प्रयुक्त किया गया है साथ ही इन्द्रिय चेतना और उससे प्राप्त जो संग्रहीत ज्ञान है उसके भी अर्थ में प्रयोग में आया है। साथ ही रूह को "खन्ध यमक" में विशुद्ध मानसिक स्थिति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है (पहला अध्याय, पृ० १६) और संयुत्तनिकाय (तीसरा अध्याय, पृ० ८६) में भी इसी अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है। "धर्म-संग्रह" में रूप स्कन्ध का अर्थ पांचों इन्द्रियों और चेतनाओं के समूह के रूप में दिया है। साथ ही इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-वहन की जो क्रियाएँ (विज्ञप्ति) है वे भी रूप-स्कन्ध में सम्मिलित है।

---

[1] अस्मिता (अहंभाव), राग (ममता मोह), द्वेष, अभिनिवेश (स्वार्थ), इनकी व्युत्पत्ति योग शास्त्रों ने अविद्या से बताई गई है और यह कहा गया कि अविद्या के ही पांच क्रमिक चरण है (पंचप्रवाह अविद्या)।

धम्मसंगणि में विशुद व्याख्या करते हुए रूप के बारे में कहा गया है। "चत्तारोच महाभूत चतुन्नांच महाभूतानाम् उपादाय रूपम्" (अर्थात् चार महाभूत अथवा तत्व और उन महाभूतों के ग्रहण से जो कुछ उत्पन्न होता है उसे रूप कहते हैं।[1] बुद्धघोष रूप की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि चार महाभूत और उन पर निर्भर (निस्साय) जो कुछ है उससे जो उत्पन्न तत्व है उसे रूप कहते हैं। रूप में षडिन्द्रियां और उनसे उत्पन्न विकार सम्मिलित है। यह समझाते हुए कि चार तत्वों को महाभूत क्यों कहते हैं, बुद्ध घोष लिखते हैं कि "जिस प्रकार एक जादूगर (मायाकार) जल को कड़ा न होते हुए भी ठोस बना देता है, पत्थर सोना न होते हुए भी सोने के समान दिखाई देता है जादूगर स्वयम् प्रेत और पक्षी न होते हुए भी कभी राक्षस और पक्षी के रूप में दिखाई देता है इसी प्रकार ये तत्व यद्यपि नीले नहीं है फिर भी ये नीले दिखाई देते हैं (नीलम् उपादा रूपम्); यद्यपि ये पीले, लाल, श्वेत आदि नहीं है फिर भी पीत, लाल और श्वेत दिखाई देते हैं। (ओदात्यङ्पादारूपम्) अतः मायाकार के द्वारा प्रस्तुत दृश्यों के समान होने से इन तत्वांणि को महाभूत कहते हैं।[2]

संयुक्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि 'हे भिक्षुओं ! इसको रूपम् इसलिये कहते हैं कि ये अपने आपको प्रकट करता है (रूपायति)। यह अपने आपको किस प्रकार प्रकट करता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह गर्मी सर्दी, भूख, प्यास आदि के रूप में अपने आपको प्रकट करता है। मच्छर, कीट, वायु, सूर्य और सर्प आदि के स्पर्श के रूप में इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखता हैं और इसलिये इसको रूप कहते हैं।[3]

ऊपर दिये हुए स्थलों में रूप के सम्बन्ध में विरोधी एवं अस्पष्ट विचार धाराओं का यदि समन्वय किया जाय तो भिन्न २ तथ्य प्रकाश में आते हैं। जहाँ तक मैं समझता हूं कि जो कुछ इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देता है और जिनके कारण चेतनाओं की प्रतिक्रिया होती है उन सब को रूप शब्द से सम्बोधित किया गया है। भौतिक जगत् में जो रंग, रूप, गन्ध आदि पार्थिक इन्द्रियों पर प्रभाव डालने वाली वस्तुएँ हैं उनमें और जो उनके कारण मन अथवा चेतना में प्रतिक्रिया होती है उन दोनों में कोई अन्तर नहीं किया गया। इन दोनों में केवल संख्यात्मक अन्तर ही है। चेतना में प्रतिक्रिया उनकी अनेक वस्तुओं पर निर्भर है किन्तु इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया करने वाली वस्तुएँ और प्रतिक्रिया दोनों को ही रूप माना है। कुछ अवस्थाओं में पार्थिव वस्तुओं के वर्णन के साथ साथ ही उनसे उत्पन्न संवेदनाओं का वर्णन किया गया है। बौद्ध

---

[1] धम्मसंगणि, पृ० १२४ से १७६।

[2] अत्थशालिनी, पृ० सं० २६६।

[3] संयुत्तनिकाय, तीसरा अध्याय, पृ० सं० ८६।

दर्शन में संभवतः पार्थिव तत्व और चेतना तत्व में जो विभेद आज माना जाता है वह संभवतः उस समय नहीं माना जाता था। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि इन दोनों तत्वों में विभेद अथवा द्वैत न तो उपनिषद दर्शन में पाया जाता है और न सांख्य दर्शन में। जिसके सम्बन्ध में यह धारणा है कि वह (सांख्य दर्शन) बौद्ध दर्शन से पूर्व उत्पन्न हुआ। चार महाभूत किसी न किसी स्वरूप में प्रकट होने के कारण रूप कहलाते थे। अनेक प्रकार की संवेदनाएँ भी रूप नाम से जानी जाती थी और इसी प्रकार बहुत सी मानसिक चेतनाएँ अथवा मनोस्थितियां रूप[1] के अन्तर्गत समझी जाती थीं। आयतन अथवा इन्द्रिय चेतना भी रूप मानी जाती थीं (इन्द्रिय विशेष, चेतना प्रतिक्रिया के क्षेत्र को आयतन नाम से संबोधित किया गया है। जैसे नेत्र के देखने के क्षेत्र को अर्थात् जो कुछ दिखाई देता है उसको आयतन कहा गया है।) महाभूत अथवा चोर तत्व केवल परिवर्तनशील रूप हैं। इस प्रकार ये चोर तत्व और उनके साथ जो भी सम्बन्धित जगत् है वह सब रूप कहलाते थे। इन सबसे मिलकर रूप स्कन्ध का निर्माण होता है (ये सब पार्थिव वस्तुएँ हैं जिनके साथ इन्द्रियों का व्यापार संलग्न है। इन्द्रिय जन्य चेतनाएँ, और संवेदनाएँ ये सब रूप खण्ड के भाग हैं।[2]

संयुक्तनिकाय में तीसरा अध्याय, पृ० सं० १०१) कहा गया है, "चारों महाभूत रूप खण्डों के वहन के लिए हेतु औद पच्चय है (रूखन्धस्य परञ्ञापनाय)। फस्स अथवा स्पर्श से वेदना का संचार होता है। संसास्कन्ण की वेदना का हेतु भी स्पर्श है। यह स्पर्श संस्कार खण्ड की वेदना का भी हेतु व पच्चय है। परन्तु नाम रूप विषान खण्ड के संचारण का हेतु एवं पच्चय है।" इस प्रकार केवल स्पर्श से संवेदना की ही उत्पत्ति नहीं होती परन्तु संज्ञा का अर्थ है वह अवस्था जहाँ विवेक चेतना जागृत होती है। यह वह अवस्था है जब लाल अथवा पीले रंग आदि का भेद समझ में आने लगता है।

श्रीमती राइज डेविज संज्ञा के बारे में लिखती हैं कि अभिधम्म पिटक का जब मैं सम्पादन कर रही थी तब मुझे संज्ञा का एक विशेष वर्गीकरण देखने को मिला। पहले वर्गीकरण में संज्ञा इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु की बौध-चेतना और दूसरे वर्गीकरण में नामादि से किसी वस्तु की बोध चेतना का होना है। ये दोमों अलज २ पायी जाती है। पहले को अवरोधात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। (पतिघसञ्ञा)। बुद्धघोष इनके सम्बन्ध में लिखते हैं कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान देखने सुनने आदि से होता है जबकि वाह्य वस्तुओं का चेतना पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है अथवा यह कह सकते हैं कि उन वाह्य वस्तुओं का चेतना पर संघात होता है। दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान पर्यायवाची शब्द अथवा नाम आदि द्वारा होता है (अधिवचानासंज्ञा)। यह संचारी चेतना (मन) द्वारा होता

---

[1] खन्धयमक।

[2] धम्मसंगणि, पृ० १२४।

है जैसे यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास बैठा हुआ है, दूसरा व्यक्ति कुछ सोच रहा है। पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूछता है कि आप क्या सोच रहे हैं ? तब दूसरा व्यक्ति उसकी भाषा से दूसरे व्यक्ति के संबंध में उसे न देखते हुए भी जान लेता है। इस प्रकार संज्ञा ज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं (१) इन्द्रियों के द्वारा जो चेतना उत्पन्न होती है उसकी प्रतिक्रिया। (२) वस्तु-विशेष को उसके नाम आदि से पहचानने की शक्ति।[1]

संखार के सम्बन्ध में संयुक्तनिकाय में (तीसरा अध्याय, पृ० सं० ८७) इस प्रकार व्याख्या की गई है, क्योंकि यह समन्वय करता है (अभिसंखरन्ति) अतः इसे संखार कहते हैं। यह रूप संज्ञा एवं संखार और विञ्ञान को रूप संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में समन्वित करता है। यह संखार इसलिए कहलाता है कि यह इन सब समुच्चितों को मिलाकर एक कर देता है संखतम् अभिसंखरन्ति) इस प्रकार यह ऐसी समन्वय धारणी प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा निश्चेष्ट रूप संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि तत्व मिलकर एक हो जाते हैं। बौद्ध दर्शन में ५२ संस्कार बताए गए हैं और साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि संस्कार तत्व-समूह को समुच्चित करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संखार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है (१) मनः स्थिति के अर्थ में (२) ऐसी क्रिया के रूप में जो विभिन्न तत्वों में समन्वय उत्पन्न करती है।

बुद्धघोष के अनुसार विज्ञान अथवा चित्त शब्द उन दोनों अवस्थाओं के लिए उपयोग में आता है जो प्राथमिक बौद्धिक प्रतिक्रिया के आरंभ की होती है और जो उससे हुए अन्तिम बोध (ज्ञान) की होती है।

बौद्ध मनोविज्ञान की व्याख्या करते हुए बुद्धघोष लिखते हैं कि "चित्त पहले वस्तु विशेष के सम्पर्क अथवा (फस्स अथवा स्पर्श) में आता है (आरंमण) फिर वेदना, प्रत्यय (संज्ञा) और चेतना की उत्पत्ति होती है। यह सम्पर्क एक विशाल भवन के स्तम्भों की तरह से है और शेष इन खम्भों पर बने हुए ढांचे के समान है ("दघ-संभार सदिसा") परन्तु इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि स्पर्श मानसिक प्रक्रिया का आरम्भ है क्योंकि एक सम्पूर्ण बोध चेतना की क्रिया में यह नहीं कहा जा सकता कि यह वस्तु पहले आती है या पीछे। इस प्रकार हम स्पर्श और वेदना को, संकल्पना और चेतना को एक ही क्रिया का अंग मान सकते हैं। यह स्वयं में एक ऐसी स्थिति है जिसका विशेष महत्व अथवा अस्तित्व नहीं है परन्तु क्योंकि इसके द्वारा वस्तुओं का भान होता है, इसलिए इसको स्पर्श कहते हैं।" "स्पर्श से किसी वस्तु का भौतिक स्पर्श ही अभिप्रेत नहीं है, इसके द्वारा वस्तु का और मानसिक चेतना (चित्त) का संघात (सम्पर्क) होता

---

[1] बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृ० ४९-५०।

है जिससे सम्भव होता है देखना, कानों में ध्वनि सुनना आदि। यहाँ ध्वनि का संघात श्रवण शक्ति पर होता है। इस प्रकार स्पर्श का विशिष्ट गुण वस्तुओं के साथ संपर्क में आना है अथवा वस्तु संघात स्पर्श का कार्य है। इस संघात अथवा सम्पर्क से वाह्य वस्तु का मानसिक स्वरूप में परिवर्तन होता है। अर्थात् वुद्धि या चेतना स्पर्श के कारण ही वाह्य सामग्री के रूप को ग्रहण करती है।" टीका में इस प्रकार कहा गया है कि वस्तुओं के चतुर्द्वारीय चेतना में स्पर्श की विशेषता वाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क है। यह सम्पर्क पंचेन्द्रियों द्वारा होता है जिनको वुद्धि के ५ द्वारों के रूप में माना गया है। इस पंचद्वारीय सम्पर्क के सम्बन्ध में यह माना गया है कि इसकी विशेषता स्पर्श है और इसकी क्रिया संघात है, परन्तु वुद्धि के द्वार खोलने के प्रक्रिया स्पर्श से होती है न कि संघात से। फिर इस सूक्त का उद्धरण दिया गया है—"जैसे यदि दो मेढ़ों में लड़ाई हो और उनमें से एक नेत्र हो और दूसरा वह वस्तु जिसको नेत्र देखता है तो उनका भिड़ना सम्पर्क या स्पर्श होगा। यदि दो वस्तु एक दूसरे से टकराएँ अथवा दो हाथ ताली वजाते हुए एक दूसरे से मिलें तो एक हाथ नेत्र का रूप होगा और दूसरा हाथ उस वस्तु का, जो देखी जाती है। इन दोनों का टकराना सम्पर्क का प्रतिनिधित्व करेगा। इस प्रकार स्पर्श का गुण छूना है और उसकी क्रिया संघात है।[1] स्पर्श इस प्रकार तीन वस्तुओं का मिलन है (वस्तु, चित्त और इन्द्रिय ज्ञान) और उसका फल वेदना और अनुभूति है। यद्यपि यह वेदना वस्तु के द्वारा प्रारम्भ होती है लेकिन इसका प्रभाव चित्त पर होता है और इसका मुख्य अंग अनुभव है जिसके द्वारा वस्तु के रंग रूप और रसादि का ज्ञान होता है। जहाँ तक वस्तु के रसास्वादन का सम्बन्ध है वहाँ पर अन्य वृत्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ही रसास्वादन करती हैं। सम्पर्क की क्रिया केवल छूने से ही समाप्त हो जाती है। देखने की क्रिया केवल वस्तु विशेष को पहचानने में अथवा देखने में समाप्त हो जाती है। चेतना केवल समन्वय करती है और वोध चेतना केवल वोध कराती है परन्तु वेदना(अनुभूति) अपनी क्षमता, दक्षता और शक्ति से वस्तु विशेष के पूर्ण रस के आनन्द को प्राप्त करती है। वेदना राजा के समान है और सब प्रवृत्तियाँ रसोइयों के समान है। जिस प्रकार एक रसोइया अनेक रसों वाले स्वादिष्ट भोजन तैयार करता है उसे एक टोकरी में रखकर वंद कर राजा के पास ले जाता है फिर उस टोकरी का ढक्कन खोलकर उसमें से सर्वोत्तम शाकादि वस्तुओं को थाल में सजाता है, फिर उन वस्तुओं में से वह देखने के लिए एक पात्र में लेकर चखता है कि उनमें कोई दोष तो नहीं है और तत्पश्चात् विभिन्न स्वादिष्ट रसों से युक्त भोजन राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। राजा स्वामी होने के कारण और साथ ही तेजस्वी और दक्ष होने के कारण इच्छानुसार उन वस्तुओं में से जो कुछ पसन्द करता है अथवा जिस वस्तु की उसे इच्छा होती है उसको ग्रहण

---

[1] अत्थसालिनी पृ० सं० १०८, अनुवाद पृ० सं० १४३-४४।

करता है और रसास्वादन करता है, इसी प्रकार रसोइयों के द्वारा भोजन को चखने की क्रिया के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रवृत्तियों के द्वारा थोड़ा रसास्वाद खंड के रूप से इन वस्तुओं का किया जाता है जैसे रसोइया भोजन के थोड़े से हिस्से को चखता है इसी प्रकार अन्य प्रवृत्तियाँ वस्तु विशेष के केवल थोड़े से रस से स्वाद ग्रहण करती हैं। जिस प्रकार महाराजा सर्वाधिकारी महामहिम स्वामी एवं रस-ज्ञान में दक्ष होने के कारण इच्छानुसार वस्तुओं को ग्रहण करता है उसी प्रकार वेदना (अनुभूति) सब प्रवृत्तियों की स्वामी होने के कारण (दक्ष होने के कारण) वस्तुओं का पूर्णरूपेण रसास्वाद करती है। अतः यह कहा जाता है कि रसास्वाद और अनुभूति वेदना की क्रिया है।"[1]

संज्ञा की विशेषता विशेष चिन्हों द्वारा वस्तु विशेष को पहचानना है जिसे बौद्ध दर्शन में पच्चभिञ्ञा (प्रत्यभिज्ञा) का नाम दिया गया है और जिन चिन्हों से पहचानते हैं उसे अभिज्ञान (अभिञ्ञानेन) कहा है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार किसी वस्तु को पहचानने के लिए उसके सम्पूर्ण स्वरूपों को साथ-साथ पहचानना आवश्यक है। यह बोध "सव्वसंगहिकवसेन" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। चेतना का कार्य विभिन्न स्वरूपों में समन्वय करना और उनका एक साथ बांधना (अभिसंदहन) है। चेतना विशेष रूप से पूर्ण शक्ति के साथ कार्य करने वाली है। इसका धर्म और प्रयत्न दोनों ही द्विगुणित होते हैं। इसलिए प्राचीन दार्शनिकों ने कहा है "चेतना उस भू स्वामी किसान की तरह से है जो अपने खेतों को काटने के लिए ५५ शक्तिशाली आदमियों को इकट्ठा कर बड़े उत्साह के साथ उनको कार्य में लगा देता है और उनसे कहता है कि अपने-अपने हिस्से लेकर भाग में आने वाली फसल को काट डालो। वह उनके खाने पीने आदि की व्यवस्था सुचारु रूप से करता है। उनको प्रसन्न रखते हुए और उत्साहित करते हुए उन सबसे उनकी शक्ति के अनुसार खूब काम लेता है। इसी प्रकार चेतना एक भू-स्वामी किसान के समान है। बोध ज्ञान की ५५ नैतिक प्रवृत्तियाँ ५५ शक्तिशाली श्रमिकों के समान हैं। चेतना इन ५५ प्रवृत्तियों से कसकर दोहरा काम लेती है और ये प्रवृत्तियां चेतना के अंकुश के नीचे नैतिक अथवा अनैतिक कार्यों को बड़ी तेजी से करती हैं।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि संखार के सक्रिय तत्व को चेतना के नाम से पुकारा गया है।

"जब कोई व्यक्ति कहता है "मैं" तब या तो वह सभी स्कन्धों को सम्पूर्ण रूप से अथवा इन स्कन्धों में से किसी एक से अर्थ रखता है परन्तु अपने आपको धोखा देता हुआ छलना से "मैं" शब्द का उच्चारण करता है। जिससे कोई यह नहीं कह सकता कि कमल की सुगन्धि उसकी पंखुड़ियों से रंग रूप से अथवा उसके पराग से है इसी

---

[1] अत्थसालिनी, पृ० सं० १०६-११०, अनुवाद पृ० सं० १४५-१४६।

[2] वही, पृ० सं० १११, अनुवाद पृ० सं० १४७-१४८।

प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि "मैं" का अर्थ रूप से है अथवा वेदना से है अथवा स्कन्धों से है। स्कन्धों की व्याख्या में यह कहीं नहीं पाया जाता कि वे क्या वस्तु हैं।"[1]

अविज्जा और आसव

अविज्जा (अविद्या) अर्थात् अज्ञान सर्वप्रथम किस प्रकार आरम्भ हुआ इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह कहना कठिन है कि अज्ञान अर्थात् अस्तित्व की कामना का कब प्रारम्भ हुआ होगा। परन्तु इस अविज्जा अथवा अज्ञान का फल जीवन मरण के चक्र में स्पष्ट रूप से देखा जाता है जिसके साथ दुःख व सुख संलग्न हैं, जो सुख व दुःख, जीवन मरण के साथ उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इस जीवन मरण के चक्र का प्रारम्भ कहाँ से होता है। इस जीवन मरण के चक्र से अविद्या की स्थिति पुनः पुनः होती है। इसके अतिरिक्त यद्यपि अविद्या जीवन के साथ संलग्न है परन्तु इसको उत्पन्न करने वाले अन्य भी कई तत्व हैं। उनमें से विशेष महत्वपूर्ण तत्व आसव है। आसव से तात्पर्य मन की विकृतियों से है। इन विकृतियों को नष्ट करने से अविद्या का नाश हो सकता है।[2] धम्मसंगणि में आसवों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—काम आसव,

---

[1] वारिन: "बुद्धिज़म इन ट्रान्सलेशन" (विशुद्धि मार्ग १७वां अध्याय, पृ० १७५।

[2] मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय, पृ० सं० ५४। चाइल्डर आसव का अनुवाद विकृतियों के रूप में करते हैं। मिसेज राइस डेविडस इसका अर्थ मादक तत्वों के रूप में करती है। संस्कृत में आसव शब्द का अर्थ पुरानी शराब से है। बुद्धघोष के अनुसार यह शब्द सु धातु से उत्पन्न हुआ है और उनके अनुसार इसका अर्थ है सुरा की तरह जो बहुत दीर्घकाल से बन्द हो—(चिरपारिवासिकत्तेन) ये नेत्रों के माध्यम से मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं और सारे प्राणियों को उत्पन्न करते हैं। जितनी भी मदिरायें है वे बहुत समय तक तलघरों में बंद होने के कारण आसव कहलाती हैं। सम्भवतः इसका अर्थ यह है कि विकृतियां मन के अन्दर गुप्त रूप से बद रहने के कारण अधिक मादक हो जाती हैं और दुःखों का कारण होती है। बुद्ध घोष के अनुसार दूसरे अर्थ में संसार के दुःखों के उत्पन्न करने के कारण ये विकृतियां आसव कहलाती हैं और इस प्रकार सु धातु से बने आसव शब्द को सार्थक करती हैं (अत्थसालिनी पृ० ४८)इस शब्द की तुलना (विभेद) जैन शब्द आस्रव से करनी चाहिए। जैन दर्शन में आस्रव से अर्थ है कर्म तत्व का प्रवाह। बुद्धघोष द्वारा एक शब्द में दिए गए अर्थ के अनुसार इस शब्द का अनुवाद करने मे बहुत कठिनाई होने से चाइल्डर महोदय के अनुवाद के अनुसार इस शब्द का अनुवाद मैंने नैतिक विकृतियों के रूप में किया है।

शील और समाधि

हम अन्तर और बाहर से तृष्णा के पाश से जकड़े हुए हैं (तन्हाजटा) और इससे छुटकारा पाने का उपाय केवल यह है कि हम जीवन में उचित (शील) के ध्यान, समाधि ज्ञान (प्रज्ञा) को स्थान दें। संक्षेप में शील का अर्थ है पाप कर्मों से दूर रहना। अतः सर्वप्रथम शील को धारण करना आवश्यक है। शील को धारण करने से दुर्वासनाओं से उत्पन्न दुष्कर्मों से दूर रहने के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति होती है। इससे क्लेश दूर होते हैं और इस प्रकार शील के सम्यक् रूप के धारण करने से साधुता की ओर प्रथम दो स्थितियों में अग्रसर होते हैं। (१) सोतापन्नभाव (सात्विक प्रवाह का आरम्भ) और (२) सकदागामिभाव-(वह अवस्था जहाँ केवल एक ही जन्म लेने की आवश्यकता होती है)। शील के पश्चात् समाधि की क्रिया प्रारम्भ होती है। समाधि के द्वारा पुराने क्लेश जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं। समाधि से तृष्णा और वासनाओं से मुक्ति मिलती है एवं सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। इसके द्वारा ज्ञान (प्रज्ञा)[१] की प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है जिसको अर्हत् कहते हैं। दुःख दुःख के कारण, उस कारण के विनाश और विनाश के हेतु इन चार तत्वों को बौद्ध दर्शन में आरिय सच्च (आर्यसत्य) के नाम से पुकारा गया है। इन चारों की सही जानकारी करने पर मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

मनुष्य जब पाप न करता हुआ सात्विक मार्ग पर चलता है और शुभ कर्मों के करने के लिए मन, बुद्धि से तत्पर रहता है तब ऐसी (१) सात्विक अनुशासित चेतना को शील कहकर पुकारते हैं। इस प्रकार शील का अर्थ है (२) सद्इच्छा (सत्चेतना) से उत्पन्न सद्बुद्धि (चेतसिका) (३) मनःसंयम (सम्वर) (४) प्रथम तीन शीलों द्वारा जिनको अवीतिक्कम कहते हैं। निर्धारित मार्ग को अपनाते हुए शरीर और वाणी से असंयम न करना अथवा पूर्ण संयम रखना। सम्वर पाँच प्रकार का बताया जाता है। (१) पाहिमोक्खसम्वर (वह संयम जो उस मनुष्य की रक्षा करता है, जो इसको धारण करता है)। (२) सतिसम्वर (विवेक, संयम अथवा उचित मार्ग पर चलने का सदैव ध्यान रखना) (३) ज्ञान सम्वर (४) खान्ति (क्षन्ति) सम्वर (धैर्य का संयम) (५) विरिय सम्वर (सक्रिय आत्म संयम)। पतिमोख सम्वर का अर्थ साधारणतया यह है कि मनुष्य अपने आपको संयमित रखता हुआ कार्य करे। सतिसंवर से अर्थ यह है कि विवेक द्वारा मनुष्य अच्छे व बुरे कर्मों की पहचान करता हुआ शुभ मार्ग को ग्रहण करे। सत् के विकसित होने से मनुष्य स्वयं बुरी से बुरी वस्तुओं के अहितकारी स्वरूप का मनन करता है जो उसको स्वयं सन्मार्ग की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। खान्ति सम्वर से मनुष्य को गर्मी और सर्दी नहीं सताती है। शील के धारण करने

---

[१] वि सुद्धिमग्ग निदानादिकथा है।

से शरीर, मन और वाणी तीनों का नियमन होकर स्थिरता प्राप्त होती है (समाधानम् उपधारणम् पतिट्ठा)।[1]

जो मुनि (श्रमण) इस मार्ग को ग्रहण करता है उसे वेश भूषा, खान-पान, आवास-सम्बन्धी आश्रम के नियमों का पालन करना आवश्यक है जिनको धुतांग कहा जाता है।[2] ये नियम अनुशासन के अंग हैं। शील और धुतांग समाधि में सहायता देते हैं। समाधि चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता और सत् चिन्तन को कहते हैं (कुशलचित्त-एकाग्गता समाधि:)। समाधि में एक विशेष सत्य तत्व पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है जिससे मन चंचलता को छोड़कर समभाव को प्राप्त कर सके। इसके लिए बौद्ध दर्शन में (एकारंमण और सम्मा च अविक्खिपमाना) शब्दों का प्रयोग किया गया है।[3]

जो मनुष्य शील का अभ्यास करते हैं उनको पहले अपने मन को नियंत्रित करने का अभ्यास करना आवश्यक है। मन की चंचलता पर संयम पा लेने पर ज्ञान में एकाग्रता की सिद्धि होती है। ध्यान के लिए बौद्ध दर्शन में प्राकृत शब्द झान का प्रयोग किया गया है। इन प्रारंभिक साधन क्रियाओं को जो मनःसंयम के हेतु की जाती हैं, उपचार समाधि कहते हैं जिससे समाधि की प्राथमिक अवस्था का बोध होता है। यह ध्यान-समाधि का प्रथम स्तर है। ध्यान समाधि में सम्पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होने के पश्चात् की अवस्था को अप्पनासमाधि कहते हैं जिसका अर्थ सम्पूर्ण समाधि से है।[4] इस साधना के प्रथम चरणों में साधक को मन पर संयम करना होता है। यह संयम आहार आदि के संयम से प्राप्त होता है। दूषित आहार से शरीर में दूषित विकृतियाँ होती हैं। इस पर ध्यान देते हुए साधक खाने पीने के प्रति, जो साधारण मनुष्य की आसक्ति है, विजय पा लेता है और केवल शरीर धारण करने हेतु जितने भोजन की आवश्यकता है उतना ही अल्पाहार करता है। इस प्रकार वह उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब शारीरिक क्लेशों और सांसारिक क्लेशों से छुटकारा पा जाएगा।[5] पुन:

---

[1] विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देसो पृ० सं० ७ और ८।

[2] वही, दूसरा अध्याय।

[3] वही, पृ० सं० ८४-८५।

[4] यहाँ पर विस्तृत विवरण देना सम्भव नहीं है अतः मुख्य अंगों का विवरण किया गया। ज्यान (झान) जिसमें ध्यान और उसकी प्राथमिक अवस्थाएँ परिकम्म का परस्पर सम्बन्ध बताया गया है। (विसुद्धिमग्ग पृ० सं० ८५)।

[5] देखिए विसुद्धिमग्ग पृ० सं० ३४१-३४७। यहाँ जीवन के प्रति एक निराशामय दृष्टिकोण लिया गया है। जो साधक स्वादिष्ट आहार से विरक्त हो जाता है वह रसना के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह इन सभी रसास्वादों से विरक्त होकर रसशक्ति से मुक्त हो जाता है। क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए भोजन में किसी भी प्रकार

वह एक दूसरी साधना करता है जिसके अनुसार वह यह हृदयंगम करता है कि यह शरीर क्षिति (मिट्टी), अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु इन चार तत्वों से बना हुआ है।[1] यह शरीर ऐसा ही है जैसा कसाई के यहां पड़ा हुआ गाय का मृत शरीर। इसको बौद्ध दर्शन में "चतुधातुववत्थानभावना" के नाम से पुकारा गया है जिसका अर्थ है इस प्रकार का ध्यान कि यह शरीर चतुर्भूतों से बना हुआ है। तीसरी अवस्था में साधक को अपने मन को बौद्ध दर्शन के महान् तत्वों पर पुनः पुनः विचार करने के लिए नियोजित करना पड़ता है जिसे अनुस्सति कहते हैं। वह बुद्ध भगवान् की महानता, बौद्ध संघ (बुद्ध के अनुयायी भिक्षुगण), देवता और बुद्ध द्वारा बनाए धर्माचरण के नियम, शील के महत्व, दान (चागानुस्सति), मृत्यु के स्वरूप (मरणानुस्सति), प्रकृति और प्रलय (उपसमानुस्सति) इन तत्वों का मनन करता है।[2]

ध्यान की प्रारंभिक अवस्था अथवा उपचार समाधि से आगे बढ़ने पर ध्यान की एकाग्रता से अप्पना समाधि प्राप्त होती है जो सर्वोच्च समाधि है। इस अवस्था में भी चित्त शुद्धि एवं मनःशक्ति की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और इस प्रकार यह अन्तिम लक्ष्य निब्बाण (निर्वाण) को प्राप्त होती है। इन अवस्थाओं के प्राथमिक अंगों में मनुष्य श्मशान आदि में जाकर मनन करता है कि मनुष्य का शरीर कितना बीभत्स, कुरूप एवं घृणास्पद है। फिर वह जीवित व्यक्तियों के बारे में सोचता है और इस तथ्य पर मनन करता है कि ये शरीर उतने ही घृणित एवं अपवित्र हैं जैसेकि मृत शरीर।[3] इस क्रिया को असुभकम्मट्ठान कहते हैं। जिसका अर्थ है मनुष्य के शरीर की अपवित्रताओं पर विचार करना। उसे मनुष्य के अंग प्रत्यंग एवं रक्त, मांस मज्जा आदि से बने हुए अवयवों का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार शरीर से विरक्ति होने पर उसका मन ध्यान की प्राथमिक अवस्था की ओर अग्रसर होने लगेगा। इसे कायगतासति अर्थात् इस शरीर के बारे में मनन करना है। एकाग्रता की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि साधक एक शान्त स्थान में आसन ग्रहण कर श्वास की प्रक्रियाओं पर अपना ध्यान एकाग्र करे। श्वास की दो प्रक्रियाएँ हैं, श्वास को अन्दर लेना (पस्सास) और बाहर निकालना (आस्सास)। इनके द्वारा चित्त एकाग्र करते

की आसक्ति न रखते हुए, खाने पीने को अत्यन्त तुच्छ घृणास्पद मानते हुए केवल शरीर धारण के निमित्त थोड़ा सा विरस भोजन करता है जैसे किसी घोर वन को पार करने के निमित्त कोई व्यक्ति अखाद्य पदार्थों का वितृष्णा के साथ सेवन करे।

[1] विसुद्धिमग्ग, पृ० सं० ३४७-३७०।

[2] वही, पृ० सं० १९७-२९४।

[3] वही, छठा अध्याय।

हुए इस बात का अनुभव करे कि श्वास किस प्रकार चल रहा है। फिर वह श्वास की क्रिया को नियन्त्रित करे और इस बात का अभ्यास करे कि एक निश्चित समय में कितने श्वास ले रहा है। इस श्वास प्रक्रिया की साधना को आनपानसति कहते हैं। यह क्रिया ध्यान की एकाग्रता के हेतु की जाती है।[1]

श्वास नियंत्रण के पश्चात् दूसरी अवस्था ब्रह्म विहार की आती है। इस अवस्था में चार प्रकार के तत्त्वों का मनन और ध्यान किया जाता है। (१) मैत्री (विश्व बन्धुत्व अथवा सारे प्राणियों से मैत्री भाव) (२) करुणा (सारे विश्व के प्राणियों पर दया भाव) (३) मुदिता (सबकी समृद्धि एवं प्रसन्नता में आनन्द) (४) उपेक्षा (अपने स्वार्थ के प्रति उपेक्षा अथवा शत्रु, मित्र और अन्य प्राणियों में समानभाव, औदासीन्य-भाव)। विश्व मैत्री के सम्बन्ध में मनन करने के हेतु यह सोचना आवश्यक है कि वह स्वयं किस प्रकार सारे दुःखों से छुटकारा पाकर प्रसन्नता व आनन्द प्राप्त कर सकता है तथा किस प्रकार मृत्यु के ऊपर विजय पाकर सुख व शान्ति प्राप्त कर सकता है। तत्पश्चात् इस पर मनन करना चाहिए कि प्रत्येक अन्य प्राणी भी इसी प्रकार इन सब भौतिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं और उनकी भी हित कामनाएँ उसी प्रकार है जिस प्रकार उसकी स्वयं की। इस प्रकार उसे इस बात का ध्यान करना चाहिए कि अन्य सभी प्राणी किस प्रकार सुख को प्राप्त कर सकते हैं। ध्यान और चिन्तन करते हुए साधक को चाहिए कि वह संसार के सारे प्राणियों के साथ आत्मसात् हो जाए और सबको आत्मवत् देखने लगे। यहां तक कि अपने स्वयं के आनन्द में और दूसरे के आनन्द में कोई अन्तर न रह जाय। उसे क्रोध के ऊपर विजय प्राप्त करनी चाहिए और यह सोचना चाहिए कि यदि किसी व्यक्ति ने उसे किसी प्रकार की क्षति अथवा कष्ट पहुंचाया है तो क्रोधित होकर उस दुःख को और अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है। जिस शील का वह अभ्यास कर रहा है वह इससे नष्ट हो जाता है यह ध्यान में रखना चाहिए। यदि किसी ने उसको क्षति पहुंचाकर नीच कर्म किया है तो क्या उसको भी क्रोध कर उसके समान स्तर पर उत्तर आना चाहिए ? यदि वह किसी अन्य व्यक्ति के क्रोध की निन्दा करता है तो क्या उसे स्वयं क्रोधित होकर निन्दनीय कर्म करना चाहिए ? उसको यह ध्यान रखना चाहिए कि धम्म क्षणिक है (खणिकत्तां या क्षणिकत्व)। जिन स्कन्धों ने उसको चोट पहुंचायी है वे स्कन्ध उसी समय नष्ट हो जाते हैं। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को जब क्षति पहुंचती है तो वह स्वयं भी उस प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है क्योंकि उसके स्वयं के न पहुंचने पर क्षति होना असम्भव था। इस क्रिया में जो क्षति पंहुंचाने वाला है वह और जिसको क्षति पहुंचती है वह, ये दोनों ही क्षति क्रिया के समान अंग होने से किसी व्यक्ति विशेष से

---

[1] विसुद्धिमग्ग पृ० २६६-२९२।

क्रुद्ध होने का कोई कारण नहीं है। अगर इतना सब सोचने के पश्चात् भी क्रोध का शमन नहीं होता है तो उसको यह सोचना चाहिए कि क्रोध करने से वह स्वयं अपने को ही हानि पहुंचा रहा है। जिस व्यक्ति ने क्रोध किया है वह स्वयं उससे कष्ट पाता है। इस प्रकार चिन्तन करने से श्रमण क्रोध पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होगा और अपने चित्त से क्रोध को दूर कर सभी प्राणियों के लिए मैत्री भाव रखने में समर्थ हो सकेगा। इसको मेत्ता भावना (मित्र भावना) कहते हैं। करुणा के व्यापक भाव की सिद्धि के लिए श्रमण को चाहिए कि वह मित्र शत्रु आदि सबके दुःखों में दुःख का अनुभव करे और उन सबके लिए सहानुभूति का भाव उत्पन्न करे। इस प्रकार मुनि दिव्य दृष्टि के कारण उन सब मानवों के लिए हृदय में करुणा उत्पन्न कर सकेगा जो यद्यपि ऊपर से सांसारिक आनन्द का सुख भोग करते हुए दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में दुःखों के बंधन में फंसते जा रहे हैं और निर्वाण के पथ से दूर चले जा रहे है। वे नहीं जानते कि उनको अनेक जन्मों में दुःख भोग करना होगा।

इसके पश्चात् हम झान (ध्यान) की उस अवस्था में आते हैं जब साधक को भौतिक वस्तुओं पर चित्त एकाग्र करने की साधना करनी पड़ती है जिन्हें "कसिणम्" कहते हैं। ध्यान एकाग्र करने के लिए कोई भी पदार्थ, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नीला, पीला, लाल अथवा श्वेत रंग, प्रकाश अथवा सीमित आकाश (परिछिन्न आकाश) कोई भी हो सकता है। इस प्रकार साधक मृत्तिकापिण्ड लेकर उस पर आँखें खोलकर अथवा कभी-कभी नेत्र बंद कर ध्यान एकाग्र करे। जब वह इस अवस्था पर पहुंच जाय कि नेत्र बंद करने के पश्चात् भी स्पष्ट रूप से देख सके तब उसको चाहिए कि भौतिक पदार्थ को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाकर उस वस्तु के स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने का अभ्यास करे।

ध्यान की प्राथमिक अवस्थाओं में पथमम्झानम्—प्रथम ध्यान में पहले किसी भौतिक वस्तु पर चित्त एकाग्र करते हुए इसके सम्पूर्ण रूप नाम एवं उसकी उपादेयता के बारे में चिन्तन करते हैं। इस प्रकार चिन्तन की एकाग्रता को वितक्क कहते हैं (अर्थात् वस्तु-विशेष के बारे में तर्क वितर्क करते हुए ध्यान करना)। प्राथमिक ध्यान की दूसरी क्रिया में चित्त उस भौतिक वस्तु के गुण का ध्यान न करते हुए सीधा वस्तु विशेष पर स्थिर किया जाता है और इस प्रकार चित्त स्थिर होकर वस्तु के अन्तस्तल में प्रवेश करता है। इस प्रक्रिया को विचार (स्थिर गति) कहते हैं। विशुद्धिमार्ग में बुद्धघोष ने वितक्क अवस्था के लिए कहा है कि जैसे चील आकाश में पंख चलाती हुई दिशा विशेष की ओर जाती है उस प्रकार वितक्क अवस्था होती है परन्तु दूसरी अवस्था विचार के लिए उसने उस चील की उपमा दी है जो बिना पंखों को हिलाये सीधी हवा में उड़ते हुए अपने गन्तव्य की ओर जाती है। ये दोनों अवस्थाएँ चित्त की प्रफुल्लता को (पीति) और चित्त में विशेष आन्तरिक आनन्द (सुख) से सम्बन्धित हैं। इस

प्रथम भान के उदयहोने से अविज्जा, कामच्छन्दो (वासनाओं से ग्रसित होना) व्यापादो (द्वेष) थीनमिद्धम् (आलस्य और प्रमाद) उघच्चकुक्कुचम् (अशांति एवं अविनाश), विचिकिच्छा (संशय) इन पंच तत्वों का नाश हो जाता है। भान को निर्माण करने वाले पंचतत्व वितक्क (वितर्क), विचार, पीति (प्रीति) सुखम, और एकागता (एकाग्रता) है। जब श्रमण भान की प्राथमिक अवस्था में सिद्धि प्राप्त कर लेता है तब वह इसकी अल्पता का ध्यान करते हुए ध्यान की दूसरी अवस्था में प्रवेश करना चाहता है (द्वितीयम् भानम्)। इस अवस्था में मन की चंचलता नष्ट होकर स्थिरता प्राप्त होती है जिसको 'एकोदिभावम्' के नाम से सम्बोधित किया है। इसमें चित्त एकाग्र, स्थिर, शांत एवं निर्विषय हो जाता है। (वित्तक्कविचारक्खोभाविरहेण अतिविया अचलता सुप्पसन्नता च)। परन्तु इस अवस्था में प्रीति, सुख, एकाग्रता और साधना एक साथ संयुक्त होती है।

ध्यान की दूसरी अवस्था सम्पूर्ण होने पर साधक प्रीति अर्थात् सुख आदि की ओर से विरक्त हो जाता है। इस उपेक्षा भाव को "उपेखा को" कहा है। इस अवस्था तक आते-आते सन्त वस्तुओं को देखता है परन्तु न उनको देखकर प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न। इस स्तर पर आते-आते ध्यान योगी के सारे आसव नष्ट हो जाते हैं। वह खीनासव (क्षीणासव) हो जाता है। लेकिन उसके हृदय में आन्तरिक आनन्द का प्रवाह होता है जिसे बौद्ध दर्शन में सुख शब्द से सम्बोधित किया है। साथ ही उसके लिए आवश्यक है कि यदि उसने चित्तवृत्तियों पर ठीक रूप से नियंत्रण नहीं रखा तो वह पुनः सुख भोग से निम्न कोटि के प्रीति भोग की अवस्था में पहुंच जाएगा।[1] इस भान के दो विशेष गुण हैं। वे हैं सुख तथा एकाग्रता। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उच्चतम सुख की भावना ही इस अवस्था में विद्यमान रहती है। साधक सामान्य सुख की ओर उपेक्षा की भावना रखता है (अतिमधुरसुखे सुखपारमिप्पत्तेपितत्तिभाने उपेखको, न तत्त सुखाभिसंधेन आकड्ढियति)।[2] ध्यान की इस अवस्था में भी चित्त एकाग्र करने के लिए मृत्तिका के पिण्ड का (पथवी) प्रयोग किया जाता है।

भान (ध्यान) की चतुर्थ अवस्था में सुख व दुःख दोनों का लोप हो जाता है और साथ ही राग व द्वेष समूल नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था ऐसी अवस्था है जिसमें योगी जीवन के सभी तत्वों से उदासीन हो जाता है। भान की प्राथमिक अवस्था में जिस उपेक्षा का प्रारम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर विकास पाती है और अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुंचती है। इस अवस्था में योगी जीवन के राग, विराग, द्वन्द्व आदि से उपरत

---

[1] जहाँ प्रीति है वहाँ सुख होता है परन्तु जहां सुख है वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि प्रीति हो। —विसुद्धिमार्ग, पृ० सं० १४५।

[2] विसुद्धिमार्ग, पृ० सं० १६३।

होकर सुख दुःख आदि सभी के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर लेता है। एकाग्रता तथा उपेक्षा इस चतुर्थ अवस्था के मुख्य गुण हैं। चित्त की सारी प्रवृत्तियों से उसे निवृत्ति प्राप्त होती है जिसे दार्शनिक भाषा में चेतोविमुत्ति कहा है और इस प्रकार साधक अर्हत पद[1] प्राप्त कर लेता है। अर्हत पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् स्कन्ध व पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है। सुख व दुःख से निवृत्ति प्राप्त होती है और निब्बाण (निर्वाण) को प्राप्त होता है।

कम्म (कर्म)

कठोपनिषद (दूसरा अध्याय छठा श्लोक) में यम ने कहा है कि जो धन के मोह में अन्धा हुआ भविष्य के जीवन में विश्वास नहीं करता और यह सोचता है कि यही जीवन अन्तिम जीवन है वह पुनः पुनः मेरे पंजे में फंसकर दुःख पाता है। दीघ निकाय में 'पायासी' अपने विषय की स्थापना के लिए कई प्रकार के तर्क देता है। वह कहता है कि इस संसार को छोड़कर अन्य कोई लोभ नहीं है। माता पिता से जन्म लेकर जो प्राणी इस संसार में बसते हैं उनके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नहीं है। न कोई दुनियाँ में अच्छे व बुरे कर्म हैं, न उनका फल मिलता है।[2] वह इस प्रकार तर्क देता है कि दूसरे लोकों से न किसी पापात्मा ने और न किसी पुण्यात्मा ने इस लोक में वापस आकर यह बताया है कि उन्हें सुख अथवा दुःख प्राप्त हो रहा है। यदि यह सत्य है कि पुण्यात्मा लोगों के लिए दूसरे लोक में यहाँ से अच्छा जीवन है तो उन्हें तत्काल आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए। मृत्यु के समय सब प्रकार से देखने पर भी यह पता नहीं चलता कि आत्मा नाम की वस्तु शरीर से बाहर निकलती है। यदि आत्मा कोई वस्तु होती तो उसके निकलने के पश्चात् शरीर का भार कुछ कम हो जाता लेकिन ऐसा नहीं होता। कस्सप उनके तर्कों का बड़ा सुन्दर उदाहरण देकर खंडन करता है और दृष्टांत देते हुए समझाता है कि मिथ्या तर्क सत्य नहीं है। पायासी के समान दो चार अनीश्वरवादी व्यक्तियों को छोड़कर यह निश्चित है कि उपनिषदों में वर्णित कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को सभी बौद्ध दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। मिलिन्दपन्ह में नागसेन कहते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही सुख व दुःख का भोग करते हैं। कर्म के प्रतिफल से ही कुछ लोग दीर्घजीवी और कुछ अल्पजीवी होते हैं, कुछ स्वस्थ और कुछ अस्वस्थ रहते हैं कुछ सुन्दर तथा कुछ कुरूप होते हैं। शक्ति, सौन्दर्य, धन, उच्च बुद्धि कर्मफल से ही प्राप्त होती है। जो लोग बीमार व कमजोर हैं, मूर्खता व प्रमाद में फंसे हुए हैं, दीन हैं वे सब अपने कर्मों का ही फल प्राप्त कर

---

[1] मज्झिमनिकाय, पृ० सं० १:२६६ और विशुद्धिमार्ग, पृ० सं० १६७-१६८।

[2] "डाइलोग्स आफ द बुद्धा" दूसरा खंड पृ० सं० ३१७ और दीर्घनिकाय दूसरा अध्याय, पृ० सं० ३१७ से।

रहे हैं।[1] हम पहले यह अध्ययन कर चुके हैं कि इसी प्रकार का मत उपनिषत्कालीन ऋषियों का है।

परन्तु कर्म का फल इस जीवन में अथवा अन्य जीवन में तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य राग, द्वेष और मोह के बन्धन में फंसा रहता है। परन्तु जब मनुष्य लोभ और मोह का परित्याग कर अपरिग्रह का मार्ग ग्रहण कर निष्काम रूप से कार्य करता है तब कर्म स्वयं जड़मूल से नष्ट हो जाता है जैसे किसी ताड़ के वृक्ष को समूल उखाड़ दिया जाए। फिर उसके मूल के नष्ट हो जाने से कर्म की भविष्य में भी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।[2] तृष्णा के अभाव में कर्म स्वयं फलीभूत नहीं हो सकता। इस प्रकार महासतीपत्थानसुत्त में कहा है-भोग व विलास की तृष्णा के कारण मनुष्य यहाँ वहाँ विषयों की ओर दौड़ता है और इनके सुख प्राप्त करने की प्रबल तृष्णा के कारण पुनर्जन्म के बन्धन में फंसता है। यह तृष्णा अथवा कामना कई प्रकार की है। विषय भोग की कामना, पुनर्जन्म की कामना अथवा पुनर्जन्म नहीं लेने की कामना ये सभी मनुष्य को सताती हैं।[3] जो वस्तुएँ इन्द्रियों को प्रिय लगती हैं, प्राणों को मधुर लगती हैं, रस, रूप, रंग, स्वाद उनकी आसक्ति चित्त को चंचल करती हैं। तृष्णा इस आसक्ति से उत्पन्न होती है और इस आसक्ति और वासना में निवास करती है।[4] इस आसक्ति और भोग की तृष्णा के कारण दुःख की उत्पत्ति होती है यह आर्य सत्य है।

दुःख से निवृत्ति तभी हो सकती है जब यह तृष्णा के प्रति मनुष्य विरक्त हो जाए, इसका परित्याग कर दे और इससे मुक्त हो जाए।[5]

तृष्णा अथवा वासना का नाश होने पर मनुष्य को अर्हत पद प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उसके किए हुए कर्मो का फल प्राप्त नहीं होता; उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्हत पद प्राप्त करने के बाद किसी प्रकार का कर्म फल नहीं मिलता। कामना के कारण ही कर्म का फल मिला करता है। वासना के नष्ट होते ही अज्ञान, राग, द्वेष और लोभ का नाश हो जाता है। अतः पुनर्जन्म का कोई हेतु नहीं रहता। पूर्व जन्म के कर्मो का फल अर्हत पद प्राप्त होने के पश्चात् भी मिल सकता है जैसा मोग्गलान को भोगना पड़ा। परन्तु पूर्वजन्म के कर्म शेष रहने पर भी अर्हत तृष्णा के नष्ट हो जाने से बन्धन मुक्त हो जाता है।[6]

---

[1] वारेन का 'बुद्धिजम इन ट्रान्सलेशन', पृ० सं० २१५।

[2] वही, पृ० सं० २१६-२१७।

[3] डायलोग्स आव द बुद्ध, २, पृ० ३४०।

[4] वही, पृ० ३४१।

[5] वही, पृ० ३४१।

[6] देखिए कथावस्तु और वारेन का बुद्धिजम इन ट्रान्सलेशन्स पृ० २२१।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं। मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक, याने वाणी के द्वारा किए हुए कर्म। इन्हें बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक व मानसिक शब्दों से पुकारा गया है।[१] इन कर्मों का मूल चेतना व चेतना के साथ संलग्न प्रवृत्तियाँ हैं।[२] यदि कोई व्यक्ति पशुओं की हिंसा करने की इच्छा से वन में जाता है और इस प्रबल कामना से वन में सारे दिन घूमता हुआ थक कर रात्रि को वापस घर आ जाता है और उसको कोई शिकार जंगल में नहीं मिलता तब यह निश्चित है कि उसने शरीर से कोई कर्म नहीं किया। परन्तु उसकी कामना मात्र से मानसिक कर्म और मानसिक हिंसा सम्पूर्ण हो जाती है। फिर यदि वह व्यक्ति किसी को पशुओं को मारने की आज्ञा देता है तो स्वयं कर्म न करते हुए भी वाणी द्वारा (वाचिक) कर्म पूर्ण हो जाता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मानसिक संकल्प के बिना शरीर अथवा वाणी से किसी प्रकार का कर्म नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार के कर्म की उत्पत्ति के पहले मन में तद्‌विषयक कामना होना आवश्यक है। अर्हत पद प्राप्त करते हुए व्यक्ति के मन में कोई कामना न होने के कारण उसके शरीर अथवा वाणी के द्वारा किए हुए कर्म का कोई फल नहीं होता।

प्रभाव अथवा फल की दृष्टि से कर्मों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है, (१) ऐसे कर्म जो अशुभ है और जिनका फल भी अशुभ होता है, (२) वे जो शुभ हैं जिनका फल शुभ होता है। (३) ऐसे कर्म जो आंशिक रूप से शुभ व आंशिक रूप से अशुभ है और जिनका फल भी आंशिक रूप से शुभ व अशुभ होता है। (४) ऐसे कर्म जो अच्छे हैं न बुरे जिनके करने से न पाप होता है न पुण्य परन्तु जिनसे अन्ततः कर्मो का विनाश हो जाता है।[३]

क्लेशों से अन्तिम मुक्ति (निब्बाण) कामनाओं के लोप होने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। बौद्ध दर्शन के विद्वानों ने इस प्रक्रिया के विभिन्न अंगों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। प्रो० डी० ला० वेली पूसीन का मत है कि पाली ग्रन्थों में निब्बाण को एक आनन्दमय स्थिति के रूप में माना गया है। इस अस्तित्व में पुनर्जन्म की संभावना नहीं है। यह स्थिति अपरिवर्तनीय है। इसमें समस्त कर्मो का पूर्ण क्षय हो जाता है।[४]

---

[१] अत्थसालिनी, पृ० ८८।

[२] वही, पृ० ६०।

[३] अत्थसालिनी, पृ० सं० ८६।

[४] निर्वाण पर निम्न ग्रन्थ देखिए—प्रो० डी० ला० वेली पूसीन का लेख, चुल्लवग्ग नवां खंड, पहला अध्याय, चतुर्थ पृष्ठ। मिसेज राइस डेविड्स का "साम्स आव द अर्लि बुद्धिज्म," खंड १ और २, भूमिका पृ० सं० २७। दीघ० दूसरा अध्याय पृ० सं० १५। उदान० २८वां अध्याय, संयुक्त तीसरा खंड, पृ० सं० १०६।

पाली टेक्ट्स सोसाइटी जर्नल, १९०५, में निर्वाण की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि बुद्ध के मतानुसार मृत्यु के पश्चात् जो अनन्त आकाश में व्याप्त आत्मा और चेतन तत्व (विञ्ञान) के साथ एकीभूत होना चाहते हैं, उनकी आत्मा व्याप्त एवं अनन्त रूप धारण करती है और साथ ही उनके व्यक्तित्व का भी लोप नहीं होता। यह निर्वाण की व्याख्या मुझे एकदम नवीन और बौद्ध शास्त्रों के मत के प्रतिकूल लगती है। मेरे मतानुसार सांसारिक अनुभूतियों के अर्थ में निर्वाण की व्याख्या असंभव है। इसकी व्याख्या केवल इतना कहकर की जा सकती है कि यह वह अवस्था है जब सारी वेदनाओं और क्लेशों की समाप्ति हो जाती है। उस अवस्था में जबकि संसार की सारी भावना और अनुभूतियों का लोप हो जाता है तो उसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की निश्चित और निषेधात्मक व्याख्या नहीं की जा सकती। निर्वाण के पश्चात् हम अनन्त रूप में अस्तित्व में रहते हैं अथवा नहीं यह बौद्ध दर्शन के अनुसार संगत तर्क ही नहीं है। तथागत के सम्बन्ध में यह सोचना कि उनका अस्तित्व शाश्वत है अथवा अशाश्वत महान् पाप है। यह सोचना भी पाप है कि इस समय उनका अस्तित्व है अथवा नहीं। निर्वाण एक शाश्वत और निश्चित स्थिति है अथवा एक ऐसी स्थिति है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है यह बौद्ध दर्शन के अनुसार विचार करने योग्य नहीं है एवं धर्म विरोधी भावना है। यह सत्य है कि हम आधुनिक युग में संतुष्ट नहीं हैं और यह भी जानना चाहते हैं कि इस सबका वास्तविक अर्थ क्या है परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार ऐसी शंका करना उचित नहीं है।

परवर्ती बौद्ध लेखक नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने इन प्रारंभिक बौद्ध धाराओं की प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए ऐसी व्याख्या की है कि संसार में अस्तित्व मिथ्या है। किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है अतः इस पर तर्क अर्थहीन है कि किस वस्तु का अस्तित्व है और किस वस्तु का नहीं है। इस प्रकार सांसारिक अवस्था और निब्बाण में कोई भेद नहीं है; क्योंकि यदि सारा दृश्यमान जगत् मिथ्या है और यदि उसका संसार में कोई अस्तित्व नहीं है तो इस अस्तित्व की समाप्ति का भी प्रश्न नहीं उठता अतः निब्बाण का भी प्रश्न नहीं उठता।

उपनिषद् एवं बौद्ध धर्म

उपनिषदों में इस तथ्य का निरूपण किया गया है कि आत्मा आनन्दमय है।[1] हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि प्रारंभिक बौद्ध-धर्म में भी लगभग इसी प्रकार का विचार पाया जाता है। उनके मतानुसार यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु है (अत्ता)

[1] तैत्ति० २/५।

तो वह आनन्दमय होनी चाहिए। उपनिषदों में इस बात पर बल दिया गया है कि आत्मा अनन्त है और उसका विनाश नहीं होता। बौद्ध-धर्म में अन्तर्निहित सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हम यह कह सकते है कि इनके अनुसार यदि आत्मा है तो वह अनन्तमय होनी चाहिए क्योंकि वह शाश्वत है।[१] यह कारण-सम्बन्ध उपनिषदों में कहीं स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है परन्तु उपनिषदों को ध्यान से पढ़ने पर ऐसा आभास होता है कि आत्मा को आनन्दमय इसलिए कहते हैं कि स्वयं आत्मा का विनाश नहीं होता है। परन्तु इसके विपरीत ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है कि जो शाश्वत नहीं है तथा जो नाशवान् है वह सब दुःखमय है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ परिवर्तनशील है नाशवान् है वह सब दुःखमय है और जो कुछ दुःखमय है वह आत्मा नहीं है।[२] इस आत्मा की अनुभूतियों के सम्बन्ध में बौद्ध मत उपनिषदों से भिन्न हो जाता है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा पर प्रभाव डालने वाली अनेक अनुभूतियाँ हैं परन्तु ये अनुभूतियाँ स्थायी नहीं हैं। उपनिषदों में यह विश्वास पाया जाता है कि इन अनुभूतियों का एक स्थायी भाव भी है और वह स्थायी भाव आनन्दमय है। यही स्थायी भाव सत्य है और अपरिवर्तनशील है। उनके मतानुसार यह शाश्वत आत्मा जो विशुद्धानन्द स्वरूप है अवर्णनीय है; इसकी कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। केवल यों कहा जा सकता है न तो यह है (नेति नेति) और न वह है।[३] परन्तु पाली शास्त्रों के अनुसार हमको ऐसे किसी भी शाश्वत तत्व का बोध नहीं होता। हमारी नित्य प्रति परिवर्तनशील अनुभूतियों के बीच किसी भी स्थायी आत्म-तत्व का पता नहीं चलता। जो कुछ दिखाई देता है वह एक परिवर्तनशील घटनाक्रम है अतः मिथ्या एवं दुःखमय है। अतः यह सब आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और जो आत्मा सें सम्बन्ध नहीं रखता वह मनुष्य से सम्बन्ध नहीं रखता। अतः आत्मा के रूप में भी मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।[४]

उपनिषदों के अनुसार आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान एक अलौकिक दिव्य अनुभूति है। क्योंकि इसका वर्णन कभी भी सांसारिक अनुभूति की भाषा में नहीं दिया जा सकता। परिवर्तनशील मानसिक परिकल्पनाओं से परे अति दूर यह आनन्दमय आत्मा है केवल इतना ही कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध ने तार्किक दृष्टि से देखते हुए यह अनुभव किया कि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं। परन्तु साथ ही इस तथ्य पर भी विचार किया कि इस आत्मा के सम्बन्ध में (यह अनुभूति के द्वारा जाना जाता है) ऐसा

---

[१] बृहदा० ४/५/१४; कठ ५/१३।

[२] संयुक्त निकाय ३, पृ० ४४-४५ से।

[३] देखें, बृहदा० ४/४/छान्दोग्य ८–७/१२।

[४] संयुक्त निकाय ३,४५ पृ०।

जो बार बार कहा गया है इसका क्या कारण है ? बौद्धों के मतानुसार जब मनुष्य यह कहते हैं कि हमने उस आत्म तत्व की अनुभूति की, तब वे व्यक्तिगत मानसिक परिकल्पनाओं के अनुसार ऐसा कहते हैं। साधारण अज्ञानी मनुष्य महान् सत्यों को न तो जानते हैं न वे विद्वानों की भाँति प्रशिक्षित होते हैं। इस प्रकार अज्ञानवश वे ऐसा सोच लेते हैं कि उन्हें "रूप" प्राप्त हो गया है या वे इन रूपों को अपने स्वयं (आत्म) में प्रतिभासित देखते हैं अथवा स्वयं को इन रूपों में देखने लगते हैं उन्हें तात्कालिक भावों के अनुसार जो अनुभूति होती है उसे वे आत्मदर्शन समझते हैं अथवा ऐसी अनुभूति करते हैं कि उन्हें इन भावों का अनुभव हो रहा है; और इस प्रकार वे भाव विशेष को आत्मा में अथवा आत्मा को भाव विशेष में देखते हैं। इस प्रकार के अनुभवों को वे आत्मा[1] के अनुभवों के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

उपनिपदों ने किसी विशेष दार्शनिक धारा अथवा दर्शन के किसी विशिष्ट विपय को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया है। उपनिपदों में सदैव एक ऐसे अनुभव को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है जो मनुष्य की आत्मा के रूप में शाश्वत, नाशहीन वास्तविक सत्य है और जो सारे परिवर्तनों के मध्य सदैव स्थिर रहने वाला महान् सत्य (परम-आत्मा) है। लेकिन बौद्ध मतानुसार मनुष्य का यह "नाशहीन आत्म-तत्व" असत् है, वह मिथ्या कल्पना और मिथ्या ज्ञान पर आधारित है। इस दर्शन का प्रथम सिद्धान्त है संसार क्षणभंगुर है अतः दुःखमय है। इस दुःख के सम्बन्ध में अज्ञान, इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अज्ञान, इस दुःख को कैसे मिटाया जा सकता है इसका अज्ञान और इसको मिटाने के साधनों के बारे में अज्ञान यह चार प्रकार अविज्जा है।[2] पाली शब्द अविज्जा के अनुरूप ही अविद्या शब्द उपनिपदों में पाया जाता है। उपनिपदों में अविद्या का अर्थ आत्म तत्व के सम्बन्ध में अज्ञान है और यह कई बार विद्या (अथवा आत्मा[3] के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान) के विपरीत अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। उपनिपदों के अनुसार सर्वोत्तम, उच्चतम सत्य शाश्वत आत्मा का अस्तित्व है जो आनन्दमय है परन्तु बौद्ध मत के अनुसार संसार में कोई भी स्थायी अथवा शाश्वत नहीं है। सभी कुछ क्षणभंगुर एवं परिवर्तनशील है, अतः दुःख का कारण है।[4] इस प्रकार यह बौद्ध दर्शन का मुख्य तत्व है, और इस दुःख के सम्बन्ध में अज्ञान (चतुर्वद्ध अज्ञान) ही चार प्रकार की अविज्जा है। यह चार प्रकार की अविज्जा ही

---

[1] संयुत्त निकाय ३/४६।

[2] मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय पृ० ५४।

[3] छान्दोग्य १-१-१०। बृहदा० ४-३-२०। कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहां विद्या और अविद्या भिन्न और अस्पष्ट अर्थो प्रयोग किए गए हैं—(ईशोपनिपद् ९-११)

[4] अंगु० निकाय, ३-८५।

चार दृढ़ सत्यों के समझने में बाधक है। इन चार सत्यों को आर्य सच्च कहा गया है जो इस प्रकार वर्णित है–दुःख, दुःख की उत्पत्ति का कारण, दुःख का मोचन और दुःख को मिटाने का साधन।

ब्रह्म अथवा किसी महान् आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, न कोई आत्मा है। अविद्या अथवा अज्ञान किसी आत्मा से अथवा आत्म चेतना में निहित अथवा सम्बन्धित नहीं है जैसा साधारणतया विश्वास किया जाता है।

इस प्रकार बौद्धमतानुसार, विशुद्धिमार्ग में कहा गया है अज्ञान स्थायित्व से परे है क्योंकि अज्ञान का अस्तित्व एक समय होता है और दूसरे क्षण नहीं भी होता है। अतः यह अज्ञान स्वयं प्रेरित या स्वयंभू अहम् चेतना से भी शून्य (परे) हैं क्योंकि यह स्वयं किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर नहीं है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अविद्या या अज्ञान अहम् केन्द्रित नहीं है और इसी प्रकार कर्म आदि अन्य तत्वों के संबंध में कहा जा सकता है। अतः इससे यह समझना चाहिए कि अस्तित्व का यह जीवन चक्र सारहीन है, खोखला है, मिथ्या एवं निराधार है।[1] वह बारह तरह की शून्यताओं से घिरा है।

थेरवाद बौद्ध दर्शन की शाखाएँ

ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि बुद्ध द्वारा दिए हुए मौखिक उपदेशों का संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् कई शताब्दियों तक उचित रूप से नहीं किया जा सका होगा। उनके शिष्यों में अथवा आगे आने वाली शिष्यों की कोटियों में अनेक विवाद उनके सिद्धान्तों और आश्रमों के नियमादि के सम्बन्ध में उठ खड़े हुए। इस प्रकार जब वैशाली में स्थित संघ ने वृजिन भिक्षुओं के विरोध में निश्चय किए तब इन भिक्षुओं ने जिनको वज्जिमपुत्तक नाम से भी पुकारा जाता है, एक महासंघ की विशाल सभा का आयोजन किया और आश्रम सम्बन्धी अपने नियम बनाए। इस प्रकार इन लोगों का नाम महासंघिक पड़ा।[2] वसुमित्र के अनुसार जिसका अनुवाद वैसिलिफ ने किया

---

[1] वारेन: 'बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स (विसुद्धिमग्ग अध्याय १७) पृ० १७५।

[2] महावंश का मत द्वीपवंश के मत से भिन्न है। इस मत के अनुसार वज्जिपुत्तक महासंघिक के रूप में परिवर्तित नहीं हुए वरन् पहले महासंघिक भिक्षु अलग हुए और वज्जिपुत्तक स्वतंत्र रूप से मुख्य शाखा से अलग हुए। 'महाबोधिवंश' जो प्रो० गिगर के अनुसार सन् ९७५ से १००० तक लिखा गया है महावंश का अनुसरण करता है और इसका भी मत है कि महासंघिक मुख्य शाखा से अलग हुए और वज्जिपुत्तक वाद को स्वतंत्र रूप से अलग हुए।

है महासंघिक भिक्षु ४०० ई० पू० में मुख्य संघ से अलग हो गए। अगले १०० वर्षों में इन्होंने तीन नयी शाखाओं को जन्म दिया जो एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी और कुक्कुलिक नाम से जानी जाती हैं। तत्पश्चात् एक और नवीन शाखा उत्पन्न हुई जिसको बहुश्रुतीय नाम से जाना जाता है। अगले १०० वर्षों में इन्हीं शाखाओं से अन्य प्रशाखाएँ उत्पन्न हुई जैसे प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल और उत्तरशैल। थेरवाद अथवा स्थविरवाद शाखा से जिसने वैशाली संघ का आह्वान किया था। उसकी ईसा पूर्व की द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी में अनेक शाखाएँ उत्पन्न हुई जिनमें हैमवत, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, संक्रान्तिक (जिनको सौत्रान्तिक रूप से अधिक जाना जाता है) और वात्सीपुत्रीय आती हैं। वात्सीपुत्रीय से निम्न प्रशाखाएँ उत्पन्न हुई : धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, छन्नागरिक। थेरवाद की मुख्य शाखा द्वितीय शताब्दी के पश्चात् हेतुवादी अथवा सर्वास्तिवादी नाम से प्रख्यात हुई।[१] महाबोधिवंश थेरवाद शाखा और विभज्जवादी शाखा को एक ही मानता है। कथावत्थु का भाष्यकार जो राइज डेविड्स के मतानुसार सम्भवत: ५वीं शताब्दी में रहा होगा बौद्धों की अन्य दर्शन शाखाओं का विवरण देता है लेकिन इन सब बौद्ध शाखाओं केसम्बन्ध में बहुत कम जानता है। वसुमित्र (प्रथम शताब्दी) के द्वारा दिए हुए विवरण अस्पष्ट हैं। उसने महासंघिक, लोकोत्तरवादी, एक व्यावहारिक, कुक्कुलिक प्रज्ञप्तिवादी और सर्वास्तिवादी शाखाओं का बहुत अपूर्ण सा विवरण दिया है उसमें भी उसके द्वारा दिया हुआ दार्शनिक विवरण नगण्य सा ही है। उसने जिन विषयों का उल्लेख किया है उसमें से कुछ रोचक विषय ये हैं। (१) महासंघिक दर्शन के अनुसार शरीर चित्त से ओत प्रोत रहता है और यह चित्त शरीर में बैठा रहता है। (२) प्रज्ञप्तिवादी ऐसा मानते हैं कि मनुष्य शरीर में अन्य कोई प्रेरक शक्ति नहीं है। असमय मृत्यु नहीं होती क्योंकि मृत्यु मनुष्य के पूर्व कर्मानुसार निश्चित समय पर ही होती है। (३) सर्वास्तिवादी यह विश्वास करते थे कि संसार में सभी वस्तुओं का अपना अस्तित्व है। कथावत्थु में पाए जाने वाले वाद-विवाद से हमको यह मालूम होता है कि इन शाखाओं के अनेक मत दार्शनिक महत्व रखते हैं परन्तु इन शाखाओं के दर्शन का ज्ञान देने वाले विस्तृत विवरण कहीं नहीं मिलते। ऐसा सम्भव है कि बौद्ध मत की ये सब शाखाएँ एक दूसरे से केवल छोटे मोटे नियमों और सिद्धान्तों की ही विभिन्नता रखती थीं। इन शाखाओं के मतावलम्बियों के अनुसार संभवत: इनका मत बहुत भारी सैद्धान्तिक महत्व

वसुमित्र भ्रमवश वैशाली सभा को पाटलिपुत्र में हुई तीसरी सभा के रूप में अनुमान करते हैं इस सम्बन्ध में श्रीमती राइज डेविड्स के द्वारा कथावत्थु के अनुवाद की भूमिका देखिए।

[१] इन शाखाओं के अलग होने के सम्बन्ध में भी श्री ओंग और श्रीमती राइज डेविड्स के कथावत्थु के अनुवाद का अवलोकन करें पृ० ३६ से ४५।

का रहा हो परन्तु हम लोगों के लिए इनका पारस्परिक अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि हमको इन शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसलिए इनके सम्बन्ध में केवल मोटे अनुमान लगाना उचित नहीं होगा। वैसे भी भारतीय दर्शन के इतिहास में इन दर्शनों का विशेष महत्व नहीं है क्योंकि भविष्य के भारतीय दर्शन में इनका प्रसंग कहीं प्राप्त नहीं होता। बौद्ध धर्म के निम्न मत ही भारतीय दर्शन के सम्पर्क में आ पाए हैं—सर्वास्तिवादी, जिनके साथ सौत्रांतिक और वैभाषिक भी सम्मिलित हैं, योगाचार अथवा विज्ञानवादी और माध्यमिक अथवा शून्यवादी। यह कहना कठिन है कि इन चार विशाल शाखाओं में अन्य किन शाखाओं के मतों का *समन्वय अथवा मेल है। सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक मुख्य शाखाएँ* मानी गई है। क्योंकि भारतीय दर्शन के विकास में इन मतों का विशेष स्थान रहा है अतः यह आवश्यक है कि हम इन बौद्ध मतों के विषय में जानकारी प्राप्त करें।

जब हिन्दू दार्शनिक बौद्ध सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि बौद्धों का मत ऐसा है तब वे सर्वास्तिवादी शाखा के सिद्धान्तों की ओर साधारणतया संकेत करते हैं। इस शाखा के सौत्रांतिक और वैभाषिक उपमतों की ओर हिन्दू दर्शन विशेष ध्यान नहीं देता। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि हिन्दू दार्शनिक थेरवाद के सिद्धान्त से परिचित थे जो पाली ग्रन्थों में मिलते हैं। वैभाषिक और सौत्रांतिक मत एक दूसरे से मिलते हैं। वैभाषिक वसुबंधु के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ अभिधम्मकोश शास्त्र की टीका सौत्रांतिक वसुमित्र के द्वारा लिखी गई है। वैभाषिक और सौत्रांतिक मतों के उस विशेष अन्तर का, जिसका हिन्दू लेखकों ने वर्णन किया है, स्वरूप यह है कि वैभाषिक यह विश्वास करते हैं कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जबकि सौत्रांतिक लोगों की यह मान्यता है कि बाह्य वस्तुओं का आभास मनुष्य के विस्तृत ज्ञान के फलस्वरूप होता है।[1]

गुणरत्न (चौदहवीं शताब्दी) "षड्दर्शन समुच्चय" की टीका 'तर्क रहस्य दीपिका' में लिखते हैं कि वैभाषिक केवल आर्यसंमितीय शाखा का ही दूसरा नाम है।

---

[1] माधवाचार्य द्वारा लिखित सर्वदर्शन-संग्रह, दूसरा अध्याय। "शास्त्रदीपिका-प्रत्यक्ष" पर दिया हुआ वाद विवाद। अमलानन्द का भामती पर भाष्य 'वेदान्त कल्पतरु', पृ० २८६। "वैभाषिकस्य बाह्योर्थः प्रत्यक्षः। सौत्रांतिकस्य ज्ञानगताकार वैचित्र्ये अनुमेयः।" सौत्रांतिक द्वारा दिए हुए मत का विवरण अमलानंद (१२४७-१२६० सन्) ने इस प्रकार दिया है—"ये यस्मिन् सत्यपि कादाचित्काः ते तदतिरिक्तापेक्षाः।" जिन वस्तुओं का संज्ञान एक ही स्थिति में होते हुए भी अनेक प्रकार का दिखाई देता है उनके लिए यह आवश्यक है कि उनका प्रकाश बाह्य वस्तुओं के अलावा अन्य पर निर्भर होना चाहिए। वेदान्तकल्पतरु, पृ० सं० २८६।

गुणरत्न के अनुसार वैभाषिक शाखा में वस्तुओं का अस्तित्व केवल चार क्षणों के लिए रहता है। ये चार क्षण हैं–उत्पत्ति का क्षण, अस्तित्व का क्षण, क्षणिता का क्षण और नष्ट होने का क्षण। वसुबन्धु के द्वारा लिखे हुए अभिधम्मकोष में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वैभाषिक इन क्षणों को चार प्रकार की शक्तियों के रूप में देखते थे जो शाश्वत प्रकृति के सत्व के साथ मिलकर जीवन की क्षणभंगुरता की उत्पत्ति करते हैं। (इस सम्बन्ध में प्रो० श्चेरबात्सगी के द्वारा अनुवादित यशोमित्र की अभिधर्मकोशकारिका की टीका, पांचवाँ अध्याय, पृ० २५ देखना उचित होगा)। स्वीय तत्व (जीव) जिसको 'पुद्गल' नाम से पुकारा गया है उसमें भी यही गुण पाए जाते हैं। ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं है। इसकी उत्पत्ति वस्तु विशेष के साथ उन्हीं अवस्थाओं में होती है (अर्थसहभासी, एक सामग्र्यधीनः)। गुणरत्न के अनुसार सौत्रांतिक मत यह मानता था कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। केवल पंच स्कंध पाए जाते हैं। ये स्कन्ध शरीर परिवर्तन करते रहते हैं। भूत, भविष्य, विनाश, कारण, आधार, आकाश और पुद्गल केवल नाम मात्र हैं (संज्ञामात्रम्) बल देने के लिए केवल उक्तिमात्र हैं (प्रतिज्ञा-मात्रम्) पारिभाषिक शब्द मात्र हैं (संवृत्तमात्रम्) और घटना मात्र हैं (व्यवहार-मात्रम्)। पुद्गल के द्वारा वे उस तत्व का वर्णन करते थे जिसे अन्य लोग अनन्त व्यापक आत्मा के रूप में मानते हैं। बाह्य वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखा जा सकता, केवल ज्ञान में बहुविध रूप के अर्थ को सिद्ध करने के लिए परोक्ष अनुमान से जाना जाता है। संज्ञान विशेष (निश्चित संज्ञान) सत्य है परन्तु संस्कार क्षणिक हैं (क्षणिकाः सर्वसंस्काराः) रंग, रूप, स्पर्श, गंध एवं स्वाद इन सबके अणु प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। शब्दों का अर्थ, जिस अर्थ की विवेक्षा होती है उसके अतिरिक्त सभी शब्दों का निषेध भी करता है। अर्थात् प्रत्येक शब्द का अर्थ निषेधात्मक है (अन्यापोहः शब्दार्थः)। इसी प्रकार सत् ध्यान की प्रक्रिया से, "आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है" ऐसा सोचते हुए जब संसार के प्रति ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है अर्थात् बोध ज्ञान का विनाश हो जाता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

विभाज्जवादी सौत्रांतिक और वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवादी दर्शनों में काल के विषय में विशेष विभेद पाया जाता है। काल अथवा समय की भावना बौद्ध दर्शन का एक विशेष रोचक अंग है। अभिधम्मकोष (पांचवा अध्याय, पृ० २४) में लिखा है कि सर्वास्तिवादी यह मानते हैं कि भूत, वर्तमान और भविष्य में प्रकृति की सभी वस्तुओं का शाश्वत अस्तित्व है। विभज्जवादी मानते हैं कि भूत व वर्तमान के वे सब तत्व जो अपना कार्य समाप्त नहीं कर सके हैं अथवा जिनका पूर्ण निरूपण, विकास अथवा फलन नहीं हो पाया है वे सब विद्यमान हैं; परन्तु जिन तत्वों ने पूर्णता प्राप्त

[1] गुणरत्न द्वारा लिखी हुई तर्क रहस्यदीपिका, पृ० ४६-४७।

कर अपना कार्य समाप्त कर दिया है उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और भविष्य में उनकी कोई स्थिति नहीं रहती अर्थात् सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के तत्व उत्पन्न होते है, पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं और फिर समाप्त हो जाते हैं। इस दर्शन की चार प्रशाखाएँ है जिनके प्रतिनिधि धर्मत्रात, घोप, वसुमित्र और बुद्धदेव हैं। धर्मत्रात के अनुसार एक तत्व जब विभिन्न कालों में प्रवेश करता है तो इसके अस्तित्व में परिवर्तन हो जाता है परन्तु सत्य रूपेण वह स्थित रहता है जैसे दूध का जब दही बन जाता है अथवा स्वर्ण पात्र टूट जाता है तो इसका बाह्य रूप बदल जाता है परन्तु तत्व रूप वही रहता हैं। घोप के मतानुसार जब एक तत्व विभिन्न कालों में प्रकट होता है तब भूतकाल का तत्व अपने पूर्व रूप में स्थित रहता है और इसका भविष्य और वर्तमान से भी सम्बन्ध विच्छेद नहीं रहता। इसी प्रकार वर्तमान में जो तत्व दिखाई देता है वह भूत व भविष्य दोनों में अपनी स्थिति रखता है। अर्थात् प्रत्येक तत्व की स्थिति, भूत, वर्तमान और भविष्य में विद्यमान रहती है। रूप में परिवर्तन सम्भाव्य है। जैसे एक मनुष्य किसी स्त्री के साथ घनिष्ठ प्रेम होते हुए भी भविष्य में किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करने की क्षमता को नहीं खो देता। वसुमित्र के अनुसार किसी वस्तु का वर्तमान, भूत और भविष्य, क्रमशः क्षमता की उत्पत्ति, उसकी समाप्ति और क्षमता की उत्पत्ति उस समय न होकर भविष्य में होने की अवस्था पर निर्भर करता है अर्थात् यदि क्षमता पूर्व काल में उत्पन्न हो चुकी है वह उस वस्तु का भूतकाल है। यदि क्षमता की स्थिति विद्यमान है तो वह वर्तमान है और यदि वस्तु विशेष की क्षमता की उत्पत्ति अभी नही हुई परन्तु होने की सम्भावना है तो वह उसका भविष्य है। बुद्धदेव के अनुसार जिस प्रकार एक ही स्त्री माता, पुत्री और पत्नी कही जाती है उसी प्रकार एक ही वस्तु में पूर्व क्षणों के अथवा आने वाले क्षणों के सम्बन्ध के अनुसार वर्तमान, भूत और भविष्य का बोध होता है।

ये सारी दर्शन शाखाएँ किसी न किसी अर्थ में सर्वास्तिवादी हैं क्योंकि ये सभी एक व्यापक अस्तित्व को मान्यता प्रदान करती हैं। परन्तु वैभाषिक वसुमित्र के मत के अतिरिक्त सभी मतों में विकार मानते हैं। धर्मत्रात का दर्शन सांख्य सिद्धान्त का ही अस्पष्ट रूप है। घोप का मत एक काल में एक अस्तित्व के सभी रूपों की स्थिति एक साथ मानकर चलने से काल की इस भावना को एकदम अस्पष्ट कर देता है जिसके कारण इसको समझना कठिन हो जाता है। बुद्धदेव का मत भी एक ऐसी असम्भव कल्पना है जिसमें तीनों काल एक साथ एक ही समय एक ही वस्तु में समाविष्ट कर दिए गए हैं। वैभाषिक वसुमित्र के मत को स्वीकार करते हैं और ऐसा मानते हैं कि किसी भी काल का अन्तर किसी भी सत्ता के कार्यों के भेद पर निर्भर करता है। कोई भी सत्ता जब तक अपने कार्य का कार्य प्रारम्भ नहीं करती है तब तक वह भविष्य के गर्भ में होती है जब वह अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है तो इसका वर्तमान होता है

और कार्य की समाप्ति हो जाने पर इसका भूतकाल हो जाता है। इस प्रकार भूत व भविष्य का अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना वर्तमान का। उनके अनुसार यदि भूत की स्थिति नहीं होती अथवा भूतकाल में किसी कार्यक्षमता का प्रारम्भ नहीं होता तो यह ज्ञान की परिधि में भी नहीं आता अर्थात् इसका ज्ञान ही नहीं होता और पुनः भूतकाल में किए हुए किसी भी कार्य का फल वर्तमान में प्राप्त नहीं होता। सौत्रांतिकों के मतानुसार वैभाषिकों का यह सिद्धान्त धर्म-विरोधी है क्योंकि यह शाश्वत अनन्त अस्तित्व को स्वीकार करता है। उनके मतानुसार वस्तु अपनी सत्ता को नहीं खोती केवल काल-परिवर्तन से रूपान्तर हो जाता है। उनके अनुसार सही दृष्टिकोण यह है कि किसी भी सत्ता की क्षमता, सत्ता तथा उस वस्तु के प्रकट होने का समय इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। कोई भी वस्तु अथवा पदार्थ अनस्तित्व (स्थितिहीनता) से उत्पन्न होती है। कुछ समय के लिए उसका अस्तित्व रहता है और फिर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वैभाषिक शाखा के इस मत से वे सहमत नहीं हैं कि भूत के अस्तित्व को विशेष रूप से इसलिए माना जावे कि वह उस समय वर्तमान के लिए क्षमता की उत्पत्ति का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् भूतकाल में यदि किसी क्रिया का प्रारंभ नहीं होता तो वर्तमान में उसकी स्थिति सम्भव नहीं होती। परन्तु सौत्रांतिकों के अनुसार यदि यही स्थिति सत्य है तो भूतकाल और वर्तमान में कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि क्षमता की उत्पत्ति के लिए दोनों ही एक समान महत्व रखते हैं। यदि भूत, वर्तमान और भविष्य का अन्तर केवल किसी वस्तु की क्षमता के स्तर पर निर्भर करता है तो फिर हमको भूत, वर्तमान आदि की स्थिति को निरंतर अनन्त काल तक मानते रहना पड़ेगा और इस विचित्र शृंखला का कहीं अन्त नहीं होगा। हमको जिन वस्तुओं की सत्ता निरुद्ध हो गयी है और जिन वस्तुओं की सत्ता अवस्थित है इन दोनों का भान होता ही है। भूत के हमारे ज्ञान का अर्थ यह नहीं है कि भूत किसी प्रकार का प्रभाव क्षमता के हेतु इस समय डाल रहा है। यदि हम किसी पदार्थ की सत्ता और क्षमता के बीच अन्तर मान लें तब यह समझना कठिन हो जायगा कि किसी वस्तु विशेष की क्षमता का प्रारम्भ कब और क्यों हुआ और किस कारण किस समय समाप्त हो गया। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि किसी वस्तु व उसके गुण में कोई अन्तर नहीं है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पदार्थ, उस पदार्थ की क्षमता अथवा गुण और उसके अस्तित्व का गुण, ये तीनों एक ही हैं। (अर्थात् वस्तु की स्थिति ही उसका काल है और उसके गुण धर्म द्वारा ही उस वस्तु की सत्ता का अस्तित्व है)। जब हम किसी वस्तु की स्मृति करते हैं तब हम यह नहीं जानते कि यह किस भूतकालिक समय में रही थी। हम इसको उसी अवस्था में जानते हैं जिस समय उस अवस्था में यह विद्यमान थी। हम पूर्ववर्ती वासनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं देते हैं जैसाकि वैभाषिक बताते हैं। लेकिन ये

वासनाएँ अपनी अस्पष्ट छाप छोड़ जाती हैं। इसके कारण वर्तमान में नई वासनाओं का जन्म होता है।[1]

वसुबंधु ने अभिधर्मकोष में आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें वत्सीपुत्रीय और सर्वास्तिवादी मतों की एक झलक मिल सकती है। वसुबन्धु के अनुसार यह सत्य है कि इन्द्रियों के द्वारा हमें प्रकृति का ज्ञान होता है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मा की कोई स्थिति है। यदि आत्मा वास्तविक रूप में विद्यमान है तो पंचभूतों से अथवा व्यक्तिगत जीवन की सत्ता से इसका अलग अस्तित्व होना चाहिए। फिर यदि कोई अनन्त अपरिवर्तनशील और जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है ऐसी कोई वस्तु है भी, तो वह अर्थहीन है क्योंकि उसकी कोई व्यावहारिक क्षमता नहीं हो सकती (अर्थ क्रियाकारित्व) जिसके कारण ही किसी वस्तु के अस्तित्व का पता हमें चलता है। अतः आत्मा का अस्तित्व नाम मात्र के रूप में है। यह केवल शाब्दिक प्रयोग है। आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। केवल व्यक्तिगत जीवन के कुछ तत्व अवश्य है। इसके विपरीत, वत्सीपुत्रियों के अनुसार अग्नि जब काष्ठ को जलाती है तब यह भेद करना कठिन है कि जलता हुआ काष्ठ अग्नि से भिन्न है परन्तु अग्नि का अपना स्वयं एक अस्तित्व है जो काष्ठ से अलग है। इसी प्रकार आत्मा का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। इसका अलग व्यक्तित्व है। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन के तत्वों से प्रभावित होने के कारण इसका अस्तित्व व्यक्तिगत तत्वों से किस प्रकार पूर्णतः अलग निकाल कर देखा जाए यह कठिन है इसीलिए यह जीवन तत्वों से भिन्न है या अभिन्न इसकी विशिष्ट परिभाषा करना कठिन है। लेकिन इसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। किसी भी कार्य के लिए यह आवश्यक है कि उस कार्य को करने वाला कोई कर्ता होना चाहिए। उदाहरण के लिए "देवदत्त चलता है" इस वाक्य मे। इसी प्रकार किसी वस्तु का संज्ञान भी एक क्रिया है। उसके होने के लिए यह आवश्यक है कि संज्ञान का कर्ता भी कोई हो जिसको कि यह ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान और जिसको यह ज्ञान होता है ये दोनों पृथक् पृथक् हैं। इस तर्क का उत्तर वसुबंधु इस प्रकार देते हैं। देवदत्त (व्यक्ति विशेष का नाम) का एक इकाई के रूप में अस्तित्व नहीं है। यह क्षणिक शक्तियों के अनन्त प्रवाह का एक क्षण है (जो अस्तित्व के रूप में प्रकट होता है) जिसको साधारण लोग (अज्ञानी) एकात्मक सत्ता के रूप में मानते हुए देवदत्त नाम रख देते हैं। 'देवदत्त चलता है' उनका यह विश्वास अपने अनुभव के आधार पर अनुबन्धित व (कन्डीशन्ड) है। कृत्रिम साम्यानुमान के कारण हैं। परन्तु उनके स्वयं के जीवन का प्रवाह एक स्थान से दूसरे

---

[1] उपर्युक्त संदर्भ में पेट्रोग्राड निवासी प्रो० श्चेरबात्स्की के द्वारा अनुवादित अभिधम्म-कोष के आधार पर विवरण दिया गया है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसके प्रयोग के लिए मैं प्रोफेसर महोदय का आभारी हूं।

स्थान की ओर गतिशील है। यह गतिशीलता एक शाश्वत अस्तित्व के रूप में समझी जाती है लेकिन वस्तुतः विभिन्न स्थानों में हर बार हुई नवीन उत्पत्तियों की एक शृंखला या सातत्य मात्र है। इस प्रकार 'अग्नि जलती है' अथवा 'फैलती है' जैसे पदों से विभिन्न अस्तित्वों के एक प्रवाह का अर्थ होता है (नए स्थानों पर नई उत्पत्तियों का प्रवाह)। इसी प्रकार यह पद कि 'देवदत्त देखता है' केवल इस तथ्य का सूचक है कि यह संज्ञान वर्तमान के इस क्षण में होता है जिसका एक कारण है जो पूर्ववर्ती क्षणों में उत्पन्न होता है और इन पूर्वकालिक क्षणों के एक दूसरे के निकट प्रवाह के रूप में आने के कारण उस संज्ञान के कारण को देवदत्त संज्ञा दी जाती है।

स्मृति की समस्या से भी कोई कठिनाई नहीं होती। चेतना का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है उसके सम्बन्ध में पूर्वज्ञान होने से उसकी स्मृति-चेतना जागृत होती है। यह चेतना उस ओर ध्यान देने की अवस्था और चेतना को नष्ट करने वाले दूसरे तत्वों के न होने पर निर्भर है जैसे शरीर में कष्ट, शूल आदि। स्मृति के व्यापार के लिए किसी अन्य कारक अथवा अभिकर्ता की आवश्यकता नहीं है। इस स्मृति के लिए केवल मस्तिष्क की उचित अवस्था की आवश्यकता है। जब भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन और जन्म के सम्बन्ध में कथाएँ सुनाते हुए यह कहा कि अमुक जन्म में वे अमुक रूप में थे तब उनका तात्पर्य यह था कि विभिन्न जन्मों में उनका अस्तित्व विभिन्न क्षणिक अस्तित्वों के एक ही प्रवाह का सातत्य था अर्थात् उनके वर्तमान और पहले हुए जन्मों की शृंखला एक थी। जब हम यह कहते हैं कि अग्नि जलते हुए इस वस्तु तक पहुँच गई है तभी हम यह जानते हैं कि अग्नि दो स्थानों पर एकसी नहीं है। अलग-अलग दो क्षणों में इसका अस्तित्व अलग-अलग है परन्तु फिर भी वास्तविकता में हम इस अन्तर की ओर ध्यान नहीं देते और हम यह मानते हैं कि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, यह वही अग्नि है और यही वास्तविक सत्य है। इसी प्रकार से हम जब किसी एक व्यक्ति के बारे में कुछ कहते हैं तो उस व्यक्ति को हम उसके जीवन के विभिन्न क्रियाओं के प्रवाह से ही पहिचानते हैं। जैसे यह भद्र पुरुष, जिसका यह नाम है, जो अमुक जाति, अवस्था या परिवार का व्यक्ति है, ऐसे भोजन व ऐसे कार्यों में रुचि लेता था जो इस अवस्था में मर जाएगा।" केवल उसके नाम धाम आदि के वर्णन से हम व्यक्ति विशेष को जान सकते हैं लेकिन वास्तविक व्यक्ति से हमारा कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं होता। जो कुछ हम देखते हैं वे रूप, अनुभव आदि के क्षणिक तत्व होते हैं और ये तत्व आगे आने वाले तत्वों पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार एक व्यष्टि या इकाई का अस्तित्व तो केवल नाम मात्र का अस्तित्व है, कल्पना की वस्तु है, जिससे वास्तविकता में कोई परिचय नहीं है। इस व्यक्ति को इन्द्रियों से अथवा बुद्धि के व्यापार से नहीं माना जा सकता हम केवल बाह्य आवरण को पहचानते हैं। दूसरे क्षेत्रों से उदाहरण लेने से यह स्पष्ट हो जाता है।

जैसे हम दूध नाम की संज्ञा का प्रयोग करते हैं तब हम रूप रस आदि के गुणों के वर्णन द्वारा ही दूध को समझते है। वह वस्तु जिसका क्षणिक रूप से अस्तित्व है वह केवल रंग, रूप और रस हैं उन सबके समुदाय को दूध का नाम देना कल्पना मात्र ही है। "जिस प्रकार दूध व जल रूप, रस, गन्धादि के तत्वों के समुच्चय की केवल संज्ञा मात्र है इसी प्रकार व्यक्ति भी एक संज्ञा मात्र है जो विभिन्न तत्वों के समुच्चय मात्र का बोध कराती है।"

बुद्ध ने इसीलिए इस प्रश्न को कभी सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया कि जो जीवन तत्व है वह शरीर से भिन्न है अथवा एक ही है क्योंकि किसी जीवित सत्ता का व्यक्ति या अलग इकाई के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है जैसा कि सामान्यतः माना जाता है। किन्तु उसने यह भी नहीं कहा कि प्राणी का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि तब प्रश्नकर्ता यह समझता कि जीवन के तत्वों के सातत्य का भी कोई अस्तित्व नहीं माना जा रहा। वास्तविक सत्य यह है कि यह जीवित अस्तित्व नित्य परिवर्तन होते हुए कुछ तत्वों के योग का परम्परागत नाम ही है।[1]

सम्मितीय शाखा की पुस्तक सम्मितीय शास्त्र का अनुवाद चीनी भाषा में सन् ३५० से ४३१ के बीच में हुआ है। इस शाखा का और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और सम्भवतः इस शाखा का मूल ग्रन्थ अब लुप्त हो गया है। दीप वंश के पांचवे अध्याय ४७वें पृष्ठ के आधार पर तकाकुसु महोदय ने बताया है कि वैभाषिक और सर्वास्तिवादी लगभग एक ही शाखा के नाम हैं। थेरवाद दर्शन की एक शाखा महीशासक की प्रशाखा के अन्तर्गत वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवादी माने जाते हैं।[2]

---

[1] प्रो० श्चेरबात्सकी (बुलेटिन दे ल अकादमी दे साइंस दे रूसे, १९१९) ने अभिधर्मकोष के आठवें अध्याय के एक विशिष्ट परिशिष्ट का अनुवाद किया है। इस परिशिष्ट का नाम "अष्टमकोशस्थाननिबद्धः पुद्गलविनिश्चयः" है। उपर्युक्त वर्णन इस परिशिष्ट के आधार पर है।

[2] प्रो० डीला वेल्ली पूसीं ने इस सिद्धान्त के ऊपर एक लेख सम्मितीय शाखा के ऊपर लिखा है (ई. आर. ई.)। उसमें उन्होंने बताया है कि 'अभिधम्मकोश व्याख्या' में सम्मितीय और वात्सीपुत्रीय शाखाओं को एक ही माना गया है। वैभाषिकों ने इनके दर्शन के बहुत से शास्त्रों को आगे चलकर अपना लिया था। उनके दर्शन के कुछ विचार इस प्रकार हैं: (१) जिस अर्हत को निर्वाण प्राप्त हो गया है वह पदच्युत भी हो सकता है। (२) मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच में एक अवस्था है जिसको अन्तराभव कहते हैं। (३) पुण्य केवल त्याग से ही प्राप्त नहीं होता (त्यागान्वय)। परन्तु प्राप्त हुई वस्तुओं के उपयोग तथा लाभ आदि से प्राप्त होता है (परिभोगान्वयपुण्य)। (४) अशुभ कर्मों के न करने से ही अथवा केवल

कथावत्थु के आधार पर हमें पता चलता है : (१) सब्बात्थिवादी (सर्वास्तिवादी) यह विश्वास रखते थे कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है। अर्हत् तत्व का उदय एक क्षणिक आन्तरिक प्रकाश की चमक नहीं है वरन् इसकी प्राप्ति के लिए शनैः शनैः सतत प्रयत्न करना पड़ता है। (२) ज्ञान अथवा समाधि एक प्रवाह है। (३) यह सम्भव है कि अर्हत् अपने पद से पथभ्रष्ट हो जाए अथवा वह निम्न श्रेणी को प्राप्त हो जाए।[1] थेरवाद दर्शन के अभिधम्म साहित्य से सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म साहित्य में जो चीनी भाषा के अनुवादों में मिलता है काफी भिन्नता है।[2] सर्वास्तिवादियों के लिए ये ग्रन्थ इस प्रकार है : (१) कात्यायनीपुत्र द्वारा लिखित ज्ञान प्रस्थान शास्त्र जिसका कालान्तर में नाम महाविभाषा हुआ। जो सर्वास्तिवादी इस ग्रन्थ को मान्यता देते हैं वे वैभाषिक के रूप में जाने जाते हैं।[3] इस ग्रन्थ को साहित्य का स्वरूप अश्व घोष ने दिया। (२) शारिपुत्र द्वारा लिखा हुआ धर्मस्कन्ध (३) पूर्ण लिखित धातुकाय (४) प्रज्ञप्तिशास्त्र (प्रज्ञप्तिशास्त्र) लेखक: मौद्गल्यायन (५) विज्ञानकाय: लेखक

संयम से ही पुण्य प्राप्त नहीं होता परन्तु ऐसा करने की इच्छा मात्र से और उस निश्चय की घोषणा मात्र से भी पुण्य की प्राप्ति होती है। (५) उनके अनुसार पुद्गल (आत्मा) स्कन्धों से भिन्न एक वस्तु है। पुद्गल को अनित्य नहीं कहा जा सकता लेकिन स्कन्ध अनित्य है क्योंकि ये अपने भार को एक स्थान पर छोड़कर दूसरा भार ग्रहण करने के लिए पुनर्जन्म लेते रहते हैं। इनको नित्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि ये तत्व क्षणिक हैं। सम्मितीय शाखा के पुद्गल सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है वह गुणरत्न की शाखा से मेल नहीं खाती।

[1] मिसेज राइज डेविड्स के द्वारा किया हुआ कथावत्थु का अनुवाद देखिए, पृ० सं० १९ और उपखंड १/९/७, दूसरा अध्याय ९ और ११वां अ० उपखंड ६।

[2] सर्वास्तिवाद के लिए 'महाव्युत्पत्ति' ग्रन्थ दो नाम देता है–(१) मूल सर्वास्तिवाद (२) आर्य सर्वास्तिवाद।-इत्सिंग (सन् ६७१ से ६९५ ई०) आर्य मूल सर्वास्तिवाद और मूलसर्वास्तिवाद का उल्लेख करते है। उनके समय में ये दर्शन, मगध, गुजरात सिंध, दक्षिण भारत और पूर्व भारत में पाया जाता था। डा० तकाकुसु महोदय कहते है–(पी० टी० एस० १९०४ और १९०५) में परमार्थ ने वसुबंधु की जीवनी के सम्बन्ध में लिखते हुए उल्लेख किया है कि वसुभद्र नामक बौद्ध भिक्षु ने काश्मीर में अध्ययन किया और वहां से इसका प्रचार मध्य भारत तक हुआ।

[3] तकाकुसु (पी० टी० एस० १९०४-१९०५) कहते हैं कि कात्यायनी पुत्र का ग्रन्थ सम्भवत: अन्य विभाषा ग्रन्थों का संकलन मात्र है। ये विभाषा ग्रन्थ चीनी अनुवाद और ३८३ सन् में प्राप्त होने वाले विभाषा शास्त्रों से पूर्वतर होने चाहिए।

देवक्षेम (६) संगीति पर्याय: लेखक शारिपुत्र एवं प्रकरणपाद: लेखक वसुमित्र। वैभाषिक[1] दर्शन के ऊपर वसुबंधु (४२० से ५००) ने पद्यों में एक कारिका ग्रन्थ लिखा जिसका नाम अभिधर्मकोष है। इस ग्रन्थ के साथ उन्होंने एक टीका भी सम्मिलित की जिसको "अभिधर्मकोष-भाष्य" के नाम से जाना जाता है इसमें वैभाषिक शाखा और सौत्रांतिक शाखा के मतों में कुछ विभेदों का उल्लेख किया गया है।[2] इस शास्त्र की व्याख्या वसुमित्र और गुणमति ने की और उसके पश्चात् यशोमित्र ने इसकी टीका लिखी जो स्वयं सौत्रांतिक थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'अभिधर्मकोष-व्याख्या' रखा। वसुबंधु के समकालीन संघभद्र ने 'समय प्रदीप' एवं 'न्यायानुसार' वैभाषिक दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे इनके अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य वैभाषिक लेखकों का वर्णन मिलता है जैसे धर्मवात घोषक, वसुमित्र और भदन्त जिन्होंने 'सम्म्युत्त अभिधर्मशास्त्र' और 'महाविभाषा' ग्रन्थ लिखेहैं। दिङ्नाग (सन् ४८०) अपने युग के प्रसिद्ध तार्किक थे। ये वैभाषिक अथवा सौत्रांतिक मत को मानने वाले थे और वसुबन्धु के ख्यातिप्राप्त शिष्यों में से एक थे। इन्होंने 'प्रमाण समुच्चय' नाम का ग्रन्थ लिखकर बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या की और न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्सायन के मत का खंडन किया लेकिन खेद यह है कि इनमें से कोई भी ग्रन्थ संस्कृत में नहीं मिलता। इन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी अथवा तिब्बती भाषा से किसी भी पाश्चात्य अथवा भारतीय भाषा में नहीं किया जा सका है।

प्रसिद्ध जापानी विद्वान् यामाकामी सोजिन ने जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे सब्वात्थिवादी सिद्धान्तों का वर्णन चीनी ग्रन्थों के आधार पर किया है। उन्होंने अभिधम्मकोष और महाविभाषा शास्त्र का चीनी भाषा में अध्ययन किया है।[3] इनके द्वारा प्रस्तुत वर्णन के आधार पर इन सिद्धान्तों की रूप रेखा संक्षेप में इस प्रकार से है।

सब्वात्थिवादी निम्न तत्वों को स्वीकार करते हैं: पंचस्कन्ध, बारह आयतन, अठारह धातु, तीन असंस्कृत धर्म–प्रति-सांख्य-निरोध, अप्रतिसांख्य निरोध एवं आकाश, और संस्कृत धर्म (वे तत्व जो एक दूसरे पर निर्भर या यौगिक हैं) जैसे रूप, प्रकृति तत्व, चित्त, चैत्त (चित्त सम्बन्धी) और चित्त-विप्रयुक्त (जो चित्त से सम्बन्ध नहीं रखते)।[4] सारी घटनाएँ अनेक कारणों के योग (संस्कृत) से घटित होती हैं। पाँच

---

[1] ताकाकुसु का लेख रोयल एशीयाटिक सोसायटी के १८०५ के जरनल में देखिए।

[2] वैभाषिक अभिधर्म्म ग्रन्थों को सौत्रांतिक मान्य नहीं समझते थे। वे सुत्तपिटक में दिए हुए सुत्तंत (सूत्रान्त) सिद्धान्तों के ऊपर बल देते थे।

[3] सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट: कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

[4] शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२) में सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्त का संकेत करते हुए, सोजिन द्वारा सूचित कुछ तत्वों का उल्लेख किया है।

स्कन्ध–रूप, चित्त आदि संस्कृत धर्म कहे जाते हैं क्योंकि इनका एक दूसरे से मूल सम्बन्ध है (संभूयकारी)। रूप, धर्म, संख्या में ग्यारह हैं। चित्त धर्म एक है। चैत्त धर्म छियालीस और चित्त-विप्रयुक्त संस्कार धर्म (चित्त से सम्बन्ध न रखने वाली यौगिक वस्तुएँ) चौदह हैं। इनमें तीन असंस्कृत धर्म जोड़ने से ७५ धर्म जाते जाते हैं। रूप वह है जिन पर इन्द्रिय चेतनाओं का संघात होता है। रंग, गंध, स्पर्श एवं रस इन चार तत्वों से मिलकर बनी हुई अंगीय संरचना, रूप, अथवा प्रकृति (द्रव्य उपादान) के रूप में मानी गई है। सरल शब्दों में रूप वह जड़ उपादान है जो रूप, रंग, रस, गंध, स्पर्श आदि के संयोग से बना हुआ है। इन चारों वस्तुओं के योग से बनी हुई इकाई के परमाणु को विभाजित नहीं किया जा सकता न इसको अलग किया जा सकता है न इसको फेंका जा सकता है। यह अविभाज्य है, इसका विश्लेपण नहीं हो सकता। इसको देखा या सुना नहीं जा सकता। यह स्वादहीन है एवं अमूर्त है। लेकिन यह फिर भी स्थायी नहीं है। एक क्षणिक चमक के समान इसका अस्तित्व क्षणिक है। साधारण अंग द्रव्य परमाणु कहलाते हैं और यौगिक संघात परमाणु कहलाते हैं। प्रो० श्चेरबात्स्की के अनुसार "द्रव्य के व्यापक तत्व उनकी क्रियाओं में अथवा कार्यों में स्पष्ट होते हैं अत: इनको द्रव्य के स्थान पर ऊर्जा कहना अधिक उचित होगा।" चेतना की इन्द्रियाँ भी अणु तत्व के आधार पर बनी हुई मानी गई हैं। सात परमाणु से मिलकर एक अणु बनता है और इन परमाणुओं के मिलने पर जो अणु बनता है केवल उसे ही देखा जा सकता है। यह योग ऐसे समूह के रूप में बनता है जिसमें एक अणु केन्द्र में एवं अन्य अणु उसके चारों ओर होते हैं। इन द्रव्य उपादानों के सम्बन्ध में यह बात याद रखने की है कि महाभूतों के सारे गुण परमाणुओं में निहित हैं। प्रत्येक तत्व में सभी महाभूतों के गुण जैसे तरलता, उष्णता, प्रवाह और ठोस जड़ता विद्यमान रहती है जो क्रमश: जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी की विशेषता है। विभिन्न तत्वों में केवल इतना ही अन्तर है कि इनमें से प्रत्येक में कोई एक गुण विशिष्ट होता है और अन्य गुण अज्ञात रूप में विद्यमान रहते हैं। सभी द्रव्यों का एक दूसरे से प्रतिरोध इसलिए रहता है, क्योंकि सभी तत्वों में पृथ्वी तत्वों का ठोसपन विद्यमान है। एक दूसरे से पारस्परिक आकर्षण का कारण जल तत्व की तरलता है आदि आदि। इन चार भूतों को तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। (१) वस्तु विशेप, (२) उनके गुण अथवा प्रकृति जैसे तरलता आदि। (३) उनकी क्रिया जैसे धृति अथवा आकर्षण संग्रह, मेल, पंक्ति रासायनिक ऊष्मा और व्यूहन (समूह में एकत्रित होना)। ये अन्य अवस्थाओं अथवा कारणों के कारण स्वाभाविक रूप से एकत्रित होते हैं। वैभाषिक सर्वास्तिवादियों में और बौद्ध दर्शन के अन्य मतों में विशेप अन्तर यह है कि सर्वास्तिवादी पंच स्कन्ध और द्रव्यों को शाश्वत और स्थायी मानते हैं। वे क्षणिक केवल इस दृष्टि से माने जाते हैं कि वे अपने स्वरूप का निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं क्योंकि इनके विभिन्न संयोग बनते रहते हैं। अविद्या

प्रतीत्यसमुत्पाद की कारण-शृंखला की एक कड़ी के रूप में नहीं मानी जाती है। यहाँ यह अज्ञान व्यक्ति विशेष का नहीं माना जाता वरन् यह अज्ञान मोह का ही अंग माना जाता है जिसके अन्तर्गत यह मोह प्रकृति की एक अन्तिम दशा के रूप में माना गया है। यह अविद्या जो व्यक्ति विशेप मे संस्कारों के माध्यम से नाम रूप की उत्पत्ति करती है उसके वर्तमान अस्तित्व में उत्पन्न अविद्या नहीं परन्तु पूर्ववर्ती अस्तित्व की अविद्या है जिसका फल वर्तमान में मिलता है।

"कारण तत्व का कभी नाश नहीं होता। केवल इसके नाम में (संज्ञा) में परिवर्तन हो जाता है जब यह कारण से अपनी स्थिति को बदल कर क्रिया बन जाता है।" उदाहरण के लिए मिट्टी से घड़ा बन जाता है और इस दशा के परिवर्तन-स्वरूप मिट्टी नाम का लोप होकर घड़ा (घट) नाम की उत्पत्ति हो जाती है।[१] कारण और कार्य के एक साथ करने की स्थिति को सर्वास्तिवादी केवल उन वस्तुओं के लिए मानते थे जो समयौगिक वस्तुएँ हैं (सम्प्रयुक्त हेतु) और उन अवस्थाओं में मानते थे जिसमें चेतन और पार्थिव पदार्थो की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है। चेतना (विञ्ज्ञान) का मूल आभ्यन्तर तत्व स्थायी वस्तु माना जाता था और पंचेन्द्रियों की सामूहिक चेतना के रूप में समझा जाता था जो सभी वस्तुओं का संज्ञान प्राप्त करता है। यह स्मृति में रखने योग्य है कि इन्द्रियां पार्थिव होने के कारण उनका एक स्थायी मूल आन्तरिक स्तर अलग से माना जाता था और उनके द्वारा उद्भूत चेतनाओं के समूह का स्तर भी भिन्न था।

दृष्टि-चेतना, चार मुख्य रंग एवं उनके मिश्रणों को ग्रहण करती है। ये चार रंग नीला, पीला, लाल और श्वेत है। इसके अतिरिक्त बाह्य दृष्टि से पहिचाने जाने वाले पार्थिव रूप को भी ग्रहण करती है जिसे संस्थान की संज्ञा दी है। यह बाह्य रूप लम्बा, छोटा, गोल, चौकोर, ऊँचा, नीचा, सीधा, टेढ़ा आदि पार्थिव रूप हैं। स्पर्श चेतना (कायेन्द्रिय) भी चार तत्वों (भूतों) से बने पदार्थों के संस्पर्श में आती है। यह हलका, भारी, नरम, कड़ा, साफ, खुरदरा, भूख व प्यास की चेतना को ग्रहण करती है। यह गुण, इन्द्रिय संवेदना वाले व्यक्तियों में भूख प्यास आदि के द्वारा उत्पन्न अनुभूतियों को प्रकट करती है। जब वायु का अन्य शक्तियों के ऊपर प्राधान्य होता है तब शरीर में हुई उत्तेजना के फलस्वरूप भूख की अनुभूति होती है और जब अग्नि अथवा तेज का प्राधान्य होता है तब प्यास की अनुभूति होती है। इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों की चेतना को ग्रहण करने के पश्चात् विञ्ज्ञान की उत्पत्ति करती है। पंचेन्द्रियों के माध्यम के बिना पंच विज्ञान बाह्य वस्तुओं को देखने में असमर्थ रहते हैं। इन्द्रियों

---

[१] यह उद्धरण माध्यमिक शास्त्र अध्याय २० कारिका ६ की टीका जो आर्यदेव ने लिखी है उसके चीनी अनुवाद से सोजिन महोदय द्वारा उद्धृत है।

का तत्व पार्थिव है। प्रत्येक इन्द्रिय के दो उप भाग हैं जिनको मुख्य चेतना एवं गौण चेतना के रूप में कह सकते हैं। मुख्य चेतना परमाणुओं के योग के आधार पर स्थित है। ये परमाणु शुद्ध एवं सूक्ष्म रूप में रहते हैं। गौण चेतना का आधार स्थूल शरीर एवं अन्य पदार्थ हैं। ये पंच चेतनाएँ एक दूसरे से आण्विक योग से बने हुए पदार्थों के स्वरूप, गुण धर्मादि के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करती हैं। चेतना का जितना व्यापार है उसमें जैसे ही एक क्रिया सम्पूर्ण होती है उस चेतना की सूक्ष्मतम छाप हमारे व्यक्तित्व पर अंकित हो जाती है जिसे हम अविज्ञप्ति रूप कहते हैं। इसको रूप इसलिए कहते हैं कि यह रूप सम्पर्क का फल है (रूप विशेष से संसर्ग में आने का फल है)। इसको अविज्ञप्ति इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह गुप्त और (निगूढ) अचेतन रूप से स्थित है। यह गुप्त शक्ति आगे पीछे चलकर कर्म फल के रूप में अपने आपको प्रकट करती है और इस प्रकार यह कर्म के कारण और क्रिया को मिलाने वाली संधि है। इस दर्शन के अनुसार कर्म दो प्रकार का माना जाता है–कर्म का मानसिक विचार (चेतन कर्म) और तदनुकूल वास्तविक क्रिया (चैतसिक कर्म)। यह चैतसिक कर्म पुनः दो प्रकार का होता है–(१) जो स्थूल शरीर की क्रिया के द्वारा सम्पादित होता है (कायिक कर्म) और (२) जो वचन द्वारा किया जाता है (वाचिक कर्म)। ये दोनों कर्म गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार से हो सकते हैं जिन्हें विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति संज्ञा दी गई है। पहले को कायिक विज्ञप्ति कर्म और कायिम अविज्ञप्ति कर्म तथा दूसरे को वाचिक विज्ञप्ति कर्म और वाचिक अविज्ञप्ति कर्म कहते हैं। अविज्ञप्ति रूप और अविज्ञप्ति कर्म को हम आधुनिक भाषा में अर्ध-चेतन (अवचेतन) विचार, अनुभूति एवं क्रिया कहते हैं। प्रत्येक चेतन अनुभूति, वेदना, विचार अथवा क्रिया के साथ-साथ ही उसी प्रकार की अवचेतन स्थिति है जो भविष्य के विचारों और क्रिया के रूप में प्रकट होती है। क्योंकि ये अवचेतन संस्कार गुप्त रहते हैं इसलिए इनको अविज्ञप्ति कहते हैं यद्यपि ये संस्कार उसी से मिलते जुलते होते हैं जिनको हम जानते हैं।

वसुबन्धु महोदय कहते हैं इसे चित्त की संज्ञा इसलिए दी गई है कि यह कर्म करने का संकल्प करता है (चेतति)। मानस संज्ञा इसलिए दी है कि वह करता है–(मन्वते) और विज्ञान इसलिए कि यह वस्तुओं के अन्तर को बताता है (निर्दिशति)। यह निर्देश अथवा विभेद इसलिए हो सकता है (१) स्वभाव निर्देश (स्वाभाविक रूप से वस्तुओं को देखकर उनके अन्तर को जानना)। (२) प्रयोग निर्देश (वर्तमान, भूत और भविष्य के सम्बन्ध में वास्तविक जानकार प्रयोग द्वारा रूप में विभेद करना विवेक करना)। (३) अनुस्मृति निर्देश (भूत के सम्बन्ध में स्मृति के आधार पर विवेक करना)। इन्द्रियों द्वारा केवल स्वभाव निर्देश सम्भव है। अन्य दो निर्देश मनोविज्ञान के क्षेत्र में आते हैं। प्रत्येक विज्ञान अपनी विशेष चेतना के द्वारा वस्तु विशेष के सम्बन्ध में विवेक करता है और उसके सामान्य गुण कर्म को पहिचानता है। इन ६

विज्ञानों के योग से विज्ञान-स्कन्ध बनता है जो मन का स्वामी है। चैत्त संस्कृत धर्म ४६ हैं। ३ असंस्कृत धर्मों में आकाश, बन्धन से मुक्ति को देने वाला तत्व है और यह स्थायी, सर्वत्र व्याप्त और अपार्थिव तत्व है। (निरुपाख्य, अरूप)। दूसरे असंस्कृत धर्म अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है कि प्रत्ययों (गुण अथवा अवस्था) की अनुपस्थिति में दूसरे कर्मों का ज्ञान नहीं होना। जैसे यदि किसी एक वस्तु पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान देने से अन्य वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं तो इसका कारण यह नहीं है कि वे विद्यमान नहीं हैं परन्तु कारण यह है कि उन स्थितियों का लोप हो जाता है जिनके कारण वह दिखाई देती है। तीसरा असंस्कृत धर्म प्रतिसंख्या-निरोध है जिसका अर्थ है बन्धन से अन्तिम मुक्ति। इसका मुख्य गुण स्थायित्व है। यह शाश्वत अवस्था है। इन धर्मों को असंस्कृत इसलिए कहते है क्योंकि इनका रूप निषेधात्मक है। ये संस्थिति रहित होते हैं अतः इनकी उत्पत्ति एवं विलीनता का पता नहीं चलता। इस स्थिति के लिए निम्न ८ गुण आवश्यक हैं। सम्यक् विचार, सम्यक् अभिलाषा, सम्यक् भाषा, सम्यक् आचरण, सम्यक् जीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् चित्त और सम्यक् आनन्द।[1]

महायान शाखा

यह कहना कठिन है कि महायान शाखा का प्रारम्भ कब हुआ लेकिन यह अनुमान किया जाता है कि थेरवाद शाखा से जब महासंघिक शाखा अलग हुई उस समय ये शाखाएँ ८ विभिन्न दर्शन शाखाओं में बंट गई। सम्भवतः इसी युग में महायान दर्शन का सूत्रपात हुआ। महायान दर्शन के अनेक ग्रन्थ पहली शताब्दी में लिखे हुए मिलते है। इससे पूर्व ईसा पूर्व तीसरी चौथी शताब्दी में लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व थेरवाद और महासंघिक शाखाएँ अलग हुई थीं। ये ग्रन्थ जो महायान सूत्र और वैपुल्य सूत्र नामों से जाने जाते हैं। बुद्ध द्वारा दिए हुए उपदेशों में मिलते हैं। इन सूत्रों के संकलनकर्ता अथवा लेखकों का कोई पता नहीं चलता है। ये ग्रन्थ सभी संस्कृत में लिखे हुए हैं और संभवतः उन विद्वानों ने लिखे होंगे जो थेरवाद शाखा से अलग हुए।[2]

---

[1] सोजिन महोदय एक बौद्ध हीनयान विचारक का उल्लेख करते हैं जिनका नाम हरिवर्मा है जो सन् २५० के आस-पास हुए हैं। इन्होंने सत्य सिद्धि शाखा की स्थापना की और उन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनका उपदेश नागार्जुन ने किया था। इनके कोई भी ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं परन्तु संस्कृत लेखकों ने उनके नाम का उद्धरण यत्र तत्र किया है।

[2] इन सूत्रों के उद्धरण नागार्जुन द्वारा लिखी हुई माध्यमिक कारिका की चन्द्रकीर्ति द्वारा लिखी हुई टीकाओं में मिलते हैं। जिनमें से मुख्य ये हैं–(१) अष्टसाहस्रिका

थेरवाद दर्शन की शाखाएँ हीनयान के नाम से सम्बोधित की गई हैं। इस प्रकार हीनयान महायान से विपरीत है। इन शब्दों का साधारण अर्थ छोटा वाहन है— हीन=छोटा, यान=गाड़ी और बड़े वाहन के रूप में महा=बड़ा, यान=गाड़ी। लेकिन इन शब्दों से महायान और हीनयान शब्दों की व्याख्या नहीं होती।[1] असंग सन् (४८०) अपने ग्रन्थ महायान सूत्रालंकार में महायान एवं हीनयान संज्ञाओं के सम्बन्ध में निर्देश करता है। उसके अनुसार उपदेश, प्रयत्न, निर्वाण और काल के दृष्टिकोण से हीनयान का स्थान महायान से निम्न है इसलिए इसको हीनयान कहा गया है। हीनयान दर्शन के अनुसार हीनयानवादियों का दृष्टिकोण केवल स्वयं निर्वाण प्राप्त करना है। महायानवादी सारे प्राणियों के निर्वाण का लक्ष्य रखते हैं। इस प्रकार हीनयान का लक्ष्य निम्न कोटि का है एवं उसके उपदेश आदि भी। हीनयानवादी मनुष्य का कार्य संकुचित है और इसलिए यह केवल तीन जन्मों में समाप्त किया जा सकता है इसके विपरीत महायानवादी श्रावकों का कार्य महान् और विशाल है और अनेक, अनन्त

प्रज्ञापारमिता (चीनी भाषा में अनुवाद सन् १६४, १६७ ई० में हुआ)। (२) शतसाहस्रिका प्रज्यापरिमिता, गगनगंजा, समाधि सूत्र, तथागत गुह्य सूत्र, दृढाध्या-शमसंचोदना सूत्र, ध्यायितमुष्टि सूत्र, पितापुत्रसमागम सूत्र, महायान सूत्र, मारदमन सूत्र, रत्नकूट सूत्र, रत्नचूड़ापरिपृच्छा सूत्र, रत्नमेघ सूत्र, रत्नराशि सूत्र, रत्नाकर सूत्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छा सूत्र, लंकावतार सूत्र, ललितविस्तर सूत्र, वज्रछेदिका सूत्र, विमलकीर्ति निर्देश सूत्र, शालिस्तम्भ सूत्र, समाधिराज सूत्र, सुखावमीव्यूह सवर्णप्रभास सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक (चीनी भाषा में सन् २५५ में अनुवादित) अमितायुर्ध्यान सूत्र, हस्तिकाख्य सूत्र आदि।

[1] यान शब्द का अनुवाद साधारण रूप से वाहन के रूप में किया गया है परन्तु इस सम्बन्ध में अनेक प्रसंगों और संदर्भों को देखने से पता चलता है कि इसका अर्थ मार्ग अथवा वृत्तांत है (देखिए ललितविस्तर, पृ० २५, ३८, प्रज्या परिमिता, पृ० २४, ३१९, समाधिराजसूत्र पृ० १, करूणापुंडरीक, पृ० सं० ६७, लंकावतारसूत्र, पृ० ६८, १०८,१३२) यह शब्द यान उपनिषदों में भी पाया जाता है, जहाँ देवयान, पितृयान शब्दों को पाते हैं। फिर उससे विभिन्न अर्थ में यहाँ यान शब्द को क्यों लिया जाए इसका कोई प्रमाण नहीं है। लंकावतार में श्रावकयान (श्रावक वृत्तांत) प्रत्येक बुद्धयान (बुद्ध के जन्म के पूर्व संतों की कथा), बुद्धयान (बुद्धों का वृत्तांत) एकयान (एक वृत्तांत) देवयान (देवताओं का आख्यान) ब्रह्मयान (ब्रह्मा का वृत्तांत) तथागतयान (तथागत का वृत्त) शब्दों में वृत्तांत ही इसका अर्थ है। एक स्थान पर लंकावतार में कहा है कि साधारणतया तीन वृत्तांतों में एक वृत्तांत में और कोई वृत्तांत न होने में भेद किया गया है लेकिन यहाँ यान शब्द का अर्थ जीवन-वृत्त से लिया है।

काल तक जन्म लेकर सारे प्राणियों के निर्वाण के लिए वे प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार थोड़े से समय के लिए जिनका कार्य क्षेत्र है उनको हीनयानवादी कहा गया है।

इसके अतिरिक्त भी महायान और हीनयान के मतों में एक दार्शनिक अन्तर पाया जाता है। महायान दर्शन के अनुसार संसार के सारे पदार्थ निस्सार, मायामय एवं थोथे हैं जबकि हीनयानवादी यह विश्वास करते थे कि संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक-मात्र हैं लेकिन इसके आगे उन्होंने कोई व्याख्या नहीं की।

कभी-कभी भ्रमवश ऐसा सोचा जाता है कि शून्यवाद सिद्धान्त का प्रचार सबसे पहले नागार्जुन ने किया। शून्यवाद से अर्थ सत्वहीनता और सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता से है। परन्तु वास्तव में महायान दर्शन के सारे ही सूत्र शून्यवाद का समर्थन करते हैं अथवा उसका स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हैं। इस प्रकार जिन सूत्रों को नागार्जुन ने आकाट्य तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह महायान मत में एक सत्य के रूप में विना किसी तर्क के मान लिया गया है। एक स्थान पर सुभूति बुद्ध से कहते हैं कि वेदना (अनुभूति), संज्ञा (किसी वस्तु से सम्बन्धित विचार अथवा कल्पना) और संस्कार सभी माया है।[1] सारे स्कंध धातु (भूत अथवा तत्व) और आयतन थोथे और अस्तित्वहीन हैं। ये सब तत्वों की शून्यता से प्रतिबद्ध हैं। सांसारिक महाशून्य में इसका उच्चतम ज्ञान स्कंध-धातु-आयतन सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न नहीं है क्योंकि इन सब धर्मों का लोप हो जाने पर ही महान् ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसको प्रज्यापारमिता कहते हैं।[2] क्योंकि प्रत्येक वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, सभी कुछ थोथी व शून्यमय हैं अतः संसार की न कोई वास्तविक प्रक्रिया है और न उसकी समाप्ति होती है। सत्य न शाश्वत है और न अशाश्वत। यह केवल एक शून्य मात्र है। अर्थात् जिसकी कोई स्थिति नहीं है वह न शाश्वत हो सकता है और न अशाश्वत हो सकता है। अतः भिक्षु का यह प्रयत्न होना चाहिए कि संसार की इस शून्यता को पहचानकर तथाभूत कर्म करे और इस (तथता) का साम्य स्थापित कर सारे संसार को शून्य समझे। अतः भिक्षु (वोधिसत्व) के लिए सारे गुणों का (पारमिता) धारण करना आवश्यक है, दानशीलता (दानपरमिता), शील-परमिता, संयम (शांतिपारमिता) शक्ति (वीर्य-पारमिता) और ध्यान (ध्यान पारमिता)। वेधिसत्व का यह दृढ़ निश्चय होता है कि वह अनन्त आत्मा की निर्वाण प्राप्ति में सहायक हो। वास्तव में न कोई प्राणी है न कोई बन्धन है, न कोई निर्वाण है। वोधिसत्व इस वात को भली भांति जानते हैं। वौद्ध इस तथ्य से आतंकित न होते

---

[1] अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० १६।

[2] वही, पृ० १७७।

हुए शान्तिपूर्वक इन सब मायामय प्राणियों के लिए मायामय बन्धन से छुटकारा दिलाकर मायामय निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। बोधिसत्व इसी भावना से प्रेरित होकर अपनी पारमिताओं के बल पर अपने कार्य में अग्रसर होता है—वैसे वास्तव में निर्वाण प्राप्त करने वाला भी वस्तुसत्ता में नहीं है, उसे निर्वाण की प्राप्ति में सहायता करने वाला भी वस्तुसत्ता में नहीं है। सच्ची प्रज्ञापारमिता समस्त प्रतिभासों की पूर्ण समाप्ति ही है। (नः अनुपलम्भः सर्वधर्माणां स प्रज्ञापारमिता इत्युच्यते)।

महायान-वाद दो प्रणालियों में विकसित हुआ है, एक तो शून्यवाद या माध्यमिक-सिद्धान्त, दूसरा विज्ञानवाद। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद (जो यह मानता है कि ये समस्त दृश्य चैतन्य के ही प्रतिभास हैं) में कोई तात्विक भेद नहीं है, केवल प्रणालीगत भेद है। दोनों इस बात पर विश्वास करते हैं कि कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, यह सब परिवर्तनशील दृश्य प्रपंच स्वप्न या इन्द्रजाल की भांति है, किन्तु शून्यवादियों ने अपना ध्यान दृश्य जगत् के कार्यकलापों की अपरिभाष्यता की ओर अधिक दिया जबकि विज्ञानवादियों ने शून्यवादियों द्वारा की गई सत्य की विवेचना को मानते हुए चैतन्य के प्रतिभासों की व्याख्या अनादि मायामय मूल प्रत्ययों अथवा वासनाओं के रूप में करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

विज्ञानवाद के इस नए स्वरूप का जिसे तथता-दर्शन का नाम दिया जा सकता है, अश्वघोष (१०० ई०) सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण विचारक था। सुजुकी की इस स्थापना को सत्य मानते हुए कि अश्वघोष के श्रद्धोत्पादशास्त्र में दिया गया एक उद्धरण लंकावतार-सूत्र का है, हम लंकावतारसूत्र को विज्ञानवाद की प्राचीनतम कृतियों में मान सकते हैं।[1] विज्ञानवाद का सबसे बड़ा परवर्ती विचार असंग (४०० ई०) था जिसकी कृतियाँ सप्तदश भूमिसूत्र, महायानसूत्र, उपदेश, महायानसंपरिग्रहशास्त्र, योगाचारभूमि-शास्त्र तथा महायानसूत्रालंकार बताई जाती हैं। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य समस्त ग्रन्थ संस्कृत में अनुपलब्ध हैं, सम्भवतः मूल ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं—चीनी और तिब्बती हस्तलेखों तक जिनकी पहुँच नहीं है, उनके लिए ये नितान्त अलभ्य ही हो गए हैं। हिन्दू लेखकों में विज्ञानवाद को एक अन्य नाम 'योगाचार' से भी पुकारा जाता है और यह अनुमान शायद गलत न हो कि इस नए नाम का मूल कारण असंग का "योगाचारभूमि शास्त्र" शीर्षक ही है। जैसाकि परमार्थ (४९९-५६९) का कहना है, असंग का छोटा भाई वसुबन्धु पहले एक उदार सर्वास्तिवादी था, पर बाद में असंग ने उसे विज्ञानवादी बना दिया। इस प्रकार वसुबन्धु ने जिसने अपने जीवन के प्रारंभिक भाग में सर्वास्तिवादियों के महान् ग्रन्थ 'अभिधर्मकोष' की रचना की थी, अपना परवर्ती

---

[1] डा० एस० सी० विद्याभूषण का विचार है कि लंकावतार का समय ३०० ई० है।

जीवन विज्ञानवाद को समर्पित कर दिया।[1] कहा जाता है कि उसने 'अवतंसक', 'निर्वाण', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'प्रज्ञापारमिता', 'विमल कीर्ति' तथा 'श्री माला सिंहनाद' आदि महायानसूत्रों की टीकाएँ लिखी तथा कुछ महायान सूत्रों की रचना की जिनमें विज्ञानमात्रासिद्धि, की परम्परा चली किन्तु उसके बाद के किसी लेखक को इस वाद की रचना का हमें पता नहीं चला है।

हमने पहले बतलाया है कि महायान की विविध प्रणालियों में शून्यवाद एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में निहित है। इस सिद्धान्त का एक अत्यन्त शक्तिशाली विवेचक नागार्जुन (१०० ई०) था जिसके सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या हम अन्यत्र करेंगे। नागार्जुन की कारिकाओं (श्लोकों) की टीका आर्यदेव ने की, जो कुमारजीव (३८३ ई०) बुद्धपालित एवं चन्द्रकीर्ति (५५० ई०) का शिष्य था। इस टीका के अलावा आर्यदेव ने कम से कम तीन अन्य ग्रन्थ लिखे—चतुःशतक, हस्तबालप्रकरणवृत्ति तथा चित्तविशुद्धिप्रकरण।[2] हस्तबालप्रकरणवृत्ति में, जो एक लघु ग्रन्थ है, आर्यदेव की स्थापना है कि जो कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व के लिए अन्य किसी पर निर्भर होती है उसे भ्रमात्मक कहा जाता है। दृश्य जगत् के सभी पदार्थों के बारे में हमारा सारा ज्ञान दिशा के प्रत्यक्षों पर तथा समग्र और भाग की धारणाओं पर निर्भर होता है अतः वे सब केवल प्रतिभास मात्र माने जाने चाहिए। अतः यह जानते हुए कि जिसकी सत्ता अन्य पर निर्भर होती है वह भ्रमात्मक ही होता है, इन सब जगत् के आभासों के प्रति ज्ञानी व्यक्ति को न तो कोई लगाव होना चाहिए न वितृष्णा। अपने ग्रन्थ चित्त-विशुद्धिप्रकरण में उसने बतलाया है कि जिस प्रकार किसी रंगीन पदार्थ के प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण स्फटिक रंगीन दिखता है उसी प्रकार चित्त जो निर्विकल्प है विकल्पों के रंगों में रंगकर विभिन्न रंग धारण किए हुए प्रतीत होता है। वस्तुतः किसी भी कल्पना के स्पर्श से रहित चित्त ही शुद्ध सत्य है।

लगता है चन्द्रकीर्ति के बाद शून्यवादियों में कोई बड़ा लेखक नहीं हुआ। विभिन्न सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी में हुए महान् मीमांसक कुमारिल भट्ट के समय तक यह एक विख्यात एवं जीवंत दर्शन के रूप में पनपता रहा। किन्तु उसके बाद शून्यवादियों का स्थान महत्वपूर्ण एवं सक्रिय दार्शनिकों के लिहाज से नगण्य सा ही हो गया।

---

[1] देखें, तकाकुसुः "ए स्टडी आव द परमार्थज लाइफ आव वसुबन्धु" (जे० आर० ए० एस० १९०५)।

[2] आर्यदेव की 'हस्तबालप्रकरणवृत्ति' का डा० एफ० डब्लू० थामस ने पुनरुद्धार किया। उसके चित्तविशुद्धिप्रकरण के कुछ खंडित अंश महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल के जर्नल में (१८९८) प्रकाशित किए गए थे।

अश्वघोष (८० ई०) का तथता दर्शन[1]

अश्वघोष सैंइगुह्य नामक एक ब्राह्मण का पुत्र था जिसने अपना आरम्भिक जीवन भारत के विभिन्न स्थानों में यात्रा करने तथा शास्त्रार्थों में बौद्धों को को हराने में लगाया। सम्भवतः उसे पार्श्व ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। यह पार्श्व तृतीय बौद्ध संगति का एक महत्वपूर्ण सदस्य था। यह संगीति किन्हीं विद्वानों के मत में काश्मीर नरेश ने बुलाई थी और कुछ के मत में पुण्ययशा ने।[2]

उसका सिद्धान्त था कि आत्मा के दो लक्षण प्रमुख हैं, भूततथता (तथात्व) एवं जन्म मरण का चक्र (संसार)। भूततथता लक्षण का अर्थ है समस्त पदार्थों के तथात्व की समानता (धर्मधातु)। इसका धर्म अकृत तथा वाह्य है। व्यक्तियों के विभिन्न रूपों में पूर्व जन्मों की स्मृतियों की अन्तर्निहित और अचेतन वासनाओं के अनादि संस्कारों के कारण भिन्नता भासित होती है।[3] यदि इस स्मृति पर विजय पाई जा सके तो व्यक्तियों के लक्षण अन्तर्हित हो जाएँगे तथा पदार्थ जगत् का कोई चिन्ह वाकी न बचेगा। समस्त पदार्थ प्रकृत्या अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय हैं। किसी भी भाषा में उनका पूर्णतः वर्णन नहीं किया जा सकता। उन सबमें पूर्ण समानता होती है। वे न

---

[1] यह विवेचन अश्वघोष के 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' के चीनी अनुवाद के सुजुकी द्वारा कृत अनुवाद "अन अवेकनिंग आव फेथ" पर आधारित है। मूल संस्कृत ग्रन्थ नष्ट प्रतीत होता है। सुजुकी ने अश्वघोष को कनिष्क के समकालीन सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिए हैं।

[2] तारानाथ के अनुसार उसे नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने बौद्ध बनाया था ('गैशिशे-देस बुद्धिस्मसः' श्नोकर द्वारा जर्मन अनुवाद (पृ० ८४-८५) देखें सुजुकी : "अवेक-निंग आव फेथ" (पृ० २४-३२)। अश्वघोष ने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'बुद्धचरित' भी लिखा और महालंकारशास्त्र भी। वह संगीतकार भी था, उसने रास्तवर नामक एक वाद्य की रचना भी की थी जिससे वह नागरिकों को धर्मोपदेश करना चाहता था।" इसका संगीत शास्त्रीय, गम्भीर, दर्दभरा और सुरीला था जिससे जीवन की दुःखमयता, अनात्मता और शून्यता पर विचार करने की प्रेरणा होती थी" (सुजुकी, पृ० ३५)।

[3] मैंने स्मृति को सुजुकी के "भ्रमात्मक विषयिनिष्ठता" (कन्फ्यूज्ड् एब्जेक्टिविटी) की वजाय वासना के रूप में अनूदित करने का उपक्रम इसलिए किया कि लंकावतार जैसे बौद्ध ग्रन्थों के अध्येताओं के लिए स्मृति की वासना के रूप में धारणा अपरि-चित नहीं होगी। वैसे भी विषयिनिष्ठता (सब्जेक्टिविटी) इतनी योरपीय लगने वाली संज्ञा है कि उसका बौद्ध दर्शन के संदर्भ में प्रयोग संगत नहीं लगता।

तो परिवर्तन और न विनाश के विषय है। ये सभी एक ही आत्मा के अंश हैं। यही भूततथता है। इस तथात्व का कोई लक्षण नहीं है, शब्दों में इसे तथात्व के रूप में ही समझा जा सकता है। इस ज्ञान के साथ ही कि सत्ता का समग्र रूप बतलाते समय न तो कोई वक्ता है न कोई वाच्य है, न कोई विचारक है न विचार्य है, तथता की स्थिति शुरू होती है। यह भूत-तथता न तो सत्ता है न असत्ता है, न एक साथ सत्ता और असत्ता का समवाय है। न सत्ता और असत्ता का असमवाय है, यह न तो बहुत्व है न एकत्व और न बहुत्व और एकत्व का समवाय, न एकत्व और बहुत्व का असमवाय। यह इस दृष्टि से निषेधात्मक है कि यह सब स्थितियों से परे है और इस दृष्टि से स्वीकारात्मक है कि यह सबको समाहित कर लेती है। किसी भी लक्षण अथवा विशेषीकरण द्वारा यह बोधगम्य नही है। इन्द्रियगम्य वस्तुओं के ज्ञान की सीमा से बद्ध ज्ञेय पदार्थों की परिधि से ऊपर उठकर ही इसका अवभास किया जा सकता है। सब जीवों की विशेषीभूत चेतना द्वारा इसका बोध नहीं हो सकता अतः हम इसे नकारात्मक या 'शून्यता' का नाम दे सकते हैं। सत्य वह है जो विषयिनिष्ठ रूप से अपने आप में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता, शून्यता भी अपने भाव में शून्य ही है, वह जो निषेध करता है तथा वह जिसका निषेध किया जाता है दोनों में से कोई भी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखते। विशुद्ध आत्मा ही अनादि, अनन्त, अभेद्य, अपरिवर्ती एवं सर्वव्यापक है। इस दृष्टि से उसे स्वीकारात्मक (विध्यात्मक) कहा जा सकता है। फिर भी उसमें विधि (स्वीकार) का कोई चिन्ह नहीं है क्योंकि वह प्रत्ययात्मक चिन्तन की सर्जनात्मक, सहज स्मृति द्वारा गम्य नहीं है। उस सत्य के बोध का एकमात्र उपाय है समस्त बोधात्मक सृष्टि की सीमा से ऊपर उठकर तथता का आभास।

संसार के रूप में आत्मा, तथागत गर्भ जो परम सत्य है से आती है। मर्त्य और अमर्त्य परस्पर समानुपाती हो जाते हैं। यद्यपि वे अभिन्न नहीं हैं तथापि उनमें भेद भी नहीं है। जब परम आत्मा स्व-प्रकटीकरण द्वारा सापेक्ष रूप धारण कर लेती है तब इसे सर्वधारक आत्मा कहा जाता है (आलयविज्ञान)। इसमें दो सिद्धान्त निहित हैं–(१) संबोध (२) असंबोध। संबोध या ज्ञान की प्राप्ति तब होती है जब सृष्टि-जन्य सहज स्मृति के दोषों से मुक्त होकर बुद्धि पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। यह सर्वान्तर्गामी है एवं सबका एकत्व है (धर्मधातु) अर्थात् सृष्टि के चरम आधार के रूप में यह सब तथागतों का सामान्य धर्मकाय है।

"जब यह कहा जाता है कि समस्त चैतन्य इसी आधारभूत सत्य से आरम्भ होता है तो इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि चैतन्य का कोई वास्तविक उत्स है। यह तो केवल आभासात्मक अस्तित्व है, भ्रमात्मक स्मृति के वशीभूत होकर द्रष्टा द्वारा की गई एक कल्पना मात्र है। 'बहुजन' बोधहीन होते हैं क्योंकि जगत् में अज्ञान (अविद्या) अनादि काल से है क्योंकि निरन्तर चली आ रही 'स्मृति' (भूत की सदोष

स्मृति जो सहज रूप से सबमें रहती है) के बन्धन से वे मुक्त नहीं हो पाते। किन्तु जब इस स्मृति से वे मुक्त हो जाते हैं तो उन्हें मालूम हो जाता है कि उनके बोध की कोई भी स्थिति, जैसे इनका आभास, इनकी सत्ता, परिवर्तन और विलय, सत्य नहीं है। आत्मा के साथ उनका काल या दिक् में कोई भी सम्बन्ध नहीं है—क्योंकि वे स्वतः सत्तात्मक हैं ही नहीं।

इस परम संबोध का अपूर्ण रूप कभी-कभी हमें हमारे सदोष जागतिक अनुभवों में भी दिखलाई देता है जैसे प्रज्ञा (बुद्धि) कर्म (अपरिज्ञेय जीवन क्रिया) के रूप में। पूर्ण प्रज्ञा से हमारा तात्पर्य है कि जब हम धर्म की सौरभमयी पावनी शक्ति से, धर्म-विहित विधि से हम यथार्थतः अपने आपको अनुशासित कर लेते हैं तथा सम्यक् कर्म करते हैं तो बुद्धि (आलयविज्ञान) जो जीवन और मृत्यु के बन्धन में रहती है, विलीन हो जाती है, सृष्ट्यात्मक चैतन्य की वृत्तियाँ निरस्त हो जाती हैं और धर्मकाय की शुद्ध और सत्य प्रज्ञा प्रकट हो जाती है। यद्यपि मन और चैतन्य की समस्त वृत्तियाँ अज्ञान के ही उद्गम हैं, अज्ञान भी अन्ततोगत्वा ज्ञान से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। इस प्रकार एक दृष्टि से अज्ञान नश्वर है, और एक दृष्टि से अनश्वर। इसे समुद्र में उठती हुई तरंगों के दृष्टान्त से समझाया जा सकता है। तरंगों और जल का भेद है या अभेद ? एक दृष्टि से तरंग जल से भिन्न है, एक दृष्टि से अभिन्न। जल ही वायु की क्रिया द्वारा तरंगों के रूप में (भिन्न रूप में) प्रकट होता है। जब वायु का व्यापार शान्त हो जाता है तो तरंग अदृश्य हो जाती है किन्तु जल वहीं रहता है। इसी प्रकार जब प्राणियों का मन जो अपने आप में शुद्ध और स्वच्छ होता है अविद्या की वायु द्वारा आलोडित होता है तो वृत्तियाँ (विज्ञान) रूपी तरंगें उठती हैं। इन तीनों (मन, अज्ञान और वृत्तियों) का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। इनमें न तो एकत्व हैं, न बहुत्व। जब अज्ञान का नाश हो जाता है तो जागृत मनोवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, ज्ञान का तत्व अक्षुण्ण रहता है।" सत्य अथवा सम्बोध किन्हीं भी सापेक्ष वृत्तियों अथवा ज्ञान के किसी बाह्य साधन से अप्राप्य है। दृश्य जगत् की सभी घटनाएँ ज्ञान में इस प्रकार भासित होती हैं कि वे न तो उसके बाहर जाती हैं न उसके अन्दर, वे न तो विलीन होती हैं, न नष्ट।" मानस और बौद्धिक दोनों प्रकार के विघ्नों—क्लेशवरण और ज्ञेयवरण—से तथा जन्म और मृत्यु के विषय आलय विज्ञान से वे सदा के लिए विमुक्त हो जाती हैं क्योंकि अपने वास्तविक स्वरूप में ज्ञान शुद्ध, स्वच्छ, अनादि, शान्त, अविनाशी है। सत्य भी इसी प्रकार का है, वह अपने परिवर्तमान स्वरूप में उचित अवसर पर तथागत के रूप में या अन्य स्वरूपों में प्रकट होता है जिससे कि अन्य जीवों को भी यह प्रेरणा मिल सके कि वे अपने गुणों की चरमपरिपति द्वारा उस ऊँचाई तक उठ सकें।

अनुभव निरपेक्ष ज्ञान से असंबद्ध एवं पृथग्भूत रूप में अज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु प्रागनुभव ज्ञान का वर्णन भी सदा ही 'अज्ञान से विभिन्न' के रूप में ही

किया गया है और चूंकि अज्ञान की स्वत: सत्ता नहीं है अत: ज्ञान का भी पृथक् महत्व नहीं रहता। उनकी पहिचान परस्पर विभिन्न पदार्थों–ज्ञान और अज्ञान के रूप में ही की गयी है। अज्ञान का प्रकटीकरण तीन प्रकार से होता बतलाया गया है–(१) मन के विक्षोभ के रूप में (आलय-विज्ञान) अविद्याकर्म (अज्ञानात्मक कर्म) द्वारा, दु:खजनक स्थिति (२) अहं की सृष्टि अथवा द्रष्टा के द्वारा (३) बाह्य जगत् की सृष्टि द्वारा जिसका द्रष्टा से परे, अपने आप में, कोई अस्तित्व नहीं है। असत् बाह्य जगत् के कारण छ: प्रकार की स्थितियाँ एक-एक करके पैदा होती हैं–पहली है बुद्धि (संवेद), बाह्य जगत् के प्रभाव से बुद्धि में अनुकूल और प्रतिकूल का भेद ज्ञात होने लगता है। दूसरी है–अनुक्रम, बुद्धि की अनुगामिनी होकर स्मृति अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनाओं को विषयिगत स्थितियों के एक अनुक्रम में धारण करती है। तीसरी है–संश्लेषण। अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनाओं के धारण और अनुक्रम द्वारा संश्लेषण (चिपकने) की इच्छा उद्भूत होती है। चौथी है–अभिधानों और संज्ञाओं से सम्बद्ध होना। संश्लेषण द्वारा मन विभिन्न संज्ञाओं का वस्तूकरण या पदार्थीकरण करता है और शब्दों को परिभाषाओं से जोड़ता है। पाँचवी है–कर्मों का आचरण। संज्ञाओं से सम्बद्ध होने के कारण विभिन्न प्रकार के कर्मों का उद्भव होता है जिनसे व्यक्तिता का उद्गम होता है। "छठी है–कर्मों के बन्धन के कारण वेदना। कर्मों से ही वेदना उत्पन्न होती है जिसके कारण मन अपने आपको बन्धन में पाता है और उसकी स्वतंत्रता जकड़ जाती है।" इस प्रकार ये सभी स्थितियाँ अविद्या से जन्मी हैं।

इस सत्य और अविद्या में पारस्परिक सम्बन्ध एक दृष्टि से हमें समता की ओर ही ले जाता है जिसे हम इस निदर्शन से स्पष्ट कर सकते हैं कि मिट्टी के विभिन्न पात्र देखने में भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही मिट्टी के बने हुए होने के नाते एक ही हैं।[1] इसी प्रकार अनास्रव और अविद्या तथा उनके विविध नाशवान् स्वरूप एक ही सत्ता के उद्गम हैं। इसीलिए बुद्ध का उपदेश है कि समस्त जीव अनादिकाल से निर्वाण में ही स्थित रहते हैं।

अविद्या के सम्पर्क से ही एकमात्र सत्य सत्ता सृष्टि के विविध दृश्य-प्रपंच के स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

आलयविज्ञान में अविद्या प्रकट होती है, इसी अज्ञान के कलेवर में द्रष्टा, उसका अभिधान, वस्तुगत जगत् का प्रत्यक्ष (भ्रम) करने वाला तथा निरन्तर विशेषीकरण करने वाला ज्ञानाभास जन्म लेता है। इसे ही 'मनस्' का नाम दिया गया है–इसके पाँच नामों का विवरण है–(पाँच प्रकार के इसके कार्यों के आधार पर)। पहला नाम है–कर्म विज्ञान जिससे अप्रकाशित बुद्धि में संचलन अथवा जागृति उत्पन्न होती है,

---

[1] देखें छान्दोग्यो० ४/१/४।

(अविद्या के द्वारा)। दूसरा नाम है–प्रवृत्तिविज्ञान जिससे जागृत बुद्धि में बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष करने वाला–द्रष्टा उद्गत होता है। तीसरा नाम है प्रतिभास का विज्ञान जिससे मन में बाह्य जगत् का प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में समस्त दृश्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब दिखलाई देते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के गम्य पदार्थों के अभिमुखीकरण के अनन्तर इसमें उस ज्ञानेन्द्रिय का प्रत्यक्षीकरणीय पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाता है, स्वतः और अनायास। चौथा है विशेषीकरण-विज्ञान जिसके द्वारा विविध पदार्थों में भेद, परिभाषा सम्भव होती है चाहे वे शुद्ध हों अथवा अशुद्ध। पांचवा नाम है आनुपूर्वी का विज्ञान जिसका अर्थ है मनस्कार (अवधान की चेतना) जागृत होने पर उसके द्वारा मन प्रेरित होता है और तभी यह सभी कर्मानुभवों को क्रमिक रूप से धारण करता है। किसी भी पूर्व में आचरित कर्म का प्रभाव नष्ट नहीं होता चाहे वह अच्छा हो या बुरा, उसका अच्छा या बुरा परिपाक होता ही है—इस क्रिया द्वारा यह क्रम बना रहता है—चाहे कर्म वर्तमान में हो या भविष्य में। पूर्व में आचरित कर्मों को स्मृति के रूप में यह धारण करता है और भविष्य में होने वाले कर्मों का संस्कार भी इसमें बीज रूप में निहित रहता है। अतः तीनों लोक जिन्हें काम लोक (अनुभवों का लोक) रूपलोक (पदार्थों का लोक) और अरूपलोक (अमूर्तता का लोक) का नाम दिया गया है मन के ही स्वतः प्रकटीकृत स्वरूप हैं—यही आलयविज्ञान है और यही भूततथता है। चूंकि सभी पदार्थ बुद्धि में ही अवस्थित होने के सिद्धान्त के अनुसार स्मृति के ही जन्य हैं अतः सभी विशेषीकरण बुद्धि के स्व-विशेषीकरण ही हैं। बुद्धि अथवा आत्मा स्वयं में सभी विशेषीकरणों और गुणों से परे है अतः उसे विशेषीकृत नहीं किया जा सकता। इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दृश्य जगत् के सभी पदार्थ और सभी स्थितियाँ अविद्या के कारण ही स्मृति में पदार्थीकृत एवं अवस्थित होती हैं अतः उनका अस्तित्व नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे दर्पण में प्रतिफलित प्रतिबिम्बों का कोई अस्तित्व नहीं है। विशेषीकरण करने वाली बुद्धि के ही प्रत्यय है। जब बुद्धि विचलित होती है तो पदार्थों का वैविध्य प्रकट हो जाता है किन्तु जब बुद्धि शान्त होती है तो वह वैविध्य विलीन हो जाता है। मनोविज्ञान से तात्पर्य यही है कि बुद्धि अज्ञानवश 'अहम्' और 'अनहम्' के विचार से संश्लिष्ट हो जाती है और इन्द्रियों के छः विषयों का मिथ्या ज्ञान करने लगती है। मनोविज्ञान को विभेद का विज्ञान भी कहा जा सकता है क्योंकि बुद्धि और भावना के विविध आस्रवों के गन्ध से लिप्त होने के कारण ही इसमें भेद बोध प्रकट होता है। तब स्मृति द्वारा उत्पादित बाह्य जगत् पर विश्वास करते हुए बुद्धि उस समता के सिद्धांत को भूल जाती है जिसके अनुसार समस्त पदार्थ एक ही हैं, सम ही हैं, पूर्ण शान्त एवं अविकारी हैं और उनमें सत्ता का चिह्न नहीं है।

संसार का अस्तित्व और आधार केवल अविद्या में है। इसके विनाश के साथ

स्थितियों-बाह्य जगत्–का भी विनाश हो जाता है क्योंकि उसी के साथ परस्पर सम्बद्ध बुद्धि का भी विनाश हो जाता है। इस विनाश का अर्थ बुद्धि का विनाश नहीं है, बुद्धि की वृत्तियों का विनाश ही है। वह वृत्तियों के विनाश के बाद उसी प्रकार शान्त हो जाती है जिस प्रकार तरंगों का विचलन पैदा करने वाली वायु के विनाश के बाद समुद्र शान्त और अविचल हो जाता है।

अविद्या (अज्ञान), कर्मविज्ञान (कर्म की चेतना अथवा विषयीमन), विषय (बाह्य जगत्, इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत) एवं तथता के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करते हुए अश्वघोष का कहना है कि इन तत्वों में परस्पर संस्कार होता है। इस सम्बन्ध में उनका कथन इस प्रकार है 'संस्कार से हमारा तात्पर्य है कि वस्त्र जिन्हें (हम पहनते है) अपने आप में कोई गंध लेकर पैदा नहीं होते, कपड़े में अपने आप कोई सुगन्ध या दुर्गन्ध नहीं होती किन्तु जिस पदार्थ के साथ रखकर उन्हें गंध-संस्कारित किया जाता है उसी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को वे ग्रहण कर लेते हैं। उसी प्रकार तथता पवित्र धर्म है जिसमें अविद्या के संस्कारों का कोई दोष लिप्त नहीं है जबकि अविद्या का शुद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि उसे भी हम कई बार शुद्धता का कार्य करते हुए बता देते हैं क्योंकि तथता के संस्कार से उसमें शुद्धता का गंध आ जाता है। तथता द्वारा निर्धारित अविद्या ही समस्त प्रकार के दोषों का कारण है। यही अविद्या तथता को गंध देती है और स्मृति को जन्म देती है। स्मृति का संस्कार अविद्या में आ जाता है। इस पारस्परिक संस्कार के कारण ही सत्य का भ्रमात्मक, प्रतिभास होता है। इस भ्रमात्मक ज्ञान के कारण विषय के बाह्य जगत् की प्रतीति होती है। इसके अलवा स्मृति के संस्कार के कारण विषयों के स्वरूपों और वृत्तियों का जन्म होता है। उन वृत्तियों के सम्पर्क से कर्मों का उद्भव होता है और उनसे मानसिक और कायिक क्लेश परिणमित होते हैं। जब तथता से अविद्या संस्कारित होती है तो विषयी व्यक्ति को जन्म मरण के क्लेश से घृणा होती है और निर्वाण की प्राप्ति की प्रेरणा होती है। विषयिगत मन में ऐसी प्रेरणा और निर्वेद तो जन्म के कारण तथता संस्कारित हो जाती है। तथता के इस संस्कार के कारण ही हमें यह विश्वास होने लगता है कि हमारे अन्दर तथता है जिसकी प्रकृति शुद्ध एवं अविकारी है, तभी हमें ज्ञान होता है कि यह जगत् आलयविज्ञान का ही भ्रमात्मक प्रतिफलन है और वस्तुतः इसकी कोई सत्ता नहीं है। जब इस प्रकार हम सत्य का सही ज्ञान कर लेते हैं तब हम मुक्ति के उपाय कर सकते हैं धर्मविहित कार्यों का आचरण कर सकते हैं। हमें न तो विशेषीकरण करना चाहिए न विषयों की इच्छा से सम्पर्क रखना चाहिए। इस प्रकार के अनुशासन और असंख्येय कल्पों (अनेक युगों का निरवधि काल) तक निरन्तर अभ्यास से इस अविद्या का नाश हो सकता है। जब इस प्रकार अविद्या का नाश हो जाता है तो आलयविज्ञान (बुद्धि) का विचलन नहीं होता जिससे कि उसमें

विषयभेद पैदा हो। जब बुद्धि अविचलित होती है तो बाह्य जगत् का विशेषीकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जब दोष अनेक विषय, उनकी स्थितियाँ और बुद्धि के विकार नष्ट हो जाते हैं तब निर्वाण प्राप्त होता है और विविध क्रियाकलापों के सहज प्रकार इस तरह पूर्ण हो जाते हैं। तथतादर्शन में निर्वाण का तात्पर्य शून्य से नहीं है किन्तु तथता (तथात्व) को अपने शुद्ध रूप में ही देखा गया है जिसमें कि अनुभव के विविध प्रकारों के दूषणों का कोई सम्पर्क नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब समस्त प्राणी एक समान तथता रखते हैं और इससे समान रूप से संस्कारित होते हैं तो फिर ऐसा क्यों है कि कुछ उस पर विश्वास नहीं करते, कुछ करते हैं। अश्वघोष इसका उत्तर यों देता है कि-यद्यपि सारे प्राणी समान रूप से तथता रखते हैं फिर भी अज्ञान और व्यक्ति विभाजन का सिद्धान्त, जो अनादि है, इतने वैविध्य पैदा कर देता है कि गंगा के तीर की मिट्टी में जितने कण हैं उनकी संख्या भी उनसे कम ही पड़ती है। इसीलिए ऐसा भेद होता है स्वयं की सत्ता में यह संस्कारक तत्व इस प्रकार निहित होता है कि जब उसमें बुद्ध और बोधिसत्व की मैत्री और करुणा संपृक्त हो जाती है तो जन्म-मरण के कष्टों से घृणा हो जाती है, निर्वाण में विश्वास होता है, कुशलमूल की प्राप्ति की कामना होती है तथा उसका अभ्यास और परिपाक होता है। इसके फलस्वरूप सब बुद्धों और बोधिसत्वों का दर्शन करने की शक्ति पैदा होती है, उनके उपदेश प्राप्त कर वह उनसे लाभ, प्रसाद प्राप्त करता है, शुभ कार्य करता है और अन्त में बुद्धत्व प्राप्त कर निर्वाण का लाभ करता है। इससे यह अनुमान होता है कि सब प्राणियों में ऐसे संस्कार होते हैं कि वे सम्यक् मार्ग पर ले जाने हेतु बुद्धों और बोधिसत्वों के आशीर्वाद से प्रभावित हो सकें। तभी तो बोधिसत्वों का दर्शन कर, कभी उनसे श्रवण कर, "प्राणियों को हितता की प्राप्ति होती है" और "वे शुद्ध समाधि में प्रविष्ट होकर समस्त विघ्नों पर विजय प्राप्त कर पाते हैं, उनमें सर्वलोकसमता का ज्ञान करने की अन्तर्दृष्टि पैदा हो जाती है तथा वे अनेक बुद्धों और बोधिसत्वों का दर्शन कर पाते हैं।"

जो संस्कार तथता से तादात्म्य नहीं रखते वे भिन्न होते हैं जैसा कि श्रावकों (थेरवादी भिक्षुओं), प्रत्येक बुद्धों तथा अपक्व बोधिसत्वों के साथ होता है जो धर्माचरण तो करते रहते हैं किन्तु तथता के तत्व से सम्पृक्त अविशेपीकरण की स्थिति तक नहीं पहुँचते। किन्तु जो बोधिसत्व तथता से संस्कारित होते हैं वे अविशेपीकरण की स्थिति पा लेते हैं और उन पर केवल धर्म की शक्ति का ही प्रभाव होता है। दूपित धर्म द्वारा (अनादि अज्ञान द्वारा) हो रहा गन्ध-संस्कार निरन्तर कार्य करता रहता है किन्तु जब बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है तो उसकी समाप्ति हो जाती है। शुद्ध धर्म (तथता) का संस्कार अनन्त काल तक कार्य करता रहता है। यह तथता महान् बुद्धि

का फल है, धर्म-धातु का विश्वजनीन प्रकाश है, यह सत्य और सम्यक् ज्ञान है, शुद्ध सहज मति है अनादि, अनन्त, दैवी, शुद्ध, स्वयम्भू, शान्त, अनुपम और स्वतंत्र है, इसी को तथागत-गर्भ अथवा धर्मकाय कहते है। यहां यह आपत्ति उठ सकती है कि तथता लक्षण-रहित और निर्गुण बताई गई है फिर इसके इतने गुण बताना स्वविरोधी है पर इसका उत्तर यह है कि ये गुण होते हुए भी यह अपने आप में समस्त भेदों से रहित है क्योंकि विश्व की सभी वस्तुएँ एक ही स्वाद की हैं, एक ही सत्ता के अंग होने के कारण उनमें विभेद विशेषीकरण और द्वन्द्व नहीं होता। "यद्यपि वस्तु-सत्ता में समस्त वस्तुएँ आत्मा से ही उद्गत हैं और विशेषीकरण से परे हैं फिर भी अज्ञानवश आलयविज्ञान का उद्भव हो जाता है जिससे बाह्य जगत् की प्रतीति होती है।" इसे अज्ञान या अविद्या कहते हैं। तथापि बुद्धि का शुद्ध तत्व पूर्ण एवं शुद्ध है और उसमें अज्ञान का स्पर्श नहीं है। इसीलिए तथता में महत् बुद्धि के फल का गुण बतलाया गया है। इसीलिए इसे स्वयं प्रकाश कहा गया है क्योंकि इसके अलावा और कोई वस्तु प्रकाश्य है ही नहीं। इस तरह तथता का संस्कार शाश्वत रहता है जब कि अविद्या के संस्कार की स्थिति निर्वाण प्राप्त कर बुद्ध बन जाने पर समाप्त हो जाती है। बुद्धों को धर्मानुशासन की स्थिति में सभी प्राणियों के लिए महाकरुणा का अनुभव होता है, वे पारमिताओं का आचरण करते हैं, अन्य सम्यक् कर्म करते हैं, सबको अपने समान देखते हैं और सदा के लिए प्राणीमात्र को सर्व-कल्याण और मुक्ति का मार्ग दिखाना चाहते हैं, अनेक कल्पों तक ऐसा वे करते हैं। प्राणियों में समता का सम्यक् ज्ञान वे करते हैं तथा प्राणी की विशिष्ट जीवसत्ता से सम्पृक्त नहीं होते। तथता के क्रिया-कलाप का यही अर्थ है। जब तक अविद्या का पर्दा अथवा संस्कार रहता है तब तक जगदाभास रहता है, किन्तु अविद्या में भी जब शुद्ध तथता का संस्कार होता है तो शुभ के लिए प्रयत्न की प्रेरणा होती है। अविद्या की स्थिति समाप्त होने पर शुद्ध तथता का प्रकाश चमकने लगता है क्योंकि वही चरम सत्ता है जो केवल जगत् में अनेक रूपों में भ्रमात्मक रूप से आभासित होती है।

यह सिद्धान्त लंकावतार के शून्यवादी प्रत्यय-वाद सिद्धान्त की बजाय चरम, अपरिवर्तनीय सत्ता को ही परम सत्य मानने वाले सिद्धान्त के अधिक निकट लगता है। चूंकि अश्वघोष प्रारम्भिक जीवन में एक विद्वान् ब्राह्मण था, यह स्पष्टत: अनुमानित किया जा सकता है कि उसके द्वारा किए गए बौद्ध दर्शन के निर्वचन में शंकर द्वारा विवेचित वेदान्त से साम्य और उपनिषदों का प्रभाव मिलना ही चाहिए। लंकावतार ने केवल तैर्थिकों को संतुष्ट करने के लिए (जो अपरिवर्तनीय आत्मा के सिद्धान्त में बहुत विश्वास और पूर्वाग्रह रखते थे) चरम सत्ता का सिद्धान्त ऊपर से मान लिया था। किन्तु अश्वघोष ने एक अनिर्वचनीय सत्ता को ही स्पष्टत: परम सत्य माना है। नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त जिन्होंने अश्वघोष के गहरे दर्शन को दबा लिया,

पारस्परिक दर्शन के तथा लंकावतार में वर्णित बौद्ध विज्ञान-वाद के अधिक निकट और अनुरूप लगते हैं।*

माध्यमिक सिद्धान्त अथवा शून्यवाद

नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओं का टीकाकार चन्द्रकीर्ति नागार्जुन वर्णित प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए इस शब्द के दो निर्वचनों से विवेचन प्रारम्भ करता है–एक तो यह है कि प्रत्ययों के द्वारा अभाव की उत्पत्ति, हेतु प्रत्ययों पर ही प्रतीति निर्भर है, उससे अभाव का समुत्पाद होता है। दूसरा यह कि प्रतीत्य से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ अथवा व्यक्ति और प्रतीत्य-समुत्पाद से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति। परन्तु इन दोनों निर्वचनों का वह खण्डन कर देता है। दूसरा निर्वचन पाली-ग्रन्थों के प्रतीत्य समुत्पाद के विवेचन से मेल नहीं खाता। (जैसे चक्षुः प्रतीत्यरूपाणि च उत्पद्यन्ते चक्षुर्विज्ञानम्) वहाँ प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति से तात्पर्य नहीं है किन्तु विशिष्ट व्यक्तिगत संवृतियों (जैसे–चाक्षुप प्रत्यक्ष द्वारा आँख के व्यापार से पदार्थ की प्रतीति) की उत्पत्ति से है जो विशिष्ट स्थितियों पर निर्भर होती है।

प्रथम निर्वचन भी उतना ही अयुक्त है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी समुत्पाद को लें, जैसे किसी चाक्षुष पदार्थ को, तो हम देखेंगे कि दृश्य ज्ञान और भौतिक इन्द्रिय (आँख) के बीच कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और इसलिए वह बात प्रमेय नहीं हो सकती कि दृश्य ज्ञान आँख पर निर्भर है। यदि हम प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का यह निर्वचन करें कि उसका अर्थ वह घटना है जो हो रही है तो उससे किसी भी समुत्पाद की परिभाषा नहीं हो सकेगी। समस्त समुत्पाद मिथ्या हैं क्योंकि कोई पदार्थ न तो अपने आप समुत्पन्न होता है न अन्यों के द्वारा, न किसी की सहायता से, न किसी कारण के बिना, क्योंकि, यदि कोई चीज पहले से अस्तित्व में है तो वह पुनः अपने आप समुत्पन्न नहीं हो सकती। यदि हम मानें कि वह अन्य के द्वारा समुत्पन्न है तो इसका अर्थ होगा कि वह पहिले से विद्यमान किसी पदार्थ का समुत्पाद है। यदि किसी अन्य विशेषण के बिना हम कहें कि एक पर निर्भर होते हुए इसकी चीज अस्तित्व में आती है तो उसका अर्थ होगा किसी भी एक चीज पर निर्भर होते हुए दूसरी चीज अस्तित्व में आ सकती है। तो फिर प्रकाश से अन्धकार अस्तित्व में आ जाएगा। जब एक चीज न स्वयं पैदा होती है न अन्यों के द्वारा तो वह इन दोनों के समवाय से भी पैदा नहीं होती। कोई पदार्थ किसी कारण के बिना भी पैदा नहीं होता, अन्यथा सब पदार्थ

---

* मुझे अश्वघोष का "श्रद्धोत्पादशास्त्र" उपलब्ध नहीं है अतः मेरा यह विवरण उसके सुजुकीकृत अनुवाद पर ही आधारित है।

सब समयों में अस्तित्व मे आ जाएँगे। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि जहाँ-जहाँ बुद्ध ने तथाकथित प्रतीत्यसमुत्पाद की बात कही है उनका तात्पर्य है उन भ्रमात्मक प्रत्यक्षों से जो बुद्धि और इन्द्रियों (जो अज्ञान से आवृत्त हैं) को प्रतीत होते हैं। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद कोई वास्तविक नियम नहीं किन्तु अविद्या के कारण हुई प्रतीति ही है। अविनाशी पदार्थ (अमोप-धर्म) केवल निर्वाण है, अन्य समस्त ज्ञान के विषय और संस्कार मिथ्या हैं और प्रतीति के साथ समाप्त हो जाते हैं (सर्वसंस्काराश्च मृषा-मोप-धर्माण:)।

कभी-कभी इस सिद्धान्त पर यह आपत्ति की जाती है कि यदि सभी प्रतीतियाँ मिथ्या है तो इनका कोई अस्तित्व नहीं होना चाहिए। तो फिर अच्छे बुरे काम भी नही होने चाहिए और सृष्टिक्रम भी नहीं। जब यह सब कुछ नहीं तो इनके बारे में दार्शनिक विचार क्यों? इसका उत्तर यह है कि शून्यवाद का उद्देश्य है वस्तुओं को भ्रम के कारण सत्य मानने वाले लोगों की धारणा का खण्डन करना। जो वस्तुत: विद्वान् हैं वे किसी भी वस्तु को सत्य या मिथ्या नहीं मानते। उनके लिए किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है इसलिए उनके सत्य व मिथ्या होने के चक्कर में वे नहीं पड़ते। ज्ञानी पुरुष के लिए न कोई कर्म है न संसार। इसलिए वह प्रतीतियों की सत्ता असत्ता के चक्कर में नहीं पड़ता। रत्नकूट सूत्र में कहा गया है कि चाहे कितनी भी गहरी खोज करो, चित्त को नहीं खोजा जा सकेगा। जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसकी सत्ता नहीं कही जा सकती, जिसकी सत्ता नहीं है उसका कोई भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं, और इसीलिए उसका कोई स्वभाव भी नहीं कहा जा सकता, जिसका स्वभाव नहीं उसका समुत्पाद या समाप्ति भी नहीं हो सकती। जो अपने ज्ञान-विपर्यास के कारण प्रतीतियों के मिथ्यात्व का बोध नहीं कर पाता, उसे सत्य समझता है वह संसारचक्र की यन्त्रणा भोगता है। समस्त भ्रमों की तरह मिथ्या होने पर भी ये प्रतीतियाँ पुनर्जन्म और यन्त्रणा का कष्ट दे सकती हैं।

यहाँ यह आपत्ति भी हो सकती है कि शून्यवादियों के मत में जब कोई वस्तु सत्य नहीं तो उनका यह कथन कि समुत्पाद और समाप्ति नहीं है भी, सत्य नहीं होगा। इसके उत्तर में चन्द्रकीर्ति कहता है कि सत्य चरम शांति है (मौन)। जब शून्यवादी भिक्षु विमर्श करते है तो सामान्य जनों के तर्कों को कुछ समय के लिए स्वीकार करके उन्हें समझाने के लिए, उनकी भाषा में, समस्त प्रतीतियों को वास्तविकता बतलाने हेतु इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। समस्त प्रतीतियों की मिथ्यात्व बताने वाले तर्कों के बावजूद यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि प्रतीतियाँ अनुभव से परीक्षित हैं क्योंकि जिसे हम अनुभव कहते हैं वह केवल भ्रम है, मिथ्या है, इन कार्यों का कोई अस्तित्व नहीं।

जब प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की परिभाषा "वह जैसा कि वह है" के रूप में की

जाती है तो उसका अर्थ होता है कि वस्तुएँ प्रतीतियों के रूप में एक के बाद एक संकेतित की जा सकती हैं किन्तु उनकी वास्तविक सत्ता अथवा स्वभाव नहीं होते। शून्यवाद का भी यही मतलब है (देखें माध्यमिकवृत्ति पृ० ५६)। प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाएँ जो प्रतीत होती हैं सत्य नहीं हैं। जब वे सत्य नहीं हैं तो न उत्पन्न होती हैं न नष्ट होती हैं, न आती हैं न जाती हैं, वे माया की प्रतीतियाँ हैं। 'शून्य का मतलब शुद्ध अभाव से नहीं' क्योंकि वह किसी वस्तु या स्थिति से जुड़ा हुआ होता है। उसका तो अर्थ है, वस्तुओं का कोई स्वभाव नहीं (निःस्वभावत्वम्)।

माध्यमिक और शून्यवादी नहीं मानते कि वस्तु में सत्य या स्वभाव होता है। उष्णता को अग्नि का स्वभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि अग्नि और ताप अनेक स्थितियों के समवाय के परिणाम है और जो अनेक स्थितियों पर निर्भर है वह वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकता। वस्तु का स्वभाव तो वह होता है जो किसी अन्य पर निर्भर न हो और चूँकि ऐसा कोई भी स्वभाव नहीं होता जो अपने आप में अनिर्भर रूप से सत्ता में हो। इसलिए उसका अस्तित्व हम कैसे मान सकते हैं। जब किसी वस्तु में सार या सत्ता नहीं है तो उसमें अन्य वस्तुओं का सार (परभाव) भी हम नहीं मान सकते जब किसी वस्तु में किसी वस्तु का स्वीकार नहीं हो सकता तो किसी वस्तु में किसी वस्तु का नकार भी नहीं हो सकता। जब पहले कोई किसी वस्तु का भाव मानता है, बाद में समझता है कि वे नहीं हैं, तब वह उसका अभाव जानता है, किन्तु वस्तुतः हम किसी चीज का भाव ही नहीं मानते तो उसका अभाव भी नहीं मान सकते।[1]

यहाँ यह आपत्ति होती है कि फिर भी हम एक प्रक्रिया को चलते कैसे पाते हैं? माध्यमिक इसका उत्तर उस प्रकार देता है कि स्थायी वस्तुओं में परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार क्षणिक वस्तुओं में भी क्रम नहीं मान सकते क्योंकि क्षणिक वस्तु प्रतीति के अगले क्षण नष्ट हो सकती है, फिर क्रम कहाँ रहेगा? जो उत्पन्न प्रतीत होती है वह न तो कहीं से आती है न जाती है, जो नष्ट प्रतीत होती है वह भी न आती है न जाती है, इसलिए उनकी प्रक्रिया (संसार) भी नहीं मानी जा सकती। ऐसा नहीं हो सकता कि जब दूसरा क्षण आया तो पहले क्षण का संसार बदल गया, क्योंकि वह दूसरा क्षण था पहला उसके समान नहीं था, क्योंकि कार्य कारण सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः इन दो में कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः सभी जागतिक निर्धारण पूर्व और पर के, गलत हैं। यह मानना कि एक आत्मा है जिसमें परिवर्तन होता है, भी गलत है। क्योंकि हम कितना भी खोजें आत्मा नहीं पाएँगे, पाँच स्कंध ही पाएँगे। यदि आत्मा एक है तो इनमें कोई क्रम या वृद्धि नहीं होगी अन्यथा वह

---

[1] देखें, माध्यमिकवृत्ति (पृ० ९३-१००)।

मानना पड़ेगा कि एक ही क्षण में आत्मा एक स्वभाव छोड़ती है दूसरा धारण करती है जो कि नहीं माना जा सकता ।[१]

अब प्रश्न उठता है कि यदि कोई कम नहीं है और संसार का अनेक यंत्रणाओं वाला चक्र भी नहीं है तो फिर निर्वाण क्या है जिसे समस्त क्लेशों से मुक्ति बतलाया गया है ? इसका माध्यमिक यह उत्तर देते हैं कि वे निर्वाण की यह परिभाषा नहीं मानते । उनके अनुसार निर्वाण समस्त घटनाओं के सार का अभाव है उसे किसी वस्तु की समाप्ति या निरोध के रूप में या किसी वस्तु की उत्पत्ति के रूप में नहीं माना जा सकता वह "अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम्" है । निर्वाण में सब घटनाएँ समाप्त हो जाती है (हम कहते हैं कि निर्वाण में वे समाप्त हो जाती हैं, वैसे वस्तुतः रज्जु में सर्प की भाँति, वे रहती ही[२] नहीं । निर्वाण की कोई वस्तु-सत्ता अथवा कोई भाव नहीं है क्योंकि वस्तुएँ और सत्ताएँ कारणों के कार्य (संस्कृत) होती हैं और विनाश-गोचर भी होती हैं । यह अभाव भी नहीं है । क्योंकि जब भाव ही नहीं हो अभाव कैसा ? प्रतीतियाँ और घटनाएँ एक के बाद एक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में प्रतीत होती हैं किन्तु इससे परे उनमें कोई सार सत्ता या सत्य नहीं कहा जा सकता । घटनाएँ कभी उत्पन्न प्रतीत होती हैं कभी नष्ट, किन्तु उन्हें सत्तात्मक या असत्तात्मक नहीं कहा जा सकता । निर्वाण का तात्पर्य है इस प्रतीत होने वाली प्रपंच प्रवृत्ति की समाप्ति । उसे भाव या अभाव नहीं कहा जा सकता, ये शब्द प्रपंचों के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं । (न चाप्रवृत्तिमात्रं भावाभावेति परिकल्पितुं पार्यते एवं न भावाभावनिर्वाणम् । मा० वृ० १९७) ऐसी स्थिति में कोई ज्ञान नहीं होता, यह ज्ञान भी नहीं कि प्रपंच की समाप्ति हो गई है । स्वयं बुद्ध भी एक प्रपंच, आभास या स्वप्न ही हैं, इसी प्रकार उनके उपदेश भी ।[३]

यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त में कोई बन्धन या मुक्ति जैसी चीज नहीं मानी जा सकती । समस्त प्रपंच प्रतिबिंब, मृगतृष्णा, स्वप्न, माया आदि के समान निःस्वभाव हैं, यह मानना कि किसी को वास्तविक निर्वाण प्राप्त हो सकता है, अज्ञान ही है ।[४] यह मिथ्या अहंकार ही अविद्या माना जाता है । ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि किसी वास्तविक सत्ता की कोई भी स्थिति नहीं है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यदि अविद्या नहीं होती तो संस्कार भी नहीं होते और यदि संस्कार नहीं होते तो चित्त भी नहीं होता इत्यादि । किन्तु अविद्या के बारे में यह नहीं कहा जा

---

१ देखें, माध्यमिकवृत्ति (पृ० १०१-१०२) ।

२ वही, पृ० १९४ ।

३ मा० वृ० (पृ० १९२ तथा २०१) ।

४ मा० वृ० (पृ० १०१-१०८) ।

सकता कि, 'मैं संस्कार पैदा कर रही हूं', परन्तु संस्कारों के बारे में यह कहा जा सकता है 'हम अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो रहे हैं।' अविद्या है इसलिए संस्कार होते हैं। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के बारे में भी कहा जा सकता है। प्रतीत्य-समुत्पाद की यह प्रकृति ही हेतूपनिबंध कही जाती है।

इसे एक दूसरे पहलू से भी देखा जा सकता है, वह है समवाय अथवा सम्बद्धता पर निर्भरता (प्रत्ययोपनिबन्ध)। चार तत्वों एवं आकाश तथा विज्ञान के समवाय से ही मनुष्य बनता है। पृथ्वी तत्व से शरीर ठोस होता है, जल तत्व से चर्बी बनती है, अग्नि तत्व से पाचन होता है, वायु तत्व से श्वास प्रश्वास चलते हैं, आकाश तत्व से शरीर में अवकाश, छिद्र या कूप बनते हैं और विज्ञान तत्व से मन, मस्तिष्क या चैतन्य बनता है। इन सबके समवाय के कारण ही हम मनुष्य को वैसा पाते हैं जैसा वह है। किन्तु इन तत्वों में से कोई यह नहीं जानता कि वह वे कार्य सम्पन्न कर रहा है जो उसे आवंटित हैं। इनमें से कोई तत्व, स्वयं कोई सार आत्मा, या प्राणी नहीं है। अज्ञान के कारण इनको अपने आप में एक सत्ता मानकर हम उनके प्रति एक मोह पैदा कर लेते हैं। इस प्रकार अज्ञानवश संस्कार जन्मते हैं, जिनमें राग, द्वेष, मोह आते हैं, उनके बाद विज्ञान और चार स्कंध आते हैं। ये सब चार तत्वों से मिलकर नामा और रूप देते हैं, इन सबसे इन्द्रिय (षडायतन) बनते हैं। इन तीनों के समवाय से स्पर्श पैदा होता है, उससे भावना, उससे तृष्णा, और इस प्रकार यह क्रम चलता है। यह एक नदी के प्रवाह की तरह चलता है[1] परन्तु इन सबके पीछे कोई वास्तविक सार अथवा इसके नीचे कोई ठोस आधारभूमि नहीं है। इस प्रकार प्रपंचों को सत् या असत्—कुछ नहीं कहा जा सकता और शाश्वतवाद और उच्छेदवाद में से किसी को भी सत्य नहीं ठहराया जा सकता। इसी कारण इन दोनों के बीच के इस सिद्धान्त को मध्यमक (माध्यमिकवाद) कहा गया है।[2] सत्ता और असत्ता में केवल एक सापेक्ष सत्य है (संवृतिसत्य) जैसा कि प्रपंचों में है, परमार्थ सत्य नहीं है। वह कहीं नहीं है। सद्धर्माचरण (नैतिकता या शील) को इस सिद्धान्त में भी, अन्य भारतीय धर्मों की भाँति बहुत महत्व दिया गया है। यहाँ नागार्जुन की "सुहृल्लेखा" के तिब्बती अनुवाद से वेन्ज्रेल द्वारा किए गए अनुवाद से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं—

(पी० टी० एस०, १८८६)।

६. यह जानकर कि संपत्ति विनाशी और निःसार है, धर्मानुसार भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रों में दान करो, दान से श्रेष्ठतर मित्र कोई नहीं।

---

[1] मा० वृ० पृ० २०९-२११ में शालिस्तम्भासूत्र से उद्धृत। इसी को वाचस्पतिमिश्र ने शंकर के ब्रह्मसूत्र पर अपनी टीका 'भामती' में से भी उद्धृत किया है।

[2] माध्यमिकवृत्ति पृ० १६०।

७. निर्दोष और ऊँचा पवित्र और निष्कलंक शील धारण करो, शील ही श्रेष्ठता का आधार है जैसे कि पृथ्वी चराचर का आधार है।

८. धर्म, शील, शम, शक्ति, ध्यान, ज्ञान आदि उच्च एवं अशोच्य शीलों का आचरण करो जिससे कि जन्म के दूसरे छोर पर पहुँचकर तुम जिन बन सको।

९. परिजन, शरीर, कीर्ति, यौवन अथवा सत्ता के साथ जुड़े हुए मात्सर्य, शाठ्य, माया, काम, कौषीद्य, मान, राग, द्वेप, मद आदि को शत्रु मानो।

१५. शम से अधिक कोई चीज दुःसाध्य नहीं है इसलिए क्रोध को स्थान मत दो। बुद्ध का वचन है कि जिसने क्रोध पर विजय पा ली वह अनागामित्व (अपुनर्जन्मा भिक्षुत्व) को प्राप्त होता है।

१६. परस्त्री की ओर दृष्टि न डालो और यदि उस पर दृष्टि पड़ जाय तो उसे आयु के अनुसार अपनी माता, बहिन या पुत्री समझो।

२४. जिसने छहों इन्द्रियों के चंचल एवं अस्थिर विषयों पर विजय पा ली तथा जिसने युद्ध में शत्रु की सेनाओं को विजय कर लिया, इन दोनों में से ज्ञानी लोग प्रथम विजयी को श्रेष्ठ मानते हैं।

२९. विश्वास को हानि और लाभ, हर्ष और विषाद, कीर्ति और अपकीर्ति, निन्दा और स्तुति इन आठों के प्रति समान भाव रखना चाहिए। इनमें भेद का विचार मत करो।

३७. केवल एक ही स्त्री परिवार की रक्षिका देवी के समान पूज्य है जो बहिन के समान शीलवती, सुहृद् के समान आकर्षक, माता के समान शुभेच्छु और सेवक के समान आज्ञाकारिणी हो।

४०. दया, क्षमा, प्रसन्नता एवं औदासीन्य इनका सदा ध्यान रखो। इससे यदि तुम्हें उच्चता नहीं मिली तो ब्रह्मविहार अवश्य मिलेगा।

४१. काम, विचार, प्रीति तथा सुख-दुःख को चार ध्यानों द्वारा निरस्तर करके ही तुम ब्रह्मत्व का फल प्राप्त कर सकोगे।

४९. यदि तुम समझो कि यह कलेवर तुम नहीं हो तो तुम्हें भान होगा कि यह कलेवर तुम्हें नहीं मिला, तुम्हारा नहीं है, तुम इसमें नहीं रहते, यह तुम में नहीं रहता। इसी प्रकार तुम चारों तत्वों की निःसारता का बोध कर सकोगे।

५०. तत्वों की उत्पत्ति इच्छा से नहीं, काल से नहीं, प्रकृति से नहीं, स्वभाव से भी नहीं। न ईश्वर से वे जन्मे हैं? वे अकारण भी नहीं हैं। वे अविद्या और तृष्णा से जन्मे हैं यह जान लो।

५१. धार्मिक रीति रिवाज (शील व परामर्श), गलत धारणाएँ (मिथ्यादृष्टि) और शंका (विचिकित्सा) ये तीन बन्धन हैं।

५३. सर्वोच्च धर्म, सर्वोच्च ज्ञान और सर्वोच्च विचारों का सदा अनुशीलन करते रहो क्योंकि प्रातिमोक्ष के १५० नियम इन्हीं तीन में निहित हैं।

५८. हे पुरुष श्रेष्ठ, संसार के इस असार कदली वृक्ष से निःसंग हो जाओ क्योंकि तुमने देख लिया है कि यह सब अनित्य है, अनात्म है, अशरण है, अनाथ है और अस्थान है।

१०४. जैसे सिर में या कपड़ों में आग लग जाने पर तुम उसे तुरन्त बुझाना चाहते हो, उसी प्रकार इच्छा को तुरन्त बुझाओ, क्योंकि इससे बड़ा कोई आवश्यक कार्य नहीं।

१०५. धर्म, ज्ञान और ध्यान के द्वारा शमात्मक, शान्त, काल-रहित, अमर, अजर तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र से रहित निर्वाण की श्रेष्ठता प्राप्त करो।

१०७. जहाँ प्रज्ञा नहीं है वहाँ ध्यान नहीं, जहाँ ध्यान नहीं है वहाँ प्रज्ञा नहीं है। जिसने इन दोनों को प्राप्त कर लिया है उसके लिए संसार सागर गोपद के समान है।

कट्टर प्रत्ययवाद अथवा बौद्ध विज्ञानवाद

विज्ञानवाद अथवा योगाचार के नाम से प्रसिद्ध बौद्ध दर्शन का उल्लेख कुमारिल और शंकर जैसे वरिष्ठ हिन्दू दार्शनिकों ने भी किया है। यह शून्यवादियों से, जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके है, बहुत हद तक मिलता जुलता है। समस्त धर्म, (गुण और सार) अज्ञानी दिमागों की नकली उपज है। बाह्य जगत् में कोई गति या जीवन नहीं है जैसाकि हम समझते हैं, क्योंकि उसकी कोई सत्ता नहीं है। इसका निर्माण हम ही करते हैं और हमें ही "यह है" ऐसा मोह हो जाता है (निर्मितप्रतिमोही)।[1] हमारे मन में दो क्रियाएँ होती हैं। एक वह जो प्रत्यक्ष करती है (ख्यातिविज्ञान), दूसरी वह जो उन्हें काल्पनिक निर्मितियों में रखती है (वस्तु-प्रतिविकल्प विज्ञान)। ये दोनों व्यापार परस्पर-संबद्ध हैं, निर्भर हैं और अविभाज्य हैं (अभिन्नलक्षणे, अन्योन्यहेतुके)। दृश्य जगत् के सम्बन्ध से जो अनादि, सहज प्रवृत्तियाँ निहित होती हैं उनके कारण ये व्यापार होते हैं (अनादिकाल-प्रपंच-वासना-हेतुकं च)।[2]

---

[1] लंकावतारसूत्र, २१-२२।

[2] लंकावतार, पृ० ४४।

जब विभिन्न गूढ़ कल्पना प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं तभी ऐन्द्रिय ज्ञान समाप्त हो सकता है (अभूत-परिकल्प वासना-वैचित्र्य-निरोध:)।[1] हमारा समस्त बाह्य ज्ञान निस्सार और निस्स्वभाव है, वह माया-जन्य है, मृगतृष्णा है, स्वप्नवत् है। कोई चीज बाहरी नहीं है, सब कुछ मन (स्वचित्त) की काल्पनिक रचना है। अनादि काल से मन काल्पनिक रचना करने का अभ्यासी हो गया है। यह मन जिसके व्यापार से ये रचनाएँ विषय या विषयी के रूप में जन्मती हैं, अपने आप में कोई वस्तु नहीं हैं, यह उत्पत्ति-स्थिति और विनाश-रहित है (उत्पादस्थिति भंगवर्जम्)। इसे ही आलय-विज्ञान कहा गया है। आलय-विज्ञान को आपत्तिस्थिति-नाश-रहित बताने का कारण शायद यह है कि इसकी सत्ता इस रूप में काल्पनिक है कि यह प्रपंच की स्थितियों का, जैसी वे प्रकट होती हैं, ज्ञान कराता है, इसकी स्वयं की कोई सत्ता नहीं है, सही मायनों में हम इसकी कोई वस्तु-सत्ता नहीं बता सकते।

हमें यह ज्ञान नहीं होता कि दृश्य-प्रपंच कोई बाहरी वस्तु नहीं, बल्कि स्वचित्त के अन्दर ही है। फिर, भासमान बाह्य जगत् पर विश्वास करने और मानने की एक अनादि प्रवृत्ति चली आ रही है। ज्ञान का स्वभाव है कि (ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में) वह जानता है तथा मन की प्रवृत्ति है कि विभिन्न विषयों का अनुभव करता है। इन चारों कारणों से आलय-विज्ञान (मन) में अनुभव की रेखाएँ प्रकट होती है (प्रवृत्ति विज्ञान) जैसे जलाशय में लहरें। ऐन्द्रिय अनुभवों की ये लहरें अनुभूतियों के रूप में प्रकट होती हैं। इस प्रकार पाँचों स्कंध (पंच विज्ञान काय) अपने मिले-जुले स्वरूप में प्रकट होते हैं। बाह्य ज्ञान को हम आलय विज्ञान से भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं, जैसे समुद्र को लहरों से भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। जैसे हम समुद्र का लहरों के रूप में उछलता देखते हैं वैसे ही चित्त अथवा आलय-विज्ञान को विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप में देखते हैं। चित्त के रूप में यह समस्त कर्मों को ग्रहण करता है, मन के रूप में संयोजन करता है (विधीयते), विज्ञान के रूप में पांचों प्रत्यक्षों का निर्माण करता है (विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पते पंचभि:)।[2]

माया के कारण प्रपंच विषय और विषयों के रूप में द्विधा दिखते हैं। ये सब आभास मात्र माने जाने चाहिए (सम्वृतिसत्यता)। वास्तव में इनकी कोई सत्ता है या नहीं है (भाव या अभाव) यह नहीं कहा जा सकता।[3]

सत् और असत् सभी संवृत्तियाँ मायाकृत हैं (सदसत: मायोपमा:) ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि समस्त आभासों का नितांत अभाव है, अभावों का भी, क्योंकि

---

[1] लंकावतार पृ० ४४।

[2] वही, पृ० ५०-५५।

[3] असंग का महायानसूत्रालंकार (पृ० ५८-५९)।

वे भी आभास हैं। इससे चरम सत्य भावस्वरूप होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो भाव और अभाव दोनों में समान है (भावाभावसमानता)।[1] ऐसी स्थिति, जो अपने आप में पूर्ण है, अनाम है और असार है, लंकावतार सूत्र में तथता[2] कही गई है। इसी सूत्र में अन्यत्र इसे शून्यता कहा गया है जो एक है, अजन्मा है और असार है।[3] एक अन्य स्थान पर इसे तथागत गर्भ भी कहा गया है।[4]

यह सोचा जा सकता है कि निर्गुण चरम सत्य का यह सिद्धान्त वेदान्त के आत्मा या ब्रह्म के सिद्धान्त के बहुत निकट है, जैसे कि अश्वघोष का तथता-सिद्धान्त। लंकावतार में रावण बुद्ध से पूछता है–"आप कैसे कह सकते हैं कि, आपका तथागतगर्भ सिद्धान्त अन्य दर्शनों की आत्मा से भिन्न है? वे विरोधी भी आत्मा को अनादि, कारण भूत, निर्गुण, सर्वव्यापी, अविनाशी मानते हैं।" बुद्ध इसका उत्तर यों देते हैं– "हमारा सिद्धान्त उनसे भिन्न है। यह मानते हुए कि ऐसे दर्शन का उपदेश जो समस्त जगत् का कोई आत्मा या सार नहीं मानता (नैरात्म्य), शिष्यों को भयावह लगेगा, मैं यह कहता हूं कि यह सब कुछ केवल, वस्तुसत्ता में तथागतगर्भ है। इसे आत्मा नहीं समझना चाहिए। जैसे मृत्तिका के एक ढेले से विभिन्न आकार बन जाते हैं उसी प्रकार यह निस्सार प्रपंच है जो निर्गुन है, निर्लक्षण है (सर्व-विकल्प-लक्षण-विनिवृत्तं)। इसे कहीं गर्भ और कहीं नैरात्म्य कहा गया है। चरम सत्य और वस्तु-सत्ता के रूप में तथागत गर्भ की यह व्याख्या इसलिए की गई है कि वे विरोधी अन्धविश्वास के कारण आत्मा के सिद्धान्त को मानते हैं हमारे मत की ओर आकृष्ट हों।"[5]

जहाँ तक संवृतियों (दृश्य प्रपंचों) की प्रतीति का प्रश्न है, प्रत्ययवादी (विज्ञान-वादी) बौद्ध दार्शनिक प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को ही थोड़े परिवर्तनों के साथ मानते हैं। वे एक बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद (जैसा कि विषयगत दृष्टि से वह देखा जा सकता है) तथा एक आन्तरिक प्रतीत्यसमुत्पाद दोनों का विवेचन करते हैं। बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन वे इस उदाहरण से करते हैं कि किस प्रकार भौतिक पदार्थ जैसे एक घट विभिन्न वस्तुओं–मृत्पिण्ड, कुलाल, चक्र आदि के समवाय और सहयोग से बनते हैं। आन्तरिक अर्थात् आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद के विवेचन में वे अविद्या, तृष्णा, कर्म, स्कंध, आयतन आदि का विचार करते हैं।[6]

---

[1] असंग का महायानसूत्रालंकार पृ० ६३।

[2] लंकावतार सूत्र पृ० ७०।

[3] वही, पृ० ७८।

[4] वही, पृ० ८०।

[5] लंकावतार, पृ० ८०-८१।

[6] लंकावतार, पृ० ८५।

हमारा बोध दो प्रकार की वुद्धियों में प्रकट होता है, प्रविचय वुद्धि तथा विकल्पलक्षणग्रहाभिनिवेशप्रतिष्ठापिका वुद्धि। प्रविचयवुद्धि चार प्रकार से वस्तुओं का वोध कराती है–एकत्वान्यत्व (या तो यह या वह) का विवेचन करके, उभयानुभव का विवेचन करके (दोनों या दोनों नहीं), अस्ति नास्ति का विवेचन करके (हैं या नहीं), नित्यानित्य (स्थायी हैं या अस्थायी) का विवेचन करके। पर वस्तुतः प्रपंचों के बारे में इन चारों में से कोई भी प्रकार पूरा नहीं वैठता। दूसरी तरह की वुद्धि मन की उस प्रवृत्ति में निहित है जिस कारण वह विविधता पैदा करता है तथा उनको अपनी कल्पनाओं (परिकल्पों) के द्वारा किसी एक बौद्धक, तार्किक आनुपूर्वी या क्रम में कर्ता, कर्म, विषय, विषयी, कार्य कारण आदि के सम्बन्धों में बिठाकर रखता है। जिन्हें इन दोनों वुद्धियों के व्यापार का ज्ञान है वे जानते हैं कि वाह्य भौतिक जगत् की कोई सत्ता नहीं है और यह केवल मन के अनुभव के रूप में ही आभासित या प्रतीत होता है। जब कहीं नहीं है–यह केवल स्नेहात्मिका ऐन्द्रिय मानस प्रवृत्ति है जो बाह्य पदार्थ के रूप में जल की कल्पना करती है, ताप अथवा शक्ति की ऐन्द्रिय कल्पना अग्नि की निर्मिति कर लेती है, गति की ऐन्द्रिय कल्पना वायु की निर्मिति कर लेती है। इस प्रकार असत्य में सत्य का अभिनिवेश करने की मिथ्या प्रवृत्ति (मिथ्यासत्याभिनिवेश) के कारण पाँच स्कन्ध प्रकट होते हैं। यदि ये सब एक साथ प्रकट होते तो हम कार्य कारण सम्बन्ध नहीं मान सकते थे–यदि ये एक के बाद एक के क्रम में प्रकट होते तो इनमें कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि उन्हें एक साथ संयुक्त रखने का कोई हेतु नहीं होता। सो, वस्तुतः कोई चीज न तो उत्पन्न होती है न नष्ट होती है, यह तो हमारी निर्मित्यात्मक कल्पना ही है जो प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का द्रष्टा या प्रत्यक्षकर्ता के साथ वस्तुओं को उनके सम्बन्धों सहित पैदा कर लेती हैं। वस्तुओं को 'ज्ञात' रूप में अभिहित करना भी एक परम्परा ("व्यवहार") मात्र है।[1] जो भी हम वाणी द्वारा कहते है वह 'वाग्विकल्प' मात्र है। वह अवास्तव है। वाणी में किसी भी वस्तु को कार्यकारण संबंधों में बाँधे बिना हम अभिहित नहीं कर सकते किन्तु इन बातों में कोई भी सत्य नहीं है। परमार्थ को वाणी द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता। वस्तुओं की शून्यता को सात प्रकार से समझा जा सकता है–(१) वे सब अन्योन्यनिर्भर हैं और उनका अपना कोई लक्षण नहीं है। उनमें जब स्वयं का कोई लक्षण नहीं है तो अन्य के लक्षण से भी उन्हें नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब उनका कोई लक्षण नहीं है तो अन्य भी अलक्षण (अपरिभाषित, अनिर्धारित ही होगा) अतः यह सब लक्षणशून्य है। (२) क्योंकि वे अभाव अर्थात् स्वभाव शून्यता से उत्पन्न हैं (स्वभावा-भावोत्पत्ति) अतः अतः उनमें कोई भाव नहीं है भावस्वभावशून्यता)। (३) वे अज्ञात अभाव से उत्पन्न

---

[1] लंकावतार (पृ० ८७) शंकर ने भी 'व्यवहारिका' शब्द का प्रयोग भौतिक, संवृत्यात्मक, पारंपरिक संसार के लिए किया है जो इससे तुलनीय है।

हैं (अप्रचरितशून्यत) क्योंकि समस्त स्कन्ध निर्वाण में जाकर विलीन हो जाते हैं। (४) अभूत होते हुए भी वे प्रपंचों के रूप में संवद्ध प्रतीत होते हैं (प्रचरितशून्यता) क्योंकि उनके स्कन्धों में न तो अपने आप में वस्तुसत्य है न वे किसी अन्य से संवद्ध हैं फिर भी वे कार्यकारण संगत और संवद्ध प्रतीत होते हैं। (५) उनका किसी भी प्रकार विवेचन या वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता (निरभिलप्यशून्यता)। (६) दीर्घ-काल से हमारी दृष्टि को दूषित करने वाले मिथ्याभास के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान के द्वारा उनका बोध नहीं किया जा सकता। (७) हम वस्तुओं को काल विशेष और देश विशेष में स्थिति बतलाते हैं जबकि वे नहीं हैं (इतरेतरशून्यता)।

इस प्रकार केवल "अभाव" ही विद्यमान है पर वह भी न तो अनादि है, न विनाशी। जगत् एक स्वप्नमात्र है, माया है। दो निरोध बतलाए गए हैं-आकाश और निर्वाण। ऐसी वस्तु जिसका न तो भाव है, न अभाव है उसे केवल मूर्खों की कल्पना द्वारा ही विद्यमान माना जा सकता है।

यह मत इस सिद्धान्त के इस विचार के विरोध में जाता है कि वस्तुसत्य को तथागतगर्भ (तथता में समाने वाले पदार्थों का गर्भ) कहा जाता है और स्कन्धों, धातुओं (तत्वों) तथा ऐन्द्रिय विषयों (आयतनों) के आभास इसे दोषों से ढक देते हैं। इससे यह सिद्धान्त एक विश्वजनीन आत्मा को ही अन्तिम सत्य मानने वाले मत के निकट आता सा जान पड़ता है। लंकावतार सूत्र इस विरोधाभास का इस प्रकार समाधान करता है कि तथागतगर्भ को ही चरम वस्तुसत्य बतलाना केवल एक गुडजिह्विका मात्र है जो उन व्यक्तियों को आकर्षित करने हेतु दी जाती है जो नैरात्म्य सिद्धान्त की रूक्षता को सहन नहीं कर पा सकते (लंकावतार पृ० ८०)।

बोधिसत्वों को चार प्रकार के ज्ञान द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है-(१) स्वचित्तदृश्य-भावना (२) उत्पादस्थितिभंग-विवर्जना (३) बाह्यभावाभावोपलक्षणता और (४) स्वप्रत्यार्यज्ञानाधिगमाभिन्नलक्षणता। प्रथम का तात्पर्य है कि समस्त वस्तुएँ केवल चित्त की कल्पना मात्र हैं। दूसरे का तात्पर्य है कि चूंकि वस्तुओं में कोई सार नहीं है अतः उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश हैं ही नहीं। तीसरे का तात्पर्य है बाह्य वस्तुओं का भाव क्या है व अभाव क्या है इसका वास्तविक तात्पर्य केवल यह है कि यह सब उपलक्षण मात्र है, एक मृगतृष्णा के समान है, यह वासना की ही उपज है जो इस सब विविध प्रपंच को पैदा करती है, उसका प्रत्यक्ष कराती है। चौथे का तात्पर्य है वस्तुओं के स्वभाव के ज्ञान का अधिगम।

लंकावतार में वर्णित चार ध्यान थेरवाद बौद्ध सिद्धान्त के प्रसंग में वर्णित चार ध्यानों से कुछ भिन्न है। इनके नाम हैं-१. बालोपचारिका २. अर्थप्रविचय ३. तथता-

लंबन व ४. तथागत। प्रथम ध्यान श्रावक और प्रत्येक बुद्ध लगाते हैं। इसमें पुद्गल-नैरात्म्य (आत्मा नहीं है) सिद्धान्त पर ध्यान लगाया जाता है, ये मानते हैं कि यह सब क्षणिक, दुःख व अशुद्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक ध्यान लगाते हुए साधक उस स्थिति तक पहुँच जाता है जब उसे संज्ञा नहीं रहती (असंज्ञानिरोधात्) तब इसे बालोपचारिका ध्यान (शिक्षुओं का ध्यान) कहा जाता है।

दूसरा ध्यान आगे की स्थिति का है। इसमें यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा नहीं है, साथ ही यह भी कि न तो जागतिक पदार्थ सत्य हैं न अन्य सिद्धान्तों के मत, कोई भी धर्म जो आभासित होते हैं, नहीं हैं। इसे अर्थप्रविचय कहते हैं क्योंकि साधक वस्तुओं के वास्तविक अर्थ की खोज करती है। तीसरे में बुद्धि में यह अहसास रहता है कि वस्तुओं की सत्ता नहीं है, आत्मा तथा अभास सब कुछ नहीं है यह सिद्धान्त भी कल्पना की ही उपज मात्र है और अन्ततः तथता में विलीन हो जाता है। इसीलिए इस ध्यान को तथतालम्बन कहा गया है क्योंकि तथता को ही आधारभूत मानकर यह चलता है।

चौथा और अन्तिम ध्यान वह है जिसमें मन तथता में इस प्रकार विश्रान्त हो जाता है कि प्रपंचों का अनस्तित्व व अविज्ञेयत्व पूर्णतः ज्ञात हो जाता है। निर्वाण वह है जिसमें ज्ञान के रूप में प्रकट होने वाली समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और बुद्धि जो ज्ञान और प्रत्यक्ष द्वारा आभासों और मिथ्या वस्तुओं की प्रतीति कराती हैं, कार्य करना बन्द कर देती है। इसे मृत्यु नहीं कहा जा सकता क्योंकि मृत्यु के बाद तो पुनर्जन्म हो सकता है, इसके बाद नहीं, इसे विनाश भी नहीं कह सकते क्योंकि संस्कृत वस्तुओं का ही विनाश हो सकता है। इस प्रकार यह मृत्यु और विनाश दोनों से विलक्षण है। यह श्रावकों और प्रत्येक बुद्धों के निर्वाण से भी विलक्षण है क्योंकि वे तो उस स्थिति को ही निर्वाण कह देते हैं जब विनाशी वस्तुओं की क्षणिकता और दुःखता का आभास होने के कारण वे पदार्थों से अनासक्त हो जाते हैं और मिथ्या ज्ञान नहीं होता (लंकावतार पृ० १०६)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसा अन्य विधर्मी कहते हैं, वस्तुओं का कोई कारण (आधार) नहीं है। जब हम कहते हैं कि जगत् माया या भ्रम है तो उसका तात्पर्य यही होता है कि इसका कोई आधार या कारण नहीं है। जो पदार्थ उत्पन्न, स्थित और विनष्ट होते से दिखते हैं यह विदुष्ट कल्पना की उपज ही है। अनादि भूल वासनाओं से विदुष्ट कल्पना (विकल्प) के रचनात्मक क्रियाकलापों से अलग होना ही तथता है (लंकावतार पृ० १०६)। तथता की माया से अलग स्थिति नहीं है। जब माया के निर्माण का क्रम बंद हो जाता है तो तथता ही माया का स्वरूप ले लेती है। इसीलिए इसे कभी-कभी 'चित्तविमुक्त' अथवा 'चित्त से अलग' कहा गया है क्योंकि

यह सर्वकल्पनाविरहित होती है। विज्ञानवाद का यह विवरण मुख्यतः लंकावतारसूत्र पर आधारित है क्योंकि इस वाद का अन्य कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है (हिन्दू दार्शनिकों द्वारा इसका वर्णन एवं खंडन उनके दार्शनिक ग्रन्थों जैसे कुमारिल का श्लोकवार्तिक या शंकर का भाष्य (२/२) में मिल सकता है। असंग के महायान सूत्रालंकार में बोधिसत्व के आचारों का अधिक वर्णन है, दर्शन का कम)।

प्रत्यक्ष का सौत्रान्तिक सिद्धान्त

धर्मकीर्ति[1] (६३५ ई० के आसपास) के सौत्रान्तिक तर्कशास्त्रीय एवं न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' के टीकाकार धर्मोत्तर (८४७ ई०) के अनुसार समस्त पुरुषार्थ की सिद्धियों के लिए सम्यग् ज्ञान अनिवार्य रूप से आवश्यक है (सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धिः)।[2] ज्ञान के विषय के प्रति प्रवृत्त होने पर जब ज्ञेय वस्तु का अवगमन होता है तो उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञेय विषय का वास्तविक अधिगमन ही सम्यग् ज्ञान है (अर्थाधिगति)। इस दृष्टि से ज्ञान की प्रक्रिया पदार्थ के प्रत्यक्ष संन्निकर्ष से आरम्भ होती है और ज्ञान की व्यावहारिक कामना की पूर्ति के साथ समाप्त होती है (अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापारः) (२) इसके अनुसार हमारी ज्ञान में प्रवृत्ति (३) ज्ञान की दिशा में हमारे प्रयत्न के अनुसार ज्ञेय वस्तु के ज्ञान का अधिगम। अनुमान को भी सम्यग् ज्ञान कहा जाना चाहिए क्योंकि यह भी पदार्थ की उपस्थिति किसी संबंध विशेष से कराता है तथा पदार्थों का बोध कराकर हमारे ज्ञान के उद्देश्य की प्राप्ति कराता है। प्रत्यक्ष में पदार्थ की उपस्थिति सीधे होती है, अनुमान में यह अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात् लिंग (तर्क) के माध्यम से होती है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि करता है और दार्शनिक ग्रन्थों में ज्ञान का विवेचन इसीलिए किया जाता है कि यह मनुष्यों का प्राप्तव्य है। इसलिए वह ज्ञान जो अपने विषय के सही अधिगमन कराने में सफल नहीं होता उसे सम्यग् ज्ञान नहीं कहा जा सकता। समस्त भ्रमात्मक प्रत्यक्ष जैसे श्वेत शंख को पीत शंख के रूप में देखना अथवा स्वप्न के दृश्य, सम्यक् ज्ञान नहीं हैं क्योंकि ज्ञेय पदार्थों का जैसे कि वे हैं, ये सही बोध नहीं कराते। यह सही है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं इसलिए प्रत्यक्ष के क्षण में

---

[1] सन्तानान्तरसिद्धि में धर्मकीर्ति अपने आपको विज्ञानवादी बतलाता है। यह अहंमात्रवाद पर अच्छा निबन्ध है। किन्तु उसके न्यायबिन्दु को न्यायबिन्दु टीकाटिप्पणीकार ने सौत्रान्तिकवाद का ग्रन्थ बतलाया है (पृ० १९) जो ठीक ही प्रतीत होता है।

[2] न्यायबिन्दु के अन्य टीकाकारों, विनीतिदेव और शान्तभद्र (७वीं शताब्दी) के मतों का सारांश धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका की टिप्पणी "न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी" में उद्धृत अवश्य मिलते हैं पर ये ग्रन्थ अब हमें उपलब्ध नहीं हैं।

जो पदार्थ रहता है वह दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहता। किन्तु समान पदार्थों की उपस्थिति की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि नीले पदार्थ के प्रथम प्रत्यक्ष के समय जो नीलत्व की प्रतीति होती है वह अन्य नीले पदार्थों के अपर प्रत्यक्षों द्वारा प्रमाणित होती है इसलिए नीलत्व का प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जाता है (नीलादौ य एव संतानः परिछिन्नो नीलांजनेन स एव तेनप्रापितः तेन नीलांजनं प्रमाणम्)।[1]

जब यह कहा जाता है कि सम्यक् ज्ञान पुरुषार्थ के लिए आवश्यक है या इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सहायक और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में बाधक है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्यक् ज्ञान इष्ट प्राप्ति का सीधा कारण हो जाता है। वस्तुतः किसी भी प्रत्यक्ष द्वारा भूत अनुभवों की स्मृति जगती है उससे इच्छा पैदा होती है, इच्छा से ब्रह्मरूप प्रयत्न शुद्ध होता है और उसके फलस्वरूप इष्ट वस्तु का अधिगमन होता है। इस दृष्टि से पदार्थ के अधिगमन का सीधा कारण सम्यक् ज्ञान नहीं है, वह इष्ट पदार्थ की उपस्थिति को सीधे संकेतित करता है। किन्तु उपस्थिति मात्र से कोई पदार्थ जिज्ञासा की वस्तु नहीं बन जाते। प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित पदार्थ की उपलब्धि के संबंध से ही वह जिज्ञासा का विषय बनता है।

धर्मकीर्ति द्वारा प्रत्यक्ष को उपस्थिति बताया गया है जो पदार्थ द्वारा ही उत्पादित होती हो और अन्य नामों अथवा कल्पनाओं से विरहित तथा अभ्रांत हो (कल्पनापोढम-भ्रान्तम्)।[2] इस परिभाषा से यद्यपि प्रत्यक्ष का स्वरूप वर्णित नहीं होता किन्तु यह उस शर्त को स्पष्ट करती है जो प्रत्यक्ष के सही होने के लिए पूरी होनी चाहिए। प्रत्यक्ष अभ्रांत नहीं होना चाहिए यह कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई उस ज्ञान के मुताबिक प्रयत्न में प्रवृत्त हो तो उस प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित पदार्थ की उपलब्धि में असफल न हो (तस्मादग्राह्ये अर्थे वस्तुरूपे यद्विपर्यस्तं तदभ्रांतमिह वेदितव्यम्)। यह कहा गया है कि सही प्रत्यक्ष नामों से (कल्पना या अभिलाप) अपोढ़ नहीं होनी चाहिए। यह शर्त इसलिए जोड़ी गई है कि पदार्थ द्वारा सीधे प्रस्तुत अर्थों के अलावा

---

[1] न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी, पृ० ११।

[2] दिङ्नाग (५०० ई०) के 'प्रामाणसमुच्चय' (संस्कृत में अनुपलब्ध) में दी हुई सर्व-प्रथम परिभाषा थी "कल्पनापोढम्।" धर्मकीर्ति के अनुसार यह निर्विकल्पक ज्ञान है जिसमें उस पदार्थ की प्रतिमा मात्र होती है जिसे इन्द्रियों के सम्मुख उपस्थापित किया जाता है और जो प्रत्यक्ष में उपस्थापित वस्तुगत, ठोस तत्व है। सविकल्पक ज्ञान वह है जो मन की चिन्तनात्मक क्रिया द्वारा निर्मित होता है और जिसमें किसी पूर्वानुभूत विषय की प्रत्यभिज्ञा होती है। इसे इन्द्रियों के सम्मुख उपस्थापित वस्तुगत पदार्थ का सही चित्रण, ज्ञान या प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

अन्य बातों को छोड़ा जा सके। पदार्थ को नाम तब दिया जाता है जब उसे स्मृति के द्वारा बुद्धि में इस प्रकार सम्बद्ध कर लिया जाय कि यह वही पूर्व में प्रत्यक्षीकरण पदार्थ है ऐसा बोध होने लगे। इसे प्रत्यक्ष के विषय द्वारा सीधे उत्पादित अर्थ नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियाँ पदार्थों को उनसे सन्निकृष्ट होने के कारण उपस्थापित करती हैं और पदार्थ इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क में आने पर उसी रूप में उपस्थित होते हैं जैसे वे हैं किन्तु स्मृति या नाम-लापन ऐसी चीज है जो पदार्थों द्वारा सीधे प्रस्तुत नहीं की जाती क्योंकि उसमें पूर्वानुभवों का सम्बन्ध निहित रहता है जो प्रत्यक्ष से सीधे सन्निहित नहीं होता (पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वत् विज्ञानं असन्निहित विषयं पूर्वदृष्ट्या सन्निहितत्वात्)। समस्त भ्रमात्मक प्रत्यक्षों में बाहरी अथवा अंदरुनी शारीरिक कारणों से इन्द्रिय प्रभावित होते हैं। यदि इन्द्रियाँ असम्यक् नहीं हैं तो वे पदार्थ की सही प्रतीति अवश्य कराएँगी। प्रत्यक्ष का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ की अपने ही रूप में, अपने ही लक्षण की सही उपस्थिति कराना (स्वलक्षणं)। अर्थ के साथ ज्ञान का सारूप्य ही प्रमाण है (अर्थेन सह यत्सारूप्यं सादृश्यमस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणमिह) यहाँ यह आपत्ति होती है कि यदि हमारा ज्ञान वाह्य पदार्थ के समान ही है तो यह समानता उपस्थिति से विभिन्न होगी और प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जाएगा। किन्तु समानता उस ज्ञान से विभिन्न नहीं है जो पदार्थ के समान प्रतीत होता है। उनके सारूप्य के कारण ही उस पदार्थ को ज्ञान का विषय मानते हैं (तदिति सारूप्यं तस्य वशात्)। तभी उस पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव होता है। चूँकि हमें नीलत्व का ज्ञान है इसीलिए हम नीले पदार्थ के प्रत्यक्ष का भान करते हैं। नीले पदार्थ के प्रत्यक्ष की समानता का भान तथा प्रत्यक्ष में नीलत्व की प्रतीति के फल में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है किन्तु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार ज्ञान के विषय का सारूप्य बताने वाला ज्ञान तथा ज्ञान के रूप में ज्ञेय वस्तु की प्रतीति का फल देने वाला ज्ञान एक ही है, उनमें विरोध नहीं है (तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद् रूपं प्रमाणं किंचित् प्रमाण फले न विरुध्यते) पदार्थ के साथ इसी सारूप्य के कारण ही पदार्थ का सही ज्ञान प्रमाणित होता है (व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यम्), इस प्रकार व्यवस्थापक के द्वारा व्यवस्थाप्य का ज्ञान होता है अर्थात् हम ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की पदार्थ से समानता के प्रमाण द्वारा किसी पदार्थ विशेष के नीलत्वादि ज्ञान की प्राप्ति, जो प्रमाण-फल है, उसे पाते हैं। यदि ज्ञान और उसके विषय में यह सारूप्य नहीं होता तो हम पदार्थ और ज्ञानफल में भेद ही न कर पाते (सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनमत्र हेतुः)। पदार्थ अपने से सरूप ज्ञानफल पैदा करता है और इसी सारूप्य के कारण सम्यक् ज्ञान द्वारा उपस्थापित पदार्थ का बोध होता है।[1]

---

[1] यह दुर्भाग्य की बात है कि न्यायबिन्दु, न्यायबिन्दु टीका और न्यायबिंदु-टीकाटिप्पणी (सेंटपीटर्सबर्ग १६०६) के अलावा इस महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष सिद्धान्त पर कोई साहित्य

अनुमान का सौत्रांतिक सिद्धान्त[1]

धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर द्वारा परिभाषित सौत्रांतिक सिद्धान्त में जो कि सम्भवतः संस्कृत में उपलब्ध प्रणालीबद्ध बौद्धतर्क का एकमात्र आगार है, अनुमान के दो भेद किए गए हैं, स्वार्थानुमान (स्वयं अपने आप के लिए अथवा अपने ज्ञानार्थ तर्क करते हुए व्यक्ति द्वारा किया गया अनुमान) और परार्थानुमान (शास्त्रार्थ में दूसरों को कायल करने के लिए हेतु वादों द्वारा दिया गया अनुमान)। प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की तरह ही अनुमान का प्रामाण्य भी बाह्य जगत् में वस्तुतः विद्यमान पदार्थों की समानता पर निर्भर है। जैसे प्रत्यक्ष बाह्य वस्तु सत्य के सारूप्य को बतलाता है वैसे ही अनुमान भी उसी पर निर्भर है। जिस प्रकार नीलत्व के प्रत्यक्ष का प्रामाण्य प्रत्यक्षीकृत नील पदार्थ से उसके सारूप्य पर निर्भर है उसी प्रकार नीलत्व के अनुमान का प्रामाण्य भी अनुमित बाह्य पदार्थ से सारूप्य पर निर्भर है (सारूप्य वशाद्धितन्नीलप्रतीतिरूपं सिध्यति)।

जिस हेतु अथवा आधार पर (लिंग से) अनुमान किया जाता है वह ऐसा होना चाहिए कि उन मामलों में उपस्थित हो जहाँ अनुमेय वस्तु उपस्थित हो और उन मामलों में अनुपस्थिति हो जहाँ वह नहीं हो। जहाँ उस हेतु (लिंग) का सही होना इन दोनों (अन्वय-व्यभिचार) शर्तों को देखकर प्रमाणित हो जाता है तब अनुमेय अर्थ और उस हेतु का एक सर्वदिक सम्बन्ध (प्रतिबंध) प्रमाणित हो जाता है। यही पर्याप्त नहीं है कि हेतु वहाँ-वहाँ विद्यमान हो जहाँ-जहाँ अनुमेय अर्थ रहता हो और वहाँ नहीं हो जहाँ वह अविद्यमान हो पर यह भी आवश्यक है कि वह केवल उपर्युक्त मामले में ही विद्यमान हो। साधन और साध्य[2] के सम्बन्ध में यह नियम अनुमान की आवश्यक

उपलब्ध नहीं है। न्यायबिंदु सम्भवतः उन प्राचीनतम ग्रन्थों में से है जिनमें हमें सर्वप्रथम अर्थक्रियाकारित्व (व्यावहारिक क्रियापूर्ति को ही सही ज्ञान की कसौटी मानना) सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। बाद में इसे सत्ता की कसौटी मान लिया गया था जैसाकि परवर्ती हिन्दू दर्शन ग्रन्थों में दिए गए बौद्ध दर्शन ग्रन्थों के संदर्भों से तथा रत्नकीर्ति की रचनाओं से सिद्ध होता है। अर्थक्रिया का उल्लेख नागार्जुन पर चन्द्रकीर्ति की टीका में तथा ललितविस्तर जैसे प्राचीन ग्रन्थों में (जैसा मुझे कैंब्रिज विश्वविद्यालय पुस्तकालय के ई० जे० टामस महोदय ने बताया)-भी मिलता है पर वहाँ इसका कोई दार्शनिक अर्थ नहीं है।

[1] चूंकि दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, हमें विकसित बौद्ध तर्कशास्त्र के बारे में पर्याप्त ज्ञान सुलभ नहीं है। धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका में जो कुछ उपलब्ध है वही हमारी जानकारी का स्रोत है।

[2] तस्मान्नियमवतोरेवान्वय व्यतिरेकयोः प्रयोगः कर्तव्यो येन प्रतिबन्धो गम्यते साधनस्य साध्येन (न्यायबिन्दु टीका पृ० २४)।

यह नैसर्गिक संबंध (स्वभाव प्रतिबंध) चाहे वह सामान्य और विशेष का तादात्म्य रूपी सम्बन्ध हो या कारण या कार्य का संबंध हो सारे अनुमान का मूल होता है।[1] यही स्वभाव-प्रतिबन्ध अविनाभावनियम अथवा सार्वदिक संबंध को निर्धारित करता है और अनुमान तर्क वाक्यों द्वारा नहीं अपितु सीधे उस लिंग द्वारा किया जाता है जो अविनाभावनियम से सम्बद्ध होता है।[2]

दूसरे प्रकार का अनुमान जिसे परार्थानुमान कहा जाता है अन्य समस्त लक्षणों में स्वार्थानुमान के समान ही होता है किन्तु उसमें यही अन्तर होता है कि अनुमान की प्रक्रिया को शब्दों में तर्क वाक्यों द्वारा रखना पड़ता है।

---

[1] न हि यो यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्धः स तम् अप्रतिबद्धविषयमवश्यमेव न व्यभिचरतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियम (न्यायबिन्दुटीका पृ० २६)।

[2] अविनाभाव संबंध जो अनुमान का आधार है तभी सम्भव है जब लिंग तीन शर्तों की पूर्ति करता हो—१. पक्षसत्त्व अर्थात् पक्ष (जिसके बारे में अनुमान किया जा रहा है) में लिंग की सत्ता, २. सपक्षसत्त्व अर्थात् सपक्ष में जिसमें साध्य रहता है, लिंग की सत्ता और, ३. विपक्षासत्त्व अर्थात् विपक्ष में जिसमें साध्य नहीं रहता, लिंग की अनुपस्थिति। बौद्धों ने एक तर्कवाक्य में तीन ही वचन माने हैं—उदाहरणार्थ पर्वत में अग्नि है क्योंकि इसमें धूम है जैसाकि रसोईघर में होता है और जलाशय में नहीं होता।

सम्भवतया नवीं या दसवीं ईस्वी शताब्दी में हुए पं० रत्नाकर-शान्ति ने एक निबन्ध 'अन्तर्व्याप्ति-समर्थन' शीर्षक से लिखा था जिसमें उन्होंने बतलाया कि व्याप्ति केवल उन दो पदार्थो मे नही मानी जाती जिनमें लिंग अथवा हेतु होता है और जिनमें साध्य होता है किन्तु उनमें होती है जिनमें लिंग के लक्षण विद्यमान हों और जिसमें साध्य के लक्षण विद्यमान हो, दूसरे शब्दों में धूम को रखने वाले बाहरी स्थानों जैसे महानस (रसोईघर), पर्वत में और वह्नि को रखने वाले स्थानों में व्याप्ति नहीं मानी जाती बल्कि उन दो पदार्थो मे मानी जाती है जिनमें लिंग अर्थात् धूम के लक्षण हों और जिसमें साध्य अर्थात् वह्नि के लक्षण हों। व्याप्ति के लक्षण के बारे में यह मत अन्तर्व्याप्ति-मत कहा जाता है और साध्य और साधन रखने वाले बाह्य पदार्थों में व्याप्ति मानने वाला मत (जो न्याय शास्त्र वाले मानते है) बहिर्व्याप्तिमत कहा जाता है। स्पष्टत: अन्तर्व्याप्ति का सिद्धान्त परवर्ती है और बौद्ध दार्शनिकों की देन है।

यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्ध तर्कशास्त्र के कुछ उदाहरण हमें कथावत्थु (२०० ई० पू०) के समय से ही मिलने लगते हैं। यमक के प्रमाणों पर ओंग ने बतलाया कि अशोक के समय में बौद्ध तर्कशास्त्र को पदों की व्याप्ति का भी ज्ञान था और परिवर्तन की प्रक्रिया का भी। उसने यह भी बताया है कि तर्क वाक्यों जैसे उदाहरण (यो यो अग्गिमा सो सो धूमवा–जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धूम है), उपनयन (अयं पब्बतो धूमवा; यह पर्वत धूमवान है) तथा निगम (तस्मादया अग्गिमा इसलिए यह अग्निमान है) का भी उसे ज्ञान था। ओंग ने कथावत्थु में उपलब्ध तर्कों की प्रक्रिया का भी थोड़ा संक्षिप्त विवरण दिया है। एक उदाहरण इस प्रकार है–

वादी–क्या क ख हैं (थापना)।

प्रतिवादी–हाँ

वादी–क्या ग, घ हैं (पापना)।

प्रतिवादी–नहीं

वादी–यदि क ख हैं तो (तुम्हारे अनुसार) ग घ होना चाहिए। ख को क में सिद्ध किया जा सकता है पर घ को ग में सिद्ध करना मिथ्या है इसलिए तुम्हारा प्रथम उत्तर खंडित हुआ।

मुख्य प्राक्कल्पना का हेतु वाक्य थापना कहा जाता है क्योंकि प्रतिवादी की स्थिति कि क ख है–खंडन के लिए हेतुक रूप में स्थापित की जाती है। प्राक्कल्पना के प्रधान वाक्य का फलवाक्य पापना कहा जाता है क्योंकि यह हेतु वाक्य से नि:सृत है। निष्कर्ष को रोपणा कहा जाता है क्योंकि प्रतिवादी का नियमन किया जाता है। एक अन्य उदाहरण–

"यदि घ ग से निःसृत है तो ख क से निःसृत होगा पर तुमने क को ख सिद्ध किया इसलिए क ख सिद्ध हो सकता है किन्तु ग या घ सिद्ध नहीं हो सकता यह गलत है।" यह पतिलोम, विपरीत या अप्रत्यक्ष पद्धति है जो अनुलोम या प्रत्यक्ष पद्धति (पहले उदाहरण) से विभिन्न है। दोनों में निष्कर्ष सिद्ध किया जाता है। किन्तु यदि हम मुख्य प्राक्कल्पना को अनुलोम पद्धति में बदल दें तो वह यूँ होगी–"यदि क ख है तो ग घ है। लेकिन क ख है इसलिए ग घ है।" इस अप्रत्यक्ष पद्धति से प्रतिवादी का द्वितीय उत्तर पुनः स्थापित हो जाता है।[1]

क्षणिकवाद का सिद्धान्त

रत्नकीर्ति ने (६५० ईस्वी) समस्त सृष्टि (सत्व) की क्षणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया था, पहले तो अन्वयव्याप्ति द्वारा फिर व्यभिचार व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध करते हुए कि वस्तुओं के नित्य होने की कल्पना से कार्यों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती इसलिए क्षणिकवाद को मानना ही एकमात्र मार्ग है। सत्व की परिभाषा अर्थ-क्रियाकारित्व (किसी के उत्पादन की शक्ति) के रूप में की गई है। अन्वय व्याप्ति के पहले तर्क को इस प्रकार रखा जा सकता है–"जो भी कुछ सृष्टि में है वह क्षणिक है, अपने सत्य के रूप में, जैसे घड़ा। प्रत्येक वस्तु जिसकी क्षणिकता के बारे में हम विमर्श कर रहे हैं सत् है अतः क्षणिक है।" यह नहीं कहा जा सकता घड़ा जिसे हमने सत् के उदाहरण के रूप में चुना है क्षणिक नहीं है, क्योंकि घड़ा इस क्षण में कुछ कार्यों की उत्पत्ति कर रहा है, यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब भूत और भविष्य में समान हैं या यह कि भूत और भविष्य में इसके कोई परिणाम नहीं हुए क्योंकि प्रथम असंभव है क्योंकि जो परिणाम अभी हो रहे हैं भविष्य में नहीं हो सकेंगे, दूसरा इसलिए नहीं कि यदि इसमें परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता है तो ऐसा करना बन्द नहीं करेगा, उस स्थिति में हम यह भी मान सकते हैं कि इस वर्तमान क्षण में भी कोई परिणाम नहीं होंगे। यदि किसी में किसी समय किसी को उत्पन्न करने की क्षमता है तो वह अवश्य ऐसा करेगा। यदि वह एक क्षण में ऐसा करता है और दूसरे क्षण में ऐसा नहीं करता तो उससे यह सिद्ध होगा कि विभिन्न क्षणों में पदार्थ विभिन्न थे। यदि यह माना जाता है कि उत्पत्ति की प्रकृति अलग-अलग क्षणों मे विभिन्न है तो उन दो क्षणों में वस्तु भी विभिन्न होगी क्योंकि एक वस्तु में दो विरोधी लक्षण नहीं रह सकते।

क्योंकि घड़ा वर्तमान क्षण में भूत और भविष्य के क्षणों का कार्य नहीं करता, वह ऐसा कर भी नहीं सकता, इसलिए कि यह घड़ा भूतकाल के और भविष्य के घड़े

---

[1] देखें : कथावत्थु (पाइन्ट्स आव कन्ट्रोवर्सी) के राइस डेविड्स कृत अनुवाद की भूमिका।

से अभिन्न नहीं है क्योंकि घड़े में शक्ति है भी और शक्ति नहीं भी है यह तथ्य सिद्ध करता है कि दो क्षणों में वह घड़ा एक और अभिन्न नहीं था (शक्ताशक्तस्वभावतया प्रतिक्षणम् भेदः)। अर्थ-क्रियाशक्ति जो सत्व का ही दूसरा नाम है, क्षणिकता से सर्वाधिक रूप से सम्बद्ध है (क्षणिकता व्याप्त)।

न्याय दर्शन इस सिद्धान्त का विरोध करता है और वह है कि जब तक किसी पदार्थ के कार्य को हम ज्ञात नहीं करते तब तक उसकी शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि कार्यों के उत्पादन की शक्ति को ही सत्व या सत्ता माना जाय तो कार्य की सत्ता या सत्व तब तक ज्ञात नहीं हो सकता जब तक उसके द्वारा दूसरा कार्य उत्पन्न न कर दिया जाय और उसके द्वारा तीसरा। इस प्रकार आगे चलते जाएँगे। चूँकि ऐसा कोई सत्व नहीं है जिसमें कार्य के उत्पादन की शक्ति नहीं हो और यह शक्ति यदि केवल अनन्त शृंखला के रूप में ही प्रकट या ज्ञात हो सकती है अतः सत्व का ज्ञान असंभव होगा, और सत्व के लक्षण के रूप में कार्य के उत्पादन की शक्ति को सिद्ध करना भी असभव होगा। दूसरे, यदि सभी वस्तु क्षणिक हों तो क्षणिकता अथवा परिवर्तन का ज्ञान या प्रत्यक्ष करने वाला कोई स्थायी द्रष्टा भी नहीं होगा और फिर जब कोई चीज स्थायी नहीं है तो किसी भी प्रकार के अनुमान करने के लिए भी कोई आधार नहीं होगा। इसका उत्तर रत्नकीर्ति यों देता है कि सामर्थ्य खंडन नहीं किया जा सकता। क्योंकि खंडन में भी सामर्थ्य स्वतः प्रकट हो जाएगा। अन्वय या व्यभिचार द्वारा व्याप्ति की सिद्धि के लिए किसी स्थायी द्रष्टा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अन्वय की कुछ शर्तों में अन्वय की व्याप्ति का ज्ञान निहित है और दूसरी स्थितियों में व्यभिचार की व्याप्ति का ज्ञान। अगले क्षण में व्याप्ति का ज्ञान प्रथम क्षण की स्थितियों के अनुभव को भी अपने आप में निहित रखता है। इसी प्रकार हम ज्ञान करते हैं। किसी स्थायी द्रष्टा की आवश्यकता नहीं है।

बौद्ध दर्शन में सत्व की परिभाषा वस्तुतः सामर्थ्य है। इसे हम यों समझते हैं कि सभी सिद्ध उदाहरणों में सत्ता का लक्षण केवल सामर्थ्य द्वारा ही दिया गया है, बीज अंकुर के उत्पादन करने का सामर्थ्य ही है और यदि इस सामर्थ्य के लिए भी आगे के कार्यों के उत्पादन करने का सामर्थ्य अपेक्षित हो तो यह तथ्य जो परिज्ञात है फिर भी रहेगा ही कि बीज का सत्व अंकुर के उत्पादन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और इस प्रकार[1] अनवस्था दोष नहीं होगा। यद्यपि सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं फिर भी हम

---

[1] दोषात्मक अवस्था तथा अदुष्ट अनवस्था के बीच विभेद भारतीय दार्शनिकों को ईसा की छठी या सातवीं शताब्दी से ही ज्ञात था। जयन्त ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें इन दोनों का भेद स्पष्ट किया गया है।

—न्यायमंजरी पृष्ठ २२।

तब तक व्याप्ति ग्रहण कर सकते हैं जब तक कि उनके (साध्यसाधन के) प्रत्यक्ष रूप विभिन्न हो जाते (अतद्रूप-परावृत्तयोरेव साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षेण व्याप्ति ग्रहणात्)। दो चीजों में (जैसे वह्नि और धूम) व्याप्ति का ग्रहण उनकी पूर्ण समानता पर आधारित होता है, अभिन्नता पर नहीं।

क्षणिकवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति किए जाने के पूर्व अनेक साधनों का समवाय आवश्यक है जैसे बीज द्वारा अंकुर की उत्पत्ति होने से पूर्व मिट्टी, जल आदि अनेक तत्व आवश्यक हैं इसलिए यह सिद्धान्त असफल है। इसका उत्तर रत्नकीर्ति यों देता है कि वास्तव में यह स्थिति नहीं है कि बीज पहले होता हो और उसके बाद अन्य साधनों के साहाय्य से कारणों की उत्पत्ति करता हो, वस्तुतः एक विशेष बीज क्षण की यह विशिष्ट शक्ति है कि यह एक संस्थिति और उन स्थितियों को तथा कार्य अर्थात् अंकुर को भी एक साथ जन्म देता है। एक विशिष्ट बीज-क्षण ऐसी विशिष्ट शक्ति किस प्रकार प्राप्त करता है यह अन्य कारणिक क्षणों पर, जो उसके पूर्ववर्ती थे और जिन पर वह निर्भर है, आधारित होता है। रत्नकीर्ति इस ओर ध्यान दिलाना चाहता है कि जिस प्रकार एक प्रात्यक्षिक क्षण अनेक पदार्थों का बोध करा देता है उसी प्रकार एक कारणिक क्षण अनेक कार्यों की उत्पत्ति करा सकता है। इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि 'जो भी सत् है वह क्षणिक है' यह सिद्धान्त सिद्ध एवं निर्दोष है।

रत्नकीर्ति के तर्कों के दूसरे भाग पर विशेष विस्तार आवश्यक नहीं है जिसमें वह कहता है कि कार्यों की उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं की जा सकती जब तक हम यह न मान लें कि सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, क्योंकि यह न्याय के सिद्धान्तों के खंडन मात्र के लिए लिखा गया है बौद्ध दर्शन के विवेचन की दृष्टि से नहीं।

क्षणिकवाद को बौद्ध तत्व-मीमांसा के सीधे परिणाम के रूप में सामने आना चाहिए था किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि प्राक्तन पाली साहित्य में यद्यपि समस्त धर्म परिवर्तनशील माने गए थे किन्तु वे सब क्षणिक भी हैं (क्षणिक अर्थात् एक क्षण के लिए ही विद्यमान) यह उनमें कहीं वर्णित नहीं है। अपने ग्रन्थ "श्रद्धोत्पादशास्त्र" में

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।
मूलसिद्धौ त्वरुच्यापि नानवस्था निवार्यते॥

जिस अनावस्था को मूल प्रतिपाद्य के मार्ग में मानना अनिवार्य हो जाता है और जो प्रतिपाद्य की क्षति करती है वह दोष है किन्तु यदि मूल अनवस्था से बच जाता है, उसकी सिद्धि अक्षुण्ण रहती है तो अरुचिकर होने पर भी अनवस्था में कोई दोष नहीं होता।

अश्वघोष ने सभी स्कंधों को क्षणिक बतलाया है (सुजुकीकृत अनुवाद पृ० १०५)। बुद्ध घोष ने "विसुद्धिमग्ग" में स्कंधों का चिन्तन क्षणिक के रूप में किया जाना बताया है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक इस सिद्धान्त पर तथा अर्थ क्रियाकारित्व के सिद्धान्त पर सौत्रांतिकों और वैभाषियों ने पर्याप्त विवेचन और विचारमंथन किया। इस अवधि का न्यायसाहित्य और वेदान्तसाहित्य इन वादों के खंडन-मंडन से भरा पड़ा है। बौद्ध दर्शन में क्षणिकवाद का विवेचन उपलब्ध है वह रत्नकीर्ति की लेखनी से ही प्रसूत है। इस वाद के समर्थन में उसने जो मुख्य बिन्दु बतलाए हैं उनका कुछ विवेचन ऊपर किया गया है, अधिक विशद विवेचन इस काल के महत्वपूर्ण न्याय ग्रन्थों जैसे न्यायमंजरी, तात्पर्य-टीका (वाचस्पतिमिश्र कृत) आदि में उपलब्ध हो सकता है।

बौद्धदर्शन ने कभी किसी वस्तु को स्थायी नहीं माना है। इस वाद के विकास के साथ इस तथ्य को हम और भी बद्धमूल पाते हैं। एक क्षण में पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जो भी सत्ता में है, सभी क्षणभंगुर है। ऐसा कहा जाता है कि स्थायिता का हमारा सिद्धान्त स्व या आत्मा की स्थायिता की धारणा पर आधारित होता है, बौद्धदर्शन 'स्व' को ही स्थायी नहीं मानता। 'स्व' के रूप में हम जिसे देखते हैं वह केवल विचारों, भावनाओं तथा सक्रिय प्रवृत्तियों जो किसी क्षण विशेष में प्रतिभासित होती हैं, का एक समवाय मात्र है। अगले क्षण ये तिरोहित हो जाती हैं और उनसे निःसृत अन्य भावनाएँ और प्रवृतियाँ प्रतिभासित होती हैं। इस प्रकार वर्तमान विचार की एकमात्र चिन्तक है। भावनाओं, प्रत्ययों और क्रियारूप प्रवृत्तियों से परे कोई 'स्व' या आत्मा नहीं है। इसका समवाय ही 'आत्मा' के एक भ्रमात्मक प्रत्यय की सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। किसी क्षण विशेष में इस समवाय द्वारा आत्मा का अहसास जन्मता है और चूंकि अगले क्षण ये भावना, प्रत्यय आदि बदल जाते हैं अतः स्थायी आत्मा जैसी कोई चीज नहीं हुई।

यह तथ्य कि "मुझे स्मरण है कि मैं चिरकाल से निरन्तर विद्यमान हूं" इस बात को सिद्ध नहीं कर देता कि चिरकाल से एक स्थायी आत्मा भी विद्यमान है। जब मैं कहता हूं कि 'यही वह पुस्तक है', मैं इस पुस्तक को अपनी आँख से वर्तमान क्षण में देखता हूं किन्तु यह बात कि यह पुस्तक वही पुस्तक (जो कि मेरी स्मृति में इस समय है)–इन्द्रिय (आँख) गम्य नहीं है। वह पुस्तक स्मृतिगत किसी भूतकालिक पुस्तक का द्योतन करती है जबकि यह पुस्तक आँख के सामने है। इस प्रकार स्थायिता की सिद्धि करने के लिए प्रत्यभिज्ञा की जो भावना काम में लाई जाती है वह स्मृतिगत किसी पदार्थ में जो भूतकालिक है और सुतरां विभिन्न है, वर्तमानकालिक और इन्द्रियगम्य

किसी पदार्थ का भ्रम पैदा करने के कारण जन्म लेती है।[1] यह बात न केवल बाह्य पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा और स्थायिता पर घटित होती है बल्कि आत्मा के स्थायित्व की धारणा पर भी लागू होती है क्योंकि आत्मा प्रत्यभिज्ञा स्मृति में उत्थित कुछ प्रत्ययों या भावनाओं के साथ वर्तमान क्षणागत तत्समान भावनाओं या प्रत्ययों का घपला कर देने से उद्भूत होती है। किन्तु चूँकि स्मृति भूतकालिक प्रत्यक्ष के पदार्थों को ही भासित करती है और प्रत्यक्ष वर्तमानकालिक पदार्थ को भासित करती है–इन दोनों को मिला देने से (घपला कर देने से) प्रत्यभिज्ञा सिद्ध नहीं होती। हर क्षण संसार का हर पदार्थ विनाश और तिरोधान की प्रक्रिया से गुजरता रहता है फिर भी पदार्थ स्थायी जैसे लगते हैं और बहुधा विनाश की क्रिया भासित नहीं होती। हमारे केश और नख बढ़ते हैं, काटे जाते हैं किन्तु हमें लगता है कि ये वही केश हैं, वही नख हैं जो पहले थे। पुराने केशों और नखों की बजाय नए उग आते हैं पर लगता है ये वही पुराने हैं। इसी प्रकार ऐसा होता है कि पुराने पदार्थों की बजाय हर क्षण ठीक उन्हीं के समान नए पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं। पुराने पदार्थ अगले क्षण नष्ट होते रहते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि ये वही पुराने पदार्थ अस्तित्व में हैं।[2] जिस प्रकार मोमबत्ती की लौ हर क्षण पृथक् होती है किन्तु हमें लगता है कि यह वही लौ है जो पहले थी–उसी एक लौ का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं ऐसा लगता है उसी प्रकार हमारे शरीर, प्रत्यय, भावनाएँ तथा समस्त बाह्य पदार्थ जो हमारे चारों ओर हैं, हर क्षण नष्ट होते रहते हैं और नए पदार्थ उसके अनुवर्ती क्षण में उद्भूत होते रहते हैं पर जब तक नए पदार्थ उनसे पूर्ववर्ती पदार्थों के समान होते हैं तब तक हमें ऐसा लगता है कि ये वही पदार्थ हैं और विनाश जैसी कोई वस्तु नहीं हुई।

क्षणिकवाद का सिद्धान्त और अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त

ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन के दृष्टिकोण से किसी पदार्थ या प्रघटना (संवृति) को विविध लक्षणों के समुदाय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।[3] जिसे हम पदार्थ कहते हैं वह विविध, विभिन्न लक्षणों का संघात है जो अन्य सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों के रूप में प्रतिभासित अन्य पदार्थों को प्रभावित अथवा निर्धारित करते हैं।

---

[1] देखें, बौद्धों का प्रत्यभिज्ञानिरास, न्यायमंजरी (वी० एस० सिरीज, पृ० ४४९) तथा आगे।

[2] देखें, गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, पृ० ३०, एवं न्यायमंजरी (वी० एस० संस्करण, पृष्ठ ४५०)।

[3] तुलनीय: मिलिन्दपन्ह २/१/१ रथ की निदर्शना।

जब तक किसी समुदाय के घटक तत्वों के लक्षण समान रहते हैं, उस समुदाय को समान कहा जा सकता है और ज्योंही उन लक्षणों में से किसी के स्थान पर नए लक्षण पैदा हो जाते हैं तो उस समुदाय को नया कहा[1] जाता है। सत्ता अथवा किसी पदार्थ के होने का तात्पर्य है कि उसके लक्षण समुदाय द्वारा क्या कार्य किया जाता है अथवा उस समुदाय द्वारा अन्य समुदाय पर क्या प्रभाव डाला जाता है। इसे ही संस्कृत में अर्थ क्रियाकारित्व कहा जाता है जिसका अनुवाद होगा कार्यों को करने की शक्ति अथवा किसी प्रकार का उद्देश्य।[2] सत्ता अथवा होने का मापदण्ड ही यही है कि कुछ विशिष्ट क्रियाओं का सम्पादन-अथवा-सत्ता का तात्पर्य यही है कि किस प्रकार एक विशिष्ट प्रभाव या कार्य सम्पादित होता है (अर्थ-क्रिया)। जिससे इस प्रकार की अर्थ-क्रिया का प्रादुर्भाव होता है उसी पदार्थ को सत् या सत्ताशील कहा जाता है। कार्य में इस प्रकार जो परिवर्तन निष्पादित होता है उसका परिणाम होता है सत्ता में भी उसी प्रकार का परिवर्तन। वह परिवर्तन जो इस समय निष्पादित हुआ है, इससे पूर्व ठीक

---

[1] तुलनीय: गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, ए० एस० संस्करण, पृ० २४,२८ तथा न्यायमंजरी, वी० एस० संस्करण, पृ० ४४५, तथा रत्नकीर्ति की क्षणभंगसिद्धि पर शोधपत्र (सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स)।

[2] अर्थक्रियाकारित्व शब्द का यह अर्थ उस अर्थ से विभिन्न है जो हमने "प्रत्यक्ष के सौत्रांतिक सिद्धान्त" अध्याय में समझा था। किन्तु अर्थ का यह विकास रत्नकीर्ति के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है और न्याय के उन ग्रन्थों में भी जिनमें इस बौद्ध सिद्धान्त का उल्लेख है। विनीतदेव (सातवीं ईस्वी सदी) ने "अर्थ क्रियासिद्धि" शब्द का अर्थ लिया था किसी भी अपेक्षा की पूर्ति करना जैसे अग्नि से चाँवलों के पकाने का कार्य (अर्थ क्रिया शब्देन प्रयोजनमुच्यते पुरुषस्य प्रयोजनं दारुपाकादि तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः, अर्थ का तात्पर्य है अपेक्षा, मनुष्य की अपेक्षा जैसे काष्ठ के द्वारा अग्नि और उससे पाचन, सिद्धि का तात्पर्य है पूर्ति)। लगभग डेढ़ शताब्दी बाद हुए धर्मोत्तर ने अर्थ सिद्धि का अर्थ लिया था क्रिया (अनुष्ठिति) और हेय एवं उपादेय विषयों के संदर्भ में उनका तात्पर्य निर्वचन किया था (हेयोपादेयार्थ-विषय)। किन्तु रत्नकीर्ति ने अर्थ क्रियाकारित्व शब्द का बिलकुल अलग ही अर्थ लिया है–(९५० ईस्वी)–वह शब्द जो किसी घटना या क्रिया को जन्म दे–और इस प्रकार इसे सत्व (सत्ता) के एक लक्षण या परिभाषा के रूप में माना है। वह अपने ग्रन्थ "क्षणभंगसिद्धि" (पृ० २०, २१) में कहता है कि यद्यपि विभिन्न दर्शनों में सत्व के विभिन्न अर्थ और परिभाषाएँ हैं, मैं अपनी परिभाषा सर्वमान्य रूप से प्रसिद्ध लक्षण से शुरु कर रहा हूं और वह है अर्थ-क्रियाकारित्व (किसी घटना या कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य)। जिन किन्हीं हिन्दू दार्शनिकों ने अर्थ-क्रियाकारित्व सिद्धान्त का उल्लेख किया है, उन्होंने इसी परिभाषा का संदर्भ दिया है जो रत्नकीर्ति का है।

वही परिवर्तन कभी नहीं पैदा हुआ था, न भविष्य में उसे उत्पादित किया जा सकेगा—क्योंकि ठीक वही परिवर्तन भविष्य में कभी पैदा किया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार पदार्थों द्वारा विभिन्न क्षणों में हम में जो परिवर्तन निष्पादित होते हैं वे समान हो सकते हैं किन्तु अभिन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक क्षण नए कार्य और परिणाम से सम्बद्ध होता है और प्रत्येक नए परिणाम या परिवर्तन की उत्पत्ति का अर्थ होता है हर बार पदार्थ की सत्ता का तदनुरूप नए रूप में जन्म लेना। यदि पदार्थ स्थायी होते तो काल के विभिन्न क्षणों में उनके द्वारा विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति करने का कोई कारण नहीं हो सकता था। कार्य में किसी भी परिवर्तन की उत्पत्ति चाहे वह उस पदार्थ के स्वयं के कारण हो चाहे अन्य सहायक स्थितियों के समुदाय के कारण, हमें यह सिद्ध करने की ओर ले जाती है कि वह पूर्ववर्ती पदार्थ परिवर्तित हो गया है और उसके स्थान पर एक नए पदार्थ ने जन्म ले लिया है। उदाहरणार्थ, घट की सत्ता इसीलिए है कि वह अपने आप को हमारे ज्ञान में प्रतिभासित करने की क्षमता रखता है—यदि उसमें यह क्षमता नहीं होती तो हम यह कभी नहीं कह सकते थे कि घट है। पदार्थों की सत्ता का इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि वह हम में एक छाप या प्रतिभास पैदा करता है—यह प्रतिभास हमारे ऊपर उस पदार्थ की प्रतिभासन क्षमता के प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पदार्थ की इस प्रकार प्रतिभास या छाप छोड़ने की क्षमता के अतिरिक्त (जो उस पदार्थ की आन्तरिक क्षमता है) कोई अन्य स्थायी सत्ता है जिससे वह क्षमता संबद्ध रहती है और उस क्षमता के हम पर क्रिया करने के पूर्व भी ऐसी कोई सत्ता थी। हम प्रतिभास, कार्य या क्रिया के उत्पादन करने की इस क्षमता का ही प्रत्यक्ष करते हैं और इस क्षमता की प्रत्येक इकाई को सत्ता की प्रत्येक इकाई के रूप में परिभाषित करते हैं। चूँकि विभिन्न क्षणों में इस क्षमता की इकाई अलग होती है अतः उन क्षणों में उस सत्ता की इकाई भी अलग ही माननी होगी जिसका अर्थ यह हुआ कि सत्ता अलग-अलग क्षणों में पैदा होती है और इस प्रकार वह स्थायी नहीं है। सत्ताशील सभी तत्व क्षणिक हैं—उस क्षण में ही स्थित रहते हैं जिसमें वह क्षमता कार्य करती है। सत्ता की यह परिभाषा रत्नकीर्ति द्वारा वर्णित क्षणिकता की परिभाषा की जनक है।

विभिन्न भारतीय दर्शनों द्वारा विभिन्न रूप से विवेचित कुछ सत्तामीमांसीय विषय

हम बौद्ध दर्शन का अपना विवेचन बिना उन दार्शनिक बिन्दुओं पर बौद्ध दृष्टिकोण का विचार किए समाप्त नहीं कर सकते जो समस्त भारतीय दार्शनिक क्षेत्रों के चिन्तन के मुख्य विषय रहे हैं। ये प्रमुखतः इस प्रकार हैं—१. कार्य कारण सम्बन्ध, २. अवयवी और अवयव का सम्बन्ध, ३. सामान्य और विशेष का सम्बन्ध, ४. गुण

और गुणी का सम्बन्ध, ५. शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध। कार्य और कारण के सम्बन्ध पर शंकर का विचार था कि कारण ही नित्य, स्थायी और वास्तविक है–समस्त कार्य अपने आप में अस्थायी, मायाकृत, भ्रमगत हैं एवं अविद्याजन्य हैं। सांख्य के मत में कार्य और कारण में कोई भेद नहीं है–केवल इतना फर्क है कि कारण केवल एक पूर्वतर स्थिति है जिसमें कुछ परिवर्तन की प्रक्रिया शुरु होने पर वही कार्य बन जाता है। कार्यकारण-सम्बन्ध का इतिहास कारण के ही कार्य रूप में परिणत होने का इतिहास है। बौद्धों के मत में कारण और कार्य दोनों क्षणिक हैं अतः दोनों ही अस्थायी हैं। कार्य को कार्य इसलिए कहा जाता है कि उसकी क्षणिक सत्ता उसके पूर्ववर्ती कारण की क्षणिक सत्ता की समाप्ति द्वारा ही परिभाषित होती है। ऐसी कोई स्थायी सत्ता नहीं है जिसमें परिवर्तन होता है–बल्कि एक परिवर्तन दूसरे परिवर्तन को जन्म देता है या निर्धारित करता है। यह निर्धारण इस प्रकार होता है–"उसके होते हुए यह हुआ।" अवयवावयवि-सम्बन्ध के बारे में बौद्ध अवयवी की सत्ता ही नहीं मानते। उनके अनुसार अवयव ही भ्रमात्मक रूप से अवयवी के रूप में दिखते हैं। एक एक अणु एक क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण नष्ट होता है और इस प्रकार "अवयवी" जैसी कोई स्थिति नहीं बनती।[१] बौद्धों के अनुसार कोई जाति भी नहीं है–केवल व्यक्ति ही हैं जो आते और जाते हैं। मेरे हाथ में पाँच अंगुलियाँ हैं जो अलग-अलग हैं और व्यक्ति हैं। इनमें अंगुलित्व जैसी कोई जाति नहीं है। गुणगुणी के सम्बन्ध के बारे में भी हमने यह देखा है कि सौत्रांतिक बौद्ध किसी भी तत्व को, गुणों के अलावा या पृथग्भूत नहीं मानते। जिसे हम गुणी कहते हैं केवल एक ऐसी इकाई है जो संवेदन की एक इकाई को जन्म दे सकता है। बाह्य जगत् में उतने ही व्यक्ति, या सामान्य इकाइयाँ हैं जितने संवेदन के क्षण हैं। एक संवेदन की इकाई के ही प्रतिनिधि या प्रतिरूप के रूप में बाह्य जगत् में भी एक वस्तु की इकाई होती है। हमारे द्वारा किया गया किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष इन संवेदनाओं के समवाय का ही प्रत्यक्ष है। बाह्य जगत् में कोई तत्व या पदार्थ वस्तुतः नहीं हैं, केवल अणु अथवा व्यक्ति हैं, प्रत्येक एक संवेदन की इकाई का रूप है–अथवा क्षमता या गुण की इकाई का जो एक क्षण में उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण में नष्ट होती है। इस प्रकार बौद्ध गुण और गुणी के बीच "समवाय" सम्बन्ध जैसे किसी सम्बन्ध को नहीं मानते। चूंकि कोई गुणी या पदार्थ ही नहीं है तो उनमें समवाय सम्बन्ध मानने की आवश्यकता भी उन्हें नहीं है। इसी तर्क के आधार पर बौद्ध शक्ति और शक्तिमान जैसी चीजों की सत्ता भी नहीं मानते।

---

[१] देखें, अवयविनिराकरण (सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स बिब्लियोथीका इन्डिका, कलकत्ता १९१०)।

बौद्ध चिन्तन के विकास का संक्षिप्त सर्वेक्षण

बौद्ध दर्शन के प्रारंभिक काल में चार महान् सत्यों की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया था, प्रणालीबद्ध तत्वमीमांसा की ओर कम। दुःख क्या है—उसका कारण क्या है, उसकी समाप्ति कैसे होती है और उसके क्या उपाय हैं? 'पतिच्चसमुप्पाद' का सिद्धान्त इसी बात की व्याख्या करने हेतु बना था कि दुःख कैसे उद्भूत होता था, उसे किसी तत्वमीमांसीय विवेचना के लिए नहीं बनाया गया था। प्रारंभिक काल में ऐसे चरम तत्वमीमांसीय विषयों की विवेचना, जैसे यह जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं या नहीं, एक प्रकार की धर्म-विमुखता ही समझी जाती थी। शील, समाधि और पञ्ञा पर बहुत जोर दिया जाता था तथा 'आत्मा कहीं नहीं है' वाले सिद्धान्त को ही मानकर चला जाता था। अभिधम्मों में ऐसा कोई दर्शन नहीं मिलता जो सुत्ते में नहीं मिलता हो। उनमें सत्तों में वर्णित विषयों को ही व्याख्याओं और उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। लगभग २०० ई० पू० के आसपास महायान ग्रन्थों के विकास के साथ ही धम्मों की निःसारता तथा अनावश्यकता उपदिष्ट की जाने लगी। यह सिद्धान्त जिसे नागार्जुन, आर्यदेव, कुमारजीव तथा चन्द्रकीर्ति ने अभिहित एवं पल्लवित किया पूर्वकालिक बौद्ध दर्शन का ही उपनिगमन है। यदि हम यह नहीं कह सकते कि जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं या नहीं, यदि कहीं कोई नित्य आत्मा नहीं है, यदि सभी धम्म परिवर्तनशील हैं—तो जो भी कुछ हमारे चिंतन के लिए बच रहता है वह कुछ ऐसा ही होता है कि समस्त वस्तुएँ जो दिखाई देती हैं, निःसार हैं और प्रतिभासमात्र हैं। ये प्रतिभास परस्पर संबद्ध जैसे दिखते हैं लेकिन आभास के अतिरिक्त उनमें कोई सत्य, सत्ता या वास्तविकता नहीं है। अश्वघोष द्वारा उपदिष्ट तथता सिद्धान्त इन दो स्थितियों के बीच झूलना सा प्रतीत होता है—एक ओर समस्त धम्मों की निःसारता का सिद्धान्त, दूसरी ओर यह ब्राह्मण-वादी विचार कि इन निःसार धर्मों के आधार रूप में कहीं कुछ और भी है। इसे ही वह तथता का नाम देता है पर वह स्पष्ट रूप से नहीं कह पाता कि कोई स्थायी सत्ता कहीं विद्यमान रह सकती है या नहीं। इसी काल में विकसित विज्ञानवाद सिद्धान्त भी मुझे तो शून्यवाद और तथता सिद्धान्त का मिश्रण जैसा लगता है। यदि बहुत ध्यान से देखा जाए तो यह शून्यवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं—समस्त दृश्य संवृतियों की व्याख्या करने का यह एक प्रयत्न मात्र है। यदि सब निःसार है तो यह पैदा कैसे हुआ? विज्ञानवाद इसका यह उत्तर देना चाहता है कि ये सब संवृतियां केवल मन की उपज हैं, प्रत्ययमात्र हैं जो मन की अनादि वासनाओं द्वारा जनित हैं। तथता सिद्धांत में जो कठिनाई रह जाती वह यह है है कि इन समस्त संवृतिरूपी प्रत्ययों के उत्पादन करने वाली कोई वस्तुसत्ता इनके पीछे होनी चाहिए, यही कठिनाई विज्ञानवाद की भी है। विज्ञानवादी ऐसी किसी वस्तुसत्ता की स्थिति को नहीं मान सके हैं किन्तु उनका सिद्धान्त

अन्ततः इसी दिशा की ओर उन्हें ले जाता है। वे इस कठिनाई का सही समाधान नहीं दे सके हैं और उन्हें कहना पड़ा है कि उनका यह सिद्धान्त कहीं कहीं विधर्मी ब्राह्मणवाद के कुछ सिद्धान्तों के साथ समझौता है किन्तु सिद्धांत को अन्य धर्मानुयायियों के लिए अधिक बोधगम्य और रुचिकर बनाने हेतु ऐसा समझौता आवश्यक था। वस्तुतः इस सिद्धान्त में जिस सत्य को मानकर चला गया है वह भी सारहीन है। विज्ञानवाद पर हमें जो साहित्य उपलब्ध है वह इतना अपर्याप्त है कि हम यह नहीं कह सकते कि विज्ञानवादी इस कठिनाई के समाधान के लिए क्या उत्तर देते हैं। ये तीनों सिद्धान्तः प्रायः समकालिक से हैं और शून्य, तथता और आलयविज्ञान (विज्ञानवाद) के चिन्तन और विचार में जो कठिनता रह जाती है वह सभी में समान है।

अश्वघोष का तथतासिद्धान्त उसके साथ ही समाप्त हो जाता है। किन्तु शून्यवाद और विज्ञानवाद के सिद्धान्त जो लगभग २०० ई० पू० के आसपास उत्पन्न हुए लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी तक विकसित होते रहे। कुमारिल और शंकर के बाद शून्यवाद के खंडन हेतु इतना जोरदार विचार-विमर्श किसी अन्य स्वतंत्र हिन्दू दर्शन की पुस्तक में नहीं हो पाया है। ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी से कुछ बौद्ध तार्किकों ने प्रणालीबद्ध तर्क का अध्ययन आरम्भ किया और हिन्दू तार्किकों के सिद्धान्तों का खंडन भी। संभवतः दिङ्नाग (बौद्ध तार्किक, ५०० ईस्वी) ने इस प्रकार के खंडनात्मक विचारविमर्श का सूत्रपात किया अपने 'प्रमाणसमुच्चय' में हिन्दू तार्किक वात्स्यायन के सिद्धान्तों का खंडन करके। तार्किक शास्त्रार्थ की इन गतिविधियों के साथ ही दो अन्य बौद्ध दर्शन सिद्धान्तों की चिन्तनात्मक गतिविधि भी हमें देखने को मिलती है सर्वास्तिवादियों (जिन्हें वैभाषिक भी कहा जाता है) और सौत्रांतिकों में। वैभाषिक और सौत्रांतिक दोनों वाह्य जगत् की सत्ता मानते हैं किन्तु वे सामान्यतः हिन्दू दर्शन के न्याय-वैशेषिक और सांख्य सिद्धान्तों से विपरीत तर्क ही देते हैं यद्यपि ये दोनों दर्शन भी जगत् की सत्ता मानते हैं। वसुबन्धु (४२०-५०० ईस्वी) इस परम्परा के सर्वाधिक प्रतिभाशाली नामों में से एक है। इस समय से हम कुछ महान् बौद्ध चिन्तकों की एक लम्बी परम्परा से साक्षात्कार करने लगते हैं जिसमें यशोमित्र (वसुबन्धु का टीकाकार), धर्म-कीर्ति (न्यायबिंदु का रचयिता, ६३५ ईस्वी), विनीतदेव एवं शान्तभद्र (न्यायबिन्दु के टीकाकार), धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु का टीकाकार, ८४७ ईस्वी), रत्नकीर्ति (९५० ई०), पंडित अशोक, रत्नाकर शान्ति आदि आते हैं जिनकी कुछ रचनाएँ "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स" (बिब्लियोथीका इन्डिका सीरीज कलकत्ता से प्रकाशित) में प्रकाशित हैं। ये बुद्ध विचार प्रमुखतः ऐसे विषयों पर जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का प्रकार, क्षणिकवाद सिद्धान्त, अर्थ क्रियावाद जिससे सत्ता का स्वरूप स्पष्ट होता है, विवेचन करते हैं। जहाँ तक खंडन का ताल्लुक है, इन लोगों ने न्याय और सांख्य के सत्ता-मीमांसात्मक सिद्धान्तों का, उदाहरणार्थ, पदार्थ विभाजन, अभाव,

अवयवावयविसंबंध, संज्ञाओं की परिभाषा आदि का, खंडन किया है। इन विषयों पर सौत्रांतिकेतर तथा वैभाषिकेतर बौद्ध दार्शनिकों ने प्रारंभिक काल में कोई रुचि नहीं ली थी। पूर्वकालिक बौद्धों से उनकी इस बात पर तो सहमति है कि वे भी किसी स्थायी आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते पर इसको प्रमाणित करने के लिए वे अर्थ-क्रियावाद का सहारा लेते हैं। शंकराचार्य (८०० ई०) तक के हिन्दू दार्शनिकों के विचारों में तथा शंकर के समय तक हुए बौद्ध दार्शनिकों के विचारों में मुख्य विभेद यही है कि बौद्ध किसी स्थायी आत्मा या स्थायी बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं मानते। हिन्दू दर्शन कमोवेश व्यावहारिक रुख अपनाता है, यहाँ तक कि शांकर वेदान्त भी किसी न किसी रूप में स्थायी बाह्य जगत् का अस्तित्व मान लेता है। शंकर की दृष्टि में बाह्य जगत् के पदार्थ निश्चित ही मायाकृत और भ्रमात्मक हैं। किन्तु उन्हें ब्रह्म के रूप में एक स्थायी आधार मिला हुआ है जो बाह्य जागतिक और आन्तरिक बौद्धिक संवृतियों के पीछे एकमात्र वास्तविक सत्य है। सौत्रांतिक भी बाह्य जगत् का अस्तित्व मानते हैं, उनका न्याय और सांख्य से मतभेद उनके क्षणिकवाद-सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है। उनके द्वारा 'आत्मा' का अस्वीकार तथा विभिन्न सत्ता-मीमांसीय विषयों पर उनका दृष्टिकोण उनके क्षणिकवाद पर आधारित है। बारहवीं शताब्दी के बाद बौद्धों से शास्त्रार्थ या उनके खंडन की कोई बहुत बड़ी घटना हमारे ध्यान में नहीं आती। इस समय के बाद प्रमुख विचार-विमर्श और खंडन-मंडन की गतिविधियाँ नैयायिकों एवं शांकर वेदान्तियों तथा रामानुज और मध्व आदि सगुण वेदान्तियों के बीच ही रही।

——०——

अध्याय ६

जैन दर्शन

जैन धर्म का उद्गम

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं में अनेक मौलिक अन्तर होते हुए भी ये दोनों धर्म अपने बाहरी रूप में बहुत समान लगते हैं क्योंकि ये दोनों ब्राह्मण धर्मों से पृथक् हैं और दोनों भिक्षुओं के धर्म के रूप में प्रसिद्ध हैं। कुछ योरपीय विद्वान् तो जो जैन धर्म से केवल उसके कुछ अपर्याप्त साहित्य को पढ़कर ही परिचित हो पाए थे, आसानी से समझ बैठे थे कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से ही उद्गत हुआ। जैन साहित्य से अपरिचित भारतीय विद्वान् भी इसी प्रकार की गलती करते पाए जाते हैं। अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह विचार गलत है और जैन धर्म यदि पुराना नहीं तो बौद्ध धर्म के समकालिक अवश्य है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थों ने जैन धर्म का एक समानान्तर (प्रतिद्वन्द्वी) धर्म के रूप में उल्लेख किया है जिसे उन्होंने निगन्थ के नाम से अभिहित किया है, साथ ही उसके नेता नातपुत्र वर्धमान महावीर का भी जो जैन तीर्थंकरों में अन्तिम था, उल्लेख किया है। जैनों के धर्म ग्रन्थों ने भी महावीर के समकालीन शासकों के रूप में उन्हीं राजाओं का उल्लेख किया है जो बुद्ध के समय के शासक थे।

इस प्रकार महावीर बुद्ध के समकालीन थे किन्तु वे बुद्ध के समान न तो किसी धर्म के प्रवर्तक थे न किसी पन्थ के संस्थापक, वे केवल एक भिक्षु थे जिन्होंने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की और बाद में एक मुनि बन गए और जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर के रूप में विख्यात हुए।[1] उनके पूर्ववर्ती पार्श्व जो अन्तिम से पहले तीर्थंकर थे, महावीर से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए कहे जाते हैं और उसके पूर्ववर्ती अरिष्टनेमि महावीर के निर्वाण से चौरासी हजार वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए ऐसा कहा जाता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' की यह कथा कि पार्श्व का एक शिष्य महावीर के एक शिष्य से मिला तथा उसने प्राचीन जैन धर्म तथा महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म के बीच समन्वय कराया, यह सूचित करती है कि पार्श्व सम्भवतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

---

[1] देखें : जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०)।

परम्परावादी जैनों के विश्वास के अनुसार जैन धर्म अनादि है और विश्व की अनादि अनन्त सृष्टियों में हर बार प्रत्येक सृष्टि में अनेक तीर्थंकरों द्वारा इसका उपदेश किया जाता रहा है। इस युग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ थे और अन्तिम अर्थात् चौबीसवें वर्धमान महावीर। सब तीर्थंकरों को मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की प्राप्ति हुई और यद्यपि स्वयं उन्हें सांसारिक कार्यों की कोई चिन्ता नहीं थी, न उन्होंने उन पर कोई प्रभाव डाला तथापि जैन उन्हें देवता के समान पूजते हैं।[1]

जैन धर्म के दो पंथ[2]

जैनों के दो प्रमुख पन्थ हैं–श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्रधारी) और दिगम्बर (नग्न)। दोनों में जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर सहमति है। दिगम्बरों की विशेष मान्यता यह है कि पूर्ण मुनि, जैसे तीर्थंकर आदि, बिना भोजन के जीवित रहते हैं–और दूसरी यह कि देवनन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में महावीर को स्थानान्तरित नहीं किया गया था जैसाकि श्वेताम्बर मानते हैं, तसरी यह कि जो साधु कोई सम्पत्ति रखता है या वस्त्र पहिनता है वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता–और चौथी यह कि स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं।[3] दिगम्बर श्वेतांबरों के धर्म ग्रन्थों को मान्यता नहीं देते और मानते हैं कि वे सब महावीर के बाद विलुप्त हो गए थे। श्वेताम्बरों का कहना है कि दिगंबरों का उद्गम शिवभूति (८३ ई०) से हुआ और यह पन्थ प्राचीन श्वेताम्बर धर्म का ही एक पन्थ है, इसके पूर्व इस प्रकार के सात अन्य पंथ निकल चुके थे। इसके जवाब में दिगम्बर इस कथन को नकारते हुए कहते हैं कि वास्तविक धर्म को उन्होंने ही संरक्षण दिया है और मानते हैं कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर के बाद आठवें मुनि भद्रबाहु के समय में अर्धकालकों का एक पन्थ चल पड़ा था जिनके आचार-विचार शिथिल थे और उन्हीं से श्वेतांबरों का यह पंथ उद्गत हुआ है (ई० ८०)। श्वेतांबरों से बहुत पुराने समय से पृथक् होने के अनन्तर दिगम्बरों ने अपने विशिष्ट धार्मिक आचार बना लिए और उनके धर्म और साहित्य का इतिहास भी उनसे विभिन्न ही हो गया जबकि धर्म के मौलिक सिद्धान्तों में दोनों में कोई मतभेद नहीं है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि दिगम्बरों के संस्कृत ग्रन्थ श्वेताम्बरों के संस्कृत ग्रन्थों से अधिक प्राचीन हैं यदि

---

[1] देखें, दिगम्बर जैन 'आइकनोग्राफी' (आई. ए. xxxii १६०३) पृ० ४५६, ले. जे. बर्गेज तथा 'स्पेसिमेन्स आव जिन स्कलपचर्स फ्राम मथुरा' (एपिग्राफिया इंडिका ११ पृ० ३११ से) ले० बूलर। जैकोबी का जैन धर्म पर लेख (ई. आर. ई.) भी द्रष्टव्य।

[2] देखें, जैकोबी का जैन धर्म पर लेख (ई० आर० ई०)।

[3] देखे, 'षड्दर्शनसमुचच्य' में जैनदर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।

अध्याय ६

जैन दर्शन

जैन धर्म का उद्गम

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं में अनेक मौलिक अन्तर होते हुए भी ये दोनों धर्म अपने बाहरी रूप में बहुत समान लगते हैं क्योंकि ये दोनों ब्राह्मण धर्मों से पृथक् हैं और दोनों भिक्षुओं के धर्म के रूप में प्रसिद्ध हैं। कुछ योरपीय विद्वान् तो जो जैन धर्म से केवल उसके कुछ अपर्याप्त साहित्य को पढ़कर ही परिचित हो पाए थे, आसानी से समझ बैठे थे कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से ही उद्गत हुआ। जैन साहित्य से अपरिचित भारतीय विद्वान् भी इसी प्रकार की गलती करते पाए जाते हैं। अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह विचार गलत है और जैन धर्म यदि पुराना नहीं तो बौद्ध धर्म के समकालिक अवश्य है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थों ने जैन धर्म का एक समानान्तर (प्रतिद्वन्द्वी) धर्म के रूप में उल्लेख किया है जिसे उन्होंने निगन्थ के नाम से अभिहित किया है, साथ ही उसके नेता नातपुत्र वर्धमान महावीर का भी जो जैन तीर्थंकरों में अन्तिम था, उल्लेख किया है। जैनों के धर्म ग्रन्थों ने भी महावीर के समकालीन शासकों के रूप में उन्हीं राजाओं का उल्लेख किया है जो बुद्ध के समय के शासक थे।

इस प्रकार महावीर बुद्ध के समकालीन थे किन्तु वे बुद्ध के समान न तो धर्म के प्रवर्तक थे न किसी पन्थ के संस्थापक, वे केवल एक भिक्षु थे जिन्होंने जै[illegible] की दीक्षा ग्रहण की और बाद में एक मुनि बन गए और जैन धर्म के अन्तिम तीर्थ[illegible] रूप में विख्यात हुए।[1] उनके पूर्ववर्ती पार्श्व जो अन्तिम से पहले तीर्थंकर थे, [illegible] से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए कहे जाते हैं और उसके पूर्ववर्ती अ[illegible] महावीर के निर्वाण से चौरासी हजार वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए ऐसा कहा जा[illegible] 'उत्तराध्ययन सूत्र' की यह कथा कि पार्श्व का एक शिष्य महावीर के एक [illegible] मिला तथा उसने प्राचीन जैन धर्म तथा महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म [illegible] समन्वय कराया, यह सूचित करती है कि पार्श्व सम्भवतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति

---

[1] देखें : जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०)।

विशेषावश्यक भाष्य, जैन तर्कवार्तिक (शान्त्याचार्यकृत टीका सहित) नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह (११५० ई०) मल्लिषेण की स्याद्‌वादमंजरी (१२९२ ई०) सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार (५३३ ई०), अनन्तवीर्य का परीक्षामुखसूत्र लघुवृत्ति (१०३९), प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड (८२५ ई०), हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) का योग-शास्त्र तथा देवसूरि (१०८६-११६९ ई०) का प्रमाणनयतत्वालोकालंकार। इनके समय की जानकारी के लिए मैं विद्याभूषण कृत 'इन्डियन लॉजिक' से उपकृत हुआ हूं।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि जैन साहित्य में संस्कृत और प्राकृत में लिखित धार्मिकेतर साहित्य भी उपलब्ध है। अनेक नीतिकथाएँ (उदाहरणार्थ–समराइच्च कथा, उपमितिभव-प्रपंचकथा प्राकृत में, तथा सोमदेव का यशस्तिलक और धनपाल की तिलकमंजरी), संस्कृत में पौराणिक और काव्यमय शैली में काव्य ग्रन्थ, प्राकृत और संस्कृत में लिखे स्रोत आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बहुत से जैन नाटक भी हैं। जैन लेखकों ने भारतीय वैज्ञानिक साहित्य की विविध शाखाओं को मौलिक निबन्धों तथा विवेचनात्मक ग्रन्थों के रूप में भी बहुमूल्य योगदान दिया है। इनमें व्याकरण, जीवनियां, छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ, काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ और दर्शन ग्रन्थ आदि सभी हैं। जैनों का तर्कशास्त्र को अवदान विशेषतः उल्लेखनीय है।[1]

जैनों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ

जैन केवल भारत में ही बसे हुए हैं और उनकी संख्या १५ लाख से कुछ कम है। दिगम्बर अधिकतर दक्षिण भारत में पाए जाते हैं किन्तु कुछ उत्तर भारत में भी हैं, उत्तर पश्चिमी सीमान्त, पूर्वी राजपूताना तथा पंजाब में। श्वेताम्बरों के मुख्यालय गुजरात और पश्चिमी राजपूताना में है–वैसे वे समस्त उत्तर भारत और मध्यदेशीय भारत में मिलते हैं।

एक भिक्षु का परिग्रह, जैसाकि जैकोबी ने बताया है–केवल अत्यावश्यक वस्तुओं तक ही सीमित है–ये वस्तुएँ भी वह भिक्षा से ही प्राप्त करता है–कुछ कपड़े, एक कंबल, एक भिक्षापात्र, एक दंड, एक छीपी (झाड़ू) जिससे भूमि स्वच्छ की जा सके, एक कपड़े की पट्टी जिसे बोलते समय मुंह पर ढका जा सके ताकि उसमें कीटादि प्रवेश न कर सके।[2] भिक्षुणियों का भी सामान यही होता है, उनके पास कुछ वस्त्र अधिक होते हैं। दिगम्बरों की सम्पत्ति भी इसी प्रकार होती है, वे कपड़े नहीं रखते, मयूरपंख अथवा बालों की छीपी रखते हैं अथवा चँवर रखते हैं।[3] भिक्षु या तो मुंडित होते हैं

---

[1] देखें, जैनदर्शन पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०)।

[2] देखें, जैकोबी का वही लेख।

[3] देखें, षड्दर्शन समुच्चय, अध्याय चौथा।

या उन्होंने उखाड़कर बाल समाप्त कर दिए होते हैं। बालों को नोचकर निकाल देना अधिक उत्तम माना जाता है–कभी-कभी उसे एक आवश्यक आचार माना जाता है। भिक्षुओं के आचार बड़े कठोर होते हैं। वे केवल तीन घंटे सो सकते हैं, शेष समय तपस्या और पापों के प्रायश्चित में, ध्यान, अध्ययन, भिक्षा (तीसरे पहर) तथा कीटादि के निवारणार्थ अपने वस्त्रों एवं अन्य वस्तुओं के ध्यानपूर्वक स्वच्छीकरण में लगाना होता है। सामान्य जनों को भिक्षुओं के आदर्श आचार का अनुकरण करने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए, उनसे उपदेश लेना चाहिए, स्वयं व्रतबद्ध होना चाहिए। भिक्षुओं से धर्म ग्रन्थों का उपदेश देते रहने तथा उपाश्रयों (बौद्ध विहारों की तरह जैनों के पृथक् आश्रयों) में प्रवचन करने की अपेक्षा की जाती है। अहिंसा अथवा किसी भी जीव की 'किसी भी प्रकार हिंसा न हो पाए' इस सिद्धान्त को निभाने में पराकाष्ठा की सतर्कता भिक्षुओं के जीवन में पूरी तरह, अपनी अन्तिम हद तक, क्रियान्वित की जाती है। सामान्य जन-जीवन को इसी ने बड़ी हद तक प्रभावित किया है। कोई भी जैन किसी जीव की हत्या नहीं करेगा, एक कीड़े तक की भी नहीं; चाहे वह कितना भी हानिकर हो। बिना पीड़ा पहुंचाए उसे हटा दिया जा सकता है। किसी भी जीव की हिंसा न करने के इस सिद्धांत ने उन्हें कृषि जैसे उद्योगों से हटाकर केवल वाणिज्य तक सीमित रख दिया है।[1]

महावीर की जीवनी

जैनों का अन्तिम तीर्थंकर महावीर ज्ञात गोत्र का क्षत्रिय एवं वैशाली (आधुनिक बेसढ़ पटना से २७ मील) का निवासी था। वह सिद्धार्थ एवं त्रिशला का दूसरा पुत्र था। श्वेतांबरों का मानना है कि तीर्थंकर का गर्भ जो प्रथमतः ब्राह्मणी देवनन्दा में प्रविष्ट हुआ था बाद में त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित हो गया। जैसा हम बतला चुके हैं, दिगम्बर ऐसा नहीं मानते। महावीर के माता-पिता ने जो पार्श्व के पूजक थे उसे वर्धमान नाम दिया (वीर अथवा महावीर)। उसने यशोदा से विवाह किया तथा एक पुत्री उत्पन्न की। जब वह तीस वर्ष का था उसके माता पिता का निधन हो गया और अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर वह भिक्षु बन गया। बारह वर्ष की तपस्या के बाद उसे ज्ञान की (केवल ज्ञान या बोध जो बौद्धों के बोधि के समान है) प्राप्ति हुई। इसके अनन्तर वह बयालीस वर्ष तक जिया और निरन्तर उपदेश करता रहा और बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय पूर्व ही उसने लगभग ४८० ई० पू० में मोक्ष प्राप्त किया।[2]

---

[1] देखें, जैकोबी का वही लेख।

[2] देखें, उवासगदसाओ का होर्नली कृत अनुवाद, जैकोबी का वही लेख तथा आजीवकों

जैन सत्तामीमांसा के मूल विचार

एक पदार्थ ही (जैसे मृत्तिका) अनेक रूप धारण कर लेती है और विभिन्न परिवर्तनों से होकर गुजरती है (जैसे घड़ा, तसला आदि) जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है, इन सब परिवर्तनों के बीच मृत्तिका स्थायी रहती है, वही सत्य है, स्वरूप और स्थितियों के परिवर्तन आभास मात्र हैं, उनकी प्रकृति और सत्ता का वर्णन अथवा प्रमाणन नहीं किया जा सकता। अपरिवर्तनीय पदार्थ (जैसे मृत्तिका) ही सत्य है, परिवर्तनशील स्थितियां केवल इन्द्रियों का भ्रम है; नाम रूप मात्र हैं।[1] जिसे हम रूप, इन्द्रियगम्यता आदि कहते हैं उसमें कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता, वे सब बदलते रहते हैं और केवल आभास मात्र हैं जिनके बारे में कोई धारणा तर्क के आलोक में नहीं बनाई जा सकती।

बौद्धों का मत है कि परिवर्तनशील गुणों या धर्मों का प्रत्यक्ष मात्र किया जा सकता है उनके पीछे कोई अपरिवर्तनशील आधार नहीं है। जिसे हम मिट्टी के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं वह एक विशिष्ट धर्म मात्र है, जिसका हम घट के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं वह भी एक गुण या धर्म ही है। इन गुणों के अतिरिक्त हम किसी गुणहीन पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं करते जिसे उपनिषदों ने स्थायी और अपरिवर्तनशील कहा है। इस प्रकार स्थायी और अपरिवर्तनीय पदार्थ अज्ञान-जन्य कल्पना मात्र हैं क्योंकि संसार में समस्त दृश्य पदार्थ अस्थायी गुणों की संस्थिति मात्र हैं। धर्मों का मतलब यह नहीं होता कि उनके धर्मों के रूप में कोई पदार्थ भी अस्तित्व में हो क्योंकि तथाकथित पदार्थ या शुद्ध द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं है, इसे न तो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता, न अनुमित किया जा सकता। केवल क्षणिक दृश्यमान धर्म ही संसार में विद्यमान है। प्रत्येक धर्म के परिवर्तन को नई सत्ता के रूप में देखा जाना चाहिए।

जैसा हमने बताया, आद्य जैन बुद्ध के समकालीन थे और सम्भवतः और कुछ उपनिषदों के भी। इस समस्या का उन्होंने भी अपनी दृष्टि से उत्तर दिया। उनका मत है कि यह सही नहीं है कि केवल द्रव्य ही सत्य है और गुण केवल मिथ्या एवं भ्रमात्मक आभास है। यह भी सही नहीं है, जैसाकि बौद्ध कहते हैं, कि द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है, परिवर्तनशील गुणों की ही है। ये दोनों विचार दो विभिन्न चरम दृष्टिकोण हैं और अनुभव विरुद्ध हैं। दोनों ध्रुवों के बीच सत्य कहीं है, जो अनुभव-गम्य होता है, अर्थात् दोनों विचारों में थोड़ा सत्यांश है, पूर्ण सत्य नहीं है। अनुभव बताता है कि प्रत्येक परिवर्तन में तीन तत्व हैं—

पर होर्नली का लेख (ई० आर० ई०)। श्वेताम्बरों का यह अभिमत है कि इसका समय ५२७ ई० पू० था। दिगम्बरों के अनुसार यह अठारह वर्ष बाद की बात है।

[1] छान्दोग्योपनिषद् ४-१।

(१) गुणों की कुछ संस्थितियाँ अपरिवर्तित प्रतीत होती हैं।
(२) कुछ नए गुण उत्पन्न होते हैं।
(३) कुछ पुराने गुण नष्ट होते हैं।

यह सच है कि वस्तुओं के गुण प्रतिक्षण बदलते रहते हैं किन्तु समस्त गुण परिवर्तित नहीं होते। जब घड़ा बन जाता है तो उसका अर्थ हुआ कि मृत्पिण्ड नष्ट हो गया और घड़ा उत्पन्न हो गया—मृत्तिका तो वही रही, स्थायी रही। अर्थात् समस्त उत्पत्तियाँ इसी प्रकार होती हैं कि कुछ पुराने गुण नष्ट हो जाते हैं, नए गुण उत्पन्न हो जाते हैं और कुछ ऐसा तत्व भी होता है जो स्थायी रहता है। मृत्तिका अपने एक रूप में नष्ट हो गई, और एक अन्य रूप में स्थायी रही। इन अपरिवर्तित गुणों के कारण ही पदार्थ को स्थायी कहा जाता है यद्यपि उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए जब स्वर्ण, दंड के रूप में या छल्ले के रूप में बदलता है तो स्वर्ण के जितने भी गुण हैं वे सब स्थायी रहते हैं और उसके रूप बदलते रहते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक परिवर्तन के साथ कुछ गुण नष्ट हो जाते हैं और कुछ नए गुण पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार यह सत्य सिद्ध होता है कि पदार्थ में कोई ऐसा स्थायी तत्व भी रहता है जो उसके गुणों की स्थायिता में निहित है और जिसके कारण परिवर्तनों के होते हुए भी हम उस पदार्थ या द्रव्य को उसका अपना नाम देते हैं। अतः सत् का स्वरूप न तो पूर्णतः स्थायी है न क्षणिक और परिवर्तनशील गुणों या सत्ताओं का रूप है किन्तु दोनों के सम्मिलित रूप से वह बनता है। इस प्रकार, जैसा कि अनुभव सिद्ध है, सत् वही है जिसमें कोई ध्रुव तत्व हो, वह निरन्तर कुछ गुणों को हर क्षण गंवाता रहता है और कुछ नए गुणों को पैदा करता रहता है। सत् के जैन सिद्धांत में कुछ नए गुणों का ध्रुव उत्पाद और पुराने गुणों का व्यय[1] बतलाया गया है। इस दृष्टि से जैनों का दृष्टिकोण वेदान्तियों और बौद्धों के दृष्टिकोण के बीच सामान्य अनुभव के आधार पर किए समझौते पर आधारित है।

अनेकान्तवाद

स्थायी और परिवर्तनशील के समन्वय के रूप में सत् की यह धारणा हमें जैनों के अनेकान्तवाद की ओर ले जाती है जिसे हम सापेक्ष अनेकत्ववाद कह सकते हैं जो उपनिषदों के चरम निरपेक्षवाद और बौद्धों के बहुतत्ववाद, दोनों से पृथक् है। जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेकान्त है। किसी भी चीज को या बात को एकान्ततः सिद्ध

---

[1] देखें, तत्वार्थाधिगमसूत्र तथा षड्दर्शनसमुच्चय में गुणरत्न द्वारा जैनदर्शन का प्रतिपादन।

नहीं किया जा सकता। कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नहीं है। सारे कथन कुछ विशिष्ट स्थितियों और सीमाओं के अधीन ही सत्य हैं। उदाहरणार्थ एक स्वर्ण पात्र को लें। एक द्रव्य के रूप में इसकी सत्ता अणुओं के एक समवाय का स्वरूप है, वह आकाश या अन्य किसी द्रव्य के समान नहीं है अर्थात् स्वर्णपात्र केवल इस एक अर्थ में द्रव्य है, प्रत्येक अर्थों में नहीं, अणुओं के समवाय के रूप में यह द्रव्य है और आकाश या काल के रूप में यह द्रव्य नहीं भी है। यह द्रव्य है भी और नहीं भी, एक ही समय में यह द्रव्य-अद्रव्य दोनों ही है। अब अणुओं के समवाय के रूप में भी यह पृथ्वी के अणुओं का समवाय है. यह अणु भी है और नहीं भी क्योंकि यह जल के अणुओं का समवाय नहीं है। फिर, यह पृथ्वी के अणुओं का समवाय है भी और नहीं भी क्योंकि यह धात्विक अणुओं का रूप है, पृथ्वी के अन्य अणुओं (मिट्टी या पत्थर) का नहीं। धात्विक अणुओं का स्वरूप भी इसी सीमा तक सही है कि यह स्वर्ण धातु का है लोह धातु का नहीं। स्वर्ण धातु में भी यह केवल पिघले और शुद्ध स्वर्ण के अणुओं का द्रव्य है अन्य किसी स्थिति के स्वर्ण का नहीं। उसमें भी शुद्ध और तपाए ऐसे सोने का है जो देवदत्त नामक सुनार द्वारा घड़ा गया है, यज्ञदत्त द्वारा नहीं। फिर, इसका उपर्युक्त द्रव्य होना भी इसी सीमा तक सही है कि यह घड़े के रूप में बनाई गई एक संस्थिति है प्याले या अन्य पात्र के रूप में नहीं। इस प्रकार इन तरीकों से विचार करते हुए जैन कहते हैं कि समस्त कथन किन्हीं सीमित अर्थों में ही सत्य है। समस्त वस्तुएँ अनन्त संख्या में धर्म रखती हैं; अनन्त-धर्मात्मक है, प्रत्येक धर्म को एक विशेष अर्थ में ही सत्य कहा जा सकता है।[1] घड़े जैसा एक सामान्य पदार्थ भी अनन्त प्रकार के कथनों में रखा जा सकता है, उसमें अनन्त धर्म रहते हैं, अनन्त दृष्टिकोणों से उन्हें देखा जा सकता है। अपने रूप मे वे सब सही हैं और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ या कथन उस सीमा तक ही सत्य है, निरपेक्ष या चरम रूप से कहीं कुछ नहीं। इसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप में दरिद्रता को धनवत्ता नहीं कहा जा सकता, पर निषेधात्मक संबंध से वह भी कहा जा सकता है। 'दरिद्र के पास धन नहीं है' इसमें अभाव सम्बन्ध से दरिद्र के पास भी धन है। इस प्रकार किसी न किसी सम्बन्ध से हर वस्तु से हर चीज बताई जा सकती है और उस वस्तु में वह चीज नहीं भी बताई जा सकती। इस प्रकार जिन दृष्टिकोणों से वस्तु में (जो अनन्त धर्मों और कथनों का आगार है और जिसे किसी एक दृष्टिकोण से ही हम वैसा कहते हैं) जिस धर्म को बताया जा रहा है या जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध में उसे वर्णित किया जा रहा है—जैन दर्शन में 'नय' कहा जाता है।[2]

[1] षड्दर्शन समुच्चय में जैन मत पर गुणरत्न की टिप्पणी द्रष्टव्य (पृ० २११ से)। तत्वार्थाधिगमसूत्र भी देखें।

[2] देखें तत्वार्थाधिगम सूत्र, तथा विशेषावश्यक भाष्य पृ० ८९५-९२३।

नयों का सिद्धान्त

वस्तुओं के बारे में निर्धारण करते समय हमारे सामने दो प्रकार रहते हैं—प्रथम तो यह कि हम किसी वस्तु के विविध, अनेक धर्मों और लक्षणों को जानकर उन्हें उस वस्तु में समन्वित रूप में देखें—जैसे कि हम जब एक पुस्तक के बारे में कहते है कि 'वह एक पुस्तक है' तो हम उसके लक्षणों को उससे विभिन्न करके नहीं देखते बल्कि उसके धर्मों और लक्षणों को उससे अभिन्न रूप में देखते हैं। दूसरे यह कि हम केवल उस वस्तु के धर्मो को अलग से देखें और उस वस्तु को केवल एक सत्ता हीन, कल्पना-मात्र समझें (जैसा कि बौद्ध दृष्टिकोण है) जैसे कि एक पुस्तक के विभिन्न गुणों या धर्मों के बारे में ही हम कथन करें और मानें कि पुस्तक में केवल उसके गुणों या धर्मों का ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, उनसे पृथक् पुस्तक का कोई अस्तित्व नहीं है। इन दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशः द्रव्यनय और पर्यायनय[1] कहा गया है। द्रव्यनय के तीन भेद है—और पर्यायनय के चार। इनमें से प्रथम भेद ही हमारे प्रयोजन से महत्वपूर्ण है। अन्य तीन व्याकरण के ही काम के हैं अतः हम यहाँ उन्हें छोड़ सकते हैं। द्रव्यनय के तीन भेद इस प्रकार हैं—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय।

जब हम किसी वस्तु को व्यावहारिक दृष्टि से देखकर वर्णित करते हैं तो हम अपने विचारों को बहुत स्पष्ट या असंदिग्ध रूप में रखने का कष्ट नहीं करते। उदाहरणार्थ, यदि मेरे हाथ में एक किताब है और मुझसे पूछा जाता है—'क्या तुम्हारे हाथ खाली हैं' तो मैं कहूंगा—'नहीं मेरे हाथ में कुछ है।' या यह कहूंगा 'मेरे हाथ में पुस्तक है।' स्पष्ट है कि पहले उत्तर में मैंने पुस्तक को बहुत व्यापक और सामान्य रूप में देखते हुए 'कुछ' या किसी चीज के रूप में बताया जबकि दूसरे उत्तर में उसकी पुस्तक के रूप में सत्ता वर्णित की। मैं जब पढ़ रहा होता हूं तो एक पुस्तक का कोई एक विशिष्ट पृष्ठ पढ़ रहा होता हूं पर कहता हूं 'मैं पुस्तक पढ़ रहा हूं।' मैं कागज पर कुछ अक्षर लिख रहा हूं पर कहता हूं, 'मैं जैन दर्शन पर पुस्तक लिख रहा हूं।' वस्तुतः पुस्तक तो वहाँ है ही नहीं, कुछ खुले कागज मात्र हैं। इस प्रकार वस्तुओं का अत्यन्त सामान्य, व्यावहारिक रूप में वर्णन करना जबकि हम उनकी सत्ता को एक सामान्य या व्यापक धर्म या लक्षण के रूप में या एक विशिष्ट धर्म के रूप में नहीं देखते बल्कि केवल उस रूप में देखते हैं जिस रूप में प्रथम दृष्टि में वे हमारे सामने आती है—नैगम नय कहलाता है। यह आनुभविक दृष्टिकोण शायद इस धारणा पर आवृत है कि एक वस्तु में अत्यन्त सामान्य से लेकर अत्यन्त विशिष्ट धर्म तक रहते हैं—हम एक किसी समय में उसमें किसी एक पर ध्यान देते हैं और बाकी सबों को भूल

---

[1] [illegible]मंजरी [illegible]

जाते हैं। जैनों के अनुसार इसी धारणा को लेकर न्याय और वैशेषिक ने अनुभव की व्याख्या की है।

संग्रहनय का अर्थ है किसी वस्तु को अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण से देखना। जैसे हम सभी वस्तुओं को 'सार' के रूप में वर्णित कर सकते हैं। यह समस्त वस्तुओं का एक सामान्य, व्यापक लक्षण है। जैनों के अनुसार यह धारणा वेदान्त की है।

व्यवहारनय का दृष्टिकोण यह है कि किसी वस्तु का वास्तविक अर्थ उसके वास्तविक, व्यावहारिक अनुभव के आधार पर लिया जाना चाहिए। इसमें कुछ सामान्य और कुछ विशिष्ट धर्म समाहित हो जाएँगे जो भूतकाल से चले आ रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे यद्यपि उनमें थोड़े-थोड़े सामान्य परिवर्तन हर क्षण होते रहते हैं जो अनेकों दृष्टियों से हमारे अपने व्यावहारिक अनुभवों के कारण होते हैं। जैसे एक पुस्तक अपने सामान्य धर्म भी रखती है जो सभी पुस्तकों में विद्यमान होंगे किन्तु उस पुस्तक में कुछ विशिष्ट लक्षण भी होंगे। उसके अणु निरन्तर विनाश, परिवर्तन, पुनर्योजन आदि परिवर्तनों से गुजर रहे हैं किन्तु भूतकाल से यह पुस्तक के रूप में विद्यमान है और भविष्य में भी कुछ काल विशेष तक विद्यमान रहेगी। ये सब लक्षण मिलकर उसे 'पुस्तक' का रूप देते हैं जिसे हम अपने व्यावहारिक अनुभव की दृष्टि से पुस्तक कहते हैं—इनमें से कोई भी एक धर्म अलग करके 'पुस्तक' की धारणा के रूप में व्यवहृत नहीं किया जा सकता। यह दृष्टिकोण जैनों के अनुसार वेदान्त का दृष्टिकोण है।

पर्यायनय का प्रथम प्रकार 'ऋजुसूत्र' कहा गया है। यह बौद्धों वाला दृष्टिकोण है जो किसी वस्तु की सत्ता भूत या भविष्य में मानता ही नहीं है और जिसके अनुसार एक वस्तु केवल एक विशिष्ट क्षण में विशिष्ट लक्षणों का एक समन्वय है जो उस क्षण विशिष्ट प्रकार के कार्य का उत्पादन करती है। प्रत्येक अगले क्षण नए धर्मों या गुणों का नया समवाय पैदा होता है और हमारी उस वस्तु की वास्तविक सत्ता की धारणा केवल इसी को लेकर बनाई है।[1]

'नय', जैसा ऊपर बतलाया गया है, केवल दृष्टिकोण अथवा किसी वस्तु को देखने के हमारे प्रकार का ही नाम है। इस दृष्टि से नय अनन्त हैं। ऊपर के चार वर्ग उनके मोटे वर्गीकरण के नमूने मात्र हैं। जैनों की यह मान्यता है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, सांख्य और बौद्ध दर्शनों ने अनुभव को ऊपर वर्णित चार प्रकारों में से एक-एक के दृष्टिकोण से देखकर वर्णित और पारिभाषित करने की चेष्टा की है और प्रत्येक उनमें से

[1] पर्यायनय के अन्य प्रकार भी हैं जो व्याकरण और शब्द-शास्त्र के दृष्टिकोण से प्रयुक्त है, जैसे शब्दनय, समभिरूढनय तथा एवं-भूतनय। देखें विशेषावश्यक भाष्य, पृष्ठ ८९५-९२३।

यह समझता है कि उसका ही दृष्टिकोण परमार्थतः सत्य है—अन्य सब दृष्टिकोणों को वह दरगुजर कर देता है। यह, उनके मत में 'नयाभास' है और दोष है क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण वस्तु को देखने के विभिन्न कोणों में से एक ही तो हैं। एक दृष्टिकोण से देखकर बनाई धारणा एक सीमित अर्थ में और सीमित स्थितियों में ही सत्य होगी। इसी प्रकार कथन है। एक वस्तु के बारे में अनन्त दृष्टिकोणों को लेकर अनन्त कथन किए जा सकते हैं। इस प्रकार कथन, निर्धारण या परिभाषण किसी भी वस्तु के बारे में कभी भी चरम ऐकान्तिक या निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसी वस्तु के बारे में अन्य दृष्टिकोणों से उस कथन, निर्धारण या परिभाषण से विपरीत बात भी सही हो सकती है। अतः प्रत्येक कथन का सत्य आपेक्षिक है और ऐकान्तिक रूप से असम्भव है। यदि सही रूप से उसे रखना है तो प्रत्येक कथन के पहले 'स्यात्' (शायद) लगाना चाहिए। इससे यह संकेतित हो सकेगा कि यह कथन सापेक्ष मात्र है, किसी एक प्रकार से किया गया है, एक दृष्टिकोण और सीमा के अधीन है और किसी भी दृष्टि से निरपेक्ष नहीं है। ऐसा कोई निर्धारण नहीं है जो पूर्णतः सत्य हो, न कोई ऐसा है जो पूर्णतः मिथ्या हो। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य हैं, दूसरी दृष्टि से मिथ्या हैं। यह सिद्धान्त हमें "स्याद्वाद" के विवेचन की ओर ले जाता है।[1]

स्याद्वाद

स्याद्वाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि एक वस्तु के संबंध में परस्पर विरोधी अनन्त प्रकार के विविध कथन किए जा सकते हैं इसलिए किसी भी नय से कैसा भी कथन कभी अन्तिमतः सत्य नहीं हो सकता। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य हैं (शायद, 'स्यादास्ति के अर्थ में), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या हैं, सभी कथन एक दृष्टि से अनिश्चित, संदिग्ध और अवाच्य हैं (स्यादवक्तव्यः), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या और सत्य दोनों ही हैं (स्यादस्ति चावक्तव्यश्च), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या एवं अनिश्चित दोनों ही हैं, सभी कथन एक दृष्टि से, सत्य, मिथ्या और अनिश्चित तीनों हैं (स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यश्च)। उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि घड़ा है अर्थात् घड़ा अस्तित्व में है पर यह कहना अधिक सही होगा कि 'शायद घड़ा है।' अन्यथा, यदि हम प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इसमें निरपेक्ष रूप से मानें तो इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि मृत्पिंड अस्तित्व में है, खंभा अस्तित्व में है, कपड़ा अस्तित्व में है या कोई भी और चीज अस्तित्व में है। यहाँ तो अस्तित्व केवल घड़े के रूप में सीमित एवं परिभाषित कर दिया गया है। अतः 'घड़ा है' का तात्पर्य 'चरम रूप से अस्तित्व में है' नहीं है बल्कि घड़े के रूप में निर्धारित स्वरूप में अस्तित्व में होना है।

---

[1] देखें, विशेषावश्यक भाष्य, पृ० ८९५ से, तथा स्याद्वाद-मंजरी पृ० १७० से।

घड़ा है यह कथन एक सीमित अस्तित्व अर्थात् घड़े के रूप में परिभाषित अस्तित्व का कथन करता है, सामान्य, निरपेक्ष या चरम रूप के अस्तित्व का कथन नहीं करता। यदि अस्तित्व निरपेक्ष हो तो इसका तात्पर्य 'कपड़ा है ?' 'मिट्टी है' आदि कुछ भी हो सकता है। इसके अलावा, घड़े का अस्तित्व विश्व के अन्य सभी पदार्थों के अभाव द्वारा भी निर्धारित होता है। घड़े का प्रत्येक गुण या लक्षण (जैसे लाल रंग) लिया जाता है और उसे तदितर अन्य अनन्त, विविध गुणों के अभाव द्वारा सिद्ध किया जाता है–और तब घड़े के, एक-एक करके सब गुणों का तदितर गुणों के निवारण द्वारा जो समुदाय बनता है उससे घड़ा निर्धारित होता है। घड़े के अस्तित्व से तात्पर्य है घटेतर अन्य सभी वस्तुओं का अभाव। इस प्रकार एक दृष्टि से 'घड़ा है' यह वाक्य अस्तित्व का बोध कराता है, दूसरी दृष्टि से यह अभाव का बोध कराता है(घटेतर वस्तुओं के)। इस प्रकार 'घड़ा है' के बारे में यह कहना चाहिए कि 'शायद यह अस्तित्व का कथन है (स्यादस्ति), हो सकता है कि यह अभाव का कथन हो (स्यान्नास्ति)।' इसे दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। हम कह सकते हैं, 'घड़ा है' का अर्थ है यह घड़ा यहाँ है, जिसका तात्पर्य यह भी है कि 'यह घड़ा वहाँ नहीं है।' इस प्रकार 'घड़ा है' का अर्थ घड़ा नहीं है भी हुआ। हमने देखा कि घड़े के अस्तित्व का कथन एक स्थान पर सही है दूसरे स्थान पर मिथ्या है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'हो सकता है एक दृष्टि से घड़ा है और हो सकता है कि एक दृष्टि से नहीं भी है।' इन दोनों को मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'शायद घड़ा है और दूसरी दृष्टि से शायद घड़ा नहीं है।' इससे यह समझा जा सकता है कि यदि अस्तित्व के गुणों पर हम बल दें तो हम कहते हैं कि घड़ा है किन्तु अभाव की ओर देखते हुए हम यह भी कह सकते हैं घड़ा नहीं है। ये दोनों कथन उसी घड़े के संबंध में सही हैं, केवल दृष्टियों और तात्पर्यों का अन्तर है। यदि इसी पर बल दिए बिना हम घड़े के सम्बन्ध में दोनों परस्पर-विरोधी और विपरीत कथनों को जांचते हैं तो पाते हैं कि घड़े का स्वभाव या अस्तित्व अनिश्चित अनिर्धारणीय और अवक्तव्य है, क्योंकि हम एक ही चीज की सत्ता और अभाव का एक साथ कथन कैसे कर सकते हैं। लेकिन वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है कि हमें ऐसा करना ही होता है। इस प्रकार समस्त कथन सत्य है, मिथ्या हैं, सत्य और मिथ्या दोनों है' तथा इस दृष्टि से अवक्तव्य और अनिश्चित है। इन चारों को मिलाकर हम तीन निष्कर्ष निकाल सकते हैं–(१) शायद एक दृष्टि से घड़ा है, (२) फिर भी वह अवक्तव्य है अथवा (३) कि शायद घड़ा नहीं है और अवक्तव्य है अथवा अन्त में शायद घड़ा है और नहीं है और अवक्तव्य है। इस प्रकार जैनों के अनुसार कोई भी कथन अपने स्वभाव में पूर्ण सत्य नहीं है, अपने सीमित अर्थ में ही सत्य है, और उनमें से प्रत्येक को ऊपर वर्णित सात प्रकारों से कहा जा सकता है जो सभी सही है। इसे ही सप्त-भंगीनय कहा गया है।[1] जैनों का कथन है कि अन्य हिन्दू दर्शनों में यह प्रवृत्ति है कि

[1] देखें, स्याद्वादमंजरी, हेमचन्द्रकृत टीका सहित पृ० १६६ से।

वे अपने ही दृष्टिकोण को एक मात्र चरम दृष्टिकोण समझते हैं। उन्हें इस बात का एहसास नहीं है कि यथार्थ का स्वरूप यही है कि किसी भी कथन का सत्य सीमित और सापेक्ष होता है, वह किन्हीं स्थितियों और उपाधियों में ही सत्य है। इसलिए सार्वभौम और पूर्ण रूप से सत्य कथन करना असम्भव है क्योंकि उस कथन से विपरीत और विरुद्ध कथन भी एक दृष्टि से सत्य और सही पाया जाएगा। क्योंकि समस्त वस्तु-सत्य अंशतः स्थायी है और अंशतः परिवर्तनशील है, पुराने गुणों को छोड़ता और नए गुणों को ग्रहण करता है अतः वह सापेक्षतः स्थायी और अस्थायी है, इसलिए सत्य के संबंध में हमारे कथन केवल सापेक्षतः सही और गलत हैं। तर्क के तीन पक्ष; भाव, अभाव और अनिश्चय, प्रत्येक प्रकार के कथन के बारे में परस्पर क्रमिक सम्बन्धों के तहत किसी न किसी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के लिए लगाए जा सकते हैं। कोई भाव या अभाव त्रिकालातीत और सार्वदेशिक नहीं हो सकता, समस्त निर्धारण सापेक्ष रूप से ही सही होते हैं। यों नय-सिद्धान्त का स्याद्वाद के साथ यही सम्बन्ध हुआ कि प्रत्येक नय के अनुसार किए गए किसी भी निश्चय या कथन के उतने ही विकल्प होंगे जितने स्याद्वाद द्वारा वर्णित हैं। ऐसे निर्धारण की सिद्धि भी, इसलिए, सापेक्ष है। यदि यह बात किसी भी नय के अनुसार व्याख्यान करते समय ध्यान में रखी जाय तभी वह नय सही होगा। किन्तु यदि किसी भी नय के मुताबिक कोई निश्चय पूर्ण रूप से कह दिया जाय और स्याद्वाद के अनुसार अन्य नयों का कोई संदर्भ न दिया जाय तो वह नय गलत होगा जैसे कि अन्य कथन गलत होते हैं। इस प्रकार के गलत निश्चयों को 'नयाभास' कहा जाता है।[1]

ज्ञान और इसका मूल्य

धर्मोत्तर नामक बौद्ध ने न्यायबिन्दु की अपनी टीका में कहा है कि किसी प्रयोजन के साधन करने के इच्छुक व्यक्ति उस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक ज्ञान का बहुत मूल्य मानते हैं। चूँकि ज्ञान इस प्रकार मूल्यवान् और मनुष्यों के लिए उपादेय है इसीलिए दर्शन सम्यक् ज्ञान अथवा प्रमाण के स्वरूप का विवेचन अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानता है। सत्य ज्ञान की प्रमुख कसौटी यह है कि वह हमारे प्रयोजन की सिद्धि में साधक हो। ज्ञान के सम्बन्ध में बौद्धों के इस विचार से जैन भी सामान्यतः सहमत हैं।[2] उनका भी

---

[1] स्याद्वाद और सप्तभंगी का कदाचित् सर्वप्रथम उल्लेख भद्रबाहु (४३३-३५ ई० पू०) की सूत्रकृतांगनिर्युक्ति टीका में मिलता है।

[2] देखें, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (बनारस) पृ० २६ तथा परीक्षा मुखसूत्रवृत्ति (एशियाटिक सोसाइटी) अध्याय १।

यह कथन है कि ज्ञान का मूल्य स्वयं ज्ञानमात्र के लिए नहीं है। किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य इस बात में निहित है वह हमें, जो हमारे लिए शुभ है उसकी प्राप्ति में और जो बुरा है उसके निवारण में सहायक होता है। ज्ञान में ही यह शक्ति है, इसी से हम हमारे परिवेश से सामंजस्य पैदा कर पाते हैं और जो हमारे लिए शुभ है उसे पा लेते हैं और अशुभ से बच जाते हैं।[1] इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति में क्या-क्या बातें सहायक होती हैं। (जैसे–चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्य ज्ञान के लिए पूर्ण प्रकाश का होना, तथा उस पदार्थ का आँख से संनिकर्ष) यह इस प्रसंग में कोई महत्व की बात नहीं मानी गई है। हमें इससे क्या सरोकार है कि संज्ञान कैसे पैदा होता है, इससे हमारे प्रयोजनों की सिद्धि में कोई सहायता तो मिलती नहीं। हमारे लिए यही जानना पर्याप्त है कि कुछ निर्धारित स्थितियों में बाह्य ज्ञेय पदार्थ इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता धारण कर लेते हैं कि हम उनका ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस बात का निश्चयपूर्वक हम कथन नहीं कर सकते कि वे ही हम में ज्ञान पैदा करते हैं। क्योंकि हम केवल यह जानते हैं कि हम कुछ विशिष्ट स्थितियों में एक वस्तु को जान जाते हैं जबकि दूसरी स्थितियों में हम उसे नहीं जानते।[2] वस्तुओं की इस विशिष्ट योग्यता की मीमांसा से भी जो हममें उनका ज्ञान सम्भव बनाती है, हमारे लिए खास प्रयोजन नहीं। वे सब स्थितियाँ–जो वस्तुओं में ज्ञेयता की योग्यता पैदा करती हैं हमारे खास काम की नहीं हैं। हमारा तो उद्देश्य शुभ की प्राप्ति और अशुभ का निवारण है और वह ज्ञान से ही प्राप्त हो जाता है, बाह्य पदार्थों की इस योग्यता के कारण नहीं।

ज्ञान से ही हमें ज्ञाता के रूप में स्वयं अपने आपकी तथा ज्ञेय के रूप में बाह्य विषयों की जानकारी होती है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है (जैसा कि बौद्ध मानते हैं) कि बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान मूलतः अनिश्चित और अनिर्धारित होता है और रूप, रंग, आकार तथा वस्तु के अन्य लक्षणों के बारे में हमारे समस्त वैचारिक निर्धारण प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं होते बल्कि केवल उत्प्रेक्षा से आते हैं, इसलिए वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा केवल अनिर्धारित निर्विकल्प ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। अनुभव बताता है कि सत्य ज्ञान एक ओर तो विषयी या ज्ञाता के रूप में हमारा स्वयं का बोध कराता है और दूसरी ओर बाह्य विषयों के समस्त रूपों और लक्षणों का भी सही प्रत्यक्ष कराता है। इसीलिए ज्ञान को हमारा सन्निकट और प्रमुख उद्देश्य प्राप्ति का साधन मानना चाहिए। यह अवश्य है कि ज्ञान सीधे और तुरन्त वह शुभ हमें नहीं ला देता जिसकी प्राप्ति हमें करनी होती है लेकिन वह हमें हमारे चारों ओर के उन विषयों को सही रूप में सम्प्रेषित करता है इसलिए इष्ट

---

[1] प्रमाणनयतत्वालोकालंकार पृ० २६।

[2] देखें, परीक्षामुखसूत्र २-६ तथा उसकी वृत्ति एवं अध्याय २ की उपसंहारक वृत्ति।

की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए हमारे प्रयत्नों को सम्भव बनाता है। ज्ञान से ही ये कार्य जन्म लेते हैं, यदि ज्ञान नहीं होता तो प्रयत्न और कार्य भी नहीं होते। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य इस बात में निहित है कि यह सीधा, अव्यवहित और अचूक इष्ट-प्राप्ति का साधन है। जब तक किसी ज्ञान का प्रामाण्य खंडित नहीं हो जाता तब तक उसे सत्य ज्ञान माना जाना चाहिए। मिथ्या ज्ञान वह होता है जो वस्तुओं को उन रूपों में प्रस्तुत करें जिन रूपों में वे विद्यमान नहीं है। जब कम प्रकाश वाले स्थान में पड़ी रस्सी सर्प का भ्रम पैदा करती है, रज्जु में सर्प का ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान कहा जाता है, अर्थात् जहाँ सर्प विद्यमान नहीं है वहाँ उसका ज्ञान। सर्प भी होते हैं और रज्जुएँ भी[1] होती हैं। इसमें कोई मिथ्यात्व नहीं है। भ्रम इसलिए बताया जाता है कि जिन स्थितियों में रज्जु विद्यमान है उन स्थितियों में सर्प का ज्ञान हुआ। उन सम्बन्धों और परिवेशों में सर्प का प्रत्यक्ष करना जिनमें उस समय वह विद्यमान नहीं यही यहां मिथ्यात्व का स्वरूप हैं। जिसका पहले सर्प के रूप में प्रत्यक्ष किया गया उस ज्ञान का बाद में विरोध या खंडन हो गया इसलिए वह मिथ्या माना गया। इस दृष्टि से मिथ्यात्व अनुभव के यथार्थ तथ्यों के गलत निरूपण या प्रस्तुतीकरण में निहित है। और इसीलिए सत्य ज्ञान वह है जो अपने विषय का ऐसा सही और पूर्ण प्रस्तुतीकरण करे जो बाद में कभी भी विरुद्ध या खंडित न हो पाए। उदाहरणार्थ ऐन्द्रिव प्रत्यक्ष में इन्द्रियों के संनिकर्ष द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह स्पष्ट, विश्लिष्ट तथा निर्भ्रान्त होता है इसीलिए प्रत्यक्ष कहा जाता है। जब किसी अन्य मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है तो वह इतना स्पष्ट और सीधा नहीं होता इसलिए उसे परोक्ष ज्ञान कहा गया है।[2]

प्रत्यक्ष का सिद्धान्त

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में जैनों और बौद्धों के सिद्धान्त में यही अन्तर है जैसा ऊपर बताया गया है। जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष बाह्य विषय का उसी रूप में सम्पूर्ण

---

[1] भ्रम हमारे ज्ञान अथवा निर्धारण के विषयों में, देश, काल या अन्य प्रकार के ऐसे सम्बन्धों के संयोजन में निहित है जो वस्तुत: विद्यमान नहीं है—यद्यपि वे विषय अन्य सम्बन्धों में विद्यमान होते हैं। जब मुझे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है तो सांप भी विद्यमान तो होता है यद्यपि 'यह सर्प है' में यह के रूप में जहाँ मैं साँप देख रहा होता हूं वहाँ सांप नहीं होता क्योंकि रस्सी साँप नहीं होती। यह भ्रम सत्ख्याति अथवा 'सत्' वस्तुओं को गलत संदर्भ देना कहा जाता है।

[2] देखें, सिद्धसेन कृत जैन तर्कवार्तिक अध्याय १ तथा शान्त्याचार्य की वृत्ति, प्रमाणनयतत्वालोकालंकार, अध्याय १, परीक्षामुख-सूत्रवृत्ति, अध्याय १।

प्रस्तुतीकरण कर देता है जिसमें उसके सभी रूप, रंग, आकार आदि लक्षण सम्मिलित होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान आत्मा में उदित होता है, आन्तरिक उद्घाटन के रूप में, जैसेकि ढकने वाले आवरण को हटाने पर वस्तु उद्घाटित हो जाती है। समस्त बाह्य विषय केवल ज्ञान के ही रूप में विद्यमान नहीं हैं (जैसाकि विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं), वे वस्तुतः विद्यमान होते हैं। बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान इन्द्रियगम्य होता है। यहां इन्द्रिय का बाहरी स्वरूप, जैसाकि आंख का ढांचा, इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रिय से तात्पर्य है आत्मा की देखने की वह अन्तर्निहित शक्ति जो प्रत्यक्ष करती है। इस प्रकार की पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। जैनों की यह मान्यता है कि हम पांच प्रकार की इन्द्रियों से पांच प्रकार का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए सच तो यह है कि वस्तुतः आत्मा ही स्वयं इन विविध ऐन्द्रिय ज्ञानों को बाह्य इन्द्रियों की सहायता से प्राप्त करता है जैसे कि आवरण हट जाने पर वस्तु दिख जाती है। ज्ञान पर ढके आवरण को हटाने से जीव ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है। बाह्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में किसी इन्द्रिय की अपने आपकी शक्ति ही काम करती हो सो बात नहीं है, आत्मा में ऐन्द्रिय ज्ञान का स्वयं प्रकाश होता है, यद्यपि वह किसी इन्द्रिय विशेष (जैसे आँख) की सहायता से होता है। आत्मा शरीर के प्रत्येक अंग से सम्बद्ध है। चाक्षुष ज्ञान वह ज्ञान है जो आत्मा के उस अंश में पैदा होता है जो चक्षुरिन्द्रिय से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए मैं सामने आँख फैलाता हूं और एक गुलाब का फूल देखता हूं। गुलाब के फूल के इस ज्ञान के पहले गुलाब के फूल का ज्ञान मुझमें था किन्तु वह आवरण से ढका था अतः उसका प्रकटीकरण नहीं होता था। देखने की क्रिया का अर्थ यह है कि गुलाब के फूल में और मुझमें वह योग्यता पैदा हो गई जिससे गुलाब के फूल का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सका। मेरे गुलाब के फूल के ज्ञान पर पड़ा हुआ आवरण हट गया। जब चाक्षुष ज्ञान पैदा होता है तब वह चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से होता है। मुझे लगता है कि मैं आँख के माध्यम से देख रहा हूं जबकि वास्तव में मैं उस विषय का ज्ञान कर रहा हूं जो आँख से सम्बद्ध है। चूंकि अनुभव में विभिन्न इन्द्रियों का अलग ज्ञान नहीं होता इसलिए यह मानना अनावश्यक है कि उनका आत्मा से अलग भी कोई अस्तित्व है। इसी चिन्तन धारा पर आगे चलते हुए जैन मन का अलग अस्तित्व नहीं मानते क्योंकि मन का अस्तित्व भी अनुभवगम्य नहीं है। उसका आनुमानिक अस्तित्व मानना अनावश्यक है क्योंकि जीवात्मा को ही मानने से काम चल जाता है।[1]

---

[1] "तन्न इन्द्रियं भौतिकं किन्तु आत्मा च इन्द्रियम् अनुपहत···चक्षुरादिदेशेषु एव आत्मनः कर्मक्षयोपशमस्तेनथगित गवाक्षतुल्यानि चक्षुरादीन्युपकरणानि।" (जैनवार्तिक वृत्ति २, पृ० ९८)। किन्तु अनेक स्थानों में पाँच इन्द्रियाँ, कान, नाक, आँख आदि को, इन्द्रिय के रूप में उल्लिखित किया गया है और प्राणियों को बहुधा इस आधार पर वर्गीकृत किया गया है कि उनकी कितनी इन्द्रियाँ हैं (देखें, प्रमाणमीमांसा तथा

विषय के प्रत्यक्ष से मतलब है उस विषय के ऊपर आत्मा में पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण हट गया है। आन्तरिक रूप से अज्ञान के आवरण का यह हटना व्यक्ति के कर्मों पर निर्भर होता है, बाह्य रूप से यह अनेक स्थितियों पर निर्भर होता है जैसे प्रत्यक्ष के विषय की विद्यमानता, प्रकाश, चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति आदि आदि। बौद्धों तथा अनेक अन्य भारतीय दार्शनिकों से विपरीत जैन यह मानते हैं कि समस्त विषयों के पूर्ण रूप का आत्मा के अन्दर सीधा प्रकटन होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त हो फिर उसके बाद सविकल्प ज्ञान के रूप में अन्य लक्षण ज्ञात हों। इस प्रकार इस सिद्धांत का बौद्धों के उस सिद्धान्त से सीधा विभेद स्पष्ट हो जाता है जो यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप निर्विकल्प ऐन्द्रिय ज्ञान मात्र है। सविकल्प ज्ञान की स्थिति बाद की है जो अनेक बौद्धिक तत्वों जैसे उत्प्रेक्षा, स्मृति आदि की अधिक्रियाओं से बाद में बनती है और इसलिए ज्ञान का मूलभूत अंश नहीं है।[1]

परोक्ष ज्ञान

परोक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान में यह भेद है कि परोक्ष प्रत्यक्ष के समान विषयों का उतना स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं करता जितना कि प्रत्यक्ष ज्ञान। जैन नहीं मानते कि आत्मा के संज्ञानों के निर्धारण में इन्द्रियों की विशिष्ट भूमिका है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञान के अन्य प्रकारों में यह भेद है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुओं में स्वरूप और लक्षणों का सीधे चित्र प्रस्तुत कर देता है, परोक्ष वैसा नहीं करता। परोक्ष ज्ञान में अनुमान, प्रत्यभिज्ञा, आपादन, स्मृति आदि आते हैं।

अनुमान के बारे में जैन दर्शनों में यह विशेषता है कि वे पांच तर्क वाक्यों को अनावश्यक मानते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, और निगमन नामक पाँच वाक्य, जैसे— (१) पर्वत वह्निमान् है (२) क्योंकि उसमें धूम है (३) जहाँ जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोई घर (४ पर्वत में धूम है (५) इसलिए उसमें आग भी है। इनमें

तत्वार्थाधिगम सूत्र अध्याय २)। यह केवल ऐन्द्रिय संवेदन की दृष्टि से ही है। इन्द्रियों के पृथक् अस्तित्व का खण्डन इस दृष्टि से किया गया है कि वे जीव से पृथक् कोई इकाई या स्वतंत्र क्षमता रखने वाली शक्तियां नहीं हैं। वे तो जीव के लिए बाहर झांकने के लिए बने गवाक्ष जैसी ही है। आन्तरिक निर्धारण द्वारा जीवात्मा में जो ज्ञान उदित होता है उसके निर्धारण या रूपान्तरण में इन्द्रियों की कोई भूमिका पृथक् से नहीं है क्योंकि वह तो जीवात्मा में पहले से ही विद्यमान है। प्रत्यक्ष की क्रिया का तात्पर्य केवल यही है कि जो आवरण था वह हट गया है।

[1] प्रमेय-कमल-मार्तण्ड पृ० ८-११।

जैनों के अनुसार अनुमान की प्रणाली के लिए वस्तुतः मूलभूत महत्व के केवल प्रथम दो ही वाक्य हैं (प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० १०८-१०६)। जब हम अनुमान करते हैं तो हम इस प्रकार पांच वाक्य नहीं बनाते। जो यह जानते हैं कि हेतु साध्य से, या तो सहभाव के कारण या क्रमभाव के कारण अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है वे हेतु (जैसे धूम) की विद्यमानता की बात सुनते ही तुरन्त यह अनुमान लगा लेते हैं कि पर्वत वह्निमान है। इसलिए पंचवाक्यात्मक तर्क की बात बालकों को समझाने के लिए ही कही जाती है, अनुमान के समय बुद्धि की जो तार्किक प्रक्रिया चलती है उसका सही प्रतिनिधित्व नहीं करती।[1]

---

[1] जहाँ तक व्याप्ति का प्रश्न है, कुछ जैन तर्कशास्त्री बौद्धों के समान ही अन्तर्व्याप्ति (धूम और अग्नि के बीच) को बहिर्व्याप्ति (धूमवान् और अग्निमान् के बीच) से अधिक महत्व देते हैं। उनके मत में भी अनुमान के दो भेद हैं, स्वार्थानुमान (स्वयं अपने लिए) और परार्थानुमान (दूसरों को समझाने के लिए)। यहां यह उल्लेख भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि अति प्राचीन जैन तर्कशास्त्री अनुमान करने के लिए दशवाक्यात्मक तर्क के पक्षपाती थे, जिसका प्रमाण हमें भद्रबाहु के 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' नामक ग्रन्थ से मिलता है। दस वाक्य थे (१) प्रतिज्ञा (उदाहरणार्थ, अहिंसा सर्वोत्तम गुण है), (२) प्रतिज्ञाविभक्ति (जैसे अहिंसा, जैन शास्त्रों के अनुसार सर्वोत्तम गुण है), (३) हेतु (क्योंकि जो अहिंसा का आचरण करते हैं वे देवताओं के प्रिय होते हैं और उनके प्रति आदर शुभावह है), (४) हेतु विभक्ति (जो ऐसा आचरण करते हैं वे ही जीवन में सर्वोच्च प्रतिष्ठा के पात्र होते हैं), (५) विपक्ष (किन्तु हिंसा का आचरण करने पर भी कई लोग उन्नति कर सकते हैं और जैन शास्त्रों की निन्दा करने पर भी कुछ लोग शुभ की प्राप्ति कर सकते हैं जैसेकि ब्राह्मण लोग), (६) विपक्ष प्रतिषेध (ऐसा नहीं है, यह असम्भव है कि जो जैन शास्त्रों की निन्दा करते हों वे देवों के प्रिय हों या प्रतिष्ठा के पात्र हों), (७) दृष्टान्त (अर्हत् लोग गृहस्थों से भिक्षा द्वारा अन्न प्राप्त करते हैं क्योंकि कीटादि जीवों की हिंसा की आशंका से वे भोजन नहीं पकाना चाहते), (८) अशंका (किन्तु यों तो गृहस्थों द्वारा पकाए भोजन का पाप उन्हें लगना चाहिए क्योंकि वह उन्हीं के लिए पकाया गया है), (६) आशंका प्रतिषेध (ऐसा नहीं है क्योंकि अर्हत् लोग कभी भी अप्रत्याशित रूप से किसी भी घर में पहुँच सकते हैं अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भोजन उनके लिए पकाया जाता है), निगमन (अतः अहिंसा ही सर्वोत्तम गुण है)। (विद्याभूषण : इंडियन लॉजिक)। ये सब तर्कात्मक कथन हैं जो सामान्य विचार विमर्शों में भी व्यावहारिक रूप से बहुधा प्रयुक्त होते हैं किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इनमें से अनेक अनावश्यक भी हैं। वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्र भाष्य में (१-१-३२) जो यह कहा है कि अन्य तार्किकों में प्रचलित दशवाक्यात्मक

जहाँ तक प्रामाण्य का सवाल है जैन वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते। वे जैन शास्त्रों को ही प्रमाण मानते हैं। वे ही सत्य ज्ञान के स्रोत हैं क्योंकि वे उनके द्वारा प्रणीत हैं जिन्होंने प्रारम्भ में सांसारिक जीवन भले ही जिया हो किन्तु बाद में सम्यक् कर्म और सम्यक् ज्ञान द्वारा उन्होंने समस्त इच्छाओं का दमन कर अज्ञान का नाश कर दिया था।[1]

ज्ञान का स्वरूप

बौद्धों का मत था कि वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसका हम पर विशेष प्रभाव होना अथवा कार्यकारित्व ही है। जिसका हम पर कोई प्रभाव हो वह वस्तु सत् मानी जाती थी और जो ऐसा नहीं करती थी वह असत्। उनके मत में सत्ता की परिभाषा प्रभाव के उत्पादन में ही थी। सिद्धान्ततः प्रभाव की प्रत्येक इकाई अन्य प्रभावों की इकाइयों से अलग होती है अतः उन्हें मानना पड़ा कि प्रभाव की विभिन्न इकाइयों का क्रमिक आवर्तन होता है, दूसरे शब्दों में प्रत्येक क्षण नए कार्य की उत्पत्ति के साथ नए द्रव्यों की उत्पत्ति उन्हें माननी पड़ी। समस्त पदार्थ उनके मत में क्षणिक थे। जैनों ने कहा कि कार्य के उत्पादन को ही सत्ता का प्रमाण मानने के पीछे यही तर्क है कि हम उसी चीज का अस्तित्व मानते हैं जो तदनुकूल अनुभव द्वारा प्रमाणित हो। जब हमें अनुभव की एक इकाई अनुभूत होती है तो हम उसके आधार को सिद्ध करने के लिए उस द्रव्य की सत्ता को मानते हैं। इस दृष्टि से बौद्धों का यह अव्यावहारिक विश्लेषण कि हममें उत्पादित प्रभाव की प्रत्येक इकाई प्रत्येक क्षण नई होती है, वही नहीं रहती, और इसलिए समस्त वस्तु क्षणिक हैं, दोषपूर्ण हैं। यह अनुभव गम्य है कि किसी का सारा रूप क्षण क्षण में नहीं बदलता, उसका कुछ अंश (जैसे एक स्वर्णभूषण में स्वर्ण) स्थायी रहता है और कुछ अंश (जैसे कनफूल या बाजूबन्द आदि उसके बाहरी रूप) परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत हम यह कैसे मान सकते हैं कि समस्त वस्तु हर क्षण नष्ट होती हैं और नई वस्तुएँ हर अगले क्षण पैदा होती हैं? इस प्रकार केवल सिद्धान्त की बात और निराधार कल्पनाओं से परे हटकर अनुभव की ओर देखा जाए तो यह ज्ञात होगा कि सत्ता या अस्तित्व की धारणा में परिवर्तन या पर्याय (नए गुणों का ग्रहण और पुराने गुणों का त्याग) के साथ-साथ स्थायित्व की धारणा भी निहित है। जैन मानते हैं कि अन्य दर्शनों की प्रणालियाँ इसलिए दोषपूर्ण हैं कि वे अनुभव को एक ही नय की दृष्टि से परिभाषित

तर्क के स्थान पर गौतम ने पंचवाक्यात्मक तर्क के सिद्धान्त को विकसित किया, उसकी पृष्ठभूमि में यही जैन मत उनके मस्तिष्क में रहा होगा।

[1] देखें, जैन तर्कवार्तिक तथा परीक्षामुखसूत्रवृत्ति एवं षड्दर्शनसमुच्चय में जैन दर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।

करती हैं जबकि उनकी प्रणाली अनुभव के समस्त पहलुओं की छानबीन करती है और अनुभव द्वारा उपस्थापित तथ्यों को स्वीकार करती है, ऐकांतिक रूप से नहीं किन्तु उचित सीमाओं के अन्दर। जैनों के अनुसार अर्थ-क्रियाकारित्व के सिद्धान्त के वर्णन में बौद्धों में पहले तो अनुभव के प्रामाण्य पर आधारित विवेचना के से लक्षण प्रकट होते हैं किन्तु वे तुरन्त ही एकपक्षीय हो जाते हैं और बाद में अनुभव-विरुद्ध कल्पनाओं में अकारण फंस जाते हैं। यदि हम अनुभव के आधार पर चलें तो हम न तो आत्मा को अस्वीकार कर सकते हैं न बाह्य जगत् के अस्तित्व को जैसा बौद्ध करते हैं। ज्ञान, जो हमें बाह्य जगत् के सभी स्पष्ट स्वरूपों को दिखला देता है, अपने आप में यह भी प्रमाणित करता है कि वह ज्ञान विषयी के रूप में स्वयं मेरा भी (ज्ञाता का) अविभाज्य अंग है। इस दृष्टि से ज्ञान मेरी स्वयं की एक अभिव्यक्ति ही है। अनुभव में हमें यह ज्ञात नहीं होता कि बाह्य जगत् हममें सृष्ट हो रहा है, किन्तु हममें ज्ञान का उदय हो रहा है और वह हमें कुछ विषयों का ज्ञान करा रहा है ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार ज्ञान का उदय वस्तुओं में निहित कुछ विशिष्ट वस्तुगत संस्थितियों के समानान्तर है जिनमें एक विशिष्ट योग्यता होती है जिसके कारण वे किसी विशिष्ट क्षण में प्रत्यक्षीकृत और ज्ञात होते हैं। इस दृष्टि से हमारे समस्त अनुभव हममें ही केन्द्रित होते हैं, क्योंकि एक दृष्टि से हमारे अनुभव हमारे स्वयं के रूपान्तर या अभिव्यंजन के रूप में ही आते हैं। ज्ञान आत्मा का लक्षण है अतः इन्द्रियों से अनिर्भर और स्वतंत्र रूप में वह आत्मा के प्रकटीकरण का ही रूप है। ज्ञान में चेतन और अचेतन तत्वों का विभेद करना अनावश्यक है जैसा सांख्य करता है। इसी प्रकार ज्ञान को उन वस्तुओं की प्रतिलिपि के रूप में नहीं देखना चाहिए जैसा सौत्रांतिक मानते हैं क्योंकि वस्तुओं की भौतिकता की प्रतिलिपि होने के कारण हमें ज्ञान को भी भौतिक मानना पड़ेगा। अतः ज्ञान को आत्मा का एक रूपहीन गुण मानना चाहिए जो अपने आप में वस्तुओं का प्रकटीकरण करता है। किन्तु मीमांसा का यह मत कि ज्ञान स्वतः प्रमाण है ठीक नहीं है। तार्किक और मनस्तात्त्विक दोनों दृष्टियों से ज्ञान का प्रामाण्य तथ्यों से बाह्य संवाद होने पर ही निर्भर होता है, केवल ऐसी स्थितियों में जहां पूर्वानुभूत संवाद (तथ्यों के साथ संवाद के पहले हो चुके अनुभव) के कारण किसी बात का सही विश्वास हो जाता है तो बाहरी तथ्यों के साथ संवाद को देखे बिना ही प्रामाण्य गृहीत हो सकता है (प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ स्वकार्ये च स्वतः परतश्च अभ्यासानाभ्यासापेक्षया)।[1] बाह्य जगत् सत्य है क्योंकि अनुभव-गम्य है किन्तु यह बात कि वह हममें ज्ञान की उत्पत्ति करता है कि अकारण मानी हुई परिकल्पना है क्योंकि ज्ञान तो आत्मा की अभिव्यक्ति है। अब हम इसी के साथ जैन तत्व-मीमांसा का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

---

[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३८-४३।

जीव

जैनों का मत है कि यह अनुभव सिद्ध है कि वस्तुएँ दो वर्गों में विभाजित हैं–जीव और अजीव। जीवनी शक्ति शरीर से बिलकुल पृथक् चीज है अतः यह विचार भ्रमात्मक है कि जीवन शरीर की ही उत्पत्ति या सम्पत्ति है।[1] जीवनी शक्ति के कारण ही शरीर सजीव लगता है। यह जीवनी शक्ति जीव ही है। जीव की ईक्षण (अन्तर्दृष्टि द्वारा) किया जा सकता है जैसे अन्य बाह्य पदार्थों का। यह केवल शब्द मात्र में स्थित प्रतीक स्वरूप वस्तु या केवल वर्णन की चीज नहीं है। यह विचार सुप्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर के मत से विककुल विपरीत पड़ता है।[2] जीव अपने शुद्ध स्वरूप में अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य धारण करने वाली शक्ति है।[3] यह पूर्ण है। सामान्यतः कुछ शुद्ध और मुक्त जीवों को छोड़ कर अन्य सभी जीव संसारी हैं और उनकी शुद्धता और शक्ति कर्म के फल के आवरण से आच्छादित रहती है और कर्म अनादि काल से उन पर छाते रहते हैं। जीवों की संख्या अगणित है। वे द्रव्य हैं एवं अनादि हैं। वस्तुतः हमारे लोकाकाश में अनन्त जीव व्याप्त हैं, उनका आकार मध्यम परिमाण का है, वे न विभु हैं न अणु है। इसलिए उन्हें जीवास्तिकाय के नाम से पुकारा जाता है। अस्तिकाय शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु जो किसी जगह को रोक सके और जो व्यापिनी शक्ति रखती हो। ये जीव जिस समय जिस शरीर में समाहित होते हैं उसके अनुसार अपने आपको आकार में संकुचित या विस्तृत बनाते रहते हैं (हाथी में विस्तृत आकार धारण करके और चींटी में संकुचित आकार धारण करके)। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जैनों के अनुसार जीव समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। केशों से लेकर पैर के नखों तक। तभी तो जहाँ कहीं भी कोई संवेदन या पीड़ा होती है उसका अनुभव तुरन्त हो जाता है। जीव समस्त शरीर में किस प्रकार व्याप्त रहता है इसे वे एक कमरे में एक कोने में रखे दीपक की उपमा से समझाते हैं जो समस्त कमरे को आलोकित करता रहता है। जैन इन्द्रियों को धारण करने की मात्रा

---

[1] देखें, जैनवार्तिक पृ० ६०।

[2] देखें, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३३।

[3] जैन दर्शन और ज्ञान में भेद करते हैं। दर्शन किसी विषय का ज्ञान मात्र है, विवरण-पूर्वक ज्ञान नहीं, जैसे मैं एक कपड़ा देखता हूं। ज्ञान सविवरण ज्ञान है जैसे कपड़ा देखकर मैं यह भी जानता हूं कि यह किसका है, किस स्तर का है, किसका बनाया हुआ है आदि। प्रत्येक संज्ञान में हमें पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान। शुद्ध जीव में सभी पदार्थों का अनन्त सामान्य प्रत्यक्ष निहित रहता है तथा समस्त पदार्थों का सविवरण ज्ञान भी निहित रहता है।

और संख्या के हिसाब के अनुसार जीवों का वर्गीकरण करते हैं। सबसे नीचे पेड़ पौधे आते हैं जिनमें केवल स्पर्शेन्द्रिय या स्पर्श-संवेदन होता है उससे ऊँचा वर्ग उन कीड़ों का आता है जिनमें दो इन्द्रियाँ होती हैं स्पर्श और स्वाद की। उससे ऊपर चीटियाँ आदि आती हैं जिनमें स्पर्श, घ्राण और स्वाद तीनों की शक्ति होती हैं। उससे ऊपर मधु-मक्खियाँ आदि आती हैं जिनमें स्पर्श, घ्राण और स्वाद के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। अन्य जीवधारी प्राणियों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। ऐसे ऊँचे प्राणियों में मनुष्य और देवता गिने जाते हैं जिनमें समस्त इन्द्रियाँ तो होती ही हैं एक आन्तरिक इन्द्रिय और होती है, मन, जिसके कारण वे संज्ञी प्राणी कहे जाते हैं, अन्य पशु आदि प्राणी असंज्ञी कहे जाते हैं।

यह स्पष्टत: देखा जा सकता है कि निम्नतर प्राणियों में जीव का विभाजन करते हुए जैन चार तत्वों, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि में भी जीव की सत्ता मानते हैं। पार्थिव पदार्थ भी जीवों के ही पिण्ड हैं। इन्हें पार्थिव जीव आदि कहा जा सकता है। इन्हें हम प्राथमिक जीव कह सकते हैं। वे जीवन पूर्ण कर मर जाते हैं और किसी अन्य प्राथमिक शरीर में पुन: जीवित हो उठते हैं। ऐसे प्राथमिक जीव स्थूल भी होते हैं और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म जीव अदृश्य होते हैं। ऐकेन्द्रिय जीवों के अन्तिम वर्ग में पौधे आते हैं। कुछ पौधों में समस्त कलेवर एक ही जीव का बना होता है जबकि कुछ ऐसे होते हैं जो शरीरधारी जीवों के समूह से बने होते हैं। इनके विभिन्न अवयवों में जीवन के समस्त लक्षण पाए जाते हैं जैसे श्वसनक्रिया, वृद्धि की क्रिया, पोषण क्रिया आदि। एक जीव वाले पौधे स्थूल होते हैं, वे पृथ्वी के आवासयोग्य भाग में ही पाए जाते हैं। किन्तु उन वृक्षों में भी जो विभिन्न वृक्ष-जीवों के समूह से निर्मित होते हैं, कुछ सूक्ष्म जीव हो सकते हैं और अदृश्य हो सकते हैं—ऐसे पौधे समस्त विश्व में व्याप्त हैं। समस्त ब्रह्माण्ड निगोड नामक सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है। वे अनन्त जीवों के समूह से निर्मित होते हैं। इनमें श्वसन और पोषण क्रिया समान होती है, इन्हें भयंकर पीड़ा का अनुभव होता रहता है। समस्त आकाश (अन्तरिक्ष) ऐसे अनन्त जीवों से ठसाठस भरा हुआ है जैसे चूर्ण के डिब्बे में चूर्ण भरा रहता है। जिन जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है उनके स्थान पर इन निगोड़ों से अन्य जीव आ जाते हैं। अब तक, अनादिकाल से लेकर आज तक जितने जीवों को निर्वाण प्राप्त हुआ है उन सबकी जगह लेने के लिए केवल एक निगोड़ के अत्यंत स्वल्प स्थान से निकले बहुत थोड़े से जीव ही पर्याप्त रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि संसार जीवधारी प्राणियों से कभी खाली नहीं हो सकता। निगोड़ों में से जिन जिन को विकास की आकांक्षा होती है वे बाहर आकर विभिन्न प्रक्रमों से गुजरते हुए अपना विकास जीवधारी प्राणी के रूप में करते रहते हैं।[1]

---

[1] देखें, जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई. आर. ई.) एवं लोक प्रकाश अध्याय ४ पृ० ३१ से।

कर्म सिद्धान्त

अपने अपने कर्मों को गुणों और दोषों के अनुसार जीव देव, मनुष्य, पशु या असुरों के रूप में जन्म लेते हैं। हमने अध्याय–३ में बतलाया है कि जीव के शरीर धारण का हेतु कर्म-द्रव्य की उपस्थिति ही है। शुद्ध जीव की सहज पूर्णता कर्म द्रव्य के विविध प्रकारों से दूषित हो जाती है। वे कर्म जो सम्यक् ज्ञान के सही स्वरूप को दूषित करते है उन्हें ज्ञानावरणीय कहा जाता है, जो सम्यक् दर्शन को दूषित करते हैं उन्हें दर्शनावरणीय कहा जाता है, जो जीव के आनन्द स्वरूप को आवृत करके सुख दुःख की उत्पत्ति करते है उन्हें वेदनीय कहा जाता है, और जो धर्म और सदाचार के प्रति हमारी सम्यक् प्रवृत्ति को आवृत करते हैं उन्हें मोहनीय कहा जाता है।[1] इन चार प्रकार के कर्मों के अलावा जो इन वस्तुओं के आवरण के रूप में आ जाते हैं, कर्मों के अन्य चार प्रकार भी हैं जिनमें निम्नलिखित बातें निर्धारित होती हैं—

(१) किसी जन्म में कितनी आयु होगी। (२) कौन-सा शरीर, उसके कौन-से सामान्य और विशेष गुण तथा शक्तियाँ होंगी (३) कौन-सा देश, जाति, परिवार तथा सामाजिक स्थिति होगी (४) जीव की कितनी आन्तरिक शक्ति होगी, जिसे आवृत करके कर्म सम्यक् आचरण करने की इच्छा होते हुए भी जीव को वैसा करने से रोक देता है। इन कर्मों को क्रमशः (१) आयुष्क कर्म (२) नामकर्म, (३) गोत्रकर्म और (४) अन्तराय कर्म कहा जाता है। हमारे मन, वचन और काय से कार्य करते हुए हम निरन्तर किसी न किसी प्रकार का कर्म-द्रव्य पैदा करते रहते हैं। जिसे प्रथमतः भाव कर्म कहा जाता है जो बाद में द्रव्य कर्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है और जीव में प्रविष्ट होकर उसके काषाय के रूप में उससे चिपका रहता है। ये काषाय चिकनाई की तरह अन्य, बाह्य से आकर प्रविष्ट होने वाले कर्म द्रव्य को अपने से चिपकाने का कार्य करते रहते हैं। यह कर्म द्रव्य आठ विभिन्न प्रकारों में कार्य करता है अतः इसे ऊपर बताए गए आठ भेदों में विभक्त किया गया है। यही कर्म बन्धन और दुःख का कारण है। अच्छे और बुरे कर्म द्रव्य के संसक्त होने के फलस्वरूप जीव विभिन्न रंगों में रंग जाता है जैसे सुनहरा, कमल के समान गुलाबी, सफेद और काला, नीला आदि। इन्हें लेश्या कहा जाता है। कर्म द्रव्य के इकट्ठा होने से जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें भाव-लेश्या और जीव के इसके द्वारा बदले गए रंग को द्रव्य-लेश्या कहा जाता है। अच्छे, बुरे अथवा उदासीन कार्यों से उत्पन्न कर्मद्रव्य तदनुरूप सुख, दुःख या औदासीन्य

---

[1] जैन ज्ञान के पांच प्रकार मानते हैं–(१) मतिज्ञान (सामान्य संज्ञान) (२) श्रुति (प्रमाण) (३) अवधि (अतिमानव संज्ञान) (४) मनः पर्याय (विचारों को पढ़ लेना) (५) केवल ज्ञान (सर्वज्ञता)।

कर्म, आस्रव एवं निर्जरा

कर्मों के कारण जीवों को इस संसार क्रम का चक्र भोगना होता है, देव, मानव, पशु या कीट बनकर विविध स्थानों पर जन्म और पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कर्म एक प्रकार से अतिसूक्ष्म आण्विक द्रव्य के रूप में परिकल्पित किए गए हैं (कर्मवर्गणा)। इन कर्मद्रव्यों का जीव में प्रवेश 'आस्रव' कहा गया है। ये कर्म मन, वचन और काम से उद्भूत होते हैं। आस्रव के उपमान से यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार विभिन्न स्त्रोतों से जल एक जलाशय में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार कर्म जीव में प्रविष्ट होते रहते हैं। जैन कर्मों और उन स्रोतों में जिनके द्वारा कर्म जीव में प्रविष्ट होते हैं, भेद करते हैं। आस्रव को इसीलिए उन्होंने दो वर्गों में विभक्त किया है, भावास्रव और कर्मास्रव। भावास्रव वह चिन्तना या भावना है जिसके माध्यम से या जिसके कारण कर्मद्रव्य के अणु जीव में प्रविष्ट होते हैं।[1] नेमिचन्द्र के अनुसार भावास्रव जीव में होने वाला ऐसा परिवर्तन है जिसके रूप में कर्म जीव में प्रविष्ट होते हैं। यह उस परिवर्तन से विपरीत है जो कर्मास्रव का नाश करते समय होता है।[2] कर्मास्रव जीव में कर्मों के प्रविष्ट होने की वास्तविक क्रिया है। भावास्रव सामान्यतः पाँच प्रकार के बतलाए गए है-मिथ्यात्व, अविरति (नियंत्रणहीनता), प्रमाद, योग और काषाय। मिथ्यात्व भी पाँच प्रकार का है-एकान्त (बिना विमर्श के किया हुआ विश्वास या कोई चरम धारणा), विपरीत (सत्य के बारे में अनिश्चय), विनय (यह जानते हुए भी कि यह विश्वास गलत है, उसे आदत के कारण लिए रहना), संशय (सही-गलत के बारे में संदेह) और अज्ञान (तर्क के अभाव में किसी विश्वास का न बन पाना)। अविरति भी पाँच प्रकार की होती है-हिंसा, अनृत, चौर्य, अब्रह्म (असंयम) और परिग्रहाकांक्षा। प्रमाद भी पाँच प्रकार का होता है-विकथा (कुवार्ता), काषाय, इन्द्रिय (इन्द्रियों का असंयम), निद्रा और राग (आसक्ति)।[3]

अब हम द्रव्यास्रव पर आते हैं। यह कर्म के आस्रव की वास्तविक क्रिया है। चूंकि कर्म आठ विभिन्न प्रकारों से जीव को प्रभावित करते हैं इसलिए कर्मों को भी आठ वर्गों में विभक्त किया गया है-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। यह कर्मास्रव वस्तुतः भावास्रव या कुविचारों के कारण अथवा जीव में हुए भावजन्म परिणामों (परिवर्तनों) के कारण होता है। भाव की स्थितियाँ जो कर्मों के प्रवेश को निर्धारित करती हैं, 'भावबन्ध' कहे जाते हैं और

---

[1] द्रव्य संग्रहवृत्ति श्लोक २९।

[2] द्रव्यसंग्रह श्लोक २९ पर नेमिचन्द्र की टीका (एस. सी. घोषाल द्वारा संपादित)।

[3] श्लोक संख्या ३० पर नेमिचन्द्र की टीका।

जीव का वह बन्धन जो कर्मों के सम्पर्क के विकार के कारण उद्भूत होता है–'द्रव्य बंध' कहा जाता है। भावबंध के कारण कर्मों के साथ जीव का सम्पर्क होता है।[1] यह सम्पर्क कुछ इस प्रकार का परिकल्पित किया गया है जैसे किसी पुरुष के तेल से सने शरीर पर धूल चिपकती जाती है। गुणरत्न के शब्दों में 'कर्म के प्रवेश का तात्पर्य है किसी विशिष्ट वर्ग के कर्मद्रव्य के साथ जीव का संपर्क, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तेलाक्त शरीर में धूल का चिपकना।' जीव के समस्त भागों में कर्मद्रव्यों के अनन्त अणु चिपक जाते है जिससे वह चारों ओर से इस प्रकार आवृत हो जाता है कि हम इस दृष्टि से संसार स्थिति के इस जीव को कभी-कभी द्रव्य शरीर कह सकते हैं।[2] एक दृष्टि से कर्म बन्धन केवल पुण्य और पाप ही है।[3] दूसरी दृष्टि से इनके चार भेद किए गए हैं–कर्मो की प्रकृति, स्थिति (बन्धन की), अनुभाग (तीव्रता) और प्रदेश (फैलाव) के आधार पर। कर्मो की प्रकृति से तात्पर्य है कर्मों के आठ प्रकार जो ऊपर वर्णित हैं। ज्ञानावरणीय कर्म जीव के विस्तृत और अनन्त विशिष्ट ज्ञान पर आवरण डालता है, दर्शनावरणीय कर्म जीव के अनन्त सामान्य ज्ञान पर आवरण डालता है, वेदनीय कर्म जीव में सुखदुःखानुभूति पैदा करता है, मोहनीय कर्म जीव को इस प्रकार मोह के जाल में डाल देता है कि वह क्या सही है और क्या गलत है इसका भेद नहीं कर पाता, आयु कर्म जीव की शरीर विशेष में आयु निर्धारित करता है, नामकर्म व्यक्तियों के व्यक्तित्व निर्धारित करता है, गोत्र कर्म जीव के लिए विशिष्ट सामाजिक स्थितियाँ संदर्भित करता है और अन्तराय कर्म जीव के द्वारा सम्यक् आचरण में विघ्न डालता है। किसी भी कर्म की जीव में रहने की अवधि स्थिति कही जाती है। कर्म तीव्र, मध्यम और मन्द इस प्रकार के वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं–इसी आधार पर तीसरा सिद्धान्त जिसे अनुभाग कहा जाता है, बतलाया गया है, कर्मों की जीवों में स्थिति और उनकी तीव्रता, मन्दता आदि विभेद जीव के 'काषायों' पर निर्भर होती हैं तथा ज्ञानावरणीय आदि वर्ग विभाजन जीव के कर्मद्रव्य से सम्पर्क विशेष की प्रकृति पर निर्भर होता है।[4]

कर्मो के प्रवेश के दो प्रकारों, भावास्रव और कर्मास्रव के अनुरूप ही ऐसे प्रवेश का प्रतिरोध करने वाली दो नियंत्रक प्रक्रियाएँ बतलाई गई हैं, जो विचारों को नियंत्रित करके तथा कर्मद्रव्यों का प्रतिरोध करके कर्मो पर अंकुश लगाती हैं। इन्हें क्रमशः भावसंवर तथा द्रव्यसंवर कहा गया है। भाव संवर सात प्रकार के बतलाए गए हैं। (१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की प्रतिज्ञाएँ (२) ईर्या (जीव हिंसा

---

[1] श्लोक ३१ पर नेमिचन्द्र टीका तथा वर्धमानपुराण १६-४४ घोषाल द्वारा उद्धृत।

[2] देखें, गुणरत्न पृ० १८१।

[3] वही।

[4] वर्धमानपुराण १६-६७-६८ तथा द्रव्यसंग्रहवृत्ति श्लोक ३५।

रोकने के लिए निर्धारित मार्गों के अवलंबन हेतु समितियाँ), भाषा (संयत और पवित्र भाषण), एषणा (उचित भिक्षाटन) आदि (३) गुप्तियाँ अर्थात् मन, वचन और काम का संयम (४) धर्म अर्थात् क्षमा, विनय, सदाचार, सचाई, स्वच्छता, संयम, तप, त्याग, लाभ और हानि के प्रति उदासीनता, ब्रह्मचर्य[1] (५) अनुप्रेक्षा अर्थात् संसार की अनित्यता पर विचार, सत्य के बिना सब कुछ निःसार है इसका एहसास, सृष्टिक्रम अच्छे और बुरे कर्मों के प्रति हमारी स्वयं की जिम्मेदारी, आत्मा और अनात्म के भेद, शरीर तथा उसकी उपाधियों के अशुचित्व, कर्मों के प्रवेश तथा जो कर्म प्रविष्ट हो गए हैं उसके विनाश के सम्बन्ध में, जीव, द्रव्य ब्रह्मांड आदि तत्वों के बारे में, सत्य, ज्ञान, श्रद्धा और आचरण की उपलब्धि की कठिनता के बारे में तथा संसार के सारभूत सिद्धान्तों के विषय में चिन्तन।[2] (६) परीषहजय अर्थात् ताप, शीत और शारीरिक असुविधाओं पर विजय प्राप्त करना तथा (७) चरित्र अर्थात् सम्यक् आचरण।

इसके बाद हम निर्जरा अर्थात् कर्मों के विरेचन या उनके विनाश के सम्बन्ध में विवेचन करेंगे। निर्जरा दो प्रकार की बताई गई है, भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। भाव निर्जरा से तात्पर्य है जीव में इस प्रकार का वैचारिक परिवर्तन जिससे कि कर्म द्रव्य का विनाश हो सके। द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है कर्मों के विनाश की वास्तविक प्रक्रिया जो या तो उनके फलभोग द्वारा होता है अथवा कर्मों के परिपाक के समय के पूर्व ही तप द्वारा हो जाता है। इन दोनों को क्रमशः सविपाक और अविपाक निर्जरा कहा जाता है। जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

पुद्गल

अजीवों के सात भेद हैं। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुण्य और पाप। पुद्गल का अर्थ है द्रव्य।[3] इसे अस्तिकाय इसलिए कहा जाता है कि यह जगह घेरता है। पुद्गल अनेक अणुओं से बना होता है जो आकारहीन होते हैं और अनादि होते हैं। द्रव्य स्थूल (जैसे कि सांसारिक वस्तुएँ जिन्हें हम देखते हैं) और सूक्ष्म (जैसे कर्मद्रव्य जो जीव को दूषित करता है, दोनों रूपों में विद्यमान है। समस्त भौतिक पदार्थ मूलतः अणुओं के संयोग द्वारा पैदा होते हैं। द्रव्य का सबसे छोटा अविभाज्य टुकड़ा अणु कहा जाता है। अणु अनादि होते हैं और

---

[1] तत्वार्थाधिगम सूत्र।

[2] वही।

[3] यह बौद्ध सिद्धान्त से बिलकुल विभिन्न है। बौद्धों में पुद्गल से तात्पर्य एक व्यक्ति या इकाई से है।

उनमें स्पर्श, स्वाद, गंध और रंग होता है। अणुओं के ज्यामितिक, गोलीय अथवा घनीय रूप में संयुक्त हो जाने पर उनके कलेवर की विभिन्न मात्राओं के पारस्परिक संयोजन के अनुरूप (घनप्रतर भेदेन) ही संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। कुछ संयोजन दो स्थानों पर (युग्मप्रदेश) पारस्परिक संयोग द्वारा बनते है और कुछ स्थानों पर आकर्पण शक्ति द्वारा अणु परस्पर संयुक्त हो जाते हैं (ओज प्रदेश)। (प्रज्ञापनोपांग सूत्र, (१०-१२) दो अणु एक स्कंध बनाते हैं, इनमें एक स्नेही और दूसरा शुष्क हो सकता है अथवा उनके स्नेह और शुष्कता की विभिन्न मात्राएँ हो सकती हैं। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि बौद्धों के अनुसार अणुओं में कोई पारस्परिक संयोग नहीं होता जबकि जैन मानते हैं कि संयोग आवश्यक है और अनुभव सिद्ध हैं। अणुओं के संयोग अन्य संयोगों से इसी प्रकार जुड़ते जाते हैं और अन्ततः संसार के विभिन्न स्थूल पदार्थ जन्म लेते हैं। पदार्थों में निरंतर परिवर्तन (परिणाम) होता रहता है जिससे उनके कुछ गुण नष्ट हो जाते हैं और नए गुण पैदा हो जाते हैं। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि चार तत्व हैं और इनके अणु प्रकृति में समान हैं। स्थूलता का प्रत्यक्ष भ्रम नहीं है जो कि हमारे मन में अणुओं के प्रत्यक्ष के कारण भासित होता हो (जैसा कि बौद्धों का मत है) न ही यह प्रत्यक्ष आकाश में लम्बाई और चौड़ाई में फैले हुए अणुओं के प्रत्यक्ष का परिणाम है (जैसा कि सांख्य योग का मत है), किन्तु यह प्रत्यक्ष स्थूलता, नीलता अथवा कठोरता के गुणों का, जो संयुक्त अणुओं में होने के कारण पदार्थ में भी व्याप्त हो जाते हैं, प्रत्यक्ष है, इस लिए हममें स्थूल नील या कठोर पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जब कोई चीज हमें नीली दिखती है तब यह क्रिया होती है कि उस पदार्थ के अणुओं द्वारा नीलत्व का गुण ग्रहण कर लिया गया होता है और दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय आवरण हट जाने के कारण जीव में उस नील पदार्थ का प्रत्यक्ष और ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अणुओं के समूहों में गुणों के धारण के बाद उनमें जो समानता (समानरूपता) दिखलाई देती है और जिसके कारण वह पदार्थ कुल मिलाकर एक इकाई के रूप में दिखाई देता है (जैसे एक गाय) दार्शनिक भापा में तिर्यक् सामान्य कहा गया है। यह सामान्य न तो मन का आरोप है न आभासीय है (जैसा कि नैयायिक मानते हैं) यह केवल इस कारण है कि विभिन्न अणुओं में समान गुण विकसित हो जाने के कारण उनके समवाय में उन्हीं गुणों की संगति पैदा हो जाती है। जब तक गुणों की यह समानता रहती है तब तक वह पदार्थ समान दिखलाई देता है और कुछ समय तक दिखलाई देता रहता है। जब हम एक पदार्थ को स्थायी समझते हैं तो यह इस प्रकार होता है कि अणुओं के एक समवाय में समानता की प्रवृत्तियां हमें देखने को मिलती हैं और उनमें समान गुणों का आपेक्षिक स्थायित्व (पदार्थों में) हमें दिखलाई देता है। जैनों के अनुसार पदार्थ क्षणिक नहीं हैं। उनके गुणों के बारे में यह मानते हुए भी कि पुराने गुण नष्ट होते हैं और नए पैदा होते हैं, वे ये मानते हैं कि पदार्थ के रूप में एक इकाई उसी प्रकार और स्थायी रह सकती है। समय में गुणों की यह

समानता या स्थायिता ऊर्ध्वसामान्य[1] कही गई है। यदि अणुओं को इस दृष्टि से देखा जाए कि उनमें गुणों का विनाश व उद्भव होता रहता है तो उन्हें नश्वर कहा जा सकता है किन्तु यदि द्रव्य के रूप में देखा जाए तो वे चिरस्थायी और अनादि हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश

धर्म और अधर्म, इन शब्दों का जो तात्पर्य भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में लिया जाता है, जैन दर्शन में उससे विलकुल विभिन्न है। धर्म, स्वाद, स्पर्श, गन्ध, शब्द से रहित है। यह लोकाकाश में पूर्णतः व्याप्त है, उसके प्रत्येक अंश में समाया हुआ है, इसीलिए इसे अस्तिकाय संज्ञा दी गई है। समस्त क्रिया का यही रहस्य है। जिस प्रकार मछली के चलने फिरने का एकमात्र कारण और आधार-जल है उसी प्रकार विश्व की समस्त गति का कारण और सहचारी धर्म ही है, सारी क्रियाएँ उसी से संभव होती हैं। मछली की गति के लिए जल उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नहीं। गतिहीन मछली को जल चलने फिरने के लिए वाध्य नहीं कर सकता, किन्तु यदि मछली गति में आना चाहती है तो उसके लिए जल आवश्यक कारण या सहायक है। धर्म द्रव्य को गति नहीं दे[2] सकता किन्तु यदि उनमें गति आती है तो बिना धर्म के वह नहीं आ सकती। इसलिए लोक की चरम स्थिति में, मुक्त जीवों के क्षेत्र में, चूँकि कोई धर्म नहीं रहता अतः मुक्त जीव पूर्ण शांति और स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। उनमें गति नहीं हो सकती क्योंकि आवश्यक गतितत्व, धर्म, वहाँ नहीं है। अधर्म को भी इसी प्रकार एक व्यापक इकाई माना गया है जो जीवों को और पुद्गलों को स्थिर रखता है, रखने में सहायता करता है। यदि धर्म नहीं होता तो हिलडुल नहीं सकता था। यदि अधर्म नहीं होता तो कोई तत्व स्थिर नहीं रह सकता था। इन दो पृथक् तत्वों को मानने की आवश्यकता संवभतः जैनों को इसलिए अनुभव हुई कि उनके मत में जीवों या अणुओं की आंतरिक अथवा पारस्परिक क्रिया के लिए किसी बाहरी इकाई की सहायता का सिद्धान्त माना जा चुका था, बाह्य गति में परिवर्तित होने के लिए उसका प्रेरक तत्व माना जाना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त यदि यह मान लिया जाता कि जीवों में गति की क्रिया स्वयं भू है तो मोक्ष के समय भी उनको गतिशील मानना पड़ता जो जैन नहीं चाहते थे, अतः यह माना गया कि वास्तविक गति की निष्पत्ति के लिए किसी बाह्य सत्ता की सहायता आवश्यक होती है जो मुक्त जीवों के क्षेत्र में नहीं रहती। आकाश वह सूक्ष्म सत्ता है, जो लोक और अलोक (मुक्त जीवों के उच्चतर

---

[1] देखें, प्रेमयकमलमार्तण्ड पृ० १३६-१४३, जैनतर्कवार्तिक पृ० १०६।

[2] द्रव्यसंग्रहवृत्ति १७-२०।

क्षेत्र) में व्याप्त रहता है और जिसमें धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल आदि समस्त तत्व स्थित रहते है। यह केवल अभाव मात्र नहीं है, या आवरण या प्रतिरोधक रहित शून्य नहीं है, किन्तु एक वास्तविक तत्व है जिसमें अन्य वस्तु प्रविष्ट हो सकती है। इसी व्यापकता के कारण इसे आकाशास्तिकाय कहा गया है।[1]

काल एवं समय

वस्तु-सत्ता में काल ऐसे अनन्त कणों से बना है जो आपस में नहीं मिलते किन्तु अणुओं के गुणों में परिवर्तन, नए गुणों का अधिगम तथा रूपान्तरण की घटनाओं को सम्भव बनाते हैं, उनमें सहायता करते हैं। काल स्वयं वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन नहीं लाता किन्तु जैसे आकाश अपने में अन्तः प्रवेश और धर्म की गति में सहायक होता है उसी प्रकार वस्तुओं में नए गुणों के परिवर्तन की क्रिया में सहायक होता है। काल को जब क्षणों, घंटों, दिनों आदि के रूप में लिया जाता है, तब उसे समय कहा जाता है। यह अपरिवर्ती, सनातन, काल की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति ही है। इस प्रकार काल केवल अन्य वस्तुओं में परिवर्तन लाने में सहायक नहीं होता किन्तु स्वयं अपने रूपान्तरों जैसे क्षण, मुहूर्त, होरा आदि में भी अपने आपको रूपान्तरित होने की स्थिति में ला सकता है। इस दृष्टि से यह द्रव्य है और क्षण, मुहूर्त, होरा आदि इसके पर्याय हैं। समय की एक इकाई वह है जो एक अणु द्वारा देश की एक इकाई को अपनी मंदगति से पार करने में लगती है।

जैनों का ब्रह्माण्ड

जैनों के अनुसार विश्व अनादि और अनन्त है। लोक वह स्थान है जहाँ अच्छे और बुरे कार्यों के परिणामस्वरूप सुख और दुःख का भोग या अनुभव होता है। इसे तीन भागों में विभाजित किया गया है—ऊर्ध्व (जहाँ देव रहते हैं), मध्य (जहाँ हम रहते हैं), अधः (जहाँ नरक के जीव रहते हैं)। लोकाकाश में धर्म समाया रहता है जो सारी गतियों को सम्भव बनाता है। लोकाकाश के बाहर धर्म नहीं है अतः कोई गति नहीं है। वहाँ केवल आकाश है। लोकाकाश के चारों ओर वायु के तीन स्तर हैं। पूर्णता प्राप्त कर जीव ऊर्ध्वलोक की ओर उठ जाता है, लोकाकाश से ऊपर चला जाता है और वहाँ (धर्म होने के कारण) स्थिर हो जाता है।

---

[1] द्रव्यसंग्रह—गा० १९।

जैनों का योग

जैनों के अनुसार योग मोक्ष का कारण है। योग ज्ञान (यथार्थ का ज्ञान), श्रद्धा (जिनों के उपदेशों में) और चरित्र (बुरे आचरण से पूर्ण निवृत्ति) से बनता है। चरित्र में आते हैं—अहिंसा (भूल या चूक से भी किसी जीव को समाप्त न होने देना), सूनृत (सत्य, शुभ और प्रिय बोलना), अस्तेय (बिना दिए कोई चीज न लेना), ब्रह्मचर्य (सब प्रकार के विषयों की तृष्णा से मन, वचन और काय की विरक्ति) एवं अपरिग्रह (किसी भी वस्तु से मोह न रखना)।[1]

आचार के कट्टर नियम उनके लिए आवश्यक हैं जो मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्पर हैं और साधु हैं। सामान्य श्रावक गृहस्थों के लिए जो आचार नियम बतलाए गए हैं वे पर्याप्त सरल और व्यावहारिक हैं। हेमचन्द्र ने कहा है कि सामान्य श्रावक को ईमानदारी से धन कमाना चाहिए, सज्जनों के आचरण का अनुसरण करना चाहिए, अच्छे परिवार की अच्छी कन्या से विवाह करना चाहिए, अपने देश के सदाचार का पालन करना चाहिए आदि आदि। ये तो ऐसे नियम हैं जिनका पालन आज भी एक सद्-गृहस्थ के लिए आवश्यक होता है। अहिंसा, सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के पालन पर काफी जोर दिया गया है किन्तु इन सबका आधारभूत गुण अहिंसा ही बतलाया गया है। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य को अहिंसा के ही अनुपूरक गुणों के रूप में पालनीय माना गया है। इस दृष्टि से अहिंसा को जैन धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण, आधारभूत नैतिक गुण कहा जा सकता है, समस्त धर्मों पर व्यवस्था उसी मापदण्ड को सामने रखते हुए दी जा सकती हैं। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य भी उसी पर आधृत हैं क्योंकि उनके पालन न करने से अहिंसाव्रत विक्षत होता है। इन व्रतों के पालन का एक

---

[1] कुछ नीतिसंमत आचरणों को भी चरित्र कहा गया है। वे ये हैं—ईर्या (उस मार्ग पर चलना जिस पर पहले से अन्य लोग चल चुके हैं, और जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है ताकि चलते समय अपने पैरों से कीटों आदि जीवों की हिंसा न हो पाए) भाषा (समस्त प्राणियों से अच्छा और मीठा बोलना), ईषण (साधुओं के सुसंमत तरीके से भिक्षाटन), दानसमिति (किसी भी चीज को लेते या देते समय आसन की भली प्रकार देख-भाल कर लेना ताकि अनधिकार विपर्यय न हो), उत्सर्ग समिति (इस बात का ध्यान रखना कि मल मूत्रादि इस प्रकार न फेंक दिए जाएं कि किसी जीव का नुकसान हो), मनोगुप्ति (समस्त मिथ्या विचारों से दूर रहना, अपने आप में संतुष्ट रहना तथा समस्त व्यक्तियों को मन से समान समझना), वाग्गुप्ति (मौन) तथा कायगुप्ति (शरीर का पूर्ण नियंत्रण)। द्रव्यसंग्रहवृत्ति में पाँच अन्य प्रकार के चरित्र भी गिनाए गए हैं। (३५)

सरल प्रकार गृहस्थों के लिए बनाया गया है जो अणुव्रत कहा गया है। जो लोग मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हैं उन्हें इन गुणों का कट्टरता से पालन करना चाहिए-उसे महाव्रत कहा जाता है। उदाहरणार्थ ब्रह्मचर्य पालन का अणुव्रत एक सामान्य गृहस्थ के लिए यही होगा कि वह व्यभिचार न करे-किन्तु एक साधु के लिए इसका तात्पर्य महाव्रत के रूप में यह होगा कि मन, वचन और कर्म के सभी प्रकार के कामुक विचारों, कृत्यों और वचनों का पूर्ण परिहार। सामान्य गृहस्थों के लिए अहिंसा का अणुव्रत होगा किसी जीव की हत्या न करना किन्तु महाव्रत यह होगा कि किसी भी प्रकार आपके कारण किसी भी जीव की हत्या का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई कारण या प्रसंग न बन जाए इसका पूर्ण ध्यान रखना और अनुपालन करना।

अन्य अनेक व्रत सामान्य श्रावकों के लिए बतलाए गए हैं जो सभी अहिंसा के मूलभूत तत्व पर आधारित हैं। ये हैं-(१) दिग् विरति (एक निर्धारित, सीमित स्थल पर ही समस्त क्रियाकलाप निर्वर्तित कर लेना ताकि अलग अलग स्थलों में विद्यमान जीवों की हिंसा से बचा जा सके) (२) भोगोपभोगमान (आहार विहार में संयम अर्थात् मद्यपान न करना, मांस, घी, शहद, मेवा कुछ अन्य वनस्पति, फल शाक आदि न खाना तथा भोजन के समय और स्थल को सीमित कर आहार को नियन्त्रित करना (३) अनर्थदण्ड जिसमें-(क) अपध्यान (किसी को शारीरिक हिंसा न पहुँचाना, शत्रुओं की हत्या न करना आदि) (ख) पापोपदेश (लोगों को कृषि कर्म में लगने की सलाह न देना क्योंकि उससे जीव हिंसा होती है) (ग) हिंसोपकारिदान (कृषि के उपादानों का लोगों को दान न करना क्योंकि उससे कीटों की अन्ततः हिंसा होती है) (घ) प्रमादाचरण (संगीतगोष्ठियों, नाट्यों आदि में न जाना, कामुक साहित्य न पढ़ना, द्यूत से विरति) इत्यादि का ध्यान रखा जाता है। (४) शिक्षापदव्रत जिसमें (क) सामयिक व्रत, (समस्त प्राणियों में समानता का बर्ताव), (ख) देशावकाशिकव्रत (दिग्विरतिव्रतों का उत्तरोत्तर अधिकाधिक पालन), (ग) पोषधव्रत (कुछ अन्य संयम), (घ) अतिथिसंविभागव्रत (अतिथियों को दान)। इन सब धर्मों का उल्लंघन, जिसे अतिचार कहा गया है, वर्जित है।

समस्त प्रत्यक्ष, ज्ञान और आचरण जीव के होते हैं और यह ज्ञान कि ये सब जीव के किस प्रकार होते हैं जीव का सच्चा ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न समस्त दुःख केवल सच्चे आत्मज्ञान से ही विनष्ट हो सकते हैं। जीव (आत्मा) केवल शुद्ध बुद्धि स्वरूप है, वह अपने कर्म के कारण शरीर धारण करता है। जब ध्यान से समस्त कर्मो का दहन हो जाता है (ध्यानाग्निदग्धकर्माणं) तो आत्मा शुद्ध हो जाती है। जीव ही अपने आप में संसार (जन्म मृत्यु चक्र, पुनर्जन्मचक्र) होता है जब वह चार कषायों (भाव दूषणों) और इन्द्रियों से कलुषित होता है-क्रोध, मान (घमंड), माया, (पाखंड तथा अन्यों को छलने की प्रवृत्ति) और लोभ। ये कषाय

इन्द्रियसंयम से ही निवृत्त हो सकते हैं। इन्द्रिय संयम से मनःशुद्धि होती है। बिना मनःशुद्धि के योग मार्ग में अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। मन जब संयत होता है तो हमारी सारी क्रियाएँ नियंत्रित हो जाती हैं। अतः जो मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होता है उसे मनः संयम के लिए समस्त प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मन शुद्ध नहीं होता कोई तप लाभकारी नहीं हो सकता। मनः शुद्धि से ही समस्त प्रकार के मोह और रागद्वेष निवृत्त हो सकते हैं। मोह और रागद्वेष से ही मनुष्य बन्धन में बंधता है। इसलिए योगी के लिए उस बंधन से मुक्त होना और वास्तविक अर्थों में 'मुक्त' होना आवश्यक है। जब साधक समस्त प्राणियों से समदृष्टि या समत्व रखना सीख लेता है तो वह राग एवं द्वेष पर विजय प्राप्त कर सकता है, इसके बिना लाखों वर्षों की तपस्या से भी राग द्वेष पर विजय प्राप्त नहीं किया जा सकता। समस्त प्राणियों में समत्व दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमें निम्नलिखित भावनाओं का अनुपालन करना चाहिए।

समस्त वस्तुओं की अनित्यता पर विचार करना। एक चीज जो प्रातःकाल थी, दोपहर मे नहीं रहेगी, वह जो दोपहर में थी, रात को नहीं रहेगी, सारे पदार्थ अनित्य और परिवर्तनशील हैं। हमारा शरीर और हमारे सुख के समस्त विषय, धन और यौवन स्वप्न के समान अथवा आंधी में उड़ते रुई के टुकड़ों के समान चल हैं।

समस्त प्राणी, यहाँ तक कि देवता भी मरणशील है। हमारे सारे सम्बन्धी अपने अपने कर्मों से मृत्यु के शिकार होंगे। संसार दुःखों से भरा है। इसमें हमारा कोई भी सहायक नहीं है। जिस किसी बात के लिए हम जिस किसी पर आशा लगाएँगे या निर्भर रहेंगे वह हमें धोखा देगा। ऐसा अनुभव सिद्ध है। इस विचार को अशरण भावना कहा गया है।

कुछ लोग संसार में पैदा होते हैं, कुछ लोग दुःख पाते हैं, कुछ पूर्व जन्मों का फल भोगते है। हम सब हमारे परिवेश, कर्म, विभिन्न शरीरों तथा विभिन्न उपादानों के कारण जो हमें प्राप्त हैं, एक दूसरे से विभिन्न और पृथक् हैं। इन विचारों को एकत्व भावना और अन्यत्व भावना कहा गया है।

यह शरीर दूषित तत्वों का, मांस, रक्त, अस्थियों का बना है और अशुद्ध है। इसे अशुचि भावना कहा गया है।

यदि मेरा मन विश्व मित्रता और करुणा की भावना से पवित्र हो गया है और दोष दूर हो गया है तो मैं शुभ फल प्राप्त करूँगा। किन्तु यदि, इसके विपरीत, मैं पाप करूँगा और धर्म का उल्लंघन करूँगा तो मुझे बहुत अशुभ परिणाम प्राप्त होगा। इसे आस्रव भावना कहा गया है। आस्रव (कर्मों के प्रवेश) के निरोध से संवर (कर्मों की विरति) होता है तथा पूर्व संचित कर्मों के विनाश से निर्जरा (कर्म द्रव्य का

दश धर्मों का अर्थात् संयम, सूनृत, शौच (स्वच्छता), ब्रह्म (पवित्रत), अकिंचनता (लालच का अभाव), तप (त्याग), सहनशीलता, शान्ति (क्षमा), मार्दव, (मृदुता), ऋजुता (सरल स्वभाव) तथा मुक्ति (समस्त पापों से मुक्ति), आचरण ही शुभ की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। इस संसार में ये ही हमारे सहायक हो सकते हैं। इन्हीं पर विश्व आधारित है। इस भावना को धर्मस्वाख्यातता भावना कहा गया है।

जैन ब्रह्मांड सिद्धान्त पर भी निरन्तर भावना रखनी चाहिए तथा यह भी चिन्तन करते रहना चाहिए कि मनुष्यों की विभिन्न दशाओं के लिए उनके कर्म ही जिम्मेदार होते हैं। इन दोनों को क्रमशः लोकभावना तथा बोधिभावना कहा गया है।

जब इन भावनाओं के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य को समस्त विषयों से विरति होने लगती है तो समस्त प्राणियों में समत्व की भावना विकसित होने लगती है और वह सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्त हो जाता है। तब शान्त मन से वह दोषों से मुक्त होने लगता है। इसके बाद उसे ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। समत्व अर्थात् मन की समानता, भावना और ध्यान ये परस्पर सम्बद्ध हैं। समत्व के बिना ध्यान और ध्यान के बिना समत्व सम्भव नहीं है। ध्यान से मन को एकाग्र करने के लिए मैत्री (विश्वमित्रता की भावना), प्रमोद (मनुष्यों के अच्छे पक्ष पर जोर देने की आदत), करुणा (विश्वकारूण्य) तथा माध्यस्थ्य (लोगों के दोषों के प्रति उपेक्षा) का सहारा लेना चाहिए। जैन प्रार्थना मंत्रों पर मन को एकाग्र करने को जैन लोग ध्यान कहते हैं। ध्यान का उपयोग, जैसाकि ऊपर वर्णित है, मन को एकाग्र, शुद्ध करने और समता की भावना विकसित करने के लिए ही किया जाता है। मोक्ष तो कर्म द्रव्यों के पूर्ण विनाश से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार जैनों का योग–नैतिक मानसिक अनुशासन का ही मार्ग है जो मन को शुद्ध करता है। वह हिन्दू दर्शनों के सुप्रसिद्ध योग से विभिन्न है–बौद्धों के योग से भी वह भिन्न ही है।[1]

जैनों का निरीश्वरवाद[2]

नैयायिकों का कथन है कि यह जगत् कार्य है अतः निश्चित रूप से इसका कोई कारण भी होगा। इसका कर्ता कोई बुद्धिमान ही हो सकता है और वह ईश्वर है। इसका उत्तर जैन इस प्रकार देते हैं, 'जब नैयायिक यह कहता है कि जगत् एक कार्य है

---

[1] हेमचन्द्र का योगशास्त्र, विंडिश द्वारा संपादित (जीतश्रिफत देर ड्यूशेन मार्ग गेसलशाफ्ट लाइपजिग, १८७४) तथा घोषाल द्वारा संपादित द्रव्यसंग्रह (१९१७)।

[2] देखें, गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका।

तो कार्य से उसका तात्पर्य क्या है ? क्या वह यह कहना चाहता है कि कार्य वह इस; लिए है (१) कि वह अवयवों से बना (सावयव) है या (२) वह किसी अस्तित्वहीन वस्तु के कारणों की आकस्मिक संगति का फल है (३) यह ऐसी वस्तु है जिसे कोई किसी के द्वारा बनाई हुई मानता है या (४) वह परिवर्तनशील वस्तु है (विकारित्वम्)। फिर, सावयव का तात्पर्य भी क्या है ? यदि इसका तात्पर्य अवयवों के रूप में अस्तित्व में आना है तो अवयवों में विद्यमान जो सामान्य हैं उन्हें भी कार्यों के रूप में माना जाना चाहिए, तब वे नश्वर होंगे, किन्तु उन्हें नैयायिक अवयवहीन और अनादि मानते हैं। यदि इसका तात्पर्य अवयवी से है, जिसके कई अवयव हों, तो आकाश को भी कार्य मानना होगा किन्तु नैयायिक उसे नित्य मानते हैं।

पुनः कार्य का तात्पर्य एक अस्तित्वहीन वस्तु के कारणों की आकस्मिक संगति जो पहले विद्यमान नहीं थे, नहीं हो सकता क्योंकि तब हम जगत् को कार्य नहीं कह सकेंगे, कारण कि पृथ्वी आदि तत्वों के अणु नित्य माने जाते हैं।

यदि कार्य का तात्पर्य (किसी के द्वारा जो बनाया हुआ माना जाता हो) लिया जाए तो आकाश को भी कार्य मानना होगा क्योंकि जब कोई व्यक्ति जमीन खोदकर गड्ढा बनाता है तो वह समझता है कि जो गड्ढा उसने खोदा है उसमें जो आकाश है वह उसी ने बनाया है।

यदि इसका तात्पर्य 'जो परिवर्तनशील हो' लिया जाता है तो वह भी सही नहीं है क्योंकि तब यह तर्क भी हो सकता है कि ईश्वर भी परिवर्तनशील है और उसे बनाने वाला कर्ता भी कोई होना चाहिए, उस कर्ता को बनाने वाला भी एक और कोई कर्ता मानना होगा और इस प्रकार अनन्त कर्ता मानने होंगे। फिर, यदि ईश्वर कर्ता है तो वह अवश्य ही परिवर्तनशील होगा क्योंकि उसका कार्य परिवर्तनशील है और वह निर्माण में लगा हुआ है।

इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि जो बातें कभी घटित होती हैं और अन्य किसी समय घटित नहीं होतीं उन्हें कार्य कहा जाता है। किन्तु जगत्, अपने रूप में सदा ही विद्यमान रहता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि जगत् के अन्दर विद्यमान वस्तुएँ जैसे पेड़-पौधे कार्य हैं तो फिर आपका तथाकथित ईश्वर भी कार्य होगा क्योंकि उसकी इच्छा और विचार विभिन्न समयों में विभिन्न रूप से कार्य करते माने जाएँगे और वे ईश्वर में निहित हैं जैसे पेड़-पौधे जगत् में निहित हैं, अतः जगत् को कार्य माना गया है। इस प्रकार इच्छा और विचार के आधार पर वह भी कार्य हो जाता है। तब अणु भी कार्य बन जाएँगे क्योंकि ताप के द्वारा उनमें भी रंगों के परिवर्तन आते हैं।

यदि तर्क के लिए यह मान भी लें कि जगत् कार्य है और प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है अतः जगत् का भी कोई कारण है तो यह भी मानना आवश्यक नहीं कि

वह कारण कोई बुद्धिमान्, चेतनाशील कर्ता ही होगा जैसा—आप ईश्वर को मानते हैं। यदि यह तर्क दें कि मानव-कर्ता के निदर्शन के आधार पर ईश्वर को चेतन कर्ता माना गया है तो उसी आधार पर उसे मानव के समान ही अपूर्ण माना जाएगा। यदि यह तर्क दें कि यह जगत् उस प्रकार का कार्य नहीं है जैसे मानव निर्मित अन्य कार्य होते हैं उनके कुछ समान ही कुछ अन्य प्रकार के कार्य हैं तो इससे कोई अनुमान सिद्ध नहीं होगा क्योंकि जल से उठने वाला धुआँ उसी धुएँ के समान होता है जो आग से उठता है किन्तु जल में अग्नि का अनुमान कोई नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि जगत् एक बिल्कुल विभिन्न प्रकार का कार्य है जिससे कि ऐसा अनुमान सम्भव है चाहे अब तक कोई इस प्रकार का कार्य पैदा करता हुआ नहीं देखा गया तो फिर, पुराने खंडहरों को देखकर यह अनुमान करना होगा कि वह भी किसी चेतन कर्ता का कार्य है क्योंकि ये भी कार्य हैं और उनका कोई चेतनकर्ता हमने नहीं देखा है। ये दोनों कार्य हैं और दोनों का कर्ता हमने नहीं देखा। यदि यह तर्क दिया जाय कि जगत् ऐसा कार्य है जिसे देखकर हमें यह अहसास होता है कि यह किसी के द्वारा अवश्य बनाया होना चाहिए तो हम पूछेंगे कि इस अहसास से आप ईश्वर का अनुमान करते हैं या कि इसके ईश्वर के बनाए हुए होने के तथ्य से इसके कार्य होने का अनुमान करते हैं? इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय दोष हो जाएगा।

इसके अलावा यदि मान भी लें कि जगत् एक कर्ता का बनाया हुआ है तो उस कर्ता का कोई शरीर भी होना चाहिए क्योंकि हमने बिना शरीर के कोई चेतन कर्ता नहीं देखा। यदि यह कहा जाए कि हम कर्तृत्व सामान्य ही का अनुमान करते हैं कि कर्ता चेतन है तो यह आपत्ति होगी कि ऐसा असम्भव है क्योंकि कर्तृत्व भी किसी शरीर में ही रहता है। यदि अन्य कार्यों का उदाहरण लें, जैसे खेत में उगे अंकुर, तो हम पाएँगे कि उन्हें रचने वाला कोई चेतन कर्ता नहीं है। यदि आप कहेंगे कि ईश्वर उनका कर्ता है तो यह चक्रक दोष हो जाएगा क्योंकि इसी तर्क से इसी विषय को आप सिद्ध करना चाहते थे।

तर्क के लिए हम मान लेते हैं कि ईश्वर है। अब क्या उसकी उपस्थिति मात्र से विश्व की सृष्टि हो जाती है? यदि ऐसा है तो फिर कुम्हार की उपस्थिति भी विश्व की सृष्टि कर सकती है क्योंकि केवल उदासीन उपस्थिति मात्र दोनों में समान है। क्या ईश्वर ज्ञान और इच्छापूर्वक विश्व की सृष्टि करता है? यह असंभव है क्योंकि बिना शरीर के ज्ञान और इच्छा हो ही नहीं सकती। क्या वह विश्व की सृष्टि शारीरिक क्रिया द्वारा करता है या किसी अन्य क्रिया द्वारा? ये दोनों ही बातें असम्भव हैं क्योंकि बिना शरीर के कोई क्रिया भी सम्भव नहीं है। यदि आप मानते हैं कि वह सर्वज्ञ है, तो मानते रहें, उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह सर्वस्रष्टा हो सकता है।

अब, फिर मान लें (तर्क के लिए) कि एक शरीर रहित ईश्वर अपनी इच्छा और क्रिया से विश्व की रचना कर सकता है। उसने विश्व की रचना क्या किसी व्यक्तिगत सनक के कारण शुरु की? यदि हाँ, तो उस स्थिति में विश्व में कोई प्राकृतिक नियम या व्यवस्था नहीं होनी चाहिए। तब क्या उसने यह रचना मनुष्यों के नैतिक और अनैतिक कार्यों के आधार पर की? यदि हां, तो वह नैतिक व्यवस्था में बद्ध है और स्वयं स्वतंत्र नहीं है। तो क्या उसने करूणा के कारण सृष्टि की? यदि हां, तो फिर विश्व में केवल प्रसन्नता और अच्छाई ही होनी चाहिए और कुछ नहीं। यदि आप यह कहें कि मनुष्य जो दुःख भोगते हैं वह तो उनके पूर्व कर्मों के कारण है और सुख भी कर्मों के कारण। यदि पूर्व कर्मों, जो भाग्य या नियति के रूप में आप द्वारा माने गए हैं, के कारण मनुष्य कुकर्म करने को प्रेरित होता है तो वह नियति यानी अदृष्ट ही ईश्वर की जगह सृष्टि कर्ता क्यों न मान लिया जाय? यदि ईश्वर ने खेल-खेल में सृष्टि बना दी तो वह एक बच्चा हुआ जिसने निरुद्देश्य यह कार्य किया। यदि उसने ऐसा इस उद्देश्य से किया है कि कुछ को दण्ड और कुछ को पुरस्कार मिल सके तो फिर वह पक्षपाती हुआ कुछ के लिए, और द्वेषी हुआ अन्यों के लिये। यदि सृष्टि रचना उसका स्वभाव ही है और उससे सृष्टि प्रगटी है तो फिर उसे मानने की आवश्यकता ही क्या है यही क्यों न मान लें कि सृष्टि स्वय अपने स्वभाव से प्रगटी है?

यह मानना क्लिष्ट कल्पना ही है कि एक ईश्वर जैसी किसी चीज ने औजारों, उपकरणों या सहायकों के बिना यह दुनिया रच दी। यह तो अनुभव विरुद्ध है।

तर्क के लिए यदि मान लें कि ऐसा ईश्वर है तो आप जो विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते हैं वे कभी भी संगत नहीं बैठते। आप कहते हैं कि वह अनादि, अनन्त, नित्य है। किन्तु जब वह निःशरीर है तो वह बुद्धि और चेतना स्वरूप हुआ। उसका वह स्वरूप विश्व के विभिन्न प्रकार के पदार्थों की रचना के लिए विभिन्न रूपों में बदलता रहा होगा। यदि उसकी बुद्धि, चेतना या ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं होता तो सृष्टि और विनाश के इतने विभिन्न रूप क्यों हैं? सृष्टि और विनाश एक अपरिवर्तनीय बुद्धि और ज्ञान के परिणाम नहीं हो सकते। फिर, ज्ञान का स्वभाव ही बदलना है, यदि हम उस ज्ञान से तात्पर्य लें जो मानवीय संदर्भों में प्रयुक्त होता है (और उसके अलावा अन्य कोई संदर्भ ज्ञान के ज्ञात ही नहीं हैं)। आप कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है पर यह कैसे माना जाय कि उसे कोई ज्ञान हो भी सकता है, क्योंकि उसके कोई इन्द्रिय ही नहीं है तो फिर उसे प्रत्यक्ष कैसे होगा और बिना प्रत्यक्ष के वह कोई अनुमान भी नहीं कर सकेगा। यदि यह कहें कि बिना ईश्वर को माने विश्व की रचना का यह वैचित्र्य कैसे व्याख्यात या सिद्ध होगा तो वह भी सही नहीं है। आपादन द्वारा यह सिद्धि तब संगत मानी जा सकती है जब अन्य कोई परिकल्पना सम्भव ही न हो। यहाँ अन्य संभावनाएँ भी हो सकती हैं। एक सर्वज्ञ ईश्वर के बिना भी, एक

नैतिक व्यवस्था अथवा कर्म सिद्धान्त के आधार पर सारी सृष्टि व्याख्यात की जा सकती है। यदि आप एक ईश्वर मानते हैं तो ईश्वरों का एक समुदाय भी माना जा सकता है। यदि आप कहें कि बहुत से ईश्वर होने पर मतभेद और झगड़े हो जाएँगे तो यह उस कंजूस की कहानी-सी हो गई जो खर्च न करना चाहने के कारण अपने पुत्रों और पत्नी को छोड़कर जंगल में साधु बन गया। जब चीटियाँ और मक्खियाँ तक समन्वय के साथ सहयोग कर सकती हैं तो अधिक ईश्वर होने पर यह मानना कि उनमें मतभेद हो जाएगा, यह सिद्ध करता है कि आप द्वारा बताए गए ईश्वर के महान् गुणों के बावजूद उसका स्वभाव यदि कुटिल और दुष्ट नहीं तो कम से कम अविश्वसनीय अवश्य है। इस प्रकार किसी भी तरह आप ईश्वर की सिद्धि करने का प्रयत्न करें वह विफल ही होगा। इससे तो अच्छा है ईश्वर की सत्ता न ही मानी जाए।[1]

मोक्ष

मनुष्य का मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न इस उद्देश्य को लक्ष्य करके होता है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो सके क्योंकि मुक्ति की दशा जीव की सुख या आनन्द की दशा मानी गई है। यह शुद्ध एवं अनन्त ज्ञान की तथा अनन्त दर्शन की स्थिति भी है। संसार दशा में कर्म के आवरण के कारण यह शुद्धता दूषित हो जाती है, आवरण केवल अपूर्ण रूप से समय समय पर उठते या हटते रहते हैं और सामान्य मति, श्रुत, अतिमानुष ज्ञान या ध्यान और अवधि की स्थिति में ज्ञान या मानसिक अध्ययन अर्थात् मनः पर्याय द्वारा अन्यों के विचारों का ज्ञान, इन सबके क्षणों में किसी पदार्थ या विषय का ज्ञान हो जाता है। किन्तु मुक्ति की दशा में पूर्ण आवरण भंग हो कर केवल ज्ञान की स्थिति आ जाती है और केवली (पूर्ण ज्ञानी) को समस्त पदार्थों और विषयों का एक साथ पूर्ण ज्ञान हो जाता है। संसार दशा में जीव सर्वदा नए गुण धारण करता रहता है और इस प्रकार तत्व रूप में निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता रहता है। किन्तु मोक्ष के बाद जीव में जो परिवर्तन होते हैं वे एक से ही होते हैं (अर्थात् दूसरे शब्दों में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता) अर्थात् वह स्थिति आ जाती है कि जीव तत्व रूप में भी एक-सा लक्षित होता है और अनन्त ज्ञान आदि के गुण भी अपरिवर्तित रहते हैं। परिवर्तन उस अनन्त ज्ञान में ही, उन्हीं गुणों का होता है अतः लक्षित नहीं होता।

यहाँ यह उल्लेख भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि मनुष्यों के कर्म ही उनका विभिन्न रूपों में निर्धारण करते हैं फिर भी उनमें सम्यक् कर्म करने की अनन्त शक्ति (अनन्त वीर्य) होती है। कर्म उस शक्ति या स्वातन्त्र्य को नष्ट या अल्पीकृत नहीं कर सकता,

---

[1] देखें, षड्दर्शनसमुच्चय में गुणरत्न की जैन दर्शन पर टिप्पणी पृ० ११५-१२४।

चाहे कर्मों के प्रभाव से समय समय पर यह शक्ति कुछ दब जाती हो। इस प्रकार इस शक्ति के उपयोग से मनुष्य समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है और अंततः मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

यदि मनुष्य में अनन्त वीर्य नहीं होते तो वह संचित कर्मों के प्रभाव में अनन्त काल तक रहता और हमेशा बन्धनबद्ध रहता। किन्तु चूंकि मनुष्य इस प्रकार की शक्ति का खजाना है अतः कर्म उसे बन्धन में बांध भले ही लेते हों, विघ्न भले ही उत्पन्न कर देते हों और दुःख भोग करवा देते हों किन्तु उसे अन्ततः महत्तम कल्याण की स्थिति प्राप्त करने से वंचित नहीं कर सकते।

——∞——

अध्याय ७

कपिल एवं पातंजल सांख्य (योग)[1]

दो विभिन्न प्रकार के प्राचीन नास्तिक दर्शनों, जैन और बौद्ध दर्शन के विवेचन से हम स्पष्टत: इस बात से आश्वस्त हो जाते हैं कि औपनिषद ऋषियों के दर्शन अनुचिन्तन के क्षितिजों के बाहर भी पर्याप्त गम्भीर दार्शनिक विचारमन्थन होता रहा है। यह भी बहुत सम्भव लगता है कि योग नाम से प्रचलित आचार और अभ्यास प्रवुद्ध जनों में व्यापक रूप से सुपरिज्ञात एवं सुप्रचलित थे क्योंकि उनका उल्लेख न केवल उपनिषदों में ही मिलता है अपितु बौद्ध और जैन दोनों नास्तिक दर्शनों द्वारा भी परिगृहीत पाए जाते हैं। हम उन्हें चाहे आचार शास्त्र के दृष्टिकोण से देखें या तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण से–ये दोनों नास्तिक दर्शन प्रणालियाँ ब्राह्मणों की कर्मकांडीय परम्पराओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ही उभरीं। इन दोनों प्रणालियों का उद्गम क्षत्रियों में हुआ और जीव हिंसा के प्रति तथा बलिदान द्वारा जीवों की बलि चढ़ाने के विरुद्ध गहरी घृणा इनका मुख्य स्वर है।

याज्ञिक कर्मकांड के सिद्धान्त में यह विश्वास निहित है कि विहित पद्धति से क्रियाओं, रीतियों और यज्ञ सामग्री के यथोचित प्रयोग में इष्टसिद्धि की एक अलौकिक शक्ति निहित है जो वर्षा, पुत्रोत्पत्ति, शत्रु की महती सेना का पराजय आदि परिणाम ला सकती है। यज्ञों का अनुष्ठान सामान्यत: किसी नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति के लिए न होकर व्यावहारिक एषणाओं की कुछ उपलब्धियों की दृष्टि से किया जाता था। वेदों को अनादि उद्गार मानकर उन्हें ही विधियों के विशकलित विधान का शक्तिमान् स्रोत माना जाता था। उसकी विधियों पर चलकर तथा उसके द्वारा निषिद्ध कार्यो से बचकर ही विहित यज्ञों के सही अनुष्ठान द्वारा इष्ट की सिद्धि की जा सकती थी। इस प्रकार की कर्मकांडीय संस्कृति के दर्शन के अनुसार यदि हम सत्य को परिभाषित करें तो यही कहना होगा कि वही सत्य है जिसके अनुसार आचरण कर अपने चारों ओर के विश्व में अपने वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकें। वैदिक विधियों का सत्य हमारे

---

[1] यह अध्याय मेरे ग्रन्थ 'स्टडी ऑव पतंजलि' (कलकत्ता विश्वविद्याल से प्रकाशित) तथा अन्य ग्रन्थ 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर सिस्टम्स ऑव थॉट' (जो वहीं प्रकाशनाधीन है) पर आधारित है। इन ग्रन्थों में इस दर्शन का विस्तृत विवेचन है।

उद्देश्यों की व्यावहारिक उपलब्धि का सत्य है। सत्य प्रागनुभविक रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता बल्कि आनुभविक कसौटी पर ही परखा जा सकता है।[1]

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इस कर्मकांडीय पद्धति के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उद्गत कहे जाने वाले बौद्ध और जैन दर्शन भी इस पद्धति के उन अनेक सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव से बच नहीं सके हैं जो चाहे इस पद्धति में स्पष्टतः उद्धृत या वर्णित न हों किन्तु जो इन याज्ञिक अनुष्ठानों के मूल में निहित थे। उदाहरणार्थ, हमने देखा कि बौद्ध दर्शन समस्त उत्पादन और विनाश को कुछ स्थितियों के समवाय द्वारा जन्म मानता है और सत्य को 'किसी कार्य के उत्पादन में सामर्थ्य' के रूप मे परिभाषित करता है। किन्तु बौद्धों ने इन सिद्धान्तों को तार्किक पराकाष्ठा तक पहुँचाकर अन्ततः पूर्ण क्षणिकवाद की अवधारणा तक पहुँचा दिया था।[2] जहाँ तक जैनों का प्रश्न है वे भी ज्ञान का मूल्य इसी में मानते थे कि वह हमें हमारे शुभ इष्ट की प्राप्ति और अशुभ और अनिष्ट के निवारण में सहायता देता है। सत्य हमें पदार्थों के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट कर देता है कि उसके अनुसार चलते हुए हम उसे वास्तविक अनुभव के आलोक में सत्यापित कर सकते हैं। इस प्रकार पदार्थों का सही आकलन कर हम अच्छे की उपलब्धि और बुरे का निवारण कर पाते हैं। जैनों का यह विश्वास भी था कि समस्त परिवर्तन स्थितियों के समवाय द्वारा होते हैं किन्तु उसे वे तार्किक पराकाष्ठा तक नहीं ले गए। जगत् में उन्होंने परिवर्तनीयता के साथ-साथ कुछ स्थायित्व भी माना। बौद्ध तो यहाँ तक चले गए कि समस्त वस्तुओं को अस्थायी मानते हुए उन्होंने आत्मा जैसी कोई स्थायी चीज़ भी नहीं मानी। जैनों का कथन था कि वस्तुओं के बारे में कोई भी ऐकान्तिक चरम या एकपक्षीय निर्धारण नहीं हो सकता। उनके अनुसार न केवल समस्त सवृतियाँ और घटनाएँ ही सापेक्ष हैं बल्कि हमारे समस्त निर्धारण भी केवल सीमित अर्थो मे ही सही हैं। यह व्यावहारिक बुद्धि के अनुसार ठीक भी है जो प्रागनुभविक निष्कर्षो से उच्चतर मानी गई है और जिससे एक पक्षीय और चरम निष्कर्ष भी निकल सकते है। स्थितियों के संयोजन के कारण वस्तुओं के पुराने गुण गायब हो जाते हैं और नए गुण उद्भूत हो जाते हैं, साथ ही उसका कुछ अंश स्थायी भी होता है। किन्तु इस व्यावहारिक बुद्धि के दृष्टिकोण द्वारा, जो हमारे

---

[1] कुमारिल और प्रभाकर की मीमांसा द्वारा वर्णित वैदिक दर्शन इससे विपरीत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उन दोनों के अनुसार सत्य प्रागनुभविक रूप से निर्धारित होता है और मिथ्यात्व अनुभव द्वारा।

[2] ऐतिहासिक दृष्टि से क्षणिकवाद अर्थक्रियाकारित्वसिद्धान्त से सम्भवतः पूर्वतर है। किन्तु परवर्ती बौद्धों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि क्षणिकवाद अर्थक्रियाकारित्वसिद्धान्त का तार्किक परिणाम है।

दैनन्दिन अनुभव की कसौटी से भले ही खरा उतरता हो हमारी सत्यान्वेपिणी प्राग-नुभविक दृष्टि की मांग को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, उस सत्य का स्वरूप सामने नहीं आता जिसे हम सापेक्ष रूप से ही नहीं पूर्ण रूप से जानना चाहते हैं। यदि पूछा जाय कि क्या कोई चीज सत्य है तो जैन दर्शन यही उत्तर देगा–"हां, यह इस दृष्टिकोण से सत्य है पर उस दृष्टिकोण से असत्य जबकि वह भी उक्त दृष्टिकोण से सत्य है और अमुक दृष्टिकोण से असत्य।" इस प्रकार का उत्तर उस जिज्ञासा को संतुष्ट कैसे कर पाएगा जो सत्य के एक निश्चित निर्धारण और पूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचना चाहती है।

इस कर्मकांडीय पद्धति से जैनों और बौद्धों का मुख्य विभेद यह था कि ये दोनों ब्रह्मांड के बारे में एक सिद्धान्त बनाना तथा वस्तुसत्य, संवेदनशील प्राणियों, विशेषकर मनुष्यों की स्थिति के बारे मे एक अवधारणा निष्कृष्ट करना चाहते थे जबकि कर्म-कांडीय पद्धति वैयक्तिक रीतिरिवाजों और यज्ञों से सम्बद्ध थी और सैद्धान्तिक विवेचन से केवल उतना ही सरोकार रखती थी जहाँ तक वह कर्मकांडीय विवेचन में आवश्यक होता था। फिर इन नयी पद्धतियों में क्रिया का तात्पर्य केवल कर्मकांड से न होकर हमारे कर्ममात्र से था। कर्म अच्छे और बुरे इस आधार पर कहे जाते थे कि उनसे हमारा नैतिक उत्कर्ष होता है या अपकर्ष। कर्मकांडीय पद्धति के अनुयायी असत्य से यदि दूर रहते थे तो इसलिए कि वेदों में असत्य भाषण का निषेध और वेद विहित कर्म ही करना चाहिए इसलिए नहीं कि इससे कोई वैयक्तिक या नैतिक अपकर्ष होता है। याज्ञिक पद्धति इहलोक और परलोक में अधिकाधिक सुख के ही उद्देश्य से प्रेरित थी। जैन और बौद्ध दर्शनों ने सामान्य सुख से परे हट कर एक चरम और अपरिवर्तनीय स्थिति को प्राप्त करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया जहाँ समस्त सुख और दुःख सदा के लिए विगलित हो जाएँ (बौद्ध मत) और जहां अनन्त आनन्द अविचल रूप से अधिगत हो। व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष के लिए सम्यक् नैतिक आचरण की कोई संहिता निर्धारित करना याज्ञिक कर्मकांड में निहित नहीं था। सम्यक् आचरण की संहिता यदि वेद विहित है तभी तो वह अनुपालनीय होगी। कर्म और कर्मफल से तात्पर्य याज्ञिक अनुष्ठान और उसके फल से था, ज्ञान का अर्थ याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान और वेदों का ज्ञान था। जैन व बौद्ध दर्शनों ने कर्म, कर्मफल, सुख, ज्ञान इन सबका व्यापक दार्शनिक तात्पर्य लिया। सुख या दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति उनका भी उद्देश्य रही किन्तु यह संकुचित अर्थों में याज्ञिक सुख नहीं था किन्तु स्थायी, दार्शनिक अर्थों में सुख या दुःख निवारण था। कर्म का ही मार्ग उन्होंने भी स्वीकारा किन्तु यह कर्म यज्ञा-नुष्ठान नहीं था बल्कि हमारे समस्त अच्छे बुरे काम थे–ज्ञान का तात्पर्य उन्होंने सत्य ज्ञान से लिया, कर्मकांडीय ज्ञान से नहीं।

इस प्रकार की दार्शनिक विचारसरणि का उत्कर्ष औपनिषद् युग से ही शुरु हो गया था जो एक प्रकार से इन सभी क्षेत्रों की दार्शनिक पद्धतियों का पूर्वरंग सा था।

इन दर्शनों के उद्गाताओं ने कर्मकांडीय पद्धति और औपनिषद दर्शन दोनों से अपने दर्शन के मूल सूत्र लिए और अपने तार्किक चिन्तन के आधार पर अपनी-अपनी दार्शनिक प्रणालियों का गठन किया। जब उपनिषदों के विचारों को उन विधर्मी दार्शनिकों ने जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे, इस प्रकार प्रयुक्त किया तो यह भी स्वाभाविक ही था कि हिन्दू दर्शनों के खेमे में भी ऐसे चिन्तन सूत्र पनपते जिनमें औपनिषद विचार प्रणाली और याज्ञिक पद्धति की चिन्तन प्रक्रिया का समन्वय हो। सांख्य दर्शन जिसके बीज हम उपनिषदों में खोज सकते हैं इसी प्रकार की चिन्तन प्रणाली है।

उपनिषदों में सांख्य दर्शन के बीज

यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें ब्रह्म को ही चरम सत्ता माना गया है—और अनन्त, ज्ञान, आनन्द आदि अन्य समस्त नाम उसी के परिवर्तमान स्वरूप और अभिधान हैं। 'ब्रह्मन्' शब्द मूलतः वेदों में 'मंत्र' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो विधिवत् अनुष्ठित यज्ञ और यज्ञ की शक्ति का नाम है जिससे हमें इष्ट सिद्धि होती है।[1] उपनिषदों के अनेक वचनों में यही ब्रह्मन् विश्वजनीन और चरम सिद्धान्त के रूप में वर्णित है जिससे सभी को शक्ति प्राप्त हुई है। इस ब्रह्म की हम अपने आत्म-कल्याण के लिए आराधना करते हैं। धीरे-धीरे विकास की प्रक्रिया के तहत ब्रह्म की अवधारणा कुछ उच्चतर स्तर पर पहुँची और विश्व की सचाई और वस्तुसत्ता धीरे-धीरे अन्तर्हित होती गई तथा एक मात्र परम तत्त्व अनाद्यनन्त ज्ञान को सत्य माना जाने लगा। यह वैचारिक विकास धीरे-धीरे जाकर अद्वैत वेदान्त दर्शन में परिणत हुआ जिसके उद्गाता शंकर है। इसी के समानान्तर एक अन्य विचार सरणि भी पनप रही थी जो विश्व को एक वस्तुसत्ता तथा पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्वों से निर्मित मानती थी। श्वेताश्वतर में ऐसे वचन भी है और विशेषकर मैत्रायणी के वचनों से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन की विचार धारा तब तक पर्याप्त विकसित हो चुकी थी और उसकी अनेक दार्शनिक संज्ञाएँ सुप्रयुक्त हो चली थीं।[2] मैत्रायणी की तिथि अब तक निर्विवाद रूप से निर्धारित नहीं हो पाई है। उसमें जो विवरण मिलता है उसके आधार पर भी हम उपनिषदों में विकसित सांख्य सिद्धान्तों का कोई विशकलित स्वरूप नहीं बता सकते। यह असम्भव नहीं कि विकास की इस स्थिति में भी इसने बौद्ध और जैन दर्शनों को कुछ प्रेरणा दी हो किन्तु सांख्य योग दर्शन का जो स्वरूप हमें आज

---

[1] देखें, हिलेब्रांड का लेख 'ब्रह्मन्' (ई० आर० ई०)।

[2] कठ, ३·१०, ५-७ श्वेताश्व। ५-७,८,१२,४-५,१,३,१। इसका विस्तृत विवेचन मेरी पुस्तक 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर इन्डियन सिस्टम्स ऑव थाट' के पहले अध्याय में है।

मिलता है उसमें बौद्ध और जैन दर्शनों के निष्कर्ष इस प्रकार गुम्फित मिलते है कि उसमें उपनिषद् के स्थायित्व सिद्धान्त के साथ-साथ बौद्धों के क्षणिकवाद और जैनों के सापेक्षवाद का समन्वय स्पष्ट दिखता है।

सांख्य एवं योग का वाङ्मय

सांख्य और योग दर्शन के इस अध्याय में विवेचित स्वरूप का मुख्य आधार है–सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र और पतंजलि के योगसूत्र, तथा उनकी टीकाएँ एवं उपटीकाएँ। सांख्यकारिका (लगभग २०० ई०) ईश्वर कृष्ण निर्मित है। चरक (७८ ई०) द्वारा दिया हुआ सांख्य का विवरण सम्भवत: इसकी किसी पूर्ववर्ती प्रणाली पर आधारित है जिसे हमने अलग से विवेचित किया है। वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी ई०) ने इस पर तत्वकौमुदी नामक टीका लिखी है। इससे पूर्व गौडपाद और राजा[1] ने सांख्यकारिका पर टीकाएँ लिखी थीं। नारायण तीर्थ ने गौडपाद की टीका पर चन्द्रिका नामक टीका लिखी। सांख्य सूत्र जिन पर प्रवचन भाष्य नाम से विज्ञान भिक्षु (सोलहवीं सदी) ने भाष्य लिखा है नवीं शताब्दी के बाद किसी अज्ञात लेखक की कृति प्रतीत होता है। पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए अनिरुद्ध ने सर्वप्रथम सांख्यसूत्रों पर टीका लिखी। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य पर एक अन्य प्रारम्भिक कृति रची जिसका नाम है सांख्य सार। पर परवर्ती संक्षिप्त ग्रन्थ है तत्वसमास (सम्भवत: चौदहवीं सदी)। सांख्य के दो अन्य ग्रन्थों सीमानन्द के सांख्य तत्व विवेचन और भावागणेश के सांख्य-तत्वयाथार्थ्य-दीपन का भी हमने पर्याप्त विवेचन किया है। ये विज्ञान-भिक्षु से परवर्ती बहुमूल्य दार्शनिक कृतियां हैं। पतंजलि के योगसूत्र (जो १४७ ई० पू० से पहले का नहीं हो सकता)। पर व्यास (४०० ई०) ने भाष्य लिखा, व्यास भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने तत्ववैशारदी टीका, विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक, दसवीं शती के भोजवृत्ति और सत्रहवीं सदी के नागेश ने छाया-व्याख्या नामक टीकाएँ लिखीं। आधुनिक कृतियों में से, जिनसे मैं उपकृत हुआ हूं, मैं डा० बी० एन० सियाल कृत 'मिकेनिकल फिजीकल एण्ड केमिकल थियरीज आव एनशेंट हिन्दूज' तथा 'द पोजिटिव साइंसेज आव द एशेंट हिन्दूज' का तथा अपने योगदर्शन के दो ग्रन्थों–'स्टडी आव पतंजलि' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित) तथा 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर इन्डियन सिस्टम्स ऑव थाट' (शीघ्र प्रकाश्य) तथा मेरे एक अन्य ग्रन्थ ग्रन्थ 'नेचरल फिलासफी ऑव द एशेंट हिन्दूज' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशन की प्रतीक्षा में) का नामोल्लेख करना चाहूंगा।

---

[1] मेरा अनुमान है कि कारिका पर राजा की टीका "राजवार्तिक" है जिसका उद्धरण वाचस्पति ने दिया है। जयन्त ने अपनी न्यायमंजरी (पृ० १०६) में भी कारिका पर राजा की टीका का उल्लेख किया है। सम्भवत: यह कृति अब अप्राप्य है।

गुणरत्न ने दो अन्य प्रमाणिक सांख्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है–माठर भाष्य तथा अत्रेयतन्त्र। इनमें दूसरा तो सम्भवत: चरक के सांख्य विवेचन का ही नाम है क्योंकि चरक के ग्रन्थ में अत्रि ही वक्ता है और इसलिए इसे आत्रेय संहिता या आत्रेयतन्त्र कहा गया है। माठर भाष्य के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है।[1]

सांख्य की एक पूर्ववर्ती प्रणाली

सांख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन करते समय यह आवश्यक लगता है कि इसके चरक कृत विवेचन का परिचय इस दर्शन के अध्येताओं से कराया जाय जिस पर जहाँ तक मुझे ज्ञात है अब तक किसी भी आधुनिक दर्शन ग्रन्थ में विवेचन नहीं किया गया है। चरक के मत में छ: धातुएँ है–आकाश, वायु आदि पाँच तत्व तथा चेतना जिसे पुरुष भी कहा गया है। दूसरे दृष्टिकोणों से तत्व चौबीस कहे जा सकते हैं–दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय व पाँच कर्मेन्द्रिय) मन, पाँच इन्द्रियों के विषय तथा आठ प्रकृतियाँ (प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पाँच तत्व)।[2] मन इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करता है। यह अणु है तथा इसकी सत्ता इस प्रकार प्रमाणित होती है कि इन्द्रियों के अस्तित्व के बावजूद तब तक कोई ज्ञान प्रकट नहीं होता जब तक मन इन्द्रियों से संयुक्त नहीं होता। मन की दो क्रियाएँ हैं–ऊहा और विचार। इन दोनों के बाद बुद्धि का उद्भव होता है। पाँचों इन्द्रियाँ पच महाभूतों के समवाय से उत्पन्न होती हैं किन्तु उनमें से भी श्रोत्रेन्द्रिय में आकाश गुण का आधिक्य है, स्पर्शेन्द्रिय में वायु का, चक्षुरिन्द्रिय में प्रकाश का, रसनेन्द्रिय में जल का और घ्राणेन्द्रिय में पृथ्वी का। चरक ने तन्मात्रों का उल्लेख नहीं किया है।[3] इन्द्रियार्थों का समुदाय अथवा स्थूल पदार्थ, दश इन्द्रियाँ, मन, पाँच सूक्ष्म भूत, प्रकृति, महत्, अहंकार जो रजोगुण से उद्भूत होता है–ये सब

---

[1] सांख्ययोग से अपरिचित पाठक इससे आगे के तीन परिच्छेदों को छोड़ सकते हैं, यदि वे पहला वाचन कर उसके सिद्धान्तों मात्र से परिचित होना चाहते हों।

[2] पुरुष इस सूत्र में नहीं है। टीकाकार चन्द्रमणि के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों अव्यक्त हैं अत: दोनों को एक ही गिना गया है। "प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं "पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यत् अव्यक्तार्या प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्त शब्देनैव गृह्णाति।" हरिनाथ विशारद का 'चरक' का संस्करण शारीर, पृ० ४।

[3] किन्तु स्थूल द्रव्य से पृथक् सूक्ष्म द्रव्य जैसे किसी पदार्थ को प्रकृति का आन्तरिक कलेवर बताया गया है। प्रकृति में आठ तत्व बताए गए हैं, (प्रकृतिश्चाष्टधातुकी) ये तत्व हैं अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पांच तत्व। प्रकृति के अन्तर्भूत इन तत्वों के अतिरिक्त इनमें इन्द्रियार्थो का उल्लेख भी है–पाँच इन्द्रिय विषयों के रूप में जिन्हें प्रकृति से ही उद्भूत माना गया है।

मिल कर मनुष्य का निर्माण करते हैं। जब सत्वगुण का उत्कर्ष होता है तो यह समुदाय विघटित हो जाता है। समस्त कर्म, कर्मफल, ज्ञान, सुख, दुःख, अज्ञान, जीवन और मृत्यु ये सब इसी समुदाय के हैं। इनके अतिरिक्त पुरुष भी है क्योंकि यदि वह नहीं हो तो जन्म, मृत्यु, बन्धन या मुक्ति कुछ भी न हो। यदि आत्मा को कारण न माना जाय तो ज्ञान के समस्त प्रकाश का कोई आधार नहीं रह जावेगा। यदि स्थायी आत्मा न मानी जाय तो एक के कार्य के लिए दूसरे भी उत्तरदायी ठहराए जा सकेंगे। यह पुरुष जिसे परमात्मा भी कहा गया है अनादि और स्वयंभू है। आत्मा स्वयं में स्थिर है, वहाँ चेतना नहीं है। चेतना इन्द्रियों और मन के साथ इसका संयोग होने पर आती है। अज्ञान, इच्छा, द्वेष और कर्म के कारण पुरुष के साथ अन्य तत्वों का संयोग होता है। उसी से ज्ञान भावना और कर्म पैदा होते हैं। समस्त कार्य कारण समुदाय से उत्पन्न होते हैं, एक कारण से नहीं किन्तु समस्त विनाश स्वभावतः बिना किसी कारण के होता है। जो अनादि है वह किसी का कार्य नहीं। चरक प्रकृति के अव्यक्त अंश को पुरुष से अभिन्न और एक तत्व मानता है। प्रकृति के विकार या उद्भव को क्षेत्र कहा गया है तथा प्रकृति के अव्यक्त अंश को क्षेत्रज्ञ (व्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयोविदुः)। यही अव्यक्त चेतना है। इसी अव्यक्त प्रकृति या चेतना से बुद्धि प्रकट होती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पाँच तत्व और इन्द्रियाँ। यह सब उत्पत्ति ही सृष्टि कहलाती है। प्रलय के समय समस्त विकार फिर प्रकृति में लीन हो जाते हैं और अव्यक्त हो जाते हैं। नई सृष्टि के समय इसी अव्यक्त पुरुष से समस्त व्यक्त उद्भव, बुद्धि, अहकार आदि उद्भूत होते हैं। जन्म और पुनर्जन्म, प्रलय और सृष्टि का यह चक्र रज और तम के प्रभाव से चलता है, अतः जो लोग इन दो गुणों पर विजय पा लेते हैं वे इस चक्र से मुक्त हो जाते हैं। मन आत्मा के संयोग से ही सक्रिय होता है, आत्मा ही कर्ता है[1]। यही आत्मा स्वयं अनेक जीवनों में, स्वेच्छा से अन्य किसी के निर्देश के बिना पुनर्जन्म लेता है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता हुआ अपने कर्मों का फल भोगता है। यद्यपि समस्त आत्माएँ व्यापक है फिर भी वे उन शरीरों में जाकर ही ज्ञान का प्रत्यक्ष करती हैं जिनमें इन्द्रियाँ होती है। समस्त सुख और दुःख राशि द्वारा अनुभूत किए जाते है। उसके अध्यक्ष आत्मा द्वारा नहीं।' सुख और दुःख के अनुभव और भोग के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है जो राग-द्वेषात्मक होती है, तृष्णा से पुनः सुख और दुःख की उद्भूति होती है। मोक्ष में उन समस्त सुखों और दुःखों की

---

[1] इन उद्भवों या विकारों के व्यक्त होने व विलीन होने से सम्बद्ध भाग का निर्वचन चक्रपाणि से पूर्व की एक टीका में विभिन्न रूप में किया गया है कि मृत्यु के समय ये सारे विकार बुद्धि, अहंकार इत्यादि पुनः प्रकृति में लीन हो जाते हैं (पुरुष में) और पुनर्जन्म के समय ये पुनः व्यक्त हो जाते है। देखें—शारीर पर चक्रपाणि की टीका, पृ० १-४६।

सम्पूर्ण समाप्ति हो जाती है जो मन, इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयों से आत्मा के स होने पर पैदा होते हैं। यदि मन आत्मा में स्थिर हो जाता है तो वह योगदशा है, तब सुख-दुःख नहीं होते। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि—"ये समस्त प कारण जन्य हैं, अनित्य हैं स्वयं प्रकट होते हैं किन्तु आत्मा के उद्भव नहीं है, स्वरूप है और मेरे आत्मा के अंश नहीं हैं" तब आत्मा ऊपर उठ जाती है। अन्तिम योग की स्थिति होती है जब समस्त आभास और ज्ञान पूर्णतः अस्त हो ज हैं। उस समय आत्मा के किसी भी अस्तित्व का भान नहीं होता और अपने आप भी संज्ञा नहीं रहती।[1] यही ब्रह्मत्व दशा है। ब्रह्मज्ञानी इसे ब्रह्मत्व कहते हैं अनन्त और निर्गुण है। सांख्य इसी स्थिति को अपना चरम लक्ष्य बताते हैं, य योगियों का भी गम्य है। जब रज और तम समाप्त हो जाते हैं और भूत काल कर्म जिनका फल भोगना होता है निरस्त हो जाते हैं, नया कर्म और नया जन्म नह होता, तब मोक्ष की स्थिति आती है। संतों के समागम, अनासक्ति, सत्य की जिज्ञासा ध्यान, धारणा आदि उपाय इसके अनिवार्य साधन बताए गए हैं। इस प्रकार जो तत्व ज्ञान होता है उसका निरन्तर मनन करना चाहिए।[2] वही अन्त में शरीर से आत्मा की मुक्ति सम्भव बनाता है। चूंकि आत्मा अव्यक्त है और निर्गुण और निर्लक्षण है अतः इस स्थिति को निःशेष निवृत्ति ही कहा जा सकता है।

चरक में सांख्य दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त बताए गए हैं—(१) पुरुष अव्यक्त दशा है (२) इस अव्यक्त के साथ इसके उद्भवों के संयोगों से जो राशि बनती है वह जीव को जन्म देती है (३) तन्मात्र नहीं बताए गए हैं (४) रज और तम मन की कुत्सित दशा के गुण हैं जबकि सत्व उत्तम है (५) मुक्ति की चरम दशा या तो आत्यंतिक समाप्ति या प्रलय दशा है अथवा निर्लक्षण ब्रह्मत्व दशा है, उस दशा में कोई संज्ञा या चेतना नहीं रहती क्योंकि चेतना आत्मा के साथ उसके बुद्धि, अहंकार आदि उद्भवों के संयोग से पैदा होती है। (६) इन्द्रिय भौतिक हैं।

---

[1] यद्यपि इस दशा को ब्रह्मभूत दशा कहा गया है किन्तु इसका वेदान्त के ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है जो शुद्ध, सत्, चिन्ता और आनन्द स्वरूप बतलाया गया है। यह अनिर्वचनीय दशा तो एक प्रकार की ऐसी शून्य और अलक्षण स्थिति है जिसमें अस्तित्व का कोई चिह्न नहीं है और पूर्ण विनाश की सी दशा रहती है जो नागार्जुन की निर्वाण दशा से मिलती जुलती है। चरक ने लिखा है—तस्मिंश्चारममंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः। असंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्ति यान्त्यशेषतः। अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते। निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिन्ह यस्य न विद्यते। गति ब्रह्मविदां ब्रन्ह तच्चाक्षरमलक्षणम्। —चरक शारीर, १-९८-१००।

[2] स्मृति के यहाँ चार कारण बताए हैं—(१) कारण की स्मृति कार्य की स्मृति को जन्म देती है, (२) साम्य (३) विरोधी तथा (४) [illegible]।

सांख्य का यह विवेचन पंचशिख (जो कपिल के शिष्य आसुरि का शिष्य और इस दर्शन का जन्मदाता बताया जाता है) द्वारा महाभारत (१२-२१६) में विवेचित सांख्य सिद्धांत से मेल खाता है। वहां पंचशिख ने चरक के समान स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन नहीं किया है किन्तु पंचशिख द्वारा संकेतित वर्णन से साफ लगता है कि चरक का मत भी वही है।[1] पंचशिख अव्यक्त अथवा पुरुषावस्था को ही चरम सत्य बताता है। सांख्य वांङ्मय में प्रकृति को अव्यक्त नाम से ही पुकारा गया है। यदि मनुष्य विभिन्न तत्व के संयोग से पैदा हुआ है तो मृत्यु के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाना चाहिए। इस शंका के उत्तर में चरक यह विमर्श आरम्भ करता है जिसमें वह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि हमारे समस्त कर्त्तव्यों और नैतिक आदर्शों का चरम आधार आत्मा का अस्तित्व ही है। पंचशिख में भी यही विमर्श आता है। आत्मा के अस्तित्व के लिए दिए हुए प्रमाण भी वही हैं। चरक के समान पंचशिख भी कहता है कि हमारे भौतिक शरीर के साथ मन और चेतस् की राशीकरण की दशा के कारण चेतना उत्पन्न होती है। ये सभी तत्व स्वतंत्र हैं और स्वतंत्र होकर ही जीवन की प्रक्रिया और कार्य को चलाते है। इस राशि द्वारा उत्पन्न कोई भी संवृति आत्मा नहीं है। हम गलती से उसे ही आत्मा समझ लेते हैं-इसलिए हमें अनेक दुःख मिलते हैं। जब इस समस्त प्रपंच से पूर्ण वितृष्णा और संन्यास अधिगत हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पंचशिख द्वारा वर्णित गुण मन के अच्छे और बुरे लक्षण हैं, जैसाकि चरक ने कहा है। राशि की स्थिति को क्षेत्र कहा है, जैसाकि चरक ने भी कहा है, और उसमें कोई प्रलय या अनंतता नहीं है। चरम स्थिति को यह उपमा दी गई है कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं वैसी ही अलिंग (लक्षण-रहित) स्थिति यह है। परवर्ती सांख्य में यही संज्ञा प्रकृति को दी गई है। वह स्थिति त्याग (वैराग्य) की पूर्ण दशा के बाद आती है। इस प्रक्रिया को पूर्ण विनाश (सम्यक् वध) की प्रक्रिया बताया जाता है।

गुणरत्न (१४वीं सदी ई०) जिसने षड्दर्शन समुच्चय की टीका लिखी है, सांख्य के दो प्रकार बतलाता है, मौलिक्य और उत्तर।[2] इनमें से मौलिक्य सांख्य का यह मत प्रमुखतः बतलाया जाता है कि वह प्रत्येक आत्मा के लिए एक प्रधान भी मानता है। (मौलिक्य-सांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति) सम्भवतः उसी सांख्य सिद्धान्त का यह उल्लेख है जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है। इसलिए मेरा यह मत बनता है यही सांख्य का सर्वप्रथम दार्शनिक विवेचन है।

---

[1] पंचशिख के मत को शुद्ध सांख्य दर्शन का सिद्धान्त मानने में योरपीय विद्वानों को बहुत आनाकानी है। इसका कारण यह हो सकता है कि चरक में वर्णित सांख्य दर्शन का विवरण उनके ध्यान में ही नहीं आया।

[2] गुणरत्नः तर्करहस्यदीपिका, पृ० ९९।

महाभारत (१२-३१८) में सांख्य की तीन धारायें बताई गई हैं। एक तो वे जो २४ तत्व मानते हैं (ऊपर वर्णित मत), दूसरे वे जो पच्चीस तत्व मानते हैं (पारंपरिक सांख्य दार्शनिक) और तीसरे वे जो छब्बीस तत्व मानते हैं। यह अन्तिम धारा पुरुष के अतिरिक्त एक 'प्रधान' तत्व को छब्बीसवें तत्व के रूप में मानती है। इस दृष्टि से वह पारंपरिक योग दर्शन के ही अनुरूप दिखती है। महाभारत में वर्णित सांख्य का भी यही मत है। वहां २४ और २५ तत्व मानने वाले सांख्य मतों को अनुपादेय बताया गया है। ऊपर हमारे द्वारा वर्णित सांख्य सिद्धान्त के विल्कुल समान अनेक दार्शनिक सिद्धान्त महाभारत में वर्णित हैं (१२-२०३-२०४)। शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा को द्वितीया के चन्द्र के समान बताया गया है। यह भी कहा गया है कि जैसे सूर्य से राहु विभिन्न होते हुए भी अलग दिखलाई नहीं देता उसी प्रकार शरीर से पृथक् आत्मा दिखलाई नहीं देती। शरीरियों को प्रकृति के ही उद्भव बताया गया है।

हमें कपिल के प्रमुख शिष्य आसुरि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिली है।[1] किन्तु यह सम्भव है कि हमने ऊपर जो सांख्य दर्शन की प्रणाली वर्णित की है और जो ठीक उसी प्रकार महाभारत में पंचशिख द्वारा उपदिष्ट बतलाई गई है, वही सांख्य का सर्वप्रथम प्रणालीबद्ध विवेचन हो। इस मत की पुष्टि गुणरत्न द्वारा किए गए मौलिक्य सांख्य के उल्लेख से तो होती ही है इस बात से भी होती है कि चरक (७८ ई०) ईश्वर कृष्ण द्वारा वर्णित सांख्य का और महाभारत के अन्य भागों में उल्लिखित सांख्य का कोई उल्लेख नहीं करता। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर कृष्ण का सांख्य परवर्ती है जो या तो चरक के समय में था ही नहीं या उस समय उसे सांख्य दर्शन का अधिकृत मौलिक स्वरूप नहीं माना जाता था।

वसीलीफ ने तिब्बती ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि विन्ध्यवासी ने सांख्य को अपने मत के मुताबिक परिवर्तित कर दिया।[2] तकाकुसु का मत है कि विन्ध्यवासी[3] ईश्वर कृष्ण का ही उपनाम था। गार्वे का कहना है कि ईश्वर कृष्ण का

---

[1] गुणरत्न ने एक श्लोक उद्धृत कर उसे आसुरि-लिखित बतलाया है (तर्क रहस्य दीपिका पृ० १०४)। इस श्लोक का तात्पर्य है कि जब बुद्धि किसी विशेष प्रकार से परिणत हो जाती है तो वह (पुरुष) अनुभूति करने लगता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

[2] वसीलीफ कृत 'बुद्धिस्मस' पृ० २४०।

[3] देखें, तकाकुसु का प्रबन्ध 'ए स्टडी आव परमार्थ' स लाइफ आव वसुबन्धु (जे० आर० ए० एस० १९०५)। तकाकुसु द्वारा ईश्वर कृष्ण को ही विन्ध्यवासी मानना बहुत संदेहावह है। गुणरत्न ने ईश्वर कृष्ण और विन्ध्यवासी को दो पृथक् व्यक्ति माना है (तर्क रहस्य-दीपिका पृ० १०२, १०४)। विन्ध्यवासी के नाम से उद्धृत

समय १०० ई० के लगभग है। यह बात संगत प्रतीत होती है कि ईश्वर कृष्ण की कारिकाएँ किसी अन्य ग्रन्थ पर आधारित हों जो उस शैली से विभिन्न शैली में लिखा गया हो जो ईश्वर कृष्ण की है। कारिकाओं में सातवीं कारिका ठीक वही बात कहती है जो पतंजलि (१४७ ई० पू०) के महाभाष्य में उद्धृत की गई है।[1] इन दोनों उक्तियों का विषय है ऐसे कारणों का संख्यान जो चाक्षुप प्रत्यक्ष को विफल बना देते हैं। यद्यपि यह सिद्धांत सांख्य दर्शन का तकनीकी दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है और यह सम्भव है कि वह ग्रन्थ पतंजलि ने यह उक्ति उद्धृत की हो और जिसका ईश्वर कृष्ण ने आर्याछंद में अनुवाद करके कारिका बना दी हो, सांख्य का ग्रन्थ ही नहीं हो। फिर भी चूंकि इस प्रकार के कारणों का परिगणन भारतीय दर्शन की किसी अन्य शाखा में नहीं पाया जाता और सांख्य द्वारा वर्णित प्रकृति की अवधारणा के विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिए यह एक विशिष्ट आधार हो सकता है इसलिए स्वाभाविक और संगत यही अनुमान लगता है कि वह पद्य किसी ऐसी सांख्य की पुस्तक का ही है जिसका बाद में ईश्वर कृष्ण ने अनुवाद किया।

सांख्य के प्राचीन विवरण में जिनमें ईश्वर कृष्ण के सांख्य से बहुत समानता पाई जाती है (केवल ईश्वर का सिद्धान्त ही उनमें जोड़ा गया है) वे हैं पतन्जलि के योग-सूत्र और महाभारत में वर्णित सिद्धान्त। किन्तु हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि चरक द्वारा वर्णित सांख्य का जो विवरण हमने दिया है वह पतन्जल को भी ज्ञात था क्योंकि योगसूत्र (१-१९) में सांख्य का जो उल्लेख किया गया है वह बिलकुल इसके समान है।

अनुष्टुप छन्द में निबद्ध श्लोक (पृ० १०४) ईश्वर कृष्ण के ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। यह लगता है कि ईश्वर कृष्ण ने दो पुस्तकें लिखीं—एक तो सांख्यकारिका और दूसरी सांख्य दर्शन पर एक पृथक् ग्रन्थ जिसमें से गुणरत्न ने निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की है—"प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थ अध्यक्षम्" (पृ० १०८)।

यदि वाचस्पति की तत्वकौमुदी में दिया गया अनुमान के भेदों का निर्वचन सांख्यकारिका का सही व्याख्यान मान लिया जाए तो ईश्वर कृष्ण विन्ध्यवसी से पृथक् ही व्यक्ति सिद्ध होता है क्योंकि विन्ध्यवासी का मत, जैसाकि श्लोकवार्तिक (पृ० ३९३) में बताया गया है, उसके मत से बिलकुल भिन्न है। किन्तु तात्पर्य टीका में (पृ० १०९ एवं १३१) वाचस्पति का स्वयं का कथन यह सूचित करता है कि उसका विवेचन मूल का पूरा-पूरा सही व्याख्यान नहीं है।

[1] पातंजल महाभाष्य (४/१/३) 'अतिसंनिकर्षादतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तर-व्यवधानात्तमसावृतत्वादिन्द्रिय दौर्बल्यादतिप्रमादात्' आदि (बनारस संस्करण)।

सांख्य दर्शन के इतिहास की दृष्टि से चरक और पंचशिख का सांख्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि वह उपनिषदों में वर्णित दर्शन और ईश्वर कृष्ण द्वारा वर्णित पारंपरिक सांख्य सिद्धान्त के बीच के संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है। एक ओर इसका यह सिद्धान्त कि इन्द्रिय भौतिक है और यह कि स्थितियों के समुदाय के फलस्वरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, साथ ही यह बात कि पुरुष अचेतन है इनके सिद्धांत को न्याय के बहुत निकट ला देते हैं, दूसरी ओर पारंपरिक सांख्य की बजाय यह सांख्य बौद्ध दर्शन के भी निकट लगता है।

षष्टितंत्र शास्त्र सांख्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में इसे दो खंडों में विभक्त (कर्मी ३२ और २८ अध्यायों वाले) बताया गया है। राजवार्तिक (एक अज्ञातकालिक ग्रन्थ) से सांख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने बहत्तरवीं कारिका की टीका में एक उद्धरण देते हुए कहा है कि षष्टितंत्र इसका नाम इसलिए पड़ा कि यह प्रकृति के अस्तित्व, उसके एकत्व, पुरुष से उसकी विभिन्नता, पुरुष के लिए उसकी महत्ता, पुरुषों का अनेकत्व, पुरुषों से सम्बन्ध और वियोग, तत्वों की उत्पत्ति, पुरुषों की निष्क्रियता और पाँच विपर्यय, नौ तुष्टियाँ, इन्द्रियों के अट्ठाईस प्रकार के दोष तथा आठ सिद्धियाँ; इनका विवेचन करता है।[1]

---

[1] विपर्यय, तुष्टि, इन्द्रियदोष और सिद्धि के सिद्धान्त ईश्वर कृष्ण की कारिका में वर्णित हैं किन्तु मैंने उन्हें अपने विवेचन में इसलिए नहीं लिया है कि उनका दार्शनिक दृष्टि से महत्व नहीं है। विपर्यय (मिथ्याज्ञान) पाँच प्रकार का होता है–अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (घमंड), राग, द्वेष व अभिनिवेश (आत्मरति)। इन्हें तमो, मोह, महामोह, तमिस्त्रा और अन्धतमिस्त्र भी कहा जाता है। तुष्टि नौ प्रकार की है–जैसे यह विचार कि हमें अपनी ओर से कोई प्रयत्न नहीं करना है, प्रकृति अपने आप हमारे मोक्ष की व्यवस्था कर देगी (अम्भः) ध्यान आवश्यक नहीं, यही पर्याप्त है कि हम गृहस्थ से संन्यास ले लें (सलिल), मोक्ष के लिए कोई जल्दी नहीं, वह अपने आप यथा समय प्राप्त हो जाएगा (मेघ) भाग्य से ही मोक्ष प्राप्त होगा (भाग्य), पाँच कारणों से वैराग्य की उत्पत्ति और उससे उद्भूत सन्तोष यथा कमाने में आने वाली दिक्कतें (पर) कमाई सम्पत्ति की रक्षा में आई दिक्कतें (सुपर), कमाई हुई सम्पत्ति के भोग द्वारा उसका नैसर्गिक क्षय (परापर), इच्छाओं की वृद्धि के कारण आने वाला असन्तोष (उत्तमाम्भः)। वैराग्य की यह उत्पत्ति उन लोगों के लिए जो प्रकृति और उसके विकारों को आत्मा मानते हैं, बाह्यकारणों से होती हैं। सिद्धियाँ (सफलताएँ) आठ प्रकार की हैं (१) तार (शास्त्राभ्यास) (२) सुतार (उनकी अर्थमीमांसा) (३) तारतार (तर्क) (४) रम्यक (अपने विचारों का गुरुओं तथा अन्य प्रबुद्धजनों के विचारों से उपोद्वलन) (५) सदामुदित, निरन्तर अभ्यास से बुद्धि की विमलता)। अन्य तीन सिद्धियाँ हैं, प्रमोद, मुदित

किन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता में षष्टितंत्र के विषयों की जो सूची है वह कुछ और ही है और उससे ऐसा लगता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लिखित षष्टितंत्र पाँचरात्र वैष्णवों के प्रकार का कोई ईश्वरवादी दर्शन रहा होगा। अहिर्बुध्न्य संहिता में कपिल के सांख्य दर्शन को भी वैष्णव दर्शन बताया गया है। सांख्य के सबसे बड़े विवेचक विज्ञान-भिक्षु ने अपने विज्ञानामृतभाष्य में कई जगह कहा है कि सांख्य मूलतः आस्तिक था और निरीश्वर सांख्य केवल प्रौढ़िवाद है (ईश्वर के बिना भी सृष्टि की व्याख्या करने की एक अनधिकार चेष्टा)। अलबत्ता महाभारत का कथन है कि सांख्य और योग में यही भेद है कि सांख्य अनीश्वर है, योग सेश्वर। दोनों षष्टितन्त्रों के वर्णनों में यह भेद यह सूचित करता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लिखित मूल षष्टितंत्र बाद में रूपान्तरित हुआ होगा और काफी बदल गया होगा। इस कयास की पुष्टि इससे भी होती है कि गुणरत्न ने प्रमुख सांख्य ग्रन्थों में षष्टितन्त्र का उल्लेख नहीं किया है बल्कि केवल षष्टितन्त्रोद्धार का ही किया है जो षष्टितंत्र का रूपान्तरित संस्करण है।[1] सम्भवतः मूल षष्टितंत्र वाचस्पति के समय से पूर्व ही नष्ट हो गया था।

यदि हम मान लें कि अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लिखित षष्टितंत्र साररूप में वही ग्रन्थ है जो कपिल ने बनाया होगा और उसके उपदेशों का सही निरूपण है तो यह मानना होगा कि कपिल का सांख्य ईश्वरवादी था।[2] यह सम्भव है कि उसके शिष्य आसुरि ने उसका प्रचार किया हो लेकिन ऐसा लगता है कि जब आसुरि के शिष्य पंचशिख ने उसका विवेचन किया तो उसमें बहुत परिवर्तन हो गया। हमने देखा है कि उसके सिद्धान्त पारंपरिक सांख्य सिद्धान्तों से अनेक अंशों में विभिन्न हैं। सांख्य-कारिका में कहा गया है कि उसने इस तंत्र के बहुत भाग कर दिए (तेन बहुधाकृतं तंत्रम्)। इस वाक्य का अर्थ समझना मुश्किल है। शायद इसका यह मतलब है कि मूल षष्टितन्त्र को उसने अनेक निबन्धों में पुनर्लिखित किया था। यह सुविदित है कि वैष्णवों के अधिकांश पंथ ब्रह्माण्ड विज्ञान का वही स्वरूप बतलाते हैं जो सांख्य के ब्रह्माण्ड विज्ञान का है। इससे इस कयास की पुष्टि होती है कि कपिल का सांख्य शायद सेश्वर हो। किन्तु इसके अलावा कपिल के और पतंजलि के सांख्य में अर्थात्

और मोदमान जो प्रकृति से पुरुष की सीधे वियुक्ति में सहायक होती है। इन्द्रिय-दोष अट्ठाईस प्रकार के कहे गए हैं। ग्यारह इन्द्रियों के ग्यारह दोष तथा सिद्धियों के अभाव में तथा तुष्टियों के कारण होने वाले सत्रह प्रकार के अन्य दोष। विपर्यय, तुष्टि तथा इन्द्रियदोष सांख्योपदिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक बताए गए हैं।

[1] तर्करहस्यदीपिका पृ० १०६।

[2] एवं षड्विंशकं प्राहुः शारीरमिह मानवाः। सांख्य सांख्यात्मकत्वाच्च कपिलादि-भिरुच्यते (मत्स्यपुराण ४-२८)।

योग में कुछ अन्य विभेद भी हैं। एक अनुमान यह लगाया जा सकता है कि पंचशिख ने कपिल के ग्रन्थ में थोड़ा परिवर्तन कर और उसे निरीश्वर रूप में पुनर्लिखित कर कपिल के नाम से प्रचारित कर दिया है। यदि इस अनुमान को सही मान लिया जाय तो हम सांख्य की तीन धाराएँ मान सकते हैं पहली सेश्वर धारा जिसके चिह्न अब लुप्त हो गए हैं किन्तु जो पातंजल सांख्य के रूप में आज भी अवशिष्ट हैं; दूसरी निरीश्वर धारा जिसका प्रतिनिधित्व पंचशिख करता है और तीसरी पारम्परिक सांख्य-वाली निरीश्वर धारा जो उससे थोड़ी विभिन्न है। सांख्य दर्शन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन विज्ञान भिक्षु (सोलहवीं सदी ई०) ने किया प्रतीत होता है। उसने गुणों को पदार्थ के भेद बतलाया है। मैंने सांख्य के इस निर्वचन को पूर्णतः तार्किक एवं दार्शनिक मानकर कपिल और पातंजल सांख्यों के पारस्परिक विवेचन में इसी का अनुसरण किया है। किन्तु यह बतला देना प्रासगिक होगा कि मूलतः गुणों की अव-धारणा विभिन्न अच्छी बुरी मानसिक स्थितियों के विभिन्न प्रकारों के रूप में मानी गई थी और बाद में एक ओर तो उन्हें आनुपातिक वृद्धि या ह्रास के आधार पर एक रहस्यात्मक तरीके से सृष्टि का कारण मान लिया गया और दूसरी ओर मानवीय मनोजगत् की समग्रता का भी आधार उन्हें ही मान लिया गया। गुणों का तार्किक विवेचन करने का प्रयत्न विज्ञान भिक्षु और वैष्णव ग्रन्थकार वेंकट ने अपने अपने तरीके से अलग अलग किया है।[1] चूंकि पतंजलि का योगदर्शन और उस पर व्यास, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु की टीकाएँ, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु द्वारा वर्णित सांख्य दर्शन के अधिकांश सिद्धान्तों पर एक ही मत रखते हैं इसलिए मैंने उन्हें कपिल का सांख्य और पातंजल सांख्य नाम देना ही अधिक उचित समझा और उनका विवेचन भी एक साथ कर रहा हूं। षड्दर्शन समुच्च में हरिभद्र ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

गौड़पाद द्वारा उल्लिखित अन्य सांख्य के दर्शनकार हैं, सनक, सनन्दन, सनातन और वोढ। उनकी ऐतिहासिकता और दार्शनिक सिद्धान्तों के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र, वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु

सांख्ययोग दर्शन पर मेरे विवेचन की भूमिका में कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक लगता है। सांख्यकारिका इस दर्शन की प्राचीनतम कृति है जिस पर परवर्ती लेखकों द्वारा टीकाएँ लिखी गई हैं। किसी भी लेखक द्वारा 'सांख्य सूत्र' का उल्लेख नहीं किया गया है–केवल अनिरुद्ध (१५वीं सदी ई०) ने पहली बार इसकी टीका लिखी।

---

[1] वेंकट के दर्शन का विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे खंड में किया गया है।

गुणरत्न ने भी, जो चौदहवीं सदी ई० का है और जिसने अनेक सांख्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है, 'सांख्यसूत्र' का कोई संदर्भ नहीं दिया। गुणरत्न से पूर्व किसी लेखक ने 'सांख्यसूत्र' का कहीं उल्लेख किया हो ऐसा भी नहीं दिखता। इस सबका स्वाभाविक निष्कर्ष यही निकलता है कि ये सूत्र सम्भवतः चौदहवीं सदी के कुछ समय बाद ही लिखे गए। किन्तु इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ये पन्द्रहवीं सदी के समय से पूर्व की कृति नहीं हैं। ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका के अन्त में यह उल्लेख है कि कारिकाओं में सांख्यदर्शन का विवेचन है किन्तु उसमें अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों का खंडन तथा षष्टितन्त्र शास्त्र आदि मूल सांख्य ग्रन्थों से सम्बद्ध दृष्टान्त कथाएँ शामिल नहीं हैं। सांख्यसूत्रों में अन्य मतों का खंडन और अनेक दृष्टान्त कथाएँ भी हैं। यह असम्भव नहीं कि ये सब किसी अन्य सांख्य ग्रन्थ से संकलित किए गए हों जो अब लुप्त हो चुका है। यह भी हो सकता है कि षष्टितन्त्र शास्त्र के किसी परवर्ती संस्करण से (जिसे गुणरत्न ने षष्टितन्त्रोद्धार नाम से उल्लिखित किया है) यह संकलन किया गया हो। यद्यपि यह एक अनुमान ही है। इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि सांख्यसूत्रों में उपलब्ध सांख्य का सांख्यकारिकाओं में उपलब्ध सांख्य से कोई महत्वपूर्ण अन्तर है। केवल एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सांख्यसूत्र ऐसा मानते हैं कि उपनिषदों में एक परम शुद्ध चित् का जो वर्णन है उसका तात्पर्य उस एकता से है जो चेतन पुरुषों के वर्ग में निहित है और गुणों के वर्ग से विभिन्न है। चूंकि समस्त पुरुष शुद्ध चित् स्वरूप है, उपनिषदों में उन्हें एक बतलाया गया है क्योंकि वे सभी शुद्ध चित् की श्रेणी में आते हैं और इस दृष्टि से एक भी कहे जा सकते हैं। यह समझौता सांख्यकारिका में नहीं मिलता। यह एक चूक हो सकती है, विभेद इससे सिद्ध नहीं होता। सांख्यसूत्र का टीकाकार विज्ञानभिक्षु सेश्वर सांख्य या योग के प्रति अधिक झुका हुआ था, निरीश्वर सांख्य की बजाय। यह उसके सांख्य प्रवचन भाष्य, योग वार्त्तिक एवं विज्ञानामृत भाष्य (बादरायण के ब्रह्म सूत्रों पर ईश्वरवादी सांख्य के दृष्टिकोण से लिखी गई एक स्वतंत्र टीका) में उसके स्वयं के वचनों से सिद्ध होता है विज्ञानभिक्षु का अपना दृष्टिकोण सच्चे अर्थों में पूर्णतः योगदर्शन का दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसने पौराणिक सांख्य दर्शन के दृष्टिकोणों का समर्थन अधिक किया है जिसके अनुसार विभिन्न पुरुष और प्रकृति अन्ततः ईश्वर में विलीन हो जाते हैं और जिसकी इच्छा से प्रत्येक प्रलय के बाद प्रकृति में सृष्टि प्रक्रिया पुनः शुरू होती है। वह सांख्यसूत्रों के पूर्णतः निरीश्वर सिद्धान्तवादों से बच नहीं सका है किन्तु उसका कहना है कि ये उसने यह बतलाने के लिए प्रयुक्त किए हे कि सांख्य दर्शन इतना तार्किक है कि उससे ईश्वर को माने बिना भी, समस्त पदार्थों की व्याख्या की जा सकती है। विज्ञानभिक्षु की साँख्य दर्शन की व्याख्या वाचस्पति से बहुत बातों पर मतभेद रखती है और यह कहना कठिन है कि इन दोनों में से कौन सही है। विज्ञानभिक्षु में यह बात अच्छी है कि कुछ कठिन बिन्दुओं पर, जिन पर वाचस्पति मौन हैं, वह स्पष्ट एवं निर्भीकता

पूर्वक निर्वचन करता है। मेरा तात्पर्य प्रमुखतः गुणों के स्वरूप के निर्वचन से है जो मेरे मत में सांख्य का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। विज्ञानभिक्षु ने गुणों को यथार्थ अथवा अतिसूक्ष्म पदार्थ माना है किन्तु वाचस्पति और गौड़पाद (सांख्यकारिका का एक अन्य टीकाकार) इस विषय पर मौन है। उनकी व्याख्याओं में ऐसी कोई बात भी नहीं है जो विज्ञान भिक्षु के निर्वचन के विरुद्ध जाती हो किन्तु वे जहाँ गुणों के स्वरूप का कोई विवेचन नहीं करते वहाँ भिक्षु उनकी प्रकृति के बारे में बहुत संतोषजनक स्पष्ट और तार्किक विवरण देता है।

चूँकि भिक्षु से पूर्व किसी अन्य ग्रन्थ में गुणों का निरूपण नहीं मिलता, यह संभव लगता है कि इस विषय पर उससे पूर्व कोई विचारमन्थन नहीं हुआ। चरक में या महाभारत में भी गुणों के स्वरूप के बारे में कुछ नहीं मिलता। किन्तु भिक्षु की व्यवस्था इतनी स्पष्ट है कि उसमें गुणों के पूर्ववर्ती समस्त दार्शनिक कृतियों में उपलब्ध स्वरूप और प्रक्रिया का सारा सार समाहित सा लगता है। इसलिए गुणों के स्वरूप के विवेचन के सम्बन्ध में मैंने भिक्षु के निर्वचन को ही मान्य माना है। कारिका ने गुणों का स्वरूप सत्व, रज और तम बतलाया है। इसमें सत्व को लघु और प्रकाशक, रज को शक्ति और गतिस्वरूप और तम को गुरु और आवरणकर्त्ता बताया है। वाचस्पति ने कारिका के इन शब्दों का अनुवाद मात्र कर दिया है, कोई विवेचन नहीं किया। भिक्षु की व्याख्या गुणों के तब तक उपलब्ध समस्त विवेचनों से सुसंगत बैठती है, यद्यपि यह सम्भव है कि वह दृष्टिकोण उससे पहले अपरिज्ञात रहा हो और जब मूल सांख्य-सिद्धान्त की स्थापना हुई हो उस समय भी गुणों की अवधारणा के बारे में कुछ अस्पष्टता रही हो।

कुछ अन्य बिन्दु भी है जिनमें भिक्षु का दृष्टिकोण वाचस्पति से भिन्न है। इनमें से कुछेक महत्वपूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख यहाँ उचित होगा। पहला तो बौद्धिक स्थितियों के पुरुष से सम्बन्ध के बारे में है। वाचस्पति का मत है कि पुरुष से किसी भी बुद्धि की स्थिति का संयोग नहीं होता किन्तु पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि की स्थिति में पड़ जाता है जिससे बुद्धि-स्थिति चैतन्ययुक्त हो जाती है और चेतना में परिणत हो जाती है। परन्तु इस मत से यह शंका हो सकती है कि पुरुष को फिर बुद्धि की चेतन स्थितियों का अनुभवकर्ता कैसे कहा जा सकता है क्योंकि बुद्धि में उसका प्रतिबिम्ब तो केवल प्रतिफलन मात्र है, उसके आधार पर ही, पुरुष के बुद्धि से संयोग किए बिना, भोग कैसे हो सकता है ? वाचस्पति मिश्र द्वारा इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि देश काल में दोनों का संयोग नहीं होता किन्तु उनकी सन्निधि से तात्पर्य एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता से है जिसके कारण पृथक् रहते हुए भी पुरुष बुद्धि से संयुक्त और तदभिन्न अनुभूत होती है और उसी के कारण बुद्धि की स्थितियों को किसी व्यक्ति की बतलाया जाना प्रतीत होता है। विज्ञानभिक्षु का कथन कुछ विभिन्न है।

उसका मत है कि यदि ऐसी विशिष्ट योग्यता मान ली जाए तो कोई कारण नहीं कि मुक्ति के समय पुरुष में ऐसी विशिष्ट योग्यता क्यों न रहे, यदि ऐसा हुआ तो मोक्ष ही नहीं होगा। यदि योग्यता पुरुप में निहित है तो वह उससे रहित कैसे हो जाएगा और तब बुद्धि में निहित अनुभवों को भोगता रहेगा। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का मत है कि किसी संज्ञानात्मक दशा में पुरुष का बुद्धि की स्थिति से वास्तविक संयोग होता है। पुरुप और बुद्धि के इस संयोग का तात्पर्य यह नहीं है कि पुरुष इसके कारण परिवर्तित होता जाएगा—संयोग का मतलब परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन का तात्पर्य है नए गुणों का उदय। बुद्धि में ही परिवर्तन होते हैं और जब ये परिवर्तन पुरुप में प्रतिबिम्बित हैं तो पुरुप में व्यक्ति अथवा अनुभवकर्ता का अनुभव होता है और जब पुरुप का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है तो बौद्धिक दशा चैतन्य दशा प्रतीत होती है। दूसरा बिन्दु है प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध में वाचस्पति और भिक्षु में मतभेद। भिक्षु का मत है कि मन की किसी क्रिया के बिना भी इन्द्रियाँ पदार्थों के निर्धारित गुणों का प्रत्यक्ष कर सकती हैं जबकि वाचस्पति यह मन की शक्ति मानता है कि वह इन्द्रियों के विषयों को एक निर्धारित क्रम में व्यवस्थित करता है और अनिर्धारित इन्द्रिय विषयों का निर्धारण करता है। उसके अनुसार संज्ञान की पहली स्थिति वह है जब अनिर्धारित ऐन्द्रिय विषय प्रस्तुत होते हैं, दूसरी स्थिति में उनके स्वांगीकरम, विभेदन और समूहन आदि होते हैं जिनके कारण मानसिक प्रक्रिया द्वारा अनिर्धारित पदार्थ सुव्यवस्थित होते हैं एवं वर्गीकृत किए जाते हैं। यह मानसिक प्रक्रिया संकल्प कही जाती है जिसके द्वारा अनिर्धारित पदार्थ निर्धारित ऐन्द्रिय विषयों के रूप में और प्रत्यक्ष के स्वरूपों और वर्गों में व्यवस्थित किए जाते हैं, उन वर्गों के विश्लिष्ट लक्षणयुक्त धारणात्मक रूप बनाए जाते है। भिक्षु को जो यह मानता है कि पदार्थों का निर्धारित स्वरूप सीधे इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत होता है, मन को निश्चित ही गौण स्थान देना पड़ेगा और उसे इच्छा, शंका और कल्पना की एक शक्ति के रूप में ही मानना पड़ेगा।

यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि सांख्यकारिका पर वाचस्पति की टीका में एकाध स्थल ऐसे हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अहंकार को इन्द्रियों की विषयावलियों का जन्मदाता मानता है और बाह्य जगत् की भौतिक पदार्थावली को एक इच्छा या संकल्प से उद्भूत मानता है किन्तु उसने इस सिद्धान्त का आगे स्पष्टीकरण नहीं किया अतः उस पर अधिक विवेचन आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त, महत् से तन्मात्रों के उद्भव के बारे में भी एक मतभेद है। व्यासभाष्य और विज्ञानभिक्षु आदि से विपरीत, वाचस्पति का मत[1] है कि महत् से अहंकार पैदा हुआ और अहंकार से तन्मात्र। विज्ञानभिक्षु का मानना है कि अहंकार का पृथग्भवन

---

[1] देखें मेरा ग्रन्थ 'स्टडी आव पतंजलि' (पृ० ६० से)।

और तन्मात्रों का उद्भव दोनों महत् में ही होते हैं और चूंकि यही मत मुझे अधिक तर्कसंगत लगा अतः मैंने यही पक्ष स्वीकार किया है। इसके अलावा योगदर्शन के बारे में वाचस्पति और भिक्षु में कुछ अन्य विभेदक बिन्दु भी हैं जिनका दार्शनिक महत्व अधिक नहीं है।

योग एवं पतंजलि

ऋग्वेद में योग शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है, जैसे जूड़ा डालना या हल डालना, अनुपलब्ध की प्राप्ति, जोड़ना इत्यादि। जूड़ा डालने के अर्थ में इसका उतना प्रयोग नहीं हुआ जितना अन्य अर्थों में, किन्तु यह सत्य है कि ऋग्वेद में तथा अन्य वैदिक साहित्य में, जैसे शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में इस अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] इसी शब्द से एक अन्य पद भी निकला है 'युग्य' जिसका प्रयोग परवर्ती संस्कृत साहित्य में हुआ।[2]

ऋग्वेद में धार्मिक और दार्शनिक विचारों के विकास के साथ-साथ हम यह भी पाते हैं कि धार्मिक यम नियम और आचार अधिक महत्व पाते गए हैं। तप और ब्रह्मचर्य बहुत ऊँचे गुण माने जाते थे तथा उन्हें उच्चतम शक्ति का स्रोत माना जाता था।[3]

तप और आत्मसंयम के सिद्धान्तों का ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों त्यों यह भी अहसास होता गया कि चंचल चित्तवृत्तियाँ उसी प्रकार अनियंत्रणीय होती हैं जैसे एक उद्धत घोड़ा और इसीलिए योग शब्द का, जिसका प्रयोग मूलतः घोड़ों के नियंत्रण के संदर्भ में होता था, इन्द्रियों के नियंत्रण के संदर्भ में भी प्रयोग होने लगा।

पाणिनि के समय तक आते आते योग शब्द ने तकनीकी अर्थ धारण कर लिया था। पाणिनि ने 'युज समाधौ' धातु को 'युजिर योगे' धातु से इसलिए अलग माना है। समाधि या एकाग्रता के अर्थ वाला यूज धातु क्रियापदों में कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। इस धातु को 'योग' शब्द को निष्पन्न करने के लिए ही गिनाया गया है।[4]

---

[1] तुलनीय, ऋग्वेद १-३४-६; ७-६७-८; ३-२७-११; १०-३०-२; १०-१४-६; ४-२४-४; १-५-३; शतपथ ब्राह्मण १४-७-१-२।

[2] यह शायद आर्य भाषाओं का ही कोई प्राचीन शब्द है; तुलनीय जर्मन जोक, एवं लॉ-सेक्सन geoc. लैटिन Jugum.

[3] कठोप ३-४; इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् (इन्द्रिय घोड़े हैं और उनके गम्य पदार्थ उनके विषय हैं) मैत्रा० २-६, कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया (कर्मेन्द्रिय इसके घोड़े हैं)।

[4] 'युग्य' पद 'युजिर योगे' से बना है, युज समाधौ से नहीं। यदि हम पाणिनि के सूत्र

भगवद्गीता में योग शब्द का प्रयोग 'युजसमाधौ' वाले अर्थ में तो हुआ ही है, 'युजिर योगे' वाले अर्थ में भी हुआ है। इसके कारण भगवद्गीता के अध्येताओं में कुछ भ्रम भी फैला है। गीता में योगी अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो अपने आप को समाधि में खो देता है सर्वोच्च श्रद्धा का पात्र माना गया है। वहाँ इस शब्द के प्रयोग के साथ एक यह विशेषता जुड़ी हुई है कि गीता ने एक ओर निर्गुण समाधि वाले तपःपूर्ण नियंत्रण की प्रक्रिया और दूसरी ओर वैदिक ऋषियों के यज्ञादि कार्यों का सम्पादन करने वाले एक नए प्रकार के योगी (युजिर योगे वाले अर्थ में) की धारणा दोनों के बीच एक मध्यम मार्ग निकालना चाहा। ऐसा योगी जो इन दोनों मार्गों के सर्वोत्तम आदर्शों का एक समन्वय अपने आप में स्थापित कर लेता है, अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट रहता है किन्तु साथ ही उनके स्वार्थमय उद्देश्यों तथा आसक्तियों में लिप्त नहीं होता, वहाँ सच्चा योगी माना गया है।

अपने अर्थशास्त्र में दर्शन विज्ञान के विषयों का नाम गिनाते हुए कौटिल्य सांख्य, योग और लोकायत का नाम लेता है। प्राचीनतम बौद्ध सूत्र (जैसे सतिपत्थान सुत्त) योग समाधि के सभी चरणों से परिचित प्रतीत होते हैं। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि एकाग्रता का अभ्यास तथा योग बुद्धि के पूर्व ही रहस्यात्मक समाधि की एक तकनीकी प्रक्रिया के रूप में विकसित हो चुके थे।

जहाँ तक सांख्य के साथ योग के सम्बन्ध का प्रश्न है, जैसाकि हम पतंजलि के योगसूत्रों में स्पष्ट संकेतित पाते हैं, इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना बड़ा कठिन है। प्राचीनतर उपनिषदों में श्वास सम्बन्धी विज्ञान पर कुछ विवेचन उपलब्ध होता है यद्यपि उस समय तक योगमार्ग की 'प्राणायाम' जैसी सुनिर्धारित प्रक्रिया विकसित नहीं हुई थी। जब हम मैत्रायणी तक आ जाते हैं तब जाकर यह स्पष्ट होता है कि योगदर्शन का एक प्रणालीबद्ध विकास पूरा हो चुका था। दो अन्य उपनिषद् जिनमें योगदर्शन के सिद्धान्त पाए जाते हैं—कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् हैं। यह वस्तुतः दिलचस्प बात है कि कृष्णयजुर्वेद की केवल इन्हीं तीनों उपनिषदों में जिनमें योगाभ्यास का सन्दर्भ मिलता है, सांख्य के बारे में भी वर्णन यद्यपि सांख्य और योग के सिद्धान्त इनमें परस्पर सम्बद्ध रूप में या किसी एक प्रणाली के ही दो भागों के रूप में संकेतित नहीं मिलते किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् में एक उल्लेखनीय उद्धरण इस प्रकार का मिलता है जिसमें शाक्यायन और बृहद्रथ का संवाद

'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि उसके समय तक (पाणिनि को गोल्डस्टूकर ने बुद्ध से पूर्वकालिक बताया है) कि ब्रह्मचर्य के रूप में न केवल तपस्या और संयम के ही विभिन्न रूप देश में प्रचलित थे बल्कि उसी से सम्बद्ध एक बौद्धिक और नैतिक संयम की सुनिर्धारित प्रणाली भी योग के नाम से प्रचलित थी।

है और उसमें योग प्रक्रिया का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए कुछ क्षेत्रों में सांख्य के तत्वदर्शन का सहारा लिया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि योग प्रणाली में सांख्य के तत्वदर्शन का समन्वय या उपोद्वलन इसी विचारधारा के अनुयायियों की देन है जिसे बाद में पतंजलि ने एक प्रणालीबद्ध रूप दे दिया है। शाक्यायन कहता है 'कुछ लोगों का यह कथन है कि प्रकृति के वैभिन्य के कारण गुण, इच्छा के बन्धन में बंध जाता है, और उसकी मुक्ति तब होती है जबकि इच्छा का दोष अपनीत हो जाता है, तब वह बुद्धि से देखने लगता है। जिसे हम अभिलाषा, कल्पना, संशय, विश्वास, अविश्वास, निश्चय, अनिश्चय, लज्जा, विचार, भय आदि कहते हैं वह सब केवल बुद्धि ही है। अपनी कल्पना में अन्धकारक्रान्त गुणों की लहरों द्वारा विचलित होकर, अनिश्चित, दिङ्मूढ़, अपंग इच्छाओं से आक्रान्त, किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर वह ऐसी धारणाओं से आबद्ध हो जाता है कि यह मैं हूं, वह मेरा है, और इस प्रकार अपनी आत्मा से अपने आपको बाँध लेता है जैसे एक पक्षी अपने आपको घोंसले में बाँध लेता है। इसलिए वह मनुष्य जो इच्छा, कल्पना और धारणा के वशीभूत होता है गुलाम होता है और जो उनके वश में नहीं है वही स्वतंत्र है। इसीलिए मनुष्य को अपनी इच्छा, कल्पना और धारणा से निर्मुक्त रहना चाहिए। यही स्वातन्त्र्य का लक्षण है, यही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है, यही वह द्वार है जिससे वह अन्धकार को पार पा सकता है। सभी इच्छाएँ वहाँ जाकर शान्त हो जाती हैं। इसके लिए एक प्राचीन उक्ति भी उद्धृत की जाती है—

"जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन में स्थिर हो जाती हैं और जब बुद्धि अविचलित होती है, वही सर्वोच्च स्थिति है।"[1]

---

[1] परन्तु वात्स्यायन ने न्यायसूत्र के अपने भाष्य (१-१-२९) में सांख्य और योग का भेद इस प्रकार बतलाया है—सांख्य का मत है कि कोई भी वस्तु उत्पन्न या विनष्ट नहीं होती शुद्ध चेतना में कोई परिवर्तन नहीं आता। (निरतिशयाः चेतनाः) समस्त परिवर्तन शरीर, इन्द्रियों, मन तथा बाह्य पदार्थों में होते हैं। योग का मत है कि समस्त सृष्टि पुरुष के कर्म पर आधारित है। समस्त दोष एवं प्रवृत्ति कर्म के ही कारण होते हैं। चेतना सगुण होती है। जो असत् है वह सत्ता में आ सकती है और जो उत्पन्न है वह विनष्ट हो सकता है। यह अन्तिम मत व्यास-भाष्य द्वारा किए गए योग के विवेचन से बिलकुल भिन्न है। सैद्धान्तिक रूप से यह न्यायदर्शन के अधिक निकट है। यदि वात्स्यायन का कथन सही माना जाता है तो यह प्रतीत होता है कि सृष्टि रचना के पीछे कोई उद्देश्य निहित है यह धारणा सांख्य ने योग से ली है। इस सूत्र पर उद्योतकर का विवेचन किसी भेद की ओर संकेत नहीं करता किन्तु उसमें इस बात पर ऐकमत्य का उल्लेख अवश्य मिलता है कि इन्द्रिय अभौतिक हैं इस दृष्टिकोण को सांख्य और योग दोनों मानते हैं।

योग से सम्बन्धित उपनिषदों जैसे शांडिल्य, योगतत्व, ध्यान बिन्दु, हंस, अमृतनाद, वराह, मंडल, ब्राह्मण, नादबिंदु और योगकुंडली आदि की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रणालियों में योग की प्रक्रियाएँ परिवर्तित होती गई हैं किन्तु उनमें सांख्य की दार्शनिक विचारधारा की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। शैव और शाक्त सिद्धान्तों के अनुरूप भी योगप्रक्रियाएँ विकसित होती गई और मंत्रयोग के नाम से अनेक रूप लेती गई। योग की प्रक्रियाओं ने एक अन्य रूप भी धारण किया, हठयोग के रूप में, जो विभिन्न जटिल नाड़ियों के विभिन्न योगों के निरन्तर अभ्यास द्वारा अनेक रहस्यात्मक और जादुई चमत्कार पैदा कर देने वाला योग माना जाता था, जिससे निरोग कर देने वाले तथा अन्य चमत्कार तथा ऐसी ही अतिमानुष शक्तियाँ सम्बन्धित थीं। योगतत्वोपनिषद् कहती है कि योग के चार प्रकार हैं, मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।[1] कभी-कभी इन यौगिक अभ्यासों के साथ वेदान्त के समन्वय का प्रयत्न भी हमें मिलता है। योग की प्रक्रियाओं का तांत्रिक तथा अन्य पूजा प्रकारों के विकास में भी बहुत प्रभाव पाया जाता है, किन्तु इन सबका विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे क्योंकि उनका कोई दार्शनिक महत्व नहीं है और इस प्रकार वे हमारे क्षेत्र के बाहर हैं।

सांख्य के पातंजल दर्शन का अर्थात् योग के उस प्रकार का जिसका हम विवेचन कर रहे हैं, पतंजलि ही सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण विवेचक था क्योंकि उसने न केवल योग की विभिन्न प्रक्रियाओं का संकलन ही किया और योग से सम्बन्धित विभिन्न विचारधाराओं को एकत्र कर उनका सम्पादन किया अपितु उस सबको सांख्य के तत्व-दर्शन से समन्वित करके भी प्रमाणित किया और उसे वह रूप दिया जिसमें इस दर्शन को हम आज पाते हैं। वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु (व्यासभाष्य के दो महान् टीकाकार) हमारे इस कथन का समर्थन करते हैं कि पतंजलि योगदर्शन का जन्म दाता नहीं बल्कि संपादक था। पातंजल सूत्रों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि इनमें कोई मौलिक स्थापना नहीं है किन्तु एक उच्चस्तरीय और प्रणालीबद्ध संकलन ही है जिसके साथ समुचित मौलिक विवेचन जुड़े हुए हैं। पहले तीन

आश्चर्य की बात है कि वात्स्यायन अपने भाष्य में (१-२-६) व्यासभाष्य से एक उक्ति उद्धृत की है (३-१३) और उसे स्वविरोधी (विरुद्ध) बताया है।

[1] योग के एक दार्शनिक जैगीषव्य ने 'धारणाशास्त्र' लिखा जिनमें तन्त्र की शैली में योग का वर्णन है, पतंजलि द्वारा वर्णित दार्शनिक शैली में नहीं। उसने स्मृति के केन्द्रों के रूप में शरीर के पाँच केन्द्रों का वर्णन भी किया है (हृदय, कण्ठ, नासाग्र, तालु, ललाट, सहस्रार) जिन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। देखें, वाचस्पति की तात्पर्य टीका अथवा वात्स्यायन का न्यायसूत्रों पर भाष्य ३-२-४३।

अध्यायों में जिनमें परिभाषा और वर्गीकरण के रूप में बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन मिलता है यह पता चलता है कि उनकी सामग्री पहले से ही विद्यमान थी, पतंजलि ने उसे केवल वैज्ञानिक और प्रणालीबद्ध रूप दिया। उसके विवेचन में कोई धार्मिक उत्साह या आग्रह नहीं दिखलाई देता, अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के खंडन का विशेष प्रयत्न भी नहीं। प्रसंगवश जहाँ अपने दर्शन को समझाने के लिए वैसा करना आवश्यक ही हो तो बात अलग है। पतंजलि इस दर्शन की स्थापना करने का उद्देश्य लेकर चला हो सो बात नहीं लगती। वह तो उन तथ्यों को जिन्हें उसने बिखरा पाया, व्यवस्थित करने में भी रुचि रखता है। बौद्धों के खंडन के प्रसंग भी अधिकांशतः अन्तिम अध्याय में मिलते हैं। प्रथम तीन अध्यायों में योग के सिद्धान्त बतलाए गए हैं और इन्हें हम अन्तिम अध्याय से बिलकुल अलग थलग सा पाते हैं जिसमें बौद्धों का खंडन है। तीसरे अध्याय के अन्त में 'इति' शब्द के लिखने से भी यही स्पष्ट होता हैकि योग सम्बन्धी संकलन समाप्त हो गया। चौथे अध्याय के अन्त में भी एक 'इति' शब्द प्रयुक्त है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक है। इससे यह अनुमान पूर्णतः युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि चतुर्थ अध्याय पतंजलि से इतर किसी लेखक की रचना है जो परवर्ती था और जिसने योग दर्शन के समर्थन में कुछ अन्य तर्क जो छूट गए थे, इसमें जोड़ देना आन्तरिक दृष्टि से और बौद्ध दर्शन के समर्थकों के संभावित विरोधों से बचाने हेतु उसे अधिक सबल बनाने की दृष्टि से उचित समझा। अन्तिम अध्याय की शैली में भी कुछ परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसा या तो इसलिए हो सकता है कि वह बाद में लिखा गया हो या इसका प्रमाण हो सकता है कि वह किसी अन्य लेखनी द्वारा प्रस्तुत है।

अन्तिम अध्याय के तीस से चौंतीस तक के सूत्र दूसरे अध्याय में कही गई बातों की पुनरुक्ति से प्रतीत होते हैं। इस अध्याय के कुछ विवेचित विषय ऐसे भी हैं जो पूर्व के अध्यायों में विवेचित विषयों से इतने सम्बद्ध हैं कि उनके साथ ही उनका विवेचन अधिक उचित होता। इस अध्याय का कलेवर भी इतना छोटा है जो अन्य अध्यायों से मेल नहीं खाता। इसमें केवल चौंतीस सूत्र हैं जबकि अन्य अध्यायों में औसतन ५१ से ५५ तक सूत्र हैं।

अब इस प्रसिद्ध योगशास्त्री पतंजलि के सम्भावित समय पर विचार करेंगे जो बहुत विवादस्पद विषय है। वेबर ने पतंजलि को शतपथ ब्राह्मण[1] के "काप्य पतंजल" से अभिन्न सिद्ध किया है; कात्यायन के वार्तिक में पतंजलि का नाम आता है जिसे परवर्ती टीकाकारों ने इस प्रकार व्युत्पन्न माना है "पतंतः अंजलयो यस्मै" (जिसके लिए श्रद्धा से अंजलियाँ बाँधली जाएँ) किन्तु केवल नामसाम्य से ही किसी निश्चित

---

[1] वेबर कृत 'हिस्ट्री आव इन्डियन लिटरेचर,' पृ० २२३ (टिप्पण)।

निर्णय पर पहुंच जाना बहुत कठिन है। इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि पाणिनि के सूत्रों पर सुप्रसिद्ध महाभाष्य लिखने वाला ही सांख्ययोगदर्शनकार पतंजलि है। इस मत को अनेक पाश्चात्य लेखकों ने भी सम्भवत: कुछ भारतीय टीकाकारों के आधार पर मान लिया है जिन्होंने इन दोनों को एक ही व्यक्ति बताया है। इनमें से एक तो है 'पतंजलि-चरित' के रचयिता रामभद्र दीक्षित जो १८वीं सदी से पहले के नहीं हो सकते। दूसरी कृति है वासवदत्ता पर शिवराम की टीका जिसे आफ्रेक्ट ने १८वीं शताब्दी का बताया है। दो अन्य लेखक हैं धार का राजभोज और चरक का टीकाकार चक्रपाणिदत्त जो ११वीं शताब्दी का था। चक्रपाणिदत्त कहता है कि 'वह उस अहिपति को नमस्कार करता है जिसने पातंजल महाभाष्य और चरक के भाष्य (पुनर्लेखन) की रचना कर मन, वचन और कार्य के दोषों का अपनोदन कर दिया।' भोज कहता है, 'उस महामनीषी सम्राट रणारंगमल्ल के वचनों की जय हो जिसने पातंजल पर टीका लिखकर तथा राजमृगांक नामक आयुर्वेद ग्रन्थ लिखकर सर्पधारी शिव की भाँति मन, वचन और कार्य के दोष नष्ट कर दिए।' व्यास का स्तोत्र भी (जिसे पुराने विद्वान भी प्रक्षिप्त मानते हैं) इसी परम्परा पर आधारित हैं। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि परवर्ती भारतीय टीकाकारों ने भी व्याकरणकार पतंजलि, योगदर्शन का पतंजलि और पातंजलतन्त्र के लेखक आयुर्वेदकार पतंजलि (जिसका उद्धरण चक्रदन्त से टीकाकार शिवदास ने धातुओं के तापन के प्रसंग में दिया है), इन तीनों पतंजलियों में घपला कर दिया हो।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे० एच० वुड्स का यह मत तो उचित प्रतीत होता है कि केवल इन टीकाकारों के साक्ष्य के आधार पर ही व्याकरणकार और दर्शनकार पतंजलि को एक नहीं माना जा सकता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि व्याकरण के महान् लेखक जैसे भर्तृहरि, कैयट, वामन, जयादित्य, नागेश आदि ने ऐसी बात कहीं नहीं लिखी। इसी से परवर्ती कुछ लोग और आयुर्वेद के टीकाकारों द्वारा इन दोनों को एक मानने के विरोध में पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है। यदि इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण भी मिल जाते हैं तो हम व्याकरणकार और योग-दर्शनकार पतंजलि को कभी भी एक नहीं मान सकते।

अब हम यह देखें कि क्या पतंजलि के महाभाष्य में कोई ऐसी सामग्री मिलती है जिससे वह योग-दर्शनकार से भिन्न सिद्ध होता है। प्रो० वुड्स का मानना है कि द्रव्य की परिभाषा में इन दोनों पतंजलियों का मतभेद है अत: उन्हें एक नहीं माना जा सकता। वुड्स कहते हैं कि व्यास भाष्य में एक जगह द्रव्य को सामान्य-विशेषात्मक बतलाया गया है जबकि महाभाष्य में कहा गया है कि द्रव्य जाति भी तथा विशिष्ट गुणों का भी बोधन कराता है और ऐसा जिस पक्ष पर बल देना चाहा गया हो उसके अनुसार होता है। मैं नहीं समझता कि ये दो परिभाषाएँ एक दूसरे से विरुद्ध किस

प्रकार हुई ? इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि यही दो विचार व्याडि और वाजप्यायन के थे (व्याडि का मत था कि शब्द का अर्थ है गुण अथवा द्रव्य जबकि वाजप्यायन शब्द का अर्थ जाति मानता था) ।[1] पाणिनि तक ने इन दोनों विचारों को संकेतित किया है, 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' तथ्य 'सरूपाणाम् एकशेषमेकविभक्तौ ।' महाभाष्यकार पतंजलि ने इन दोनों विचारों का समन्वय किया । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह व्यास भाष्य वाले मत का विरोधी है, यद्यपि यह भी साथ ही समझ लेना चाहिए कि यदि यहाँ विरोध भी होता तो उससे सूत्रकार पतंजलि के भाष्यकार से अभिन्न होने न होने पर कोई फर्क नहीं पड़ता । पुनश्च, जब हम पढ़ते हैं कि महाभाष्य में द्रव्य को एक ऐसे पदार्थ के रूप में परिभाषित किया गया है जो विभिन्न अंशों का एक संयोग हो जैसे एक गाय पूंछ, खुर, सींग आदि का संयोग है (यत् सास्नालांगूलककुद, खुर-विषाण्यर्थ रूपम्) तो हमें व्यासभाष्य की यह परिभाषा उसके बिलकुल समान लगती है कि परस्पर सम्बद्ध भागों का समूह द्रव्य है (अयुतसिद्धावयवभेदानुगत: समूहो द्रव्यम्) । जहाँ तक मैंने महाभाष्य के अध्ययन पर ध्यान दिया, मुझे कहीं ऐसी कोई चीज नहीं मिली जिससे दोनों पतंजलियों के एक होने के विरुद्ध कोई प्रमाण मिलता हो । अनेक मतभेद अवश्य हैं किन्तु वे सब प्राचीन वैयाकरणों के पारम्परिक मतों के खंडन से ही सम्बद्ध है, उनके आधार पर इस व्याकरणकार का कोई व्यक्तिगत मत निकाल लेना और निर्णय ले लेना बहुत अयुक्तिसंगत होगा । मुझे तो यह विश्वास है कि महाभाष्यकार को सांख्ययोग दर्शन के अधिकांश महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का ज्ञान था । कुछ उदाहरणों के रूप में हम उल्लेख कर सकते हैं गुण-सिद्धान्त का (१.२.६४,४.१.३), शून्यात्शून्यमुदच्यते वाले सांख्य के सिद्धान्त का (१.१.५६), समय सम्बन्धी विचारों का (३.२.५,३.२.१२३) समानों के रूप में लौटने के सिद्धान्त का (१.१.५०), विकार को गुणांतराधान मानने के सिद्धान्त का (५.१.२,५.१.३) तथा इन्द्रिय और बुद्धि में विभेद के सिद्धान्त का (३.३.१३३) । इसके अलावा स्फोटवाद के सम्बन्ध में महाभाष्य योग के सिद्धान्त से सहमत है जो कि भारतीय दर्शन की किसी अन्य शाखा द्वारा नहीं माना गया है । इसके अलावा एक यह समानता भी पाई जाती है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही प्रकार से प्रारम्भ होते हैं, योगसूत्र प्रारम्भ होता है 'अथ योगानुशासनम्' से और महाभाष्य प्रारम्भ होता है 'अथ शब्दानुशासनम्' से ।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रोफेसर वुड्स ने योगसूत्र की रचना का समय ३०० तथा ५०० ई० सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिए हैं वे बिलकुल ही अधूरे और कमजोर हैं । प्रथम तो, यदि दो पतंजलियों को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता तो उसका अर्थ यह नहीं है कि योगसूत्रकार पतंजलि निश्चय ही परवर्ती

---

[1] पतंजलि का महाभाष्य (१/२/६४) ।

होगा। दूसरे, तथाकथित बौद्ध[1] संदर्भ चतुर्थ अध्याय में मिलता है जो कि प्रक्षिप्त और परवर्ती है जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं। तीसरे, यदि वे पतंजलि द्वारा भी लिखे गए हों तो उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चूंकि वाचस्पति ने विरोधी विचारधारा को विज्ञानवादी विचारधारा बतलाया है अतः हम इस संदर्भ को वसुबंधु या नागार्जुन का संकेत करने वाला मान लें, क्योंकि ये विचारधाराएँ जिनका सूत्रों में खण्डन किया गया है नागार्जुन से बहुत पहले ही विकसित होती रही थीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कुछ परवर्ती टीकाकारों द्वारा मानी हुई यह परम्परा कि दोनों पतंजलि एक ही है कोई बड़ा प्रामाणिक आधार नहीं मानी जा सकती, फिर भी योग सूत्रों और महाभाष्य के समीक्षात्मक अध्ययन से ऐसा कोई निष्कर्ष भी नहीं निकलता कि योग सूत्रों का रचयिता पतंजलि व्याकरणकार पतंजलि से परवर्ती होगा।

योगसूत्रकार पतंजलि के बारे में इस विचार के बीच में ही मैं एक अन्य पुस्तक का जिक्र भी करना चाहूंगा जिसके बारे में अलबरूनी ने काफी लिखा है; मुझे खेद है चाहे इससे कुछ और घपला बढ़ जाए किन्तु यह एक विचारणीय और महत्वपूर्ण बिन्दु है, यह पुस्तक है 'किताब पातंजल।' अलबरूनी इसे बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ मानता है और इसका अनुवाद कपिल द्वारा लिखित 'सांक' (सांख्य) नामक एक अन्य पुस्तक के साथ ही वह करता है। यह पुस्तक गुरु और शिष्य के बीच संवाद के रूप में लिखी गई है। यह स्पष्ट है कि यह पतंजलि के वर्तमान योगसूत्रों से भिन्न है, यद्यपि इसका उद्देश्य भी वही है, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय और आत्मा का ध्यान के विषय के साथ तादात्म्य। अलबरूनी ने इसे 'किताब पातंजल' कहा है यानि पातंजल की किताब। एक अन्य स्थान पर भी फारसी में जो कहा गया है उसका मतलब होता है पातंजल की किताब का लेखक।

उस समय इस पुस्तक पर कोई विस्तृत भाष्य भी उपलब्ध था जिससे अलबरूनी ने अनेक उद्धरण दिए हैं किन्तु उसने उसके लेखक का नाम नहीं बताया है। पुस्तक में ईश्वर, आत्मा, बन्धन, कर्म, मुक्ति आदि का विवेचन है जैसाकि योग सूत्रों में भी है, किन्तु जिस प्रकार इनका प्रतिपादन किया गया है (और यह प्रतिपादन अलबरूनी द्वारा उद्घृत अनेक उद्धरणों में हमें मिल जाता है) उससे यह लगता है कि आज योग सूत्रों में जो विचार निबद्ध है उनसे इस अनुवाद तक आते-आते बहुत परिवर्तन हो गया था।

---

[1] यहाँ यह उल्लेख भी महत्वपूर्ण होगा कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण बौद्ध सन्दर्भ "न चैक-तन्त्रात्मकं वस्तु तदप्रमाणकं तथा किं स्यात्" (४/१६) सम्भवतः व्यासभाष्य की ही पंक्ति है क्योंकि भोज जिसने, अपनी भूमिका में लिखे अनुसार अनेक टीकाओं का अध्ययन किया था, इसे सूत्र के रूप में नहीं मानता।

ईश्वर के सिद्धान्त के बारे में अलबरूनी कहता है कि उसे कालातीत, मुक्त सत्ता माना गया है किन्तु उसे वेदों का जन्मदाता तथा योगमार्ग का प्रतिपादक कहा गया है जिससे कि मनुष्य ज्ञान द्वारा जो उसका दिया हुआ है, प्राप्तव्य को पा सकें। ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार होती है कि जिस चीज का नाम मौजूद है वह चीज भी अवश्य मौजूद होगी। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका नाम मौजूद हो और चीज नहीं हो। आत्मा द्वारा ही उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, ज्ञान द्वारा उसके गुणों को जाना जाता है। ध्यान ही उसकी पूजा का एकमात्र उपाय है और उसका अभ्यास निरंतर करने के कारण मनुष्य उसमें पूर्णतः विलीन हो जाता है और सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा का सिद्धान्त वही है जो हमें योगसूत्र में मिलता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी उसी प्रकार है। ईश्वर के एकत्व पर ध्यान लगाने के पहले चरण में आठ सिद्धियों का वह उल्लेख करता है। इसके बाद चार अन्य स्थितियाँ आती हैं जो योग सूत्र में वर्णित स्थितियों के ही समान हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह चार मार्ग बतलाता है। पहला है, अभ्यास (पतंजलि के मत वाला) इस अभ्यास का विषय है ईश्वर से एकत्व।[1] दूसरा मार्ग है वैराग्य, तीसरा है मोक्ष की प्राप्ति हेतु ईश्वर का अनुग्रह पाने के लिए उसकी पूजा (योगसूत्र १.२३ तथा १.२९ के समान) चौथा मार्ग है, रसायन, यह नया प्रतीत होता है। जहां तक मोक्ष का सम्बन्ध है उसका प्रतिपादन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार योगसूत्रों २/२५ और ४/३४ में किया गया है किन्तु मुक्ति की दशा को एक जगह ईश्वर में विलय या उसके साथ एकत्व बतलाया गया है। ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों की तरह ऊर्ध्व मूल और अधःशाख अश्वत्थ के समान किया गया है; उसकी ऊपरी जड़ शुद्ध ब्रह्म है, तना वेद है, शाखाएँ विभिन्न सिद्धान्त और प्रणालियाँ हैं, पत्ते विभिन्न व्याख्याएँ हैं। तीन शक्तियों से यह वृक्ष जीवन प्राप्त करता है। साधक का कर्तव्य है कि वह पेड़ पर ध्यान न दे और जड़ तक पहुँचे।

योग सूत्र की प्रणाली से इस प्रणाली में यह अन्तर हैं कि (१) इस प्रणाली में ईश्वर की अवधारणा को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि वही ध्यान का एक मात्र केन्द्र माना गया है, उसमें लय हो जाना चरम ध्येय बन गया (२) यम[2] और नियम का महत्व इसमें बहुत कम है (३) योग सूत्र में, ईश्वर से सम्बन्धित धारणाओं के अतिरिक्त, मुक्ति की प्राप्ति के एक स्वतंत्र साधन के रूप में योग का जो महत्व है वह

---

[1] तुलनीय योग सूत्र २/१।

[2] अलबरूनी ने सांख्य की पुस्तक के अपने वर्णन में साधनों की एक सूची दी है जो व्यावहारिक रूप में बिल्कुल यम और नियम जैसे ही हैं किन्तु कहा यह गया है कि उनके द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

इसमें नजरन्दाज कर दिया गया है। (४) मोक्ष और योग को ईश्वर में लय हो जाने के रूप में परिभाषित किया गया है। (५) ब्रह्म की अवधारणा इसमें है (६) चित्त-वृत्ति निरोध के रूप में योग का महत्व नजरन्दाज हो गया है (७) रसायन को भी मोक्ष का एक मार्ग बताया गया है।

इससे हम आसानी से अनुमान लगा सकते है कि यह योग सिद्धान्त का पतंजलि के योग सूत्र पर आधारित और वेदान्त एवं तंत्र की दिशा में एक नया रूपान्तर था। इस प्रकार यह एक ऐसे संक्रमण काल के बीच की कड़ी के रूप में माना जा सकता है जिसमें योग सूत्रों का योग सिद्धान्त एक नई प्रणाली में इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि परवर्ती वेदान्त, तंत्र एवं शैवसिद्धान्तों के परवर्ती विकास के साथ उसे स्पष्ट जोड़ा जा[1] सकता है। चूंकि लेखक ने रसायन को मोक्ष का एक मार्ग बताया है अतः यह सम्भव है कि वह नागार्जुन के बाद हुआ हो और वही व्यक्ति हो जिसने पातंजल तन्त्र लिखा और जिसका उद्धरण रसायन सम्बन्धी प्रसंगों मे शिवदास ने दिया है। और जिसे नागेश ने 'चरक पतंजलिः' लिखा है। हम यह भी अनुमान मोटे रूप में लगा सकते हैं कि इसी व्यक्ति को लेकर चक्रपाणि और भोज ने इस पुस्तक के लेखक और महाभाष्य के लेखक को एक ही मान लिया। यह भी बहुत सम्भव है कि चक्रपाणि अपने शब्द "पातंजल महाभाष्य चरकप्रति संस्कृतैः" द्वारा इसी पुस्तक की ओर संकेत करता है, इसे पातंजल कहा जाता था। इसके टीकाकार ने लोकों, द्वीपों और सागरों का जो वर्णन दिया है वह व्यास भाष्य (३/२६) में दिए गए वर्णनों से विरुद्ध पड़ता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया होगा जब या तो व्यास-भाष्य था ही नहीं या उसे महत्व नहीं दिया जाता था। अलबरूनी ने भी लिखा है कि यह पुस्तक उस समय बहुत प्रसिद्ध थी। भोज और चक्रपाणि ने भी शायद उसे व्याकरणकार पतंजलि समझ लिया था। इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि यह पातंजल ग्रन्थ सम्भवतः किसी अन्य पतंजलि द्वारा ३००-४०० ईस्वी के बीच लिखा गया होगा अतः यह असम्भव नहीं कि व्यास भाष्य (३/४४) इतिपतंजलिः लिखकर इसी पतंजलि का संदर्भ देता है।

मैत्रायणी उपनिषद् में योग का जो वर्णन मिलता है उसमें उसके प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि, ये छः अंग बताए[2] गए हैं। इस सूची को योगसूत्र की सूची से मिलाने पर यह ज्ञात होता है कि योग सूत्रों में दो नए अंग और जुड़ गए है और तर्क का स्थान आसन ने ले लिया है। ब्रह्मजाल सुत्त में दिए गए

---

[1] तुलनीय सर्वदर्शन संग्रह में किया गया पाशुपत दर्शन का विवेचन।

[2] प्राणायामः, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क, समाधि, षडंग इत्युच्यते योगः (मैत्रा० ६/८)।

बासठ विधर्मों के वर्णन से ज्ञात होता है कि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो तीन स्तरों के ध्यान से या तर्क के बल पर वह विश्वास करते थे कि बाह्य जगत् और जीव सभी अनादि है। इस सिद्धान्त के साथ समाधि अथवा ध्यान के सिद्धान्त को एक शाश्वतवादी चिंतकों का सिद्धान्त मानकर और तर्क को समाधि वाले अंग में अंतर्भावित करके हम यह कल्पना कर सकते हैं कि मैत्रायणी उपनिषद् में दी हुई अंगों की सूची योगदर्शन की सबसे पुरानी, उस समय की, सूची है जब सांख्य और योग समन्वय की प्रक्रिया में चल रहे थे और जब चिन्तन का सांख्याधारित सिद्धान्त योग से पृथक् स्वतंत्र दर्शन के रूप में विकसित नहीं हुआ था। पतंजलि की सूची में तर्क के स्थान पर आसन का आ जाना सूचित करता है कि योग ने सांख्य से पृथक् अपनी स्थिति बनाली थी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यम के रूप में तथा शौच, संतोष का नियम के रूप में, एक ऐसे नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार जिसके बिना (सर्वप्रथम योग सूत्रों में) योग को असम्भव बताया गया है, उस समय का सूचक है जब हिन्दुओं और बौद्धों में विवाद इतना उग्र नहीं था। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का शामिल किया जाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है क्योंकि मोक्ष से सम्बन्धित बिन्दुओं के किसी भी सांख्य में उन्हें इतने स्पष्ट एवं महत्वपूर्ण तरीके से उल्लिखित नहीं पाया जाता। आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र इत्यादि से लेकर उमास्वाति के तत्वार्थाधिगम सूत्र से होते हुए हेमचन्द्र के योगशास्त्र तक आते-आते हम पाते हैं कि जैन अपना योगदर्शन प्रमुखतः ऐसी दार्शनिक प्रणाली पर आधारित करते जा रहे थे जो यमों द्वारा परिभाषित थीं। अलबरूनी के पातंजल में व्यक्त यह विचार कि यमों से मोक्ष नहीं मिलता, हिन्दुओं व जैनों से हुए इस परवर्ती मतभेद का प्रमाण है। योग का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण है उसका निराशावादी स्वर। योग के उद्देश्य एवं प्रवृत्ति के सम्बन्ध में उसमें किया हुआ दुःख का विवेचन उसी प्रकार का है जिस प्रकार बौद्धों ने चार महान् सत्यों अर्थात् दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निवारण तथा दुःखनिवारण के उपाय, का विवेचन[1] किया है। इसके अलावा, संसार चक्र का वर्णन दुःख, जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि के रूप में उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार पूर्ववर्ती बौद्ध दर्शन में कारण चक्र का वर्णन मिलता है। इस सूची में सबसे ऊपर अविद्या रखी गई है किन्तु यह अविद्या शांकर वेदान्त वाली अविद्या नहीं है, यह अविद्या बौद्ध दर्शन की सी अविद्या है, यह सांसारिक माया जैसी शक्ति नहीं है न कोई सहज पातक के रूप में रहस्यात्मक तत्व हैं, यह पार्थिव, संवेद्य यथार्थ की सीमा में आती है। यौगिक अविद्या

---

[1] योगसूत्र २-१५, १६-१७, यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतुः आरोग्यं, भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा, संसारः संसारहेतुः, मोक्ष, मोक्षोपायः। दुःख-बहुलः संसारो हेयः। प्रधानुपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः संयोगस्यात्यन्तिको निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम। व्यासभाष्य २/१५।

चार महान् सत्यों का अज्ञान ही है। योग सूत्र में आता है "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिदुःखात्मख्यातिरविद्या।" (२/५)

हमारे अस्तित्व का आधार हमारी जिजीविषा है जिसे अभिनिवेश कहा गया है। "हमारा यही पातक है कि हम होना चाहते हैं, हम, हम होना चाहते हैं, हम पूर्णतया अपने अस्तित्व को अन्य अस्तित्वों के साथ मिश्रित करना और उसका विस्तार करना चाहते हैं। होने की इच्छा का निषेध, कम से कम हमारे लिए अस्तित्व को काट देता है।"[1] यह बात बौद्ध दर्शन के साथ भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार योग के अभिनिवेश के साथ जो एक ऐसा शब्द है जो योग दर्शन में पहली बार और सम्भवतः बौद्ध दर्शन की उक्त धारणा के साथ मेल खाने के लिए गढ़ा गया होगा और योगदर्शन में ही नहीं जहां तक मैं जानता हूं अन्य भारतीय साहित्य में भी अन्यत्र कहीं इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। जिस अध्याय में इन सब बातों को बतलाने में मेरा उद्देश्य यह है कि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि मूल योग-सूत्र (पहले तीन अध्याय) ऐसे समय में बने होंगे जब बौद्ध दर्शन के परवर्ती प्रकार विकसित नहीं हुए थे और जब हिन्दुओं और बौद्धों एवं जैनों का विवाद उस स्थिति तक नहीं पहुंचा था कि वे एक दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान करना भी बुरा समझें। ऐसी स्थिति पूर्ववर्ती बौद्ध दर्शन के काल में ही थी, इसीलिए मेरा वह विचार बनता है कि योग सूत्र के प्रथम तीन अध्यायों का समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए। चूंकि ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे व्याकरणकार पतंजलि को योग-सूत्रकार पतंजलि मानना असम्भव हो जाय, इसलिए मेरा विचार है कि उन्हें एक ही मान लेना चाहिए।

सांख्य एवं योग का आत्मा अथवा पुरुष का सिद्धान्त[2]

सांख्य दर्शन जैसा आज उपलब्ध है दो तत्वों को मानता है, जीव और प्रकृति, द्रव्य की आधारभूत शक्ति। जीव अनेक हैं जैसा जैन मानते हैं, किन्तु वे गुणरहित हैं और अंशरहित हैं। छोटे या बड़े शरीर को धारण करने के कारण वे विस्तृत या संकुचित नहीं होते किन्तु हमेशा सर्व व्यापी रहते हैं और उन्हीं शरीरों तक सीमित नहीं

---

[1] ओल्डनबर्गकृत 'बुद्धिज्म'।

[2] देखें एस० एन० दास गुप्ता:योग फिलोसफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टमस आव थाट (अध्याय २)। इन दोनों को एक मानने के पक्ष में सर्वाधिक महत्व-पूर्ण बात यह लगती है कि इन दोनों पतंजलियों ने अन्य भारतीय दार्शनिकों के विपरीत स्फोटवाद को मान्यता दी है, जिसे सांख्य तक में नहीं माना था। स्फोटवाद पर देखें मेरा ग्रन्थ स्टडी आव पतंजली (परिशिष्ट–१)।

रहते जिनके रूप में वे अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु शरीर अथवा शरीर में स्थित मन तथा जीव अथवा आत्मा का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है कि मानसिक विश्व में जो भी घटित होता है उसे आत्मा का ही अनुभव माना जाता है। आत्माएँ अनेक हैं, यदि ऐसा न होता तो (सांख्य के अनुसार) एक आत्मा के जन्म के साथ समस्त आत्माएँ जन्म जाती और एक आत्मा की मृत्यु के साथ समस्त आत्माएँ मर जातीं।[1]

जीव का वास्तविक स्वरूप समझना बहुत मुश्किल है किन्तु सांख्य दर्शन को पूर्णतः समझने के लिए उसका समझ लेना बहुत जरूरी है। जीवों की जैन धारणा के विपरीत जो कि जीव को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य मानते हैं, सांख्य जीव को समस्त लक्षणों से रहित मानता है और उसे शुद्ध चित् स्वरूप मानता है। सांख्य का वेदान्त से यहाँ यह मतभेद है कि प्रथमतः वेदान्त जीव को शुद्ध चित् और आनन्द-स्वरूप नहीं मानता।[2] सांख्य में आनन्द केवल सुख जैसे अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और एतावता वह प्रकृति का ही गुण है आत्मा का नहीं। दूसरे, वेदान्त के अनुसार समस्त जीव एक आत्मा के अथवा शुद्धचित् या ब्रह्म के ही रूप है किन्तु सांख्य के अनुसार वे भी वास्तविक और अनेक है।

वेदांत की तरह सांख्य का भी एक महत्वपूर्ण विवेच्य विषय है ज्ञानमीमांसा। सांख्य के अनुसार हमारा ज्ञान केवल वस्तुओं के वैचारिक चित्र अथवा प्रत्ययात्मक बिम्बस्वरूप है। बाह्य वस्तुएँ वास्तविक हैं किन्तु ऐन्द्रियज्ञेय और मानसिक बिम्ब, जिनके आवर्तन प्रत्यावर्तन को ही ज्ञान कहा गया है, भी एक तरह से वास्तविक और द्रव्यात्मक है, क्योंकि वे भी बाह्य वस्तुओं के समान स्वरूपतः सीमित है। ऐन्द्रिय ज्ञान एवं बिम्ब आते और जाते हैं। वे बाह्य वस्तुओं के प्रतिरूप या चित्र होते हैं, इस दृष्टि से उन्हें किसी कदर द्रव्यात्मक कहा जा सकता है किन्तु वह द्रव्य जिससे वे बने हैं अत्यंत सूक्ष्म है। ये मानसिक बिम्ब चैतन्य के स्वरूप भासित नहीं होते यदि चैतन्य के विभिन्न सिद्धान्त नहीं होते जिनके सम्पर्क से समस्त चैतन्य क्षेत्र एक व्यक्ति की अनुमति के रूप में परिभाषित किया जा सकता।[3] हमने देखा है कि उपनिषदें आत्मा को शुद्ध एवं अनन्त चित् स्वरूप मानती है; ज्ञान और प्रत्ययों के भेदों से एवं बिम्बों से परे मानती है। हमारे दैनिक मानसिक विश्लेषण के प्रयत्नों में हम नहीं जान पाते कि ज्ञान के विभिन्न रूपों की तह में एक ऐसा भी तत्व छिपा है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं

---

[1] कारिका, १८।

[2] देखें चित्सुखकृत तत्वप्रदीपिका।

[3] तत्वकोमुदी ५; योगवार्तिक ४/२२, विज्ञानामृतभाष्य पृ० ७४, योगवार्तिक एवं तत्व-वैशारदी १-४,११-६,१८,२० व्यासभाष्य १,६-७।

होता, जो ग्रहण है और जिसमें वह आलोक है जो निर्जीव चित्रों या बिम्बों को जो मन में बनते हैं, आलोकित करता है। यही आलोक आत्मा है। हम सब आत्मा शब्द जानते हैं किन्तु उसका मानसिक चित्र हमारे मस्तिष्क में नहीं बनता जैसाकि अन्य बाह्य वस्तुओं का बनता है किन्तु हमारे समस्त ज्ञान के मूल में हम आत्मा का अनुभव करते से लगते हैं। जैनों ने कहा था कि आत्मा कर्मद्रव्य से आवृत रहती है और प्रत्येक ज्ञान के अनुभव के साथ वह आवरण आंशिक रूप से हट जाता है। सांख्य कहता है कि आत्मा ज्ञान से नहीं प्राप्त हो सकती, वह पृथक् और परम सिद्धान्त है जो ज्ञान के सूक्ष्म स्वरूप से भी परे है। हमारे संज्ञान को बिम्ब अथवा आकृति के रूप में एक सूक्ष्म मानसिक तत्व की ही निर्मितियाँ या संयोग हैं, वे अंधकार में डूबे हुए चित्रित फलक की भाँति है, जैसे-जैसे बाहरी चित्र उस पर छपते जाते हैं और जैसे-जैसे वह प्रकाश के सामने आता जाता है वे चित्र एक-एक करके आलोकित होते जाते हैं और प्रकट होते जाते हैं। यही बात हमारे ज्ञान के साथ है। आत्मा का यह विशिष्ट लक्षण है कि वह प्रकाश स्वरूप है। उसके बिना समस्त ज्ञान अंधा है, अंधकारित है। आकार और गति द्रव्य के गुण हैं। जब तक ज्ञान केवल सीमित आकार और गति के रूप में ही रहता है तब तक वह द्रव्य के समान ही है। किन्तु एक अन्य तत्व भी है जो ज्ञान के इन रूपों में चेतना डालता है, जिसके कारण वे चेतन हो जाते हैं। यह चित् तत्व यद्यपि अलग से अपने आप में अनुभूत होता हो या उसका प्रत्यक्ष किया जाता हो सो बात नहीं है किन्तु इस तत्व का हमारे ज्ञान के समस्त स्वरूपों और प्रकारों में अस्तित्व अनुमान द्वारा स्पष्टतः संकेतित होता है। इस चित् तत्व में न कोई गति है न रूप, न गुण, न अशुद्धि।[1] इसी के सम्पर्क के कारण समस्त ज्ञान गतिशील होता है, उस ज्ञान के द्वारा यह चित् आलोकित हो जाती है और तब सुख और दुःख की अनुभूतियाँ और ज्ञान के परिवर्तन इसमें भासित होते हैं। ज्ञान की प्रत्येक इकाई, चूँकि वह किसी प्रकार का बिम्ब या चित्र है, एक प्रकार से सूक्ष्म ज्ञानात्मक पदार्थ है जो चित् तत्व द्वारा आलोकित होता है, इसके साथ ही चूँकि ज्ञान की प्रत्येक इकाई में चित् की जागृति या चेतना भी निहित है अतः वह चित् तत्व की अभिव्यक्ति भी कही जा सकती है। ज्ञान का अनावरण आत्मा के किसी विशेष अंश का अनावरण या आवरण निवृत्ति नहीं है जैसा कि जैनों का विश्वास था। इसे आत्मा का उद्घाटन केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि ज्ञान शुद्ध जागृति है, शुद्ध चेतना है, शुद्ध चित् है।

---

[1] यह ध्यान देने योग्य बात है कि सांख्य में ज्ञान की प्रक्रिया से संबद्ध दोनों पहलुओं को दो शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है—ज्ञान का अहसास वाला तत्व चित् कहा गया है तथा वह तत्व जो ऐन्द्रिय ज्ञेय को मन में प्रतिबिम्बित करता है और बिम्ब बन जाता है वह समूचा बुद्धि कहा गया है। चित् के बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने की प्रक्रिया ही ज्ञान की प्रक्रिया है।

जहाँ तक ज्ञान अथवा बिम्ब के पदार्थ का प्रश्न है वह आत्मा का अनावरण नहीं है, वह केवल अन्धकारित ज्ञानात्मक पदार्थ मात्र है।

बौद्धों ने ज्ञान को उसके विभिन्न घटकों में विश्लेषित किया था और उनकी मान्यता थी कि उन सब घटकों का समन्वय ही चेतन स्थितियों को जन्म देता है। यह संयोग या समन्वय उनके अनुसार आत्मा की मायात्मक या भ्रमात्मक धारणा का ही बिन्दु था क्योंकि यह समन्वय स्थायी नहीं किन्तु एक क्षणिक स्थिति है। परन्तु सांख्य के अनुसार शुद्ध चित् न तो मायामय है न भ्रमात्मक, न एक अमूर्त धारणा। यह ठोस है किन्तु अनुभवातीत है। इसके सम्पर्क से ज्ञान के सूक्ष्म अणुओं या घटकों की गति को एक प्रकार की एकता या समन्वय प्राप्त हो जाता है, वह नहीं होती तो वे सब घटक निरुद्देश्य और निश्चेतन रहते। उसके सम्पर्क से ही उनमें बौद्धिक चेतना आती है जिससे वे व्यवस्थित एवं सुसंगत वैयक्तिक अनुभवों के रूप में निरुक्त हो सकते सकते हैं और उन्हें प्रज्ञानात्मक कहा जा सकता है। प्रज्ञानात्मक से यहाँ तात्पर्य होता है ज्ञान की विभिन्न घटनाओं और अभिव्यक्तियों का किसी एक व्यक्ति की चेतना से सम्बन्धित करना जिससे कि उन्हें एक व्यवस्थित आनुभविक शृंखला कहा जा सके। चेतना के इस तत्व को ही पुरुष कहा गया है। सांख्य में प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक् पुरुष माना गया है जो शुद्ध बुद्धि या चित् स्वरूप है। वेदान्त की आत्मा सांख्य के पुरुष से इन अर्थों में विभिन्न है कि वह केवल एक है और शुद्ध चित् स्वरूप है, सत् स्वरूप है और शुद्ध आनन्द स्वरूप है। वही एकमात्र सत्य है, भ्रमात्मक माया के कारण वह अनेक भासित होता है।

विचार एवं द्रव्य

एक प्रश्न स्वभावत: उठता है। यदि ज्ञान का स्वरूप किसी ऐसे ही पदार्थ द्वारा निर्मित है जिस प्रकार का वस्तुगत पदार्थ द्रव्य के विविध प्रकारों में पाया जाता है तो फिर ऐसा क्यों है कि पुरुष ज्ञान के इस पदार्थ को तो आलोकित करता है और भौतिक द्रव्यों को नहीं ? इसका उत्तर सांख्य इस प्रकार देता है कि ज्ञानात्मक पदार्थ या तत्व भौतिक वाह्य पदार्थो से इस अर्थ में निश्चित ही विभिन्न है कि वह कहीं अधिक सूक्ष्म हैं, उसमें एक विशिष्ट गुण का (अणुत्व या लघुत्व) जिसे सत्व कहा गया है, आधिक्य होता है जो पुरुष के आलोक से बहुत कुछ समान होने के कारण उसके प्रतिबिम्ब या प्रतिफलन का वहन एवं ग्रहण करने के पूर्णत: योग्य एवं अनुरूप होता है। वाह्य स्थूल भौतिक पदार्थो के दो प्रमुख गुण होते हैं द्रव्यमान एवं ऊर्जा। किन्तु इसका एक लक्षण और है कि वह हमारे मस्तिष्क द्वारा अपने में प्रतिबिम्बित किया जा सकता है। द्रव्य का यह वैचारिक चित्र एक अन्य गुण भी रखता है, वह इतना बिम्बग्राही अथवा

संवेदनशील (सत्वयुक्त) होता है कि वह अपने में चित् का, जो अतिसत्व-शाली अनुभवातीत बौद्धिक तत्व है, प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकता है। बाह्य स्थूल भौतिक द्रव्य का मूल लक्षण उसका द्रव्यमान है, ऊर्जा स्थूल द्रव्य में और सूक्ष्म वैचारिक पदार्थ में समान रूप से विद्यमान है। वैचारिक पदार्थ में द्रव्यमान बहुत कम या नगण्य होता है किन्तु उसमें बौद्धिक तत्व या जिसे सत्वगुण या सूक्ष्म संवेदनशीलता कहा जा सकता है सर्वाधिक होती है। यदि स्थूल द्रव्य में इस बौद्धिक तत्व या सत्वात्मक लक्षण का कोई भी अंश जो कि वैचारिक तत्व में होता है, बिल्कुल नहीं होता तो यह विचार का भाजन या विषय नहीं बनता क्योंकि विचार अपने आपको उस वस्तु के जो उसका विषय है आकार, प्रकार, रंग और अन्य समस्त लक्षणों में ढाल लेता है। विचार में उस पदार्थ या वस्तु का चित्र या प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता था यदि उस वस्तु या पदार्थ में उसके कुछ गुण नहीं हों जिनका उनमें प्रतिबिम्ब बनता है। किन्तु यह सत्व गुण जो विचार में सर्वाधिक मात्रा में है, द्रव्य में अत्यन्त नगण्य मात्रा में होता है। ठीक इसी प्रकार विचार में द्रव्यमान बिल्कुल दिखाई नहीं देता किन्तु ऐसी धारणाएँ जो द्रव्यमान में निहित हैं विचार में भी दृष्टिगोचर हो सकती हैं। विचार के बिम्ब सीमित, पृथक्, गतिशील तथा थोड़े बहुत स्पष्टाकारक होते हैं। बिम्ब अवकाश नहीं घेरते किन्तु वे अवकाश का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। विचार का सत्व गति के रज के साथ सम्बद्ध होकर समस्त पदार्थों के एक साथ पूर्ण उद्घाटन करने में समर्थ हो जाता किन्तु स्थूल द्रव्यमान या प्रतिरोध के गुण अर्थात् तम के कारण ज्ञान बिम्ब से बिम्ब तक क्रमिक रूप से जाता है और वस्तुओं का क्रम से ज्ञान होता है। बुद्धि (विचार द्रव्य या वैचारिक पदार्थ) में समस्त ज्ञान अंधकार में डूबा हुआ (निहित) रहता है, पुरुष के आलोक के प्रतिफलन से जब अंधकार या पर्दा उठता है तो वास्तविक ज्ञान हमें बुद्धिगोचर होता है। ज्ञान का यह लक्षण कि इसका समस्त भंडार अंधकारावृत रहता है और एक समय में एक ही चित्र या विचार उसकी गोचरता प्राप्त करता है या उसके पर्दे पर आता है यह प्रकट करता है कि ज्ञान में भी कोई प्रतिबंधक लक्षण है जिसकी अभिव्यक्ति अपने पूरे रूप में स्थूल द्रव्य में स्थित द्रव्यमान में देखी जा सकती है। इस प्रकार विचार और स्थूल द्रव्य दोनों तीन तत्वों से बने हैं बौद्धिक गुण या सत्व, ऊर्जात्मक गुण या रज; और द्रव्यगुण या तम जो प्रतिबन्धक तत्व है। इन तीनों में अन्तिम दो स्थूल द्रव्य में प्रमुख रहते हैं और प्रथम दो विचार में।

भाव, अन्तिम सारतत्व के रूप में[1]

इसी संदर्भ में एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य और प्रत्यय (विचार) के

---

[1] कारिका १२ : गौडपाद और नारायण तीर्थ।

विश्लेपण के प्रसंग में भाव का स्थान क्या है। सांख्य का मत है कि उन तीन लक्षणात्मक घटकों में से जिनका हमने ऊपर विवेचन किया है, सभी भाव (भावना) के ही प्रकार हैं। भाव हमारी चेतना का सबसे दिलचस्प पहलू है। भावों के स्वरूप में ही हम यह एहसास करते है कि हमारे विचार 'हमारे' अंग है। यदि हम किसी भी प्रत्यय को, उसके उद्भव के पहले ही क्षण में इस रूप में विश्लेपित करते हैं कि वह किन कच्चे अविकसित संवेदनों से निर्मित हुआ है तो हमें वह एक विम्ब के रूप में नहीं बल्कि एक झटके के रूप में प्रतीत होगा, हमें लगेगा कि यह एक भावनात्मक पिण्ड है, बजाय एक विम्ब के। हमारे दैनिक जीवन में भी ज्ञानात्मक व्यापार के जन्मदाता, पूर्ववर्ती तत्व केवल भावात्मक ही होते हैं। जब हम उद्विकासात्मक प्रक्रिया की कड़ियों में और नीचे जाते हैं तो पाते हैं कि द्रव्य के अनेक स्वयं-चल व्यापार और सम्बन्ध भावों की कच्ची अभिव्यक्तियों के रूप में ही होते हैं जो ज्ञान के रूप में कभी विकसित नहीं हो पाते। विकास की दशा या तराजू जितनी नीची होगी, भावनाओं की तीव्रता उतनी ही कम होगी, अन्ततः एक नीचे की दशा ऐसी भी आएगी जबकि द्रव्यात्मक संघन भावनात्मक प्रतिक्रिया को जन्म ही नहीं देते, केवल भौतिक प्रतिक्रियाएँ ही पैदा करते हैं। इस प्रकार भावनाएँ चेतना के सर्वादिम पथ की सूचक हैं—चाहे हम उद्विकास की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से देखें चाहे सामान्य जीवन में चेतना के उद्भव के दृष्टिकोण से। जिन्हें हम द्रव्य संहतियाँ कहते हैं, वे एक निश्चित दशा पर पहुंचकर भाव संहतियाँ बन जाती हैं और जिन्हें हम भाव-संहतियाँ कहते हैं वे एक निश्चित स्थिति तक जाते-जाते केवल द्रव्य-संहतियाँ रह जाती हैं जिनकी प्रतिक्रिया द्रव्यात्मक ही होती है। इस प्रकार भाव ही अपने आप में पूर्ण वस्तु है। वे ही वह अन्तिम तत्व है जिससे कि चेतना और स्थूल द्रव्य दोनों निर्मित होते हैं। सामान्यतया ऊपर से देखने पर भावों का ही अन्तिम तत्व मानने में, जिससे स्थूल द्रव्य और विचार दोनों निकले हों कुछ कठिनाई लग सकती है क्योंकि हम भावों को केवल विषयिनिष्ठ समझने के अधिक आदी हो गए हैं। किन्तु यदि हम सांख्य के विश्लेपण पर ध्यान दें तो पाएँगे कि उसके अनुसार विचार और द्रव्य एक विशिष्ट सूक्ष्म तत्व के ही दो विभिन्न प्रकार हैं जो साररूप में भावात्मक इकाइयों के ही तीन भेद सिद्ध होते हैं। विचार और द्रव्य के तीन मुख्य लक्षण जिन्हें हमने पूर्ण भाव में विवेचित किया है, भावात्मक तत्वों के ही तीन प्रकार हैं। एक वर्ग भावों का है जिसे हम दुःखात्मक कहते हैं दूसरा जिसे हम सुखात्मक कहते हैं, तीसरा न सुखात्मक है न दुःखात्मक वह अज्ञानात्मक या विपादात्मक है। इस प्रकार इन तीन अभिव्यक्तियों के प्रकारों, सुख-दुःख और विपाद, के अनुरूप तथा भौतिक रूप से प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम के रूप में तीन भावात्मक तत्वों के ही प्रकार हैं जिन्हें वह अन्तिम सारतत्व मानना चाहिए जिससे स्थूल द्रव्य के विभिन्न प्रकार और विचार की विभिन्न श्रेणियाँ बनती हैं।

गुण[1]

सांख्य दर्शन में अन्तिम सूक्ष्म सत्ताओं के इन तीन प्रकारों को दार्शनिक भाषा में गुण कहा गया है। संस्कृत में गुण के तीन अर्थ होते हैं (१) धर्म या लक्षण (२) रस्सी या डोरा (३) प्रमुख नहीं किन्तु गौण। ये सभी तत्व हैं, केवल लक्षण नहीं किन्तु इस प्रसंग में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सांख्य दर्शन में गुणों का (धर्मों का) कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। उसके अनुसार गुण की प्रत्येक इकाई एक पदार्थ या तत्व की इकाई है। जिसे हम गुण कहते हैं एक सूक्ष्म सत्ता की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। वस्तुएँ गुणों को धारण नहीं करतीं, गुण केवल उस प्रकार का वाचक है जिसके रूप में उस पदार्थ की प्रतिक्रिया होती है। जिस किसी पदार्थ को हम देखते हैं वह कुछ गुणों को धारण करता हुआ दिखलाई देता है किन्तु सांख्य के अनुसार प्रत्येक गुण की नई इकाई के पीछे, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों न हो, उसी के अनुरूप एक सूक्ष्म इकाई है जिसकी प्रतिक्रिया को ही हम उसका गुण कहते हैं। यह बात न केवल बाह्य पदार्थों के गुणों पर ही लागू होती है बल्कि बौद्धिक गुणों पर भी यही बात लागू होती है। इन अन्तिम इकाइयों को गुण का नाम शायद इसलिए दिया गया कि वे ऐसी संज्ञाएँ हैं जो अपने विभिन्न प्रकारों में अपने आपको गुणों या धर्मों के रूप में अभिव्यक्त करती हैं। इन सत्ताओं को इस अर्थ में भी गुण कहा जा सकता है कि इन रस्सियो के द्वारा ही आत्मा विचार और द्रव्य, दोनों से बंधा, सम्पृक्त होता रहता है। इन्हें गुण (गौणमहत्व की चीज) इसलिए भी कहा जा सकता है कि स्थायी एवं अविनाशी होने के बावजूद गुण अपने समूहनों और पुनः समूहनों द्वारा निरन्तर रूपांतरित और परिवर्तित होते रहते हैं। वे पुरुष या आत्मा की तरह प्राथमिक और अपरिवर्ती रूप में नैरन्तर्य नहीं रखते। दूसरे, सृष्टिक्रम का उद्देश्य यही है कि पुरुषों या आत्माओं को आनन्द या मोक्ष प्राप्त हो इसलिए द्रव्य सिद्धान्त स्वभावतः प्राथमिक न होकर गौण हो जाता है। किन्तु चाहे किसी भी दृष्टिकोण से हम गुण शब्द का निर्वचन कर औचित्य सिद्ध करना चाहें, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे भौतिक इकाइयाँ और सूक्ष्म द्रव्य हैं, अमूर्त धर्म नहीं। गुण असंख्य हैं किन्तु उनके तीन प्रमुख लक्षणों के दृष्टिकोण से उन्हें तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है सत्व (बौद्धिक तत्व), रज (ऊर्जातत्व)-एवं तम (द्रव्यतत्व)। सूक्ष्म द्रव्यों के रूप में स्वयं-प्रकाश और लचीले गुण तत्व कहलाते हैं। गति और ऊर्जा के तत्व वाली इकाइयाँ रजोगुण कहलाती है। प्रतिरोध करने वाली, द्रव्यात्मक स्थूल भौतिक इकाइयाँ तमोगुण कहलाती हैं। ये गुण विभिन्न मात्राओं और परिमाणों में मिश्रित हो सकते हैं।

---

[1] योगवार्तिक २-१८, भावागणेश की तत्व याथार्थ्यदीपिका पृ० १-३ विज्ञानामृतभाष्य पृ० १००, तत्वकौमुदी १३, गौडपाद एवं नारायणतीर्थ १३।

(उदाहरणार्थ किसी इकाई में सत्वगुण का प्राचुर्य और रज अथवा तम की क
सकती है, किसी में तामस गुण बड़ी संख्या में हो सकते हैं, रज और सत्व के
कम, इस प्रकार अनेक मिश्रण होते है) इसके फलस्वरूप विभिन्न गुणों से युक्त
पदार्थ पैदा होते हैं। विभिन्न मात्राओं में मिश्रित होने के कारण गुण परस्पर
रहते हैं और वे एक दूसरे पर पारस्परिक प्रतिक्रिया भी करते रहते हैं। उन प्रतिक्रि
के विभिन्न परिणामों से नए लक्षण, धर्म, गुण और पदार्थ पैदा होते रहते हैं। के
एक ही ऐसी स्थिति आती है जिनमें ये गुण विभिन्न मात्राओं में नहीं होते। इसस्थि
में प्रत्येक गुण तत्व दूसरे गुण तत्वों के विरुद्ध पड़ जाता है और इस प्रकार समान परस्प
विरोध के कारण एक संतुलन-सा पैदा हो जाता है जिसकी वजह से इन गुणों के कोई
भी लक्षण अभिव्यक्त नहीं होते। यही वह दशा है जो नितान्त निर्लक्षण और निर्गुण
होती है, वह पूर्णतः असमन्वित, अनिर्धारित, अनिर्वचनीय स्थिति होती है। वह स्थिति
गुण रहित समानता और साम्य की स्थिति होती है। वह दशा अस्तित्व और अनस्तित्व
दोनो के प्रति समान और उदासीन दशा है। पारस्परिक संतुलन की इस स्थिति को
प्रकृति कहते हैं।[1] यह वह स्थिति है जो किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती। अस्तित्व
भी उसे नहीं कहा जा सकता, अनस्तित्व भी नहीं किन्तु धारणात्मक रूप से यह दशा
सब पदार्थों की जननी है। यह आदिम दशा है, जिससे वैषम्य होकर बाद में समस्त
रूपान्तर जन्म लेते रहते हैं।

प्रकृति एवं उसका उद्विकास

सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व इसी प्रकार की गुण रहित दशा थी, एक ऐसी दशा जिसमें गुणों के-मिश्रण एक वैषम्य की स्थिति में आ गए थे और परस्पर विरोध के कारण संतुलन की स्थिति अर्थात् प्रकृति बन गई थी। बाद में प्रकृति में विकार उत्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप विभिन्न मात्राओं में गुणों के विषम मिश्रण बनने लगे जिससे विविध प्रकार की सृष्टि पैदा हुई। इस प्रकार गुणों के पूर्ण साम्य और परस्पर विरोध की स्थिति अर्थात् प्रकृति उद्विकसित होकर धीरे-धीरे निश्चित नियत, विभेदीकृत विषमजातीय और संसक्त होती गई। गुण हमेशा मिश्रित पृथग्भूत और पुनर्मिश्रित होते रहते हैं।[2] विभिन्न मिश्रित वर्गो के रूप में तत्व (सत्व), ऊर्जा और द्रव्यमान के विभिन्न मात्रात्मक गुण एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं और उनकी पारस्परिक अन्तःक्रिया और परस्पर निर्भरता के कारण निर्गुण अनिर्धारित स्थिति से सगुण निर्धारित और नियत स्थिति जन्म लेती है। कार्य जगत् की सृष्टि के लिए

---

[1] योगवार्तिक २/१९ तथा प्रवचनभाष्य १/६१।
[2] कौमुदी १३-१६; तत्ववैशारदी २-२०,४-१३,१४; योगवार्तिक ४-१३-१४।

परस्पर सहयोगी होने के बावजूद ये विभिन्न गुणों वाले विभिन्न क्षण कभी संयुक्त नहीं होते। इस प्रकार दृश्य जगत् के पदार्थों में जो भी कोई ऊर्जा है वह केवल रजोगुण के कारण ही है। समस्त द्रव्य, प्रतिरोध, स्थिरता केवल तमोगुण के कारण ही है। समस्त चिदात्मक अभिव्यक्ति सत्व गुण के कारण है। वह विशिष्ट गुण जो किसी संवृति में प्रधान होता है उसमें स्पष्टतः अभिव्यक्त दिखलाई देता है, अन्य गुण अनभिव्यक्त रहते हैं, उनके कार्यों द्वारा उनका अनुमान अवश्य ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक स्थिर पिण्ड में द्रव्य स्पष्ट परिलक्षित है, ऊर्जा अनभिव्यक्त है और चिदात्मक अभिव्यक्ति का विभव अथवा क्षमता और भी अनभिव्यक्त, सुषुप्त है। एक गतिशील पदार्थ में जो गुण-प्रधान है, द्रव्य गौण हो जाता है। गुणों के ये सभी रूपांतरण जो विभिन्न मात्राओं के कारण होते हैं अपने आदम बिन्दु के रूप में प्रकृति से ही जन्मे माने जाते हैं। इसी स्थिति में चिदात्मक अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ और गत्यात्मक शक्तियाँ जड़त्व या स्थूल भौतिकता के द्वारा पूर्णतः विप्रतिरुद्ध होती हैं, उस समय सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया पूर्णतः अवरुद्ध निश्चेष्ट होती है। जब यह संतुलन एक बार नष्ट हो जाता है तो यह माना जाता है कि सात्विक पदार्थों के अपने समगुणी पदार्थों के लिए संकर्षण होने के कारण, राजस पदार्थों के अपने ही समान वर्गी अन्य तत्वों के आकर्षक होने के कारण और इसी प्रकार तामस पदार्थों के द्वारा अन्य तामस पदार्थों का आकर्षण किए जाने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में सत्व, रज और तम का वैषम्य पूर्ण समवाय हो जाता है। जब किसी एक विशिष्ट संस्थिति में एक गुण बहुत प्रभावी हो जाता है तो अन्य गुण उसके सहकारी रहते हैं। प्रकृति में सबसे पहली हलचल पैदा होने से लेकर समस्त सृष्टि के रूप में इस प्रपंच परिणति की होने तक यह उद्विकास की प्रक्रिया एक सुनिर्धारित विधान के अनुसार चलती है। डाक्टर[1] बी० एन० सीआल के शब्दों में "सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया साम्यावस्था में से वैषम्य की अवस्था की ओर, अविशेष में से विशेष की ओर तथा अयुतसिद्ध में से युतसिद्ध की ओर विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का क्रम अंश या अवयव से अंशी या अवयवी की ओर नहीं है, न ही अवयवी से अवयव की ओर बल्कि अपेक्षा कृत कम विषय से अधिक विषय, कम विशेष से अधिक विशेष और कम युतसिद्ध से अधिक युतसिद्ध अवयवी अथवा समग्र की ओर बढ़ता है।" इस उद्विकास का तात्पर्य यह है कि गुणों की उद्विकसित होने वाली संस्थितियों के रूप में समस्त परिवर्तन और रूपान्तरण प्रकृति के कलेवर में ही होते हैं। प्रकृति अनन्त पदार्थों से बनी होने के कारण अनन्त है। उसमें हलचल होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह सम्पूर्ण रूप से विचलित और असंतुलित हो गई है या प्रकृति में रहने वाले गुण समग्र रूप से संतुलन की स्थिति ही

---

[1] डा० बी० एन० सियाल कृत 'पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज', १९१५ पृ० ७।

खो बैठे हैं। उसका तात्पर्य केवल यह होता है कि विचार और द्रव्य के विश्वों को बनाने वाले गुणों की एक महती संख्या असंतुलित हो गई है। जब एक बार ये गुण संतुलन खो देते हैं तो उसके बाद ये अपना समूहन पहले एक रूप में करते हैं, फिर दूसरे रूप में, फिर अन्य रूप में, इस प्रकार यह क्रम चलता है। किन्तु समूहों के निर्माण में यह जो परिवर्तन होता है वह इस प्रकार का नहीं समझा जाना चाहिए कि एक समूह बनने के बाद उसकी जगह दूसरा बनता हो और जब वह बन जाता हो तो पहला समूह पूरा नष्ट हो जाता हो। सच तो यह है कि एक स्थिति दूसरे के बाद आती है और पहली स्थिति के कुछ तत्वों के नए समूहन के परिणाम स्वरूप दूसरी स्थिति पैदा हो जाती है। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति में नए समूह बनने में जो कमी जनित होती है वह प्रकृति से नए तत्व लेकर पूरी हो जाती है। इस प्रकार दूसरी स्थिति के पदार्थों में से निकलकर समूहन की तीसरी स्थिति बनती है और दूसरी स्थिति के पदार्थों में आई कमी पहली स्थिति से कुछ हिस्सा लेकर तथा प्रकृति की पूर्वतर स्थिति से कुछ हिस्सा लेकर पूरी हो जाती है। इस प्रकार पुनर्भरण के इन क्रमों से उद्विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है और धीरे-धीरे उसकी चरम सीमा आती है जब कोई नया तत्व विकसित नहीं होता केवल पहले से उद्भूत पदार्थों में रासायनिक और भौतिक गुणात्मक परिवर्तन मात्र होते है। उद्विकास को सांख्य में तत्वान्तर-परिणाम कहा गया है जिसका तात्पर्य है सृष्टि के पदार्थों का विकास, केवल तत्वों के गुणों में (भौतिक, रासायनिक, जैविक अथवा बौद्धिक) परिवर्तन मात्र नहीं। इस प्रकार परिणमन की प्रत्येक स्थिति सत्ता की एक निश्चित और स्थायी तत्व रहता है, वह अगली स्थितियों में अधिकाधिक विशिष्ट और युतसिद्ध समूहों को अवसर देता है। यह कहा जाता है कि परिणमन की यह प्रक्रिया पूर्व स्थितियों में संसक्त दशाओं में से नई स्थितियों का विशकलन करने की प्रक्रिया (जिसे संसृष्ट विवेक कहा गया है) मानी जाती है।

प्रलय एवं प्रकृति संतुलन में विचलन

अब, प्रकृति में किस प्रकार और क्यों विचलन होता है, यह सांख्य का एक बड़ा जटिल विषय है। यह माना जाता है कि प्रकृति अथवा गुणों का पूर्ण-संघात पुरुषों के साथइस प्रकार सम्बद्ध है तथा निर्जीव प्रकृति में इस प्रकार की एक अन्तर्निहित प्रायोजनवत्ता अथवा अनिर्धारित उद्देश्य विद्यमान है कि विभिन्न पुरुषों के लिए उसका परिणमन और रूपान्तरण होने लगता है, उससे सुखों और दुःखों का भोग अनुभवों के द्वारा होता है और अन्ततः वे पूर्ण मुक्ति को प्राप्त हो पाते हैं। प्रकृति की उस प्रलय दशा में विविध प्रकार के इस सृष्टि प्रपंच का लौट जाना तब घटित होता है जब समस्त पुरुष समस्त अनुभवों की अस्थायी समाप्ति तक पहुँच जाएँ। उस क्षण में गुणों के

समूह धीरे-धीरे विघटित हो जाते हैं और प्रतिगमन या प्रतिसंचार होने लगता है और अन्ततः गुण अपनी प्रारम्भिक विघटित स्थिति को पहुँच जाते हैं जबकि उनका पारस्परिक विरोध उनमें संतुलन पैदा करता है। यह संतुलन केवल एक निष्क्रिय स्थिति नहीं है बहुत तनाव की स्थिति है, बहुत तीव्र क्रिया की स्थिति है किन्तु यहाँ यह क्रिया नए पदार्थों और गुणों को जन्म नहीं देती याने विसदृश-परिणाम पैदा नहीं करती। वह परिणाम स्थगित रहता है, संतुलन की वही स्थिति याने सदृश-परिणाम दोहराई जाती रहती है जिससे कोई परिवर्तन या नया उत्पादन नहीं होता। इस प्रकार प्रलय दोनों की प्रयोजनवत्ता अथवा उद्देश्य का स्थगन नहीं है न ही वह गुणों के उद्विकास के क्रम में पूर्ण निरोध है। प्रलय की स्थिति तो एक प्रकार से संसारचक्र की स्थितियों का ही एक क्रम है क्योंकि पुरुषों के संचित कर्मों की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए पुरुप उत्पन्न होता है और उस स्थिति में भी गुणों की एक गतिविधि इस दृष्टि से चलती रहती है कि वे उत्पादन को स्थगित रखते हैं। अवश्य ही मुक्ति की दशा (मोक्ष) इससे बिलकुल विभिन्न है क्योंकि उस स्थिति में गुणों के समस्त व्यापार हमेशा के लिए बंद हो जाते हैं जहाँ तक उस मुक्त आत्मा का सम्बन्ध है। अब यह प्रश्न तो फिर भी वहीं रहता है कि संतुलन स्थिति कैसे टूटती है ? सांख्य इसका यह उत्तर देता है कि ऐसा पुरुष के अनुभवातीत (यांत्रिक नहीं) प्रभाव से होता है।[1] इसका अर्थ कुछ इस प्रकार है कि गुणों में इस प्रकार की प्रयोजनवत्ता अन्तर्निहित रहती है कि उनके समस्त व्यापार और रूपान्तरण इस प्रकार हों कि उनसे पुरुषों का उद्देश्य सिद्ध हो। जब पुरुषों के कर्मों ने यह अपेक्षा की कि समस्त अनुभवों का स्थगन हो जाय तो एक कालावधि के प्रलय हो गया। उसके बाद यही प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता पुरुषों के अनुभवों के लिए उपयुक्त एक संसार की रचना करने के लिए उसे पुनः जगाती है और उससे वह निश्चलता की स्थिति विचलित होती है। यह प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता की मीमांसा का एक दूसरा मार्ग है जो यह अपेक्षा करती है कि प्रलय की स्थिति समाप्त हो और सृष्टि की रचना की प्रक्रिया की स्थिति पुनः शुरू हो। चूँकि गुणों में एक उद्देश्य है जो उन्हें संतुलन की स्थिति में लाता है यह संतुलन की स्थिति भी निश्चय ही यह अपेक्षा करती है कि जब उस उद्देश्य की ऐसी अपेक्षा हो तो वह स्थिति टूट जाय। इस प्रकार प्रकृति का अन्तर्निहित उद्देश्य ही प्रलय की स्थिति लाता है और वही सृष्टि के लिए पुनः उसे तोड़ता है। प्रकृति में यही नैसर्गिक परिवर्तन दूसरे शब्दों में पुरुषों का अनुभवातीत प्रभाव कहा जा सकता है।

---

[1] योग का उत्तर कुछ दूसरे प्रकार का है। उसका विश्वास है कि प्रकृति के संतुलन में विचलन और उसके कारण नई सृष्टि का उद्भव ईश्वरेच्छा से होता है।

महत् एवं अहंकार

प्रकृति में सत्व के आधिक्य द्वारा सर्वप्रथम विकास जन्मता है। वस्तुतः यही सर्वादिम स्थिति है जिससे समस्त सृष्टि उद्‌भूत होती है, यह वह स्थिति है, जब सत्व की मात्रा प्रमुख होती है। इस प्रकार प्रलय के दौरान जो पुरुषों की बुद्धियाँ नष्ट हो गई थीं वे उस स्थिति में अन्तर्निहित रहती हैं। पुरुषों की अपेक्षा को पूरा करने हेतु प्रकृति के विकास का पहला कार्य इस प्रकार अभिव्यक्त होता है कि वह प्रत्येक पुरुष की बुद्धियों अथवा मनों को जो अपने आप में विशिष्ट अविद्या को निहित रखते हैं प्रत्येक पुरुष के साथ पृथक् कर देती है जिससे कि प्रलय के पूर्व अनादिकाल में वह बुद्धि सम्बद्ध रही होती है। विकास की इस स्थिति को जिसमें समस्त पुरुषों की संचित बुद्धियाँ एक साथ होती है, बुद्धितत्व कहा जाता है। यह वह स्थिति होती है जिसमें समस्त व्यक्तियों की बुद्धियाँ गर्भित होती है। व्यक्ति–पुरुषों की व्यक्ति बुद्धियाँ एक ओर तो इस बुद्धि तत्व में समाई होती है और दूसरी ओर अपने अपने विशिष्ट पुरुषों के साथ जुड़ी होती हैं। जब बुद्धियाँ प्रकृति से पृथक् होने लगती है तब बुद्धियों के विकास की क्रिया आरम्भ होती है। दूसरे शब्दों में, हम यों समझें कि पुरुषों की सेवा के लिए जब बुद्धियों का रूपांतरण होता है तो प्रकृति में से जो भी अन्य सीधे रूपांतरण होते हैं वे सभी एक ही दिशा में होते हैं अर्थात् कुछ बुद्धियों के पृथक्करण द्वारा जब सत्व की प्रमुखता या आधिक्य हो जाता है तो प्रकृति के अन्य परवर्ती रूपांतरणों में भी वही सत्व का प्रामुख्य रहता है, उन रूपान्तरणों में भी उन प्रथम बुद्धियों के समान ही तत्व रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति का पहला रूपान्तरण बुद्धि रूपान्तरण होता है। बुद्धियों की यह स्थिति एक तरह से सबसे अधिक व्यापक स्थिति कही जा सकती है जिसमें समस्त व्यक्तियों की बुद्धियाँ गर्भित रहती हैं और बिम्ब रूप में, बीज रूप में यह समस्त द्रव्य रहता है जिससे स्थूल जगत् बनता है। इस दृष्टिकोण से यह सबसे व्यापक और सृष्टि की महान सत्ता कही जा सकती है, अतः इसे महत् कहा गया है। इसे लिंग भी कहा गया है क्योंकि अन्य परवर्ती सत्ताएँ अथवा विकास हमें इसकी सत्ता के अनुमान का आधार देती है और इस प्रकार यह प्रकृति से विभिन्न है क्योंकि प्रकृति अलिग है अर्थात् जिसका कोई लक्षण निर्धारित न हो।

जब महत्तत्व का उद्‌भव होता है तो उसके बाद के रूपान्तरण तीन दिशाओं में तीन विभिन्न धाराओं के द्वारा होते हैं जो सत्व प्राधान्य, रजः प्राधान्य और तमः प्राधान्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह स्थिति जब महत् तीन समानांतर प्रवृत्तियों अर्थात् तम, रज और सत्व के प्राधान्य द्वारा विचलित होता है। इन तीन प्रवृत्तियों को क्रमशः तामसिक अहंकार अथवा भूतादि, राजसिक अहंकार अथवा तेजस और

वैकारिक अहंकार कहा जाता है। राजसिक अहंकार अपने स्वयं का प्राधान्य सूचित नहीं करता, वह सत्वप्रधान रूपांतरण और तमःप्रधान रूपान्तरण में सहकारी ही होता है। तत्व प्रधान विकास बुद्धि के अधिकाधिक निश्चित अथवा नियत लक्षण की मान्यता ही सिद्ध करता है क्योंकि जैसा ऊपर बताया गया बुद्धि स्वयं सत्व प्रधान रूपान्तरण का परिणाम है। सात्विक विकास की दिशा में रज की सहायता से आगे विकास तभी हो सकता है जब बुद्धि मन की तरह अपने आपको विशिष्ट मार्गों में नियत और निर्धारित करे। इस दिशा में बुद्धि का परम विकास सात्विक अथवा वैकारिक अहंकार कहा जाता है। यह अहंकार बुद्धि के अहंता या ममता की चेतना के विकास का प्रतिनिधि है, वह बुद्धि वाली पहली स्थिति से इस दृष्टि से विभिन्न है कि उस स्थिति का कार्य केवल ज्ञान अथवा सत्ता का जानना है।

अहंकार (अभिमानद्रव्य) सामान्य चेतना की वह विशिष्ट अभिव्यक्ति है जो किसी अनुभव को मेरा बनाती है। अहंकार का कार्य इसीलिए अभिमान (स्वयं की मान्यता) कहा जाता है। इससे, तदनतर, पांच ज्ञानेन्द्रियां आती हैं–चक्षु, स्पर्श, घ्राण, रसना और श्रवण। पांच कर्मेन्द्रियां आती हैं–वाणी, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। फिर प्राण (मनःपेशीय शक्ति) जो ज्ञान और कर्म दोनों को प्रेरणा देता है। ये सभी जीवन के बौद्धिक व्यापार के पक्ष हैं। व्यक्तिगत अहंकार और इन्द्रियाँ व्यक्ति बुद्धियों से सम्बद्ध रहती है, वे उन सत्व-निर्धारणों के विकास का फल हैं जिनसे वे जन्म लेती हैं। प्रत्येक बुद्धि में अपने अहंकार और इन्द्रियों के विकास निहित हैं और इस प्रकार वे एक सूक्ष्म विश्व हैं जो अन्य बुद्धियों के सूक्ष्म विश्वों से अलग-अलग स्थित होते हैं। जहाँ तक ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष तथा अहंकार का विषय होता है वह प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न होता है किन्तु एक सामान्य बुद्धि (कारण बुद्धि) भी होती है जो ऐन्द्रिय ज्ञान से पृथक् होती है, उसमें समस्त बुद्धियां निहित होती हैं, वह बुद्धितत्व है किन्तु उसमें भी अपनी-अपनी अविद्याओं से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्येक बुद्धि अलग इकाई के रूप में भी स्थित होती है। बुद्धि एवं उसके सात्विक परिणाम अर्थात् अहंकार और इन्द्रियाँ उस प्रकार सम्बद्ध हैं कि वे अपने व्यापारों में पृथक् होते हुए भी बुद्धि में स्थित हैं और उसके ही आंशिक परिणाम एवं प्रकार हैं। इस सन्दर्भ में यहाँ हमें पुनर्भरण वाला सिद्धान्त फिर याद रखना होगा। जब बुद्धि अहंकार को जन्म देने के कारण कुछ खाली हो जाती है तो उसकी क्षतिपूर्ति प्रकृति द्वारा कर दी जाती है, अहंकार इन्द्रियों को जन्म देने के कारण जब कुछ खाली हो जाता है तो उसकी क्षतिपूर्ति बुद्धि द्वारा कर दी जाती है। इस प्रकार परिवर्तन और क्षति की प्रत्येक स्थिति में उससे ऊपर वाले तत्व द्वारा क्षतिपूर्ति कर दी जाती है और अन्ततः प्रकृति समस्त क्षतिपूर्ति करती है।

तन्मात्र एवं परमाणु[1]

तम की प्रवृत्ति मुक्त रज और अहंकार की सहायता से प्राधान्य प्राप्त करती है; तभी तम सत्व की प्रवृत्ति पर जो बुद्धि में प्रमुख होता है, विजय प्राप्त करके, भूतादि के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस भूतादि से रज की सहायता से तन्मात्र पैदा होते हैं जो स्थूल द्रव्यों के जनक कारण हैं। इस प्रकार भूतादि एक बीच की स्थिति है जो महत् में तामस पदार्थों के विभिन्न वर्गों और समूहनों का प्रतिनिधित्व करती है जिससे कि तन्मात्रों का जन्म होता है। इस बात पर सांख्य और योग के बीच कुछ मतभेद हैं कि तन्मात्र महत् से जन्मते हैं या अहंकार से। हम इस स्थिति को यों समझ सकते हैं कि यहाँ उद्विकास का तात्पर्य उद्भव या जन्म लेना नहीं है किन्तु एक विकासमान तत्व के अन्दर समन्वित रूप से किसी वर्ग विशेष की वृद्धि या विशिष्ट को ही वहाँ उद्विकास कहा गया है। तामस पदार्थों के पुनःसमूहन से ऐसी विशिष्टि महत् में जन्म लेती है किन्तु उसका माध्यम भूतादि होता है। भूतादि पूर्णतः समरूप और निश्चल होता है, सिवा द्रव्यमान के उसमें कोई भौतिक या रासायनिक लक्षण नहीं होता। अगली स्थिति अर्थात् तन्मात्र सूक्ष्म द्रव्य का प्रतिनिधित्व करती है जो कम्पमान, व्याघातक, विकिरणशाली और अन्तर्निहित ऊर्जा से युक्त होता है। ये विभव (अन्तर्निहित ऊर्जाएँ मूल द्रव्य इकाईयों के विभिन्न मात्राओं में असम वितरणों और रज की (ऊर्जा) विभिन्न मात्राओं के संयोग से उद्भूत होते हैं। तन्मात्रों में केवल द्रव्यमान और ऊर्जा ही नहीं होती, उनमें कुछ भौतिक लक्षण भी होते हैं, कुछ में भेदनीयता, कुछ में परिमाण, कुछ में ताप, कुछ में स्नेहन आदि गुण होते हैं।[2]

इन भौतिक लक्षणों से सम्बद्ध रहते हुए उनमें बीजरूप में शब्द, स्पर्श, रंग, रस और गंध भी होते हैं, किन्तु सूक्ष्म द्रव्य होने के कारण उनमें स्थूल द्रव्यों के वे रूप नहीं होते जो अणुओं परमाणुओं या उनके संयोगों में बाद में दिखते हैं। दूसरे शब्दों में, बीज रूप में उनमें जो विभव निहित है उन्हें स्थूल द्रव्य के रूप में हमारे इन्द्रियगम्य होने के लिए आगे और कुछ विशिष्ट पुनःसमूहन या रूपांतरण की स्थितियों से गुजरना होता है, उनमें द्रव्यों के इन्द्रियगम्यता गुण अनुद्भूत नहीं होते हैं, अतीन्द्रिय होते हैं।[3]

---

[1] इस परिच्छेद में तथा अगले परिच्छेद में मैंने डा० सियाल द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद की अनेक अंग्रेजी संज्ञाएँ संस्कृत की दार्शनिक संज्ञाओं के अनुवाद के रूप में यों की यों ग्रहण की हैं। रायकृत हिन्दू केमिस्ट्री में दिए गए अनुसार इस विषय के स्पष्ट विवेचन के लिए मैं डा० सियाल का आभारी हूं। मूल ग्रन्थों के आधार पर सांख्य दर्शन की भौतिकी की व्याख्या का श्रेय पूर्णतः उन्हीं को जाना चाहिए।

[2] डा० सियाल कृत 'पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज'।

[3] वही।

तन्मात्रों में से शब्द अथवा आकाश-तन्मात्रा भूतादि से सीधे जन्म लेती है, उसके बाद स्पर्श अथवा वायु तन्मात्र आता है जो भूतादि के तम की एक इकाई के साथ आकाश तन्मात्र के संयोग से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार भूतादि के तम के संयोग से रूपतन्मात्र रसतन्मात्र अथवा अप्तन्मात्र पैदा होता है। इस अप्तन्मात्र में तम के संयोग से गंधतन्मात्र अथवा क्षिति-तन्मात्र निकलता है।[1] तन्मात्रों और परमाणुओं में यह भेद है कि उनमें केवल इन्द्रिय-गम्यता की अन्तर्निहित बीजशक्ति ही होती है, इन्द्रियगम्य होने के लिए उन्हें सत्ता की नई स्थिति में पुनः समूहन द्वारा गुजरना होता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यहाँ स्थूल विषयों का क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के रूप में वर्गीकरण, रासायनिक विश्लेषण पर आधारित नहीं है किन्तु पांच इन्द्रियों के दृष्टिकोण से उन्हें इन पांच वर्गों में रखा गया है जिनसे कि हम उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमारी पांच इन्द्रियों में से प्रत्येक एक विशिष्ट गुण का ही ग्रहण कर सकती है इसलिए पांच तत्वों को उन पांच इन्द्रियों के गुणों के रूप में वर्गीकृत कर दिया गया। उन पांच तत्वों की सत्ता को मान लेने पर उनको जन्म देने वाली पांच अन्य आधारभूत विभवात्मक स्थितियों को भी मानना पड़ा जिन्हें तप्मात्र नाम देकर पाँच स्थूल द्रव्यों की आधारभूत स्थितियाँ बतलाया गया।

तन्मात्रों से परमाणुओं के पांच वर्ग इस प्रकार उद्भूत हुए—शब्द तन्मात्र द्वारा भूतादि से आधारभूत द्रव्य के संयोग से आकाश परमाणु पैदा हुआ। स्पर्श तन्मात्र द्वारा शब्द तन्मात्र के द्रव्य के संयोग से वायु परमाणु पैदा किया गया। प्रकाश और ताप के तन्मात्रों के साथ स्पर्श और शब्द तन्मात्रों के संयोग से तेजस् परमाणु पैदा हुए। प्रकाश और ताप के तत्वों के साथ रस तन्मात्रों के संयोग से अप् परमाणु हुए और उनके साथ गन्ध तन्मात्रों के संयोग से क्षिति परमाणु। आकाश परमाणु में अवकाश या भेदनीयता होती है, वायु परमाणु में दाब, तेजस् परमाणु में विकिरणशाली ताप एवं प्रकाश, अप् परमाणु में श्यान आकर्षण तथा क्षिति परमाणु में संयोजी आकर्षण होता है। जैसा ऊपर बताया गया आकाश भूतादि से तन्मात्र तक तथा तन्मात्र से परमाणु उत्पादन तक परिवर्तन की श्रृंखला की बीच की सीढ़ी का काम करता है अतः इसका विशेष विवेचन उचित होगा। सांख्य कारण आकाश और कार्य आकाश के बीच भेद करता है। कारण आकाश (जो सर्व-व्यापी है परमाणु वाला नहीं) निराकार तम ही है जो प्रकृति में द्रव्यमान या भूतादि है। यह सब जगह रहता है, यह केवल अभावात्मक नहीं है इसमें केवल आवरणाभाव अथवा शून्यता है। जब ऊर्जा इस तामस

---

[1] सांख्येतर वाङ्मय में भी विभिन्न प्रकारों से तन्मात्रों और परमाणुओं के उद्भव का वर्णन दिया हुआ है। डा० सियाल कृत पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज में इसका कुछ विवेचन उपलब्ध है।

तत्व से सर्व प्रथम संयुक्त होती है तो उससे शब्द तन्मात्र पैदा होता है, आणविक आकाश भूतादि में से प्राथमिक द्रव्यमान इकाइयों के साथ इसी शब्द तन्मात्र के संयोग या समन्वय का परिणाम है। ऐसे आकाश परमाणु को कार्याकाश कहा जाता है। यह सर्वत्र स्थित रहता है और मूल कारण आकाश में वायु परमाणुओं के विकास के माध्यम के रूप में अवस्थित रहता है। आणविक होने के कारण यह बहुत कम स्थान घेरता है।

अहंकार को तथा पांच तन्मात्रों को दार्शनिक भाषा में अविशेष कहा गया है क्योंकि सत्ता की नई इकाइयों के निर्माण के लिए उनके आगे और विशेषीकरण या विभेदीकरण सम्भव हैं। ग्यारह इन्द्रियों और पांच अणुओं को विशेष कहा गया है क्योंकि उनके आगे भेद या पदार्थ अथवा सत्ता की नई इकाइयाँ नहीं बनती। इस प्रकार प्रकृति में विकास की जो प्रक्रिया शुरू होती है वह एक ओर इन्द्रियों की उत्पत्ति के साथ और दूसरी ओर परमाणुओं की उत्पत्ति के साथ चरम सीमा तक पहुँचती है। परमाणु जनित पदार्थों में परिवर्तन अवश्य होते हैं किन्तु वे परमाणुओं की आकाश में अवस्थिति के अनुसार गुणों में परिवर्तन ही है अथवा नए परमाणुओं और उनके नए संगठन के कारण हुए परिवर्तन हैं। इन्हें कोई नया पदार्थ नहीं कहा जा सकता जो कि पारमाणविक संयोगों से अलग कोई चीज हो। पदार्थों के पारमाणविक घटन में जो परिवर्तन होते हैं उसका विवेचन अवश्य किया जाएगा किन्तु उसके पूर्व कार्य-कारण-भाव के उस सिद्धान्त का विवरण देना उचित होगा जिसके आधार पर सांख्य-योग दर्शन की सृष्टि-रचना-प्रक्रिया ठीक तरह समझी जा सके।

कारणता सिद्धान्त एवं शक्ति संरक्षण का सिद्धान्त[1]

यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति में अपने एक विकार अथवा विकासज पदार्थ की उत्पत्ति के कारण जो कमी आ जाती है और उनसे हुए अन्य विकासों के कारण जो कमी आती है उसका पुनर्भरण कैसे होता है? महत् से तन्मात्र के उद्‌भव से अथवा तन्मात्रों से परमाणु के उद्‌भव से महत् में और तन्मात्रों में जो क्षति हुई प्रकृति उसकी पूर्ति कैसे करती है?

दूसरे क्षेत्र में परमाणु की स्थितियों में जो परिवर्तन होते हैं जैसे दुग्ध जैसे स्थूल पदार्थ में दही बनते समय जो रूपान्तर होता है उसके पीछे क्या सिद्धान्त है? सांख्य कहता है कि 'सृष्टि की उत्पत्ति के समय ऊर्जा का कुल परिमाण अपरिवर्तित रहता है, कार्य और कारण इसी परमशक्ति के अन्दर होने वाले विकास या परिवर्तन हैं। कारणों में कार्य बीज रूप में रहते हैं। उनका समूहन अथवा संस्थिति ही बदलती है, उससे

---

[1] व्यासभाष्य एवं योगवार्तिक ४-३; तत्ववैशारदी ४-३।

गुणों की कुछ सुषुप्त शक्तियां अभिव्यक्त हो जाती है, किसी नई चीज का उद्भव नहीं होता। जिसे हम समवायि कारण कहते हैं वह केवल वह शक्ति होती है जो उत्पत्ति का निमित्त बनती है अथवा शक्ति का वाहक ही कारण कहा जाता है। यह शक्ति ऊर्जा का अनभिव्यक्त रूप है जो कार्य में आकार अभिव्यक्त (उद्भूत-वृत्ति) हो जाता है। किन्तु कुछ सहकारी शक्तियां उस कारण को कार्य रूप में परिणत करने की प्रक्रिया चलाने में सहयोग देती हैं'।[1]

कार्य की उत्पत्ति (जैसे मूर्तिकार की कला द्वारा संगमरमर में एक मूर्ति की अभिव्यक्ति) अनभिव्यक्त अवस्था से वास्तविक अभिव्यक्ति की अवस्था में आने की प्रक्रिया ही है। सहकारी शक्ति अथवा निमित्त कारण (जैसे मूर्तिकार की कला) इस प्रक्रिया या रूपान्तरण में केवल यांत्रिक अथवा साधनात्मक सहायता देती है।[2] इस प्रकार 'प्रकृति से पुनर्भरण' के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता के कारण तत्वों का इस प्रकार संगठन होता है कि वे महत् के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तथा महत् के तत्वों का ऐसा संगठन होता है कि वे भूतादि अथवा तन्मात्रों में अभिव्यक्त हो जाते हैं।

योग ने इस प्रक्रिया का विवेचन सुप्त अथवा बीज भूत शक्ति के मुक्त होने और उसके रूपान्तरण के आधार पर अधिक स्पष्टता से किया है। भौतिक कारणों में वह शक्ति बीज रूप में रहती है जो कार्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। जब किसी संस्थिति में भौतिक कारणों के साथ निमित्त कारण का संयोग होता है तो एक ऐसी प्रवर्तकता प्रतिबन्ध की निवृत्ति में प्रेरक होती है जो निष्क्रिय संतुलन में हलचल पैदा करती है और शक्ति को मुक्त कर देती है, साथ ही नई संस्थिति को भी पैदा कर देती है (गुण संनिवेशाऽविशेष)। जैसे एक खेत का स्वामी पास वाले दूसरे खेत में भरा पानी अपने खेत में लाने के लिए बीच में बनी हुई मिट्टी की डोली (बाड़) को हटा देता है जिससे पानी अपने आप खेत में बहता चला आता है उसी प्रकार असमवायि कारण या निमित्त कारण (जैसे मूर्तिकार की कला) वे विघ्न दूर कर देते हैं जो एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तित होने के प्रतिबन्धक होते हैं ताकि शक्ति उस स्थिति से उसी के अनुरूप वह निकलती है और दूसरी स्थिति का निर्माण करती है। जो शक्ति दुग्ध अणुओं के रूप में स्थित होकर दुग्ध का निर्माण करती है वह दुग्ध रूप में प्रतिबंधित हो जाती है। जब गर्मी अथवा अन्य कारणों से वह प्रतिबन्ध दूर हो जाता है तो वह शक्ति दिशा बदल कर उसी के अनुरूप दही के परमाणुओं के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति से, ईश्वर की इच्छा के कारण जब प्रतिबन्ध

---

[1] रे कृत हिस्ट्री आव हिन्दू केमिस्ट्री पृ० ७२।

[2] वही, पृ० ७३।

दूर हो जाते हैं तो प्रकृति में संतुलन की स्थिति में स्थित तत्व प्रतिबन्ध-हीन होकर महत् आदि के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

परिवर्तन अर्थात् नई संस्थितियों का निर्माण

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि किसी पदार्थ को बनाने वाले परमाणुओं की संस्थिति तब तक परिवर्तित नहीं होती जब तक उसके अन्तर्निहित प्रतिबन्ध अथवा वर्तमान संस्थिति के निर्माण द्वारा कारित प्रतिबन्ध किसी बाहरी निमित्त द्वारा हटाए नहीं जाते। समस्त द्रव्य, क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के पांच परमाणुओं के संयोग से बने होते हैं। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में जो भेद होता है वह केवल इसलिए कि उनमें परमाणुओं के संयोग या समूहन या संस्थितियों की मात्राओं का भेद होता है। एक संयोग के निर्माण के बाद परिवर्तन का एक नैसर्गिक प्रतिबन्ध रहता है जो परिवर्तन में प्रतिबन्धक होता है और उस संस्थिति को सतुलित रखता है। स्वभावतः ऐसे अनन्त प्रतिबन्ध विश्व के अनन्त पदार्थों में रहते हैं। वह प्रतिबन्ध जहाँ कहीं से हट जाता है तो शक्ति उसी दिशा से वह निकलती है और तदनुरूप अन्य पदार्थ के निर्माण में सहायक होती है। प्रतिबन्धकों के निवारण के द्वारा किसी भी पदार्थ का इस प्रकार अन्य पदार्थ में परिवर्तन हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि योगी लोग ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो किसी भी प्रतिबन्धक का निवारण कर सकती है और इस प्रकार वे किसी भी पदार्थ को किसी भी पदार्थ में परिवर्तित कर सकते हैं। सामान्यतः तो परिवर्तन का यह क्रम एक निर्धारित नियम के अनुसार चलता है जो बदला नहीं जा सकता (परिणाम क्रम नियम)। दूसरे शब्दों में कुछ ऐसे नैसर्गिक प्रतिबन्ध होते हैं जो हटाए नहीं जा सकते। परिणमन का क्रम उन्हें छोड़कर अन्य दिशाओं में ही जाता है। केसर कश्मीर में ही हो सकती है, बंगाल में नहीं। यह देश का प्रतिबन्ध है (देशापबन्ध)। कुछ धान वर्षा में ही होते हैं, यह काल का प्रतिबन्ध है (कालापबन्ध)। हिरण आदमी को जन्म नहीं दे सकता, यह आकार का प्रतिबन्ध है (आकारापबन्ध)। दही दूध से ही बन सकता है, यह कारण का प्रतिबन्ध है (निमित्तापबन्ध)। सृष्टि का नियम इस प्रकार उसी दिशा में परिणाम पैदा करता है जहाँ मार्ग में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[1]

परिवर्तन सर्वत्र होता रहता है। अणु से लेकर महान् तक छोटे से लेकर बड़े तक। परमाणु और तत्व निरन्तर सृजनशील रहते हैं, प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक क्षण में समस्त जगत् परिवर्तित होता रहता है। परमाणुओं का संयोग अगले क्षण वह नहीं रहता जो पहले क्षण था। जब ये परिवर्तन प्रत्यक्ष करने

---

[1] व्यास भाष्य, तत्ववैशारदी एवं योगवार्तिक ३-१४।

योग्य होते हैं तो हमें धर्म या गुण में परिवर्तन (धर्म परिणाम) दिखलाई देता है। किन्तु प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, परिवर्तन सदा होता रहता है। यह परिवर्तन एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर वर्तमान या भूत के रूप में या नए अथवा पुराने के रूप में भी दिखलाई देते हैं, तब इन्हें क्रमशः लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम कहा जाता है। हर क्षण हर पदार्थ विकास अथवा परिवर्तन द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य, नया, पुराना या अजन्मा के रूप में बदलता रहता है। जब पतिवर्तन बीज रूप में होता है तो उसे भविष्य कहते हैं, अभिव्यक्त रूप में वह वर्तमान होता है, जब वह पुनः सुषुप्त हो जाता है तो उसे भूत कहते हैं। इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थ अव्यक्त, बीज और व्यक्त के रूप में होने वाले परिणाम या परिवर्तन ही है।[1]

कार्यकारण भाव सत्कार्यवाद के रूप में (कारण द्वारा जनित होने के पूर्व बीज रूप में कार्य की सत्ता का सिद्धान्त)

ऊपर के विवेचन के साथ ही हम सांख्य दर्शन के कार्य कारण भाव सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण विषय 'सत्कार्यवाद' पर आते हैं। सांख्य का मत है कि ऐसी कोई भी चीज पैदा नहीं हो सकती जो पहले से ही विद्यमान न हो। कार्य की उत्पत्ति का मतलब केवल यह है कि कारण में योगों के परिवर्तन से ऐसा गुण व्यक्त हो गया है जो बीज रूप में पहले से ही विद्यमान था। कार्य की उत्पत्ति कारण में परमाणुओं के संयोगों का आन्तरिक परिवर्तन ही है जो ऐसे परिवर्तन के प्रतिबन्धक होने की वजह से नहीं हो रहा था, प्रतिबन्ध हटते ही नया संयोग अर्थात् कार्य उत्पन्न हो गया। इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं अर्थात् कार्य पहले भी सत् (अस्तित्व में) था, कार्योत्पत्ति की क्रिया के शुरू होने के पूर्व भी। इस दृष्टि से सरसों में तेल पहले से विद्यमान है, पत्थर में मूर्ति, दूध में दही। कार्यव्यापार उसे, जो पहले तिरोहित था, आविर्भूत मात्र कर देता है।[2]

---

[1] यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि सांख्य योग, न्यायवैशेषिक के समान समय को एक अलग पदार्थ नहीं मानता। समय केवल क्षणों के उस क्रम का प्रतिनिधित्व करता है जिनमें मन जगत् प्रपंच में हो रहे परिवर्तनों की अनुभूति करता है। इसलिए यह बुद्धि की ही उपज (बुद्धि निर्माण) है। अणु अपने परिमाण में देश काल में स्पंदित होने में जो समय लेता है उसे क्षण कहा जाता है—जो समय की एक इकाई है। विज्ञान भिक्षु ने गुणों या पदार्थों के स्पन्दन की एक इकाई को क्षण माना है। जब विद्या के कारण गुणों का अपने यथार्थ स्वरूप में परिज्ञान हो जाता है तो देश और काल के सम्बन्ध में समस्त भ्रमात्मक धारणाएँ समाप्त हो जाती हैं (व्यासभाष्य, तत्ववैशारदी, योगवार्तिक ३-५२ तथा ३/१३)।

[2] तत्वकौमदी, ९।

बौद्ध भी परिवर्तनवादी थे, किन्तु परिवर्तन का मतलव नई उत्पत्ति ही मानते थे। प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता है, उसके साथ धर्म दूसरे क्षण ही वदल जाता है। वे परिवर्तनशील धर्म और आकार एवं गुण ही मानते थे, कोई स्थायी धर्म या पदार्थ उनके मत में नहीं है। सांख्य भी धर्मों में परिवर्तन वतलाता है पर उसके अनुसार ये धर्म स्थायी पदार्थों की बदलती हुई स्थितियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। संयोग और संस्थितियां प्रतिक्षण बदलती रहती हैं किन्तु तत्व अपरिवर्तित हैं। बौद्धों के अनुसार कार्य भी अनित्य है, वह एक क्षण के लिए पैदा होता है और फिर नष्ट हो जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर तथा शून्य वादी होने की दृष्टि से उन्हें वेदान्ती वैनाशिक (विनाशवादी) कहते हैं। उस सिद्धान्त को सांख्य के सिद्धान्त से विपरीत, असत्-कार्यवाद कहा जाता है। जैनों के मत में दोनों सिद्धान्त किसी न किसी दृष्टि से ठीक हैं। एक दृष्टि से सत्कार्यवाद ठीक है दूसरी दृष्टि से असत्कार्यवाद। सांख्य का यह मत कि कारण अपने आप को कार्य के रूप में निरन्तर परिणत करता रहता है "परिणामवाद" कहा जाता है, वेदान्तियों का मत विवर्तवाद कहा जाता है क्योंकि वे मानते हैं कि कारण सदा वही रहता है, उसमें जो कार्य दिखलाई देते हैं वे केवल नाम और रूप के मिथ्या आभास है, माया मात्र है।[1]

सांख्य अनीश्वरवाद और यौगिक ईश्वरवाद

यह तो मान लिया कि तत्वों की अनन्त संख्या में स्थितियों के पारस्परिक परिवर्तन से समस्त जगत् और उसके परिणाम उत्पन्न हुए किन्तु जगत् का नियत विधान, कार्य कारण का नियम, कारण के कार्य बनने में प्रतिबन्धकों का निर्धारित नियम अथवा प्रकृति के संतुलन में सर्व-प्रथम विचलन कहाँ से आता है? सांख्य इस प्रसंग में ईश्वर का अथवा किसी बाहरी सत्ता का अस्तित्व नहीं मानता। उसके अनुसार तत्वों में स्पंदन अथवा गति की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है। यह प्रवृत्ति अथवा प्रयोजन-वत्ता यह अपेक्षा करती है कि तत्वों में इस प्रकार की गति हो जिससे आत्माओं अथवा पुरुषों का भुक्ति या मुक्ति की दिशा में कोई प्रयोजन सिद्ध हो। इसी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रकृति

---

[1] बहुधा सांख्य और वेदान्त दोनों के कार्य कारण सिद्धान्त को सामान्य भाषा में सत्कार्यवाद कह दिया जाता है। किन्तु सही मायनों में, जैसाकि कुछ प्रबुद्ध टीका-कारों ने स्पष्ट किया है वेदांत के कारण-सिद्धान्त को सत्कारणवाद कहना चाहिए क्योंकि उसकी मान्यता है कि केवल कारण ही सत् (विद्यमान) है, कार्य तो केवल कारण के ही मायात्मक आभास है। सांख्य के मतानुसार कार्य कारण के अन्दर विद्यमान रहता है और बीज रूप में कारण में कार्य की सत्ता होने से वह भी सत् है।

में विचलन पैदा होता है, गुण दो दिशाओं में विकसित होते हैं; बौद्धिक क्षेत्र में चित्त और इन्द्रिय तथा भौतिक क्षेत्र में महाभूत। इसी प्रवृत्ति की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए बौद्धिक परिवर्तन विषयिगत अनुभवों के रूप में होते हैं और दूसरी ओर भौतिक पदार्थों में अनन्त प्रकार के परिवर्तन। गुणों के प्रयोजन की यही प्रवृत्ति जिसे पुरुषार्थता कहा गया है, तत्वों की समस्त गतियों का नियमन करती है, अव्यवस्था को रोकती है, जगत् को अनुभव का विषय बनाती है और वही उन्हें जगत् से वैराग्य पैदा करवाकर प्रकृति के साहचर्य से मुक्ति के प्रति प्रयत्नशील बनाती है।

योग यहां शंका करता है कि अचेतन प्रकृति की यह अन्धी प्रवृत्ति इस व्यवस्था और जगत् की नियति को कैसे बनाती है। यह कैसे निर्धारित करती है कि कौनसा क्रम पुरुषों के अर्थ की सिद्धि करेगा ? वह स्वयं अपने प्रतिबन्धक कैसे हटाती है और प्रकृति के साम्य में स्वयं कैसे विचलन द्वारा सृष्टि पैदा करती है ? उसकी यह नैसर्गिक प्रवृत्ति या स्वभाव जगत् की ऐसी व्यवस्था कैसे बनाता है कि लोगों को उनके बुरे कर्मों का बुरा फल या दुःख मिले और अच्छे कर्मों का अच्छा फल या सुख मिले ? इस सबके लिए कोई चेतन पुरुष अवश्य होना चाहिए जो सृष्टि के क्रम को इस प्रकार नियंत्रित करे कि एक व्यवस्था बनी रहे। यही चेतन पुरुष ईश्वर है। ईश्वर वह पुरुष है जो अज्ञान, क्लेश और आशयों से असंपृक्त है। वह शुद्ध सत्त्वस्वरूप है जिसमें अविद्या का कभी स्पर्श नहीं हो सकता। वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। उसकी एक स्थायी इच्छा होती है जिससे वे प्रतिबन्धक हट जाते हैं जो गुणों के परिणाम में बाधक होते हैं, तभी तो उनसे पुरुषों के अर्थ की सिद्धि भोग और अपवर्ग दोनों के रूप में हो पाती है। ईश्वरेच्छा से प्रतिबन्धों का निवारण और पुरुषार्थता की सिद्धि हेतु गुणों द्वारा एक नियत क्रम का अनुगमन सम्भव हो पाता है। ईश्वर प्रकृति को जन्म नहीं देता, वह प्रकृति के साम्य को निष्क्रियता की अवस्था से विचलित कर देता है और बाद में एक ऐसी चेतन व्यवस्था के अनुगमन में उसका सहायक होता है जिससे कि कर्मों के फल ठीक तरह विभाजित हो सकें और सृष्टि में व्यवस्था रहे। योग में ईश्वर की यह मान्यता और सांख्य द्वारा उसे न मानना ही इन दोनों को सेश्वर सांख्य (योग) और निरीश्वर सांख्य (सांख्य) के रूप में विभेदित करता है।[1]

बुद्धि एवं पुरुष

यह प्रश्न पुनः उठता है कि पुरुष शुद्ध बुद्धि स्वरूप है, गुण अबौद्धिक सूक्ष्म तत्व है, तब फिर गुणों से पुरुष का संयोग कैसे होता है ? इसके अलावा, पुरुष शुद्ध निष्क्रिय

---

[1] तत्ववैशारदी ४-३, योगवार्तिक १-२४, प्रवचनभाष्य ५/१-१२।

बुद्धि है, तब उसे गुणों की सहायता की आवश्यकता क्या है ? इस शंका का समाधान सांख्य ने पहले से ही यह कहकर कर दिया है कि गुणों में से एक सत्व गुण ऐसा है जो पुरुष के समान ही शुद्ध है और बुद्धि के भी अनुरूप है इसलिए वह पुरुष की बुद्धि या चेतना को प्रतिफलित कर सकता है और उसके अबौद्धिक अचेतन परिणामों को चेतन के समान भासित करा सकता है। हमारे विचार, भावना और इच्छात्मक व्यापार सत्व-प्रधान बुद्धि या चित्त के अबौद्धिक रूपान्तरण हैं किन्तु बुद्धि में पुरुष के प्रतिफलन के कारण वे बौद्धिक या चेतन से दिखते हैं। आत्मा (पुरुष), सांख्य योग के अनुसार, आत्म चेतना द्वारा सीधे अभिव्यक्त नहीं होता। उसका अस्तित्व प्रयोजन के आधार पर तथा नैतिक दायित्व के आधार पर अनुमेय होता है। आत्मा को बुद्धि के परिणमनों से अलग करके हम सीधे नहीं देख सकते। अनादि अविद्या के कारण भ्रम (माया) फैला है जिससे बुद्धि की परिवर्तनशील स्थितियाँ चेतन मान ली जाती हैं। इन बौद्धिक परिवर्तनों को पुरुष के बुद्धि में पड़े प्रतिविम्ब के साथ इस तरह संपृक्त कर दिया जाता है कि उन्हें पुरुष के अनुभव के रूप में निरुक्त किया जाता है। बुद्धि का बुद्धि में पड़े पुरुष के प्रतिविम्ब के साथ सम्पर्क इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता रखता है कि उसे पुरुष का अनुभव माना जाता है। वाचस्पति के इस विवेचन का विज्ञानभिक्षु ने खंडन किया है। विज्ञानभिक्षु कहता है कि बुद्धि के पुरुष के प्रतिविम्ब के साथ सम्पर्क से हम किसी वास्तविक व्यक्ति के व्यावहारिक अनुभव का आधार नहीं ले सकते। इसलिए यह माना जाता है कि जब बुद्धि पुरुष के प्रतिविम्ब द्वारा चैतन्य कर दी जाती है तो वह पुरुष में आरोपित कर ली जाती है और तब यह धारणा बनाली जाती है कि वह एक अनुभूति वाला स्थायी व्यक्ति है।[1] हम चाहे जो भी स्पष्टीकरण दें यह स्पष्ट लगता है कि पुरुष के साथ बुद्धि का संयोग कुछ रहस्यात्मक ही है। बुद्धि पर चित् के इस प्रतिविम्ब के फलस्वरूप और बुद्धि के आरोपण के फलस्वरूप पुरुष यह नहीं समझ पाता कि बुद्धि के परिणमन उसके अपने नहीं हैं। बुद्धि शुद्धता में पुरुष के समरूप है और पुरुष अपने आप को बुद्धि के परिणामों से अलग नहीं कर पाता। इस अभेद के फलस्वरूप पुरुष बुद्धि से बंध जाता है, यह नहीं जान पाता कि बुद्धि एवं उसके विकार पूर्णतः बाहरी हैं, असम्बद्ध हैं, उसके अपने नहीं हैं। पुरुष का जो स्वयं बुद्धि का ही एक स्वरूप है, बुद्धि के साथ यह अभेद ही सांख्य में अविद्या कहा गया है और वही सारे अनुभवों और दुःखों की जड़ है।[2]

---

[1] तत्ववैशारदी एवं योगवार्तिक १-४।

[2] यह सांख्य दर्शन में भ्रम की प्रकृति के विश्लेपण की ओर इंगित करता है। दो पदार्थों में भेद की प्रतीति का अभाव (जैसे सर्प और रज्जु में भेद की अप्रतीति) ही भ्रम का कारण होता है। इस दृष्टि से इसे 'अख्यातिवाद' कहा गया है (भ्रम की भेदाप्रतीतिरूप व्याख्या) जो अन्यथाख्याति से भिन्न है (जिसमें एक पदार्थ में अन्य

योग का मत इससे कुछ भिन्न है। वह मानता है कि पुरुष न केवल अपने आप में और बुद्धि में भेद नहीं कर पाता बल्कि वह बुद्धि के परिणामों को निश्चित रूप से अपना ही स्वरूप समझता है। यह भेद का अनवभास मात्र नहीं है बल्कि स्पष्ट ही मिथ्या ज्ञान है, पुरुष को हम वह समझते हैं जो वह नहीं है (अन्यथा ख्याति)। वह परिवर्तमान, अशुद्ध, दुःखात्मक तथा विषयात्मक प्रकृति अथवा बुद्धि को अपरिवर्तनशील शुद्ध और सुखात्मक विषयी समझता है। वह अपने आप को बुद्धि स्वरूप समझता है और उसे शुद्ध, नित्य तथा सुख देने में समर्थ समझने की गलती भी करता है। यही योग की अविद्या है। पुरुष के साथ सम्बद्ध-बुद्धि ऐसी अविद्या से आच्छन्न रहती है और जब जन्म-जन्मान्तर तक वही बुद्धि उसी पुरुष के साथ संबद्ध रहती है तो वह इस अविद्या से आसानी से छुटकारा नहीं पा सकती। किन्तु यदि इसी बीच प्रलय हो जाता है तो बुद्धि प्रकृति में विलीन हो जाती है और अविद्या भी उसी में सो जाती है। अगली सृष्टि के प्रारम्भ में जब पुरुषों से संबद्ध व्यष्टिगत बुद्धियाँ फिर उद्भूत होती हैं तो उसी के साथ वे ही अविद्याएँ पुनः जागृत हो जाती हैं। बुद्धियाँ उन्हीं पुरुषों से सम्बद्ध हो जाती है जिनसे वे प्रलय से पूर्व सम्बद्ध थीं। इसी प्रकार संसार का क्रम चलता है। जब किसी व्यक्ति की अविद्या सत्यज्ञान के उदय द्वारा विनष्ट हो जाती है तो बुद्धि पुरुष से संबद्ध नहीं हो पाती; वह उससे सदा के लिए वियुक्त हो जाती है; यही मुक्ति की दशा है।

ज्ञान की प्रक्रिया एवं चित्त के लक्षण

यह कहा जा चुका है कि बुद्धि और उसके आन्तरिक उद्भव पुरुष के अनुभव को सम्भव बनाने हेतु ही जन्म लेते हैं। इस अनुभव की प्रक्रिया क्या है? सांख्य (जैसा वाचस्पति ने व्याख्यात किया है) का मत है कि बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों के सम्पर्क में आती है। इस सम्पर्क के प्रथम क्षण में एक अनिर्धारित चेतना बनती है जिसमें उस पदार्थ के समस्त विवरण प्रत्यक्ष नहीं किए जा सकते। इसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा गया है। दूसरे क्षण मन के संकल्प और विकल्प के व्यापार द्वारा उस पदार्थ का समस्त लक्षणों और विवरणों सहित प्रत्यक्ष हो जाता है। मन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ऐन्द्रिय अनुभव को विभेदीकृत, समन्वित और संपृक्त करता है और इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष को सम्भव बनाता है, वह जब पुरुष से सम्बद्ध होकर चैतन्य प्राप्त करता है तब वह उस व्यक्ति के अनुभव के रूप में हमारे सामने आता है। इन्द्रियों के अहंकार के और बुद्धि के व्यापार कभी क्रमिक रूप में और कभी-कभी

पदार्थ का भ्रम हो जाता है) यह योग के अनुसार भ्रम का सिद्धान्त है (रज्जु को सर्प के रूप में देखना)। योगवार्तिक १/८।

(जैसे अचानक भय के समय) एक साथ काम करते हैं। विज्ञानभिक्षु वाचस्पति से इस बात में सहमत नहीं है। वह मन की इस संकल्पात्मक क्रिया का खण्डन करता है और कहता है कि इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि सीधे पदार्थों के सम्पर्क में आती है। सम्पर्क के पहले क्षण में प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्पष्ट एवं सविकल्पक हो जाता है।[1] स्पष्ट है कि इस मत में मन का महत्व बहुत कम रह जाता है और उसे केवल इच्छा संदेह और कल्पना की वृत्ति के रूप में ही स्थान दिया गया है।

बुद्धि को जिसमें अहंकार और इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं योग में बहुधा चित्त भी कहा गया है। वह दीपक की लौ के समान सदा परिवर्तमान रहती है। वह शुद्ध सत्व-प्रधान तत्वों से बनी है और अपने आपको एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में परिवर्तित करती रहती है। ये बिम्ब बुद्धि और पुरुष के दोहरे प्रतिबिम्ब के कारण निरन्तर चैतन्य होते रहते हैं और उन्हें हम व्यक्तियों के अनुभवों के रूप में जानते हैं। चेतना के आलोक को समझाने के लिए तथा अनुभवों और नैतिक प्रयत्नों की व्याख्या करने के लिए पुरुष का अस्तित्व मानना पड़ता है। बुद्धि समस्त शरीर में व्याप्त रहती है, उसके व्यापार के कारण ही शरीर में जीवन रहता है। सांख्य शरीर में जीवन के आधार के रूप में अलग से प्राण-वायु की सत्ता नहीं मानता। वेदान्त में जिन जैव प्रेरक शक्तियों को वायु कहा गया है उन्हें सांख्य बुद्धि तत्व के विभिन्न व्यापार प्रकार ही मानता है जो जीवन में समस्त शरीर में विचरण करता है और शरीर के समस्त जैव और ऐन्द्रिय क्रिया-कलापों को परिचालित करता है।

---

[1] चूंकि बुद्धि का बाह्य पदार्थों से सम्पर्क इन्द्रियों के माध्यम से होता है रंग इत्यादि विषय इन्द्रियों द्वारा परिवर्तित कर दिए जाते हैं यदि उनमें कोई दोष हो तो। वस्तुओं के दैशिक गुण इन्द्रियों द्वारा सीधे प्रत्यक्षीकृत होते हैं किन्तु कालक्रम चित्त अथवा बुद्धि की ही देन है। सामान्यतः योग की मान्यता है कि बाह्य विषय बुद्धि में पूर्णतः सही सही प्रतिबिम्बित हो जाते हैं जैसे जलाशय में वृक्ष।

"तस्मिश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥"

(योगवार्तिक १-४)।

बुद्धि उसी पदार्थ के रूप में परिणत हो जाती है जिसका प्रतिबिम्ब उसमें इन्द्रियों के माध्यम से पड़ता है, बल्कि यों कहें कि चित्त इन्द्रियों के माध्यम से बाहर जाकर उन पदार्थो पर पड़ता है और उनके प्रतिबिम्ब के रूप में परिणत हो जाता है। "इन्द्रियाण्येव प्रणालिका चित्तसंचरणमार्गः तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुपूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति।" (योगवा: १-४-७) तत्वकौमुदी में कुछ विभेद है २७ एवं ३०।

बुद्धि, योग के शब्दों में चित्त, प्रत्यक्ष और जीवन के व्यापारों के संचालन के अलावा अपने आप में संस्कारों[1] को तथा पूर्व-जन्मों की वासनाओं को भी समाहित रखता है। उचित वातावरण और प्रेरणा पाकर ये संस्कार जागृत हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पूर्व जन्मों में मनुष्य के रूप में या पशु के रूप में अनेक जीवन बिता चुका होता है। इन सभी जीवनों में यही चित्त उसके साथ रहता है। चित्त में उन समस्त

---

[1] पाणिनि ने जो सम्भवतः बुद्ध से पूर्ववर्ती था, संस्कार शब्द का प्रयोग तीन विभिन्न अर्थों में किया है—(१) किसी नए गुण का उत्पादन न होकर विद्यमान तत्वों में ही उत्कर्ष पैदा करना (सत उत्कर्षाधानं संस्कार; काशिका ४-२-१६) (२) समूहन अथवा समवाय (३) सजाना (पाणिनि ४.१.१३७-१३८)। पिटकों में 'संखार' शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है, जैसे निर्माण, उत्पादन, तैयारी, निष्पादन, शोभाजनन, समूहन, द्रव्य, कर्म, स्कन्ध (चिल्डर्स द्वारा संकलित)। वस्तुतः संखार उस किसी भी बात के लिए प्रयुक्त हो सकता है जिसके लिए अस्थायिता का कथ्य विधेय हो। किन्तु इन सब विभिन्न अर्थों के बावजूद मैं यह मानने का पक्षपाती हूं कि इन सब अर्थों में प्रधान अर्थ है समवाय वाला अर्थ (पाणिनि द्वारा प्रयुक्त समवाय)। "संस्करोति" शब्द कौषितकि (२-६, छान्दोग्य ४-१४ २-३-४-८, ८-५) और बृहदारण्यक (४ ३ १) उपनिषदों में प्रयुक्त है जिसका तात्पर्य उत्कर्षाधान है। (२) वाले अर्थ में इस शब्द को संस्कृत के अभिजात साहित्य में प्रयुक्त मैंने नहीं देखा। हिन्दू दर्शन में संस्कार का अर्थ बिलकुल दूसरा ही है। उसका तात्पर्य है अनुभूत विषय या वस्तुओं के चित्त पर पड़े प्रतिबिम्ब (जो बीज रूप में अवचेतन मन में निहित रहते हैं। हमारे समस्त अनुभव चाहे वे संज्ञानात्मक हों, भावनात्मक या क्रियात्मक, अवचेतन रूप में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल स्थितियाँ पाकर स्मृति के रूप में उद्भूत हो जाते हैं। 'वासना' शब्द (योगसूत्र ४-२४) परवर्ती प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती उपनिषदों में इसका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता और जहाँ तक मेरा परिज्ञान है, पाली पिटकों में भी नहीं। मोग्गलान की अभिधानप्पदीपिका में यह उल्लिखित है और मुक्तिकोपनिषद् में भी यह है। यह 'वस' (निवासार्थक) धातु से निष्पन्न शब्द है। इस शब्द को बहुधा शिथिल भाषा में संस्कार के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। व्यासभाष्य (४-९) में इन दोनों को एक माना गया है। किन्तु वासना से तात्पर्य पूर्व जन्मों की उन प्रवृत्तियों से है जो चित्त में सुषुप्त स्थिति में रहती है। केवल वे ही अभिव्यक्त हो पाती है जिन्हें इस जीवन में अनुकूल अवसर मिलता है जबकि संस्कार वे अवचेतन वृत्तियाँ हैं जो हर बार अनुभव के कारण उद्भूत होती रहती हैं। वासनाएँ वे सहज संस्कार हैं जो इस जीवन में नहीं आए हैं (देखें व्यासभाष्य, तत्ववैशारदी और योगवार्तिक ११ १३)।

पूर्वजन्मों की प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ संस्कार रूप में निहित रहती है। जिस प्रकार जाल में अनेक गांठें होती हैं उसी प्रकार चित्त में वासनाएँ गुथी रहती हैं। यदि किसी जन्म में मनुष्य कुत्ते की योनि में जन्म लेता है तो उसमें वे वासनाएँ जो उसके अनन्त पूर्व जन्मों में से किसी एक जन्म में कुत्ते के रूप में रही होंगी, जागृत हो जाती हैं और उसकी प्रवृत्तियाँ कुत्ते के अनुरूप हो जाती हैं। वह पूर्वजन्म के अनुभवों को भूल जाता है और कुत्ते के रूप में ही जीवन का भोग करने लगता है। प्रत्येक जन्म के अनुरूप वासनाओं के पुनर्जागरण के कारण ही वासनाओं में संघर्ष नहीं होता अन्यथा यह स्थिति आ जाए कि मनुष्य जन्म में कुत्ते की सी प्रवृत्तियाँ आ जाएँ और कुत्ते में मनुष्य की वासनाएँ आ जाएँ।

संस्कार वे बीज हैं जिनके कारण जीवन की कोई आदत या प्रवृत्ति या कोई आनन्द जिसका अनुभव व्यक्ति ने किसी समय किया हो अथवा भावनाएँ जो उसमें प्रबल रही हों, पुनर्जागृत हो जाती है, चाहे वे उस समय अनुभूत नहीं हो रही हों फिर भी वे प्रवृत्तियाँ चित्त में इस प्रकार रहती हैं कि कभी भी अनायास स्वतः प्रकट हो सकती हैं क्योंकि वे पहले की अनुभूतियाँ हैं और संस्कार रूप में चित्त में विद्यमान हैं। किसी अवांछनीय विचार या प्रवृत्ति के पुनर्जारण से बचने के लिए यह आवश्यक है कि संस्कार के रूप में उसके जो बीज बचे हों उन्हें निरन्तर अभ्यास द्वारा नष्ट कर दिया जाए और सद्विचारों के निरन्तर ध्यान द्वारा उनका बीज इतना दृढ़ कर लिया जाए कि असद् विचारों के संस्कार जागृत न होने पाएँ।

इसके अतिरिक्त चिन्त में चेष्टा भी विद्यमान रहती है जिसके कारण इन्द्रियाँ अपने विषय-भूत बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आ पाती हैं। चित्त में वह शक्ति भी निहित होती है जिससे वह अपना विरोध कर सके, अपनी दिशा बदल सके अथवा एक दिशा में ही बढ़ता चला जाए। ये लक्षण चित्त में अन्तर्निहित हैं और इन्हीं के आधार पर योग के विभिन्न अभ्यास और परिकर्म वर्णित हैं जिनसे कुछ चित्त-वृत्तियों का निरोध और कुछ का दृढ़ीकरण किया जा सके।

चित्त में ही उसकी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य और पाप रहते हैं जो उसकी वृत्तियों को परिचालित करते हैं और उनके अनुसार सुख और दुःख का भोग करवाते हैं।

दुःख एवं उसका निवारण[1]

सांख्य एवं योग, बौद्धों के समान ही, यह मानते हैं कि समस्त अनुभव दुःखात्मक होते हैं। जैसे ऊपर बताया गया, तम दुःखात्मक ही है। चूंकि तम किसी न किसी

---

[1] तत्ववैशारदी एवं योगवार्तिक ११/१५ ता तत्वकौमुदी १।

अंश में समस्त संयोगों में विद्यमान रहता है इसलिए समस्त बौद्धिक व्यापार दुःखात्मक भावना से किसी न किसी अंश में अनुविद्ध रहते हैं। यहाँ तक कि अस्थायी सुख के समय भी उसके पूर्व क्षण में दुःख रहता है क्योंकि हम सुख चाहते हैं; जिस समय हम सुख भोग रहे होते हैं उस समय भी इस भय का दुःख रहता है कि हम उस सुख को खो न दें। कुल मिलाकर दुःखों के क्षण सुखों की बजाय कहीं ज्यादा होते हैं और सुख दुःख की तीव्रता को बढ़ाते ही हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य समझदार होता है त्यों-त्यों वह अनुभव करता जाता है कि संसार और उसके अनुभव दुःखात्मक ही हैं। जब तक मनुष्य इस महान् सत्य को नहीं समझ लेता कि यह सब दुःखात्मक है और सांसारिक सुख और वैदिक यज्ञादि द्वारा प्राप्त स्वर्गिक सुख सभी अस्थायी हैं और दुःख के स्थायी निवारक नहीं हो सकते तब तक वह मुक्ति के लिए और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रवृत्त नहीं होगा। उसे समझना चाहिए कि समस्त सुख दुःखों के मार्ग हैं। सुख भोगों द्वारा उनके निवारण का प्रयत्न व्यर्थ है, सांसारिक और स्वर्गिक सुखों से निवृत्ति ही दुःखों का निवारण कर सकती है। वैदिक यज्ञादि का अनुष्ठान चाहे हमें सुख देदे किन्तु उनमें पशु बलि आदि से जो पातक होगा उससे फिर दुःख होगा अतः वह भी उपादेय नहीं कहा जा सकता। सुखों से पूर्ण वैराग्य के बाद ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय सूझ सकता है। दर्शन बतलाया है कि दुःख कितना व्यापक है, वह क्यों होता है, उसकी निवृत्ति का उपाय क्या है और उसके बाद क्या होता है। दुःख के निवारण का इच्छुक व्यक्ति उसके उपायार्थ ही दर्शन का आश्रय लेता है।

दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का सांख्य दर्शन का व्यावहारिक लक्ष्य है।[1] समस्त अनुभव दुःखात्मक हैं अतः उन्हें (अनुभवों को) पूर्णतः रोकने का कोई उपाय खोजना चाहिए। मृत्यु से भी ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है। जब तक चित्त और पुरुष साथ है, दुःख भी रहेंगे। चित्त को पुरुष से अलग करना होगा। सांख्य के अनुसार चित्त अथवा बुद्धि पुरुष के साथ इसलिए सम्बद्ध है कि वह अपने आप को उससे अभिन्न समझता है।[2] इसलिए यह आवश्यक है कि बुद्धि में पुरुष के स्वरूप की वास्तविक धारणा हम पैदा कर सकें। जब पुरुष का ज्ञान बुद्धि को हो जायगा तो

---

[1] योग इस विचार को कुछ परिवर्तित स्वरूप में लेता है। उसका लक्ष्य है जन्म और पुनर्जन्म के चक्र या संसार चक्र से मुक्ति जो दुःख से पूर्णतः सम्बद्ध है (दुःख बहुलः संसारः हेयः)।

[2] चित्त शब्द योग दर्शन की संज्ञा है। इसका नाम यह इसलिए पड़ा कि यही समस्त अवचेतन वृत्तियों का निधान है। सांख्य ने सामान्यतः बुद्धि शब्द का प्रयोग किया है। दोनों शब्द एक ही तत्व-मन को इंगित करते हैं किन्तु ये दोनों उसके दो अलग-अलग पहलुओं को बतलाते हैं। बुद्धि का तात्पर्य है प्रज्ञा।

वह अपने आपको उससे भिन्न पृथक् और असम्वद्ध समझेगी, तब अज्ञान नष्ट हो जाएगा फलस्वरूप वुद्धि पुरुष से निवृत्त हो जाएगी, उसे अनुभवों से नहीं वांधेगी जो कि दुःखात्मक हैं। तब पुरुप अपने सही रूप में रहेगा। सांख्य के अनुसार पुरुप की मुक्ति का यही मार्ग है। जब पुरुप और प्रकृति के इस भेद की वुद्धि उदित हो जाती है तो प्रकृति, जो जन्म-जन्मांतर से हमें अनुभवों के चक्र से गुजारती रहती है, अपनी चरम स्थिति को पहुँच जाती है और उसके वाद फिर वह पुरुप को बन्धन-बद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसके वारे में उसे सम्यक् ज्ञान हो जाता है। अन्य पुरुषों के लिए बन्धन उसी प्रकार बने रहते हैं और वे एक जन्म से दूसरे जन्म तक अनुभवों के अनन्त चक्र से गुजरते रहते हैं।

इसके विपरीत योग का यह मत है कि केवल दर्शन ही पर्याप्त नहीं है। मुक्ति के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि पुरुष और वुद्धि के भेद का ज्ञान हो जाए, यह आवश्यक है कि बुद्धि के अनुभवों की समस्त प्रवृत्तियाँ और उसके संस्कार सदा के लिए विनष्ट हो जाएँ। उस दशा में वुद्धि अपनी पूर्ण शुद्ध स्थिति में परिवर्तित हो जाती है और पुरुप के स्वरूप को प्रतिविम्बित करती है। यह सत्ता की केवल स्थिति (कैवल्य) होती है जिसके वाद समस्त संस्कार और अविद्या के निवारण के वाद चित्त पुरुप से संसक्त नहीं रहता और पर्वताग्र से गिरे हुए पत्थर की भाँति प्रकृति में आकर ही ठहरता है।[1] पूर्व संस्कारों के नाशार्थ केवल ज्ञान पर्याप्त नहीं है, एक क्रमवद्ध अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास का यह क्रम इस प्रकार व्यवस्थित होना चाहिए कि जीवन की उच्चतर और उन्नत वृत्तियों को जीने का अभ्यास किया जाय, मन को सूक्ष्मतम दशाओं में स्थिर किया जाए ताकि सामान्य जीवन की प्रवृत्तियां निवारित हो सकें। योगी ज्यों-ज्यों आगे वढ़ता है त्यों-त्यों वह उच्च स्थिति से उच्चतर स्थिति की ओर जाने का प्रयत्न करता है। इस क्रम से वह उस स्थिति को पहुँच जाता है जब वुद्धि चरम पूर्णता और शुद्धता को प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति में वुद्धि पुरुप का सारूप्य प्राप्त कर लेती है और मुक्ति हो जाती है।

योग में कर्मो को चार वर्गो में विभाजित किया गया है (१) शुक्ल अर्थात् पुण्य जो सुख देते हैं (२) कृष्ण, पाप जो दुःख देते हैं (३) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप जैसेकि हमारे अधिकांश सामान्य कर्म होते हैं जो कुछ पुण्यात्मक कुछ पापात्मक होते हैं,

---

[1] सांख्य और योग दोनों में इस मुक्त स्थिति को कैवल्य कहा गया है (केवल एक रह जाना)। सांख्य का यहाँ अभिप्राय यह है कि सारे दुःख पूर्णतः निवृत्त हो गए हैं जो पुनः कभी उद्भूत नहीं होंगे। योग का अभिप्राय यह है कि पुरुप इस स्थिति में अकेला यों रह जाता है कि वुद्धि से उसका कोई सम्पर्क नहीं रहता। देखें सांख्य-कारिका ६८ तथा योगसूत्र ४-३४।

उदाहरणार्थ उनसे कुछ जीवों का नाश होता है) और (४) अशुक्ल कृष्ण (आत्मसंयम, ध्यान आदि के आन्तरिक कर्म, जिनसे कोई सुख या दुःख पैदा नहीं होते और उनके फल के भोग का प्रश्न नहीं उठता)। समस्त बाह्य व्यापारों में कोई न कोई पातक निहित रहता है। वैसे भी संसार में किसी भी कर्म में जीव-जन्तुओं का, किसी प्राण का नाश अवश्य होता है।[1] समस्त कर्म पंच क्लेशों द्वारा जनित होते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये ५ क्लेश हैं।

हमने ऊपर विवेचन किया है कि अविद्या से क्या तात्पर्य है। सामान्यतः अविद्या के कारण बुद्धि को ही चैतन्य (चित्) समझा जाता है, उसे स्थायी और सुखजनक समझ लिया जाता है। यह मिथ्या ज्ञान इस रूप में रहते हुए ही अपने आपको फिर अस्मिता आदि आदि चार अन्य रूपों में अभिव्यक्त करता है। अस्मिता से हमें यह धारणा उत्पन्न होती है कि भौतिक द्रव्य और हमारे अनुभव हमारे हैं। 'मेरा' और 'मैं' की भावना उन पदार्थों में हो जाना जो वस्तुतः गुण अथवा गुणों के परिणाम हैं, अस्मिता है। उसके फलस्वरूप सुखों और पदार्थों में मोह हो जाना ही राग है। प्रतिकूल पदार्थों के प्रति घृणा या शत्रुता ही द्वेष है। जीवन के प्रति इच्छा, जीवन का मोह ही अभिनिवेश है। हम कार्यों में प्रवृत्त इसलिए होते हैं कि अनुभवों को हम अपना समझते हैं, हमारे शरीर को अपना समझते हैं, हमारे परिवार को अपना समझते हैं, सम्पत्ति को अपना समझते हैं, क्योंकि हमें इनसे मोह है, क्योंकि इनके विरुद्ध हुई किसी भी बात को हम द्वेष की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि हमें जीवन से प्यार है और उसे विपत्ति से बचाना चाहते हैं। स्पष्ट है कि, यह सब इसलिए होता है कि हम में अविद्या रहती है अर्थात् हम बुद्धि को गलती से पुरुष से अभिन्न समझ लेते हैं। ये पांच क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हमारी बुद्धि पर छा जाते हैं। वे ही हमें कर्म करने को बाध्य करते हैं जिससे हमें दुःख भोगना पड़ता है। ये क्लेश और उनके साथ किए हुए कर्म, जो बुद्धि के साथ उसके अंग के रूप में अन्तर्निहित रहते हैं, एक जन्म से दूसरे जन्म तक बुद्धि के साथ लगे रहते हैं और उनसे मुक्ति पाना बहुत कठिन है।[2] बुद्धि में उसके रूप या विकार के रूप में जो कार्य करते हैं उन्हें कर्माशय कहा जाता है (कर्म का वह आसन या स्थान जिसमें पुरुष रहता है)। बुद्धि के क्लेशों द्वारा प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं। इस प्रकार किया हुआ कर्म बुद्धि पर अपना निशान या परिणाम छोड़ता है। ईश्वर की स्थायी इच्छा के अनुरूप प्रकृति के उद्‌विकास के मार्ग में आए विघ्नों के निवारण के क्रम में तथा प्रकृति की प्रयोजनवत्ता के विधान के तहत ऐसा विहित है कि प्रत्येक दुष्कर्म दुःख में परिणत होता है और सत्कर्म सुख के फल भोग को जन्म देता है।

---

[1] व्यासभाष्य और तत्व वैशारदी, ४.७।

[2] व्यासभाष्य और तत्व वैशारदी, २. ३-९।

वर्तमान जन्म में किए गए कर्म संचित होते जाते हैं और जब उसके फल भोग का समय आता है तो उस व्यक्ति के लिए उसी प्रकार का जन्म विहित किया जाता है, प्रकृति के उद्विकास के क्रम के अनुरूप उसे उसी प्रकार की योनि मिलती है जिस प्रकार के सुखों का या दुःखों का भोग उसे करना होता है। इस प्रकार इस जन्म में किए हुए कर्म ही उसके लिए भविष्य का जन्म (मनुष्य या पशु के रूप में) निर्धारित करते हैं, वे ही उसकी आयु की अवधि तथा उस जन्म में उसे सुख या दुःख क्या भोगता है इसका निर्धारण करते हैं। कभी-कभी बहुत अच्छे कर्म या बहुत बुरे कर्म अपना फल इस जन्म में भी देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी मनुष्य ने बुरे कर्म किए जिनका फल भोगने के लिए उसे कुत्ते की योनि में जन्म लेना चाहिए और अच्छे कर्म भी किए जिनके फलस्वरूप उसे मनुष्य जन्म मिलना चाहिए तो ऐसी स्थिति में अच्छे कर्मों का फल स्थगित रह जाए और पहले कुत्ते के जीवन द्वारा उसे दुःख भोग करना पड़े, तदनन्तर पुनः वह मनुष्य रूप में जन्म ले और फिर अपने सत्कर्मों का अच्छा फल भुगते। किन्तु यदि हम पूर्णतः अविद्या और क्लेशों का नाश कर सकें तो जितने भी अभुक्तपूर्व कर्म हैं वे सब नष्ट हो जाएँगे और फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे। तब केवल उसे उन्हीं कर्मों का फल भोगना होगा जिनका पहले ही परिपाक हो चुका है। यही जीवन्-मुक्ति की दशा है, जब योगी को ब्रह्म ज्ञान हो जाता है किन्तु वह जीवन में अवस्थित रहता है और पहले से परिपक्व कर्मों का ही परिणाम भोग करता रहता है (तिष्ठति संस्कार-वशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः)।

चित्त

योग शब्द का, जो कि वैदिक साहित्य में इन्द्रिय संयम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पतंजलि ने अपने योगसूत्र में चित्तवृत्तियों के पूर्ण या आंशिक निरोध अथवा स्थिरीकरण के अर्थ में प्रयोग किया है। कभी-कभी तीव्र संवेगों द्वारा भी चित्त स्थिर या केन्द्रित होने की स्थिति में आ जाता है जैसे कि शत्रु से युद्ध करते समय या अज्ञान-जनित मोह की स्थिति में। प्रथम प्रकार की स्थिरता के चित्त को क्षिप्त कहा जाता है और दूसरे प्रकार के चित्त को प्रमूढ़ (अज्ञानी)। एक अन्य प्रकार का चित्त भी होता है जिसमें क्षणिक या स्थायी स्थिरता संभव होती है, मन कुछ समय के लिए किसी एक चीज पर स्थिर हो जाता है, फिर वहाँ से उचट कर किसी दूसरी चीज पर चला जाता है और उसमें रम जाता है। उस स्थिति को विक्षिप्त (अस्थिर) चित्त-भूमि कहा गया है। इन सबसे भिन्न एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें चित्त लम्बे समय तक किसी वस्तु पर केन्द्रित रह सकता है। उसे एकाग्र स्थिति कहते हैं। यह उच्चतर स्थिति होती है। उससे भी ऊँची एक स्थिति है जिसमें चित्त पूर्णतः नियंत्रित होता है, चित्तवृत्तियाँ रुक जाती हैं। यह स्थिति मुक्ति से ठीक पहले की स्थिति है। इसे चित्त की निरोध-दशा कहते हैं। योग का लक्ष्य है इन दो अन्तिम उच्च स्थितियों को प्राप्त करना।

चित्तों की पांच वृत्तियाँ होती है (१) प्रमाण[1] (सत्यज्ञान की स्थितियां जैसे प्रत्यक्ष अनुमान और शब्दप्रामाण्य द्वारा उद्भूत स्थिति (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान, भ्रम इत्यादि) (३) विकल्प (ऊहापोह तथा कल्पना की विभिन्न वृत्तियाँ) (४) निद्रा (मन की शून्यता की स्थिति जिसमें तम का ही प्राधान्य होता है) और (५) स्मृति।

चित्त वृत्तियाँ द्वारा ही हमें आन्तरिक अनुभव होता है। जब चित्त वृत्तियाँ हमें संसार-चक्र में खींचकर ले जाती हुई वासनाओं और उनकी पूर्तियों में लग जाती हैं तो उन्हें क्लिष्ट (क्लेश की ओर ले जाने वाली या क्लेशयुक्त) कहा जाता है। जब वे हमें मुक्ति की ओर ले जाती हैं तो उन्हें अक्लिष्ट कहा जाता है। हम किसी भी दिशा में जाएँ संसार की ओर या मुक्ति की ओर, चित्त वृत्तियाँ ही काम देती हैं। कभी ये वृत्तियाँ अच्छी होती है, कभी बुरी; जो वृत्तियाँ हमें अन्ततः मुक्ति की ओर ले जाएँ उन्हें ही अच्छी कहना चाहिए।

इससे हमें चित्त का एक महत्वपूर्ण लक्षण स्पष्ट होता है। वह यह कि कभी वह हमें अच्छी दिशा में (मुक्ति) और कभी बुरी दिशा में (संसार) ले जाता है। व्यास भाष्य के अनुसार वह एक ऐसी नदी है जो दोनों ओर बहती है; पाप की ओर तथा अच्छाई की ओर। प्रकृति की प्रयोजनवत्ता की यह अपेक्षा है कि मनुष्य में वह संसार और मुक्ति दोनों की प्रवृत्तियाँ जगाती है।

---

[1] सांख्य की मान्यता है कि ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य स्वयं ज्ञान की दशा पर ही निर्भर रहता है, वाह्य पदार्थों या तथ्यों से संवाद या असंवाद पर नहीं (स्वतः प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यम्)। अनुमान-सिद्धान्त को सांख्य की देन क्या रही है यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ है। वाचस्पति ने जितना सा कुछ इस विषय पर लिखा है वह सब वात्स्यायन से ही लिया हुआ है, जैसे, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान के तीन भेद। इनका विवेचन हमारे न्यायदर्शन वाले अध्याय से अथवा वाचस्पति की तात्पर्य टीका से अधिक स्पष्टता से जाना जा सकता है। सांख्य का अनुमान सात प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर, विशेष से विशेष का, होता था ऐसा लगता है। इसलिए वे अनुमान के सात भेद मानते हैं।

"मात्रा-निमित्त-संयोगि-विरोधि-सहचारिभिः।
स्वस्वामिवध्य-घावताद्यैः सांख्यानां सप्तधानुया।"

—तात्पर्य टीका, पृ० १०९।

सांख्यों के अनुमान की परिभाषा, जैसी कि उद्योतकर ने की है, इस प्रकार है—

"संवन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेपसिद्धिरनुमानम्।"

—उद्योत १-१-५।

इस प्रकार इसी के अनुसार अनेक बुरे विचारों और बुरी आदतों के बीच अच्छी नैतिक अभिलाषा और अच्छे विचार आते हैं और अच्छी आदतों और विचारों के बीच बुरे विचार और दुष्प्रवृत्तियाँ भी आती हैं। इसलिए अच्छा बनने की अभिलाषा मनुष्य में कभी समाप्त नहीं होती क्योंकि ऐसी अभिलाषा भी, सुख के उपभोग की इच्छा के समान, उसमें उतनी ही तीव्रता से निहित रहती है। यह एक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि इसमें योग के नैतिक पक्ष का वह मूलभूत आधार निहित है जो बतलाता है कि मुक्ति की इच्छा किसी आनन्द वाली, सुख के आकर्षण से जनित नहीं है, वह दुःख की निवृत्ति का प्रयत्न भी नहीं है, बल्कि मन की एक सहज प्रवृत्ति है जो उसे मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्त करती है।[1] दुःख की निवृत्ति भी इस मार्ग के अनुसरण का एक सहगामी परिणाम है, किन्तु इस मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा एक सहज और अदम्य मानसिक वृत्ति के कारण ही होती है। मनुष्य के चित्त में यह शक्ति संचित है। उसे इस शक्ति का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि उसकी यह सत् प्रवृत्ति क्रमशः अधिक बलवती होती जाए और अन्ततः अन्य प्रवृत्तियों को समाप्त कर दे। वह इसमें सफल हो जाता है क्योंकि प्रवृत्ति को अपना चरम परिणाम मुक्ति में ही प्राप्त होता है।[2]

योग के परिकर्म (शुद्धि-अभ्यास)

योगाभ्यास का उद्देश्य है चित्त को मोक्ष की दिशा में निरन्तर वर्धमान विचार-प्रक्रियाओं के प्रति स्थिर करना जिससे असत् प्रवृत्तियाँ निरन्तर क्षीण होकर समाप्त हो जाएँ। किन्तु चित्त को इस महान् अभ्यास के योग्य बनाने हेतु यह आवश्यक है कि उसे सामान्य अशुद्धियों से मुक्त किया जाए। इसलिए योगी को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के अलावा किसी चीज का संचय न करना) का अभ्यास करना चाहिए। इन्हें सामूहिक रूप से 'यम' कहा जाता है। शुद्धि के इन उपायों के साथ योगी को बाह्य शुद्धि का भी अभ्यास करना होता है। शरीर और मन की शुद्धि, संतोष, शीतोष्ण आदि समस्त कष्टों के सहन का अभ्यास, शरीर को निश्चल और वाणी को संयत रखने का अभ्यास (जिन्हें 'तप' कहा गया है),

---

[1] किन्तु सांख्य के अनुसार हमारे समस्त पुरुषार्थ का उद्देश्य तीन प्रकार के दुःखों की पूर्ण और आत्यन्तिक निवृत्ति ही है। त्रिविध दुःख है, आध्यात्मिक (शरीर की व्याधि या मन की असन्तुष्ट वृत्तियों या इच्छाओं द्वारा आन्तरिक रूप से जनित) आधिभौतिक (अन्य मनुष्यों या पशुओं आदि के द्वारा बाह्य रूप से आए ताप, चोट या नुकसान और आधिदैविक (राक्षसों या भूत प्रेतपिशाचादि द्वारा पहुँचाया जाने वाला नुकसान या दुःख)।

[2] देखें, मेरा निबन्ध 'योग साइकोलोजी' ([illegible])

शास्त्रों का अध्ययन (स्वाध्याय) तथा ईश्वर का ध्यान (ईश्वर प्रणिधान), ये सब 'नियम' भी उसे पालने होते हैं। इनके साथ कुछ अन्य अनुशासन भी विहित हैं जैसे प्रतिपक्ष-भावना, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। प्रतिपक्ष भावना का तात्पर्य है कि जब भी कोई असद् विचार (जैसे स्वार्थ भावना आ जाए तो उसके विपरीत सद्-विचार (जैसे परमार्थ-भावना) का अभ्यास करे ताकि कुविचार न पनपें। हमारे अधिकांश दोष हमारे संगी साथियों के प्रति उपजे द्वेष के कारण पैदा होते हैं। इनके निवारणार्थ केवल संयम पर्याप्त नहीं होता, इसलिए चित्त को समस्त मनुष्यों के प्रति मैत्री भाव रखने हेतु अभ्यास करना चाहिए। मैत्री का तात्पर्य है समस्त प्राणियों को मित्र समझना। यदि हम इसका निरन्तर अभ्यास करलें तो उनसे हमें द्वेष कभी नहीं होगा। इसी प्रकार दुःखी प्राणियों के लिए करुणा रखनी चाहिए, समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए हमेशा मुदिता याने प्रसन्नता की भावना रखनी चाहिए तथा दूसरों के दोषों के प्रति उपेक्षा की भावना रखनी चाहिए। इसका तात्पर्य है कि योगी दुष्टों के दोष नहीं देखता।

जब चित्त सांसारिक सुखों से विरक्त हो जाता है और यज्ञादि के अनुष्ठान से मिलने वाले स्वर्गादि फलों से भी वैराग्य हो जाता है, साथ ही चित्त अशुद्धियों से रहित और योगाभ्यास के योग्य हो जाता है तो योगी निरन्तर अभ्यास, श्रद्धा, वीर्य (निष्पादन और उद्देश्य की शक्ति) एवं प्रज्ञा के क्रमों से गुजरता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

योगाभ्यास

जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो बाह्य प्रभावों से उसके विचलित होने की सम्भावनाएँ बिल्कुल कम हो जाती हैं। इस स्थिति में योगी दृढ़ आसन जमाता है और किसी विषय को चुन कर उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वैसे, यही अच्छा समझा गया है कि वह ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित करे क्योंकि तब ईश्वर प्रसन्न होकर उसके मार्ग के विघ्नों को दूर कर देगा और सफलता अधिक सरल हो जाएगी। किन्तु इस बात में उसे छूट है कि वह अपनी समाधि लगाने के लिए किसी भी विषय को चुन सकता है। ध्यान केन्द्रित करने (समाधि) की चार स्थितियाँ बताई गई हैं : वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। इनमें वितर्क और विचार प्रत्येक के दो दो भेद हैं, सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार, निर्विचार।[1] जब चित्त विषयों पर इस तरह ध्यान केन्द्रित करता है कि उनके नाम और गुण भी ध्यान में रहते हैं तो उसे सवितर्क समाधि कहा

---

[1] वाचस्पति का मत है कि आनन्द और अस्मिता के भी दो दो भेद हैं किन्तु इसका भिक्षु ने खंडन किया है।

जाता है। जब पांच तन्मात्रों पर, उनके गुणों सहित ध्यान लगाते हैं तब सविचार और जब केवल तन्मात्रों पर ध्यान रहता है, गुणों पर नहीं तब निर्विचार समाधि होती है। आनन्द और अस्मिता की स्थितियाँ इनसे ऊपर हैं। आनन्द की स्थिति में मन बुद्धि पर इस तरह केन्द्रित होता है कि ऐन्द्रिय व्यापार से आनन्द विद्यमान रहे। अस्मिता की दशा में बुद्धि, निर्गुण, निराकार शुद्ध तत्व पर केन्द्रित होती है। इन सभी स्थितियों में ज्ञेय विषयों पर मन चेतन रूप में केन्द्रित होता है इसलिए इन सबको संप्रज्ञात समाधि (विषयों के ज्ञान सहित) कहते हैं। इसके बाद समाधि की अन्तिम स्थिति असंप्रज्ञात समाधि अथवा 'निरोध समाधि' आती है जिसमें कोई विषय नहीं होता। इस स्थिति में अधिक समय रहने पर निरोध दशा के निरन्तर अभ्यास के कारण पुराने समस्त संस्कार जो विषय जगत् के सांसारिक अनुभवों अथवा आन्तरिक वैचारिक अनुभवों के कारण उद्‌भूत होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। तब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, बुद्धि पुरुष के समान शुद्ध हो जाती है और चित्त पुरुष को बन्धन में न रख पाने के कारण पुनः प्रकृति में लीन हो जाता है।

इस समाधि[1] के अभ्यास के लिए योगी को बहुत शान्त स्थान पर्वत की गुफा या निर्जन जंगल में बैठना चाहिए जिससे कोई व्याघात न हो। सबसे बड़ा विघ्न, इसमें, होता है हमारी श्वास प्रणाली। इसका नियमन ही प्राणायाम द्वारा किया जाता है। श्वास को चढ़ाने, उसे अन्दर रोकने और फिर छोड़ने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। अभ्यास से श्वास को निरन्तर कई घन्टों, दिनों, महिनों और वर्षों तक रोका जा सकता है। जब सांस लेने या छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती और उसे लम्बे समय तक स्थिर रखा जा सकता है तो यह प्रमुख विघ्न दूर हो जाता है।

ध्यान लगाने की प्रक्रिया स्थिर आसन में बैठकर, प्राणायाम से श्वास का निरोध कर, समस्त विचारों को अन्य विषयों से हटाकर एक विषय पर लगाकर (धारणा) शुरू की जाती है। पहले एक विषय पर स्थिरता कठिन होती है, इसलिए बार बार उस विषय का ध्यान किया जाता है। इसे 'ध्यान' कहते हैं। पर्याप्त अभ्यास के बाद मन स्थिरता की शक्ति अर्जित कर लेता है तब वह विषय के साथ एकाकार हो जाता है और परिवर्तन या दोहराव नहीं होता। विषय की चेतना भी नहीं रहती, चिंतन नहीं रहता, चित्त स्थिर और एकाकार हो जाता है। इसे समाधि कहते हैं। हमने समाधि की छः स्थितियाँ ऊपर बतला दी हैं। जब समाधि की एक स्थिति में योगी सफल हो जाता

---

[1] समाधि शब्द का कोई सही पर्याय नहीं हो सकता। कन्सेन्ट्रेशन या मेडिटेशन आदि शब्द अपर्याप्त हैं। योग के तात्पर्यानुसार समाधि एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन अविचलित भाव से एक विषय से एकाकार हो जाता है, कोई अस्थिर वृत्तियाँ उसमें नहीं आतीं।

है तो वह क्रमशः आगे की स्थितियों में जाता है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है उसे चमत्कारिक शक्तियाँ (विभूतियाँ) प्राप्त हो जाती हैं। योगाभ्यास में श्रद्धा और आशा बढ़ जाती है। विभूतियों के कारण कई प्रलोभन आते हैं किन्तु योगी अपने लक्ष्य में दृढ़ रहता है और चाहे उसे इन्द्रासन का लोभ दिलाया जाए तो भी वह विचलित नहीं होता। उसकी प्रज्ञा प्रत्येक चरण पर बढ़ती जाती है। प्रज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान के समान स्पष्ट ज्ञान है किन्तु यह भेद है कि प्रत्यक्ष स्थूल पदार्थों और कुछ स्थूल गुणों को ही ग्रहण कर[1] सकता है जबकि प्रज्ञा कि कोई ऐसी सीमाएँ नहीं है। वह सूक्ष्मतम पदार्थों, तन्मात्रों और गुणों को स्पष्ट रूप से उनकी समस्त स्थितियों और धर्मों[2] सहित ग्रहण कर सकती है। जब प्रज्ञा के संस्कार स्थिर हो जाते हैं तो सामान्य ज्ञान जनित संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तब योगी प्रज्ञा में स्थित हो जाता है। प्रज्ञा की यह विशेषता है कि वह मोक्ष की ओर ही ले जाती है और संसारिक बन्धन में नहीं बांधती। मोक्ष की ओर ले जाने वाली प्रज्ञाएँ सात प्रकार की होती हैं—

(१) मैंने संसार को दुःखों और कष्टों के मूल के रूप में जान लिया है, मुझे इसका अब कुछ और नहीं जानना।

(२) संसार के मूल और आधार पूर्णतः उन्मूलित हो गए हैं, अब कुछ उन्मूलित होना बाकी नहीं रहा।

(३) निरोध समाधि के द्वारा मुक्ति सीधे ज्ञान का विषय हो गई है।

(४) पुरुष और प्रकृति में भेद के रूप में सत्य ज्ञान का साधन प्राप्त हो गया है। अन्य तीन स्थितियाँ मनस्तात्विक (मानसिक) न होकर दार्शनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। वे इस प्रकार हैं—

---

[1] प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाएँ कारिका में वर्णित हैं। वहाँ इस प्रकार के व्याघातक बतलाए हैं जैसे बहुत दूरी (आकाश में बहुत ऊँचा उड़ने वाला पक्षी), बहुत निकटता (जैसे स्वयं आँख में लगा हुआ अंजन) इन्द्रिय विरह (आँख का अन्धा हो जाना), ध्यान का अभाव, विषय का अत्यन्त सूक्ष्म होना (जैसे परमाणु) मध्यवर्ती किसी पदार्थ द्वारा व्याघात (जैसे बीच में दीवार का आ जाना), अपने से अधिक प्रकाशमान वस्तु की विद्यमानता (जैसे तारे सूर्य की उपस्थिति में नहीं दिखते) तथा अपने सजातीय अन्य पदार्थ में व्यामिश्र हो जाना (जैसे जल झील में डाल दिए जाने पर अलग से प्रत्यक्षीकृत नहीं हो सकता)।

[2] यद्यपि समस्त पदार्थ गुणों के ही परिणाम हैं तथापि इन्द्रियों के ज्ञान द्वारा गुणों का वास्तविक स्वरूप कभी ज्ञात नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों को जो प्रतिभास होता है वह इन्द्रजाल के समान मायात्मक धर्मों का ही होता है—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।"

(व्यास भाष्य ४/१३)।

(५) बुद्धि के दोनों उद्देश्य, भोग और अपवर्ग प्राप्त हो गए हैं।

(६) पर्वताग्र से गिरे हुए पत्थरों की भाँति विघटित गुण अपनी लयात्मक प्रवृत्ति के कारण आपस में विलीन होने लगे हैं।

(७) बुद्धि के समस्त घटक विघटित हो गए हैं और गुण प्रकृति में लीन होकर सदा के लिए उसी में रह गए हैं। गुणों के बन्धन से मुक्त होकर पुरुष अपने शुद्ध चित् स्वरूप में चमकने लगता है। सांख्य योग की मुक्ति में आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि समस्त भावनाएँ और अनुभव प्रकृति के ही स्वरूप माने गए हैं। मुक्ति तो शुद्ध चित् की स्थिति है। जिस उद्देश्य को सांख्य ज्ञान मार्ग से प्राप्त करना चाहता है उसे योग मन के सम्पूर्ण अनुशासन तथा चित्त वृत्तियों के पूर्ण मानसिक नियंत्रण द्वारा प्राप्त करता है।

——∞——

अध्याय ८

न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय दृष्टिकोण से बौद्ध और सांख्य दर्शन की आलोचना

बौद्ध दर्शन के मतानुसार सभी संन्निवेश (द्रव्य समुच्चय) क्षणिक एवं अस्थायी हैं। एक समुच्चय के नाश की पृष्ठभूमि में दूसरे समुच्चय की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धांत ने साधारण व्यावहारिक बुद्धि पर आधारित, द्रव्य और गुण, कारण-कार्यभाव, एवं वस्तुओं के स्थायित्व की सारी धारणाओं को हिला दिया था। परन्तु बौद्ध दर्शन में वर्णित क्षणिकत्व सिद्धान्त न्याय दर्शन के मतानुसार युक्ति-संगत नहीं दिखाई देता। जब यह कहा जाता है कि दूध को बनाने वाले तत्वों से दही तत्व-पुंज उत्पन्न हो गए तब बौद्ध व्याख्या के अनुसार कारण-तत्वों की सम्मिलित प्रक्रिया के फलस्वरूप यह क्रिया होती है जिसकी कार्य विधि को हम नहीं समझ पाते। परन्तु कारण-तत्व स्वतन्त्र रूप से कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकते। कारण-तत्व पुंजों की स्वतंत्र क्रिया से कार्य-तत्व पुंज की उत्पत्ति हमारे अनुभव और साधारण ज्ञान के विपरीत है। कारण-रूप के विशेष तत्व कार्य तत्व पुंज में भी पाए जाते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि एक क्षण में ही पहला पदार्थ नष्ट हो गया और दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति हो गई। उदाहरण के लिए दूध (कारण तत्व) में जो श्वेत तत्व है वह दही में भी पाया जाता है। इसी प्रकार लोहे के कणों में जो काला रंग, कड़ापन और अन्य गुण पाए जाते हैं, वे उससे निर्मित लोहे के गोले में नहीं पाए जाएँगे, यह नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि कारण तत्व पुंजों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्वतन्त्र रूप से वे किसी कार्य स्थिति का प्रादुर्भाव नहीं कर सकते। यदि एक तत्व-पुंज, क्षण में ही समाप्त हो जाता है, तो कारण तत्व-पुंज द्वारा जो द्रव्य कार्य रूप में उत्पन्न किया जाता है उसमें पूर्व वस्तु के गुणों का समावेश नहीं हो सकता। पुनः यदि यह क्षणिकत्व सिद्धान्त मान भी लिया जाए और यह कहा जाए कि सारे कारण-तत्व एक साथ, सम्मिलित रूप में एक ही क्षण में (प्रभाव रूप से) कार्य तत्व पुंज की उत्पत्ति करते हैं, तो फिर विभिन्न कारणों में किसी प्रकार का अन्तर करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। 'उपादान' निमित्त और 'सहकारी' कारण सब एक ही हो जाएँगे। जैसे घड़े के निर्माण में मिट्टी (जिससे वस्तु बनती है) उपादान कारण है, कुम्हार, चक्र और दंड ये सब निमित्त कारण हैं और चक्र दंड आदि का रंग-रूप सहकारी कारण हैं। पर यदि

कारण-तत्व समुच्चय किसी अज्ञात प्रक्रिया से संयुक्त रूप से कार्य-प्रभाव की सृष्टि करते हैं तो फिर इन उपादान, निमित्त आदि कारणों की कोई आवश्यकता नहीं है।

पुनः जब कारण-तत्व समूह का आविर्भाव होता है, तब वह तत्काल, उसी क्षण में कार्य तत्वों की उत्पत्ति नहीं कर सकता। कम से कम एक और क्षण की आवश्यकता होगी जिसमें वह कार्य तत्व-समूहों की उत्पत्ति कर सके। इस स्थिति में जो वस्तु उत्पन्न होने वाले क्षण में ही विनिष्ट हो जाती है, वह दूसरी वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकती है। क्योंकि इसकी कार्य-क्षमता के लिए कम से कम एक और क्षण तो चाहिए जिसमें वह प्रभावशील हो सके। सत्य यह है कि विभिन्न कारण तत्व पहले से ही विद्यमान रहते हैं और जब उनका उचित अवस्था और अनुपात में संयोग होता है तब नए द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। जीवन के व्यावहारिक अनुभव से भी हम देखते है कि विभिन्न वस्तुएँ पहले से चली आ रही हैं, ये पूर्व काल में भी थीं और वर्तमान में भी हैं। पूर्व काल को हम भूत काल के रूप में, इस समय को वर्तमान और आगे आने वाले काल को भविष्यत् के रूप में देखते हैं और साथ ही यह भी देखते हैं कि भूतकाल से अनेक वस्तुएँ उसी रूप में चली आ रही हैं और भविष्यत् में भी उनकी स्थिति कुछ काल तक तो अवश्य ही रहेगी। अतः यह सिद्धान्त कि वस्तुओं का अस्तित्व केवल एक क्षणमात्र के लिए ही है, युक्ति-संगत नहीं लगता।

सांख्य दर्शन की मान्यता है कि कार्य केवल विभववान कारणों की कार्यान्विति मात्र है। कारण-स्थिति में भविष्य में सम्पन्न होने वाले सारे कार्यों की अनुगुप्त स्थिति होती है। विभव रूप से कारण में कार्य की स्थिति निहित हैं। कारण के गतिशील होने के पूर्व ही उसमें सारे कार्यो का विभव होता है यह सिद्धान्त भी न्याय के अनुसार आधारहीन दिखाई देता है। सांख्य कहता है कि तिल में तेल पहले से ही विद्यमान है पर पत्थर में नहीं है। अतः तिल से तेल उत्पन्न होता है, पत्थर से नहीं होता। निमित्त कारण का केवल इतना ही योग है कि जो मूल कारण में पहले ही से विभव रूप में विद्यमान है उसको प्रकट करे अथवा उसकी कार्यान्विति कर दे। यह सब असंगत है। मिट्टी का पिण्ड कारण कहा जाता है और घड़ा कार्य। यह कहना हास्यास्पद है कि मिट्टी के पिंड में घड़ा विद्यमान है क्योंकि मिट्टी के पिंड से हम जल नहीं भर सकते। घड़ा मिट्टी से बनाया जाता है पर मिट्टी घड़ा नहीं है। इस कथन से क्या अर्थ है कि घड़ा अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से मिट्टी में स्थित था जो अब व्यक्त रूप में प्रकट हो गया। विभव स्थिति का कथन भी अर्थहीन है। घड़े की विभव स्थिति, इसकी वास्तविक स्थिति से कोई संगति नहीं रखती। सरल शब्दों में घड़ा विद्यमान ही नहीं था। उसका कोई अस्तित्व नहीं था। मिट्टी का पिंड मिट्टी के रूप में है। जब तक इससे घड़ा नहीं बनाया जाता, घड़े की कोई स्थिति नहीं है। अगर यह कहा जाए कि घड़े का निर्माण करने वाले परमाणु वही हैं जो मिट्टी को बनाते हैं तो इसे स्वीकार करने में

कोई आपत्ति नहीं है। पर इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि घड़ा इन परमाणुओं में विद्यमान है मिट्टी की यह योग्यता है कि वह कुम्हार के द्वारा अन्य साधनों के योग से घड़े के रूप में परिवर्तित की जा सकती है। पर यह योग्यता कार्य-अभाव नहीं है योग्यता को कार्य नहीं कहा जा सकता। यदि यह मान लिया जाए तो इसका अर्थ होगा कि घड़े से घड़े की उत्पत्ति हुई। सांख्य का यह मत भी कि द्रव्य और उसके गुण एक ही तत्व है, उचित प्रतीत नहीं होता। यह तो साधारण अनुभव से ही सिद्ध है कि गति और गुण द्रव्य के धर्म हैं, गुण के नहीं। सांख्य का यह मत भी बड़ा हास्यास्पद है कि बुद्धि और चेतना (चित्) अलग-अलग है। बुद्धि को अचेतन या चेतना हीन मानना अर्थहीन है। फिर इस व्यर्थ की कल्पना से क्या लाभ है कि बुद्धि के गुण-तत्व से 'पुरुष' प्रकाशित होता है और फिर यह अपना प्रकाश बुद्धि को देता है। हमारे सारे अनुभवों के आधार पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आत्मा (आत्मन) ज्ञान को प्राप्त करता है, संवेदना और संकल्प भी आत्मा का विषय है। इस साधारण तथ्य को सांख्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि संवेदना, संकल्प और ज्ञान तीनों बुद्धि के धर्म हैं। फिर अनुभव की व्याख्या के लिए सांख्य को दुहरे परावर्तन (प्रतिबिम्ब) की कल्पना का आश्रय लेना पड़ा। सांख्य की कल्पना में प्रकृति 'चित्' रूप में नहीं है, जड़ है। 'पुरुष' इस प्रकृति के पाश में बंधा हुआ मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस बात का क्या प्रमाण है कि यह जड़ प्रकृति पुरुष को अपने बन्धन से मुक्त कर देगी और इसका भी कैसे विश्वास किया जाए कि प्रज्ञावान् पुरुष को यह प्रकृति पुनः अपने बन्धन में नहीं जकड़ लेगी और सदैव के लिए मुक्त कर देगी। पुनः यह आश्चर्य है कि यह बुद्धिमान् चेतन 'पुरुष' इस जड़ प्रकृति के बन्धन में कैसे बंध जाता है। प्रकृति का उपभोग अनेक 'पुरुष' कर रहे हैं। क्या प्रकृति कोई सुकोमल अभिजात किशोरी है जो, 'पुरुष' को उसके नग्न स्वरूप का पता लगते ही लजा कर छोड़ जाएगी। फिर सुख, दुःख और मोह, आत्मा की संवेदनात्मक अनुभूतियाँ हैं, इनको सांख्य ने किस प्रकार भौतिक तत्वों के रूप में मानने का दुःसाहस किया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि रचना के सिद्धान्त में 'महत्', 'अहंकार', 'तन्मात्रा' आदि की कल्पना का कोई ठोस, युक्ति-संगत आधार नहीं है। यह केवल प्रमाणहीन मानसिक कल्पना है जिनको अनुभव या किसी प्रत्यक्ष आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह सब तथ्यहीन भ्रान्तियां हैं। अनुभव के यथार्थ रूप को जानने के लिए यह आवश्यक है कि युक्तियुक्त और व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसका समुचित विवेचन किया जाए क्योंकि यह विवेचन अन्य मतों में नहीं मिलता (न्याय मंजरी पृ० ४५२–४६६ और ४६०–४६६ देखिए)।

न्याय और वैशेषिक सूत्र

सम्भवतः 'न्याय' शब्द की उत्पत्ति अनेक विद्वानों के द्वारा वेदविषयक वार्ताओं

और विवादादि के संदर्भ में हुई होगी अथवा उस समय अनेक मत मतान्तर, शाखा-प्रशाखाएँ ऐसी थीं, जो दूसरों को हराकर अपनी मान्यता स्थापित करवाने के लिए विशेष रूप से शास्त्रार्थ किया करती थीं। यह भी सम्भव हो सकता है कि इन शास्त्रार्थों के लिए एक युक्ति-संगत विधि निर्माण करने के प्रसंग में न्याय ने जन्म लिया हो। यह जानकारी हमको उपलब्ध है कि उपनिषदों के अर्थादि विषयों को लेकर शास्त्रार्थ हुआ करते थे और शास्त्रार्थ की विधि का अध्ययन करना एक विशेष विद्या मानी जाती थी। सम्भवतः यह 'विद्या' उस समय 'वाको वाक्य' की संज्ञा से जानी जाती थी। बुहलर साहब के मतानुसार श्री आपस्तंब नाम के विद्वान् का कार्य-काल इसी से तीन शताब्दी पूर्व होना चाहिए। श्री बोडास महोदय का कथन है कि आपस्तंब ने 'न्याय' शब्द का प्रयोग मीमांसा के रूप में किया है।[1] इस शब्द 'न्याय' की उत्पत्ति संस्कृत की 'नी' धातु से हुई है। इसके अर्थ की विवेचना करते हुए यह कहा जाता है कि इसी के द्वारा शब्दों और वाक्यों के निश्चित अर्थों का बोध होता है। इस न्याय के आधार पर ही वैदिक शब्दों का उच्चारण निश्चित किया जाता है। इस उच्चारण और स्वर-बल के आधार पर संस्कृत शब्दों के सन्धि-विच्छेद में सहायता मिलती है जिससे इन सन्धिगत शब्दों के सही स्वरूप का निरूपण हो सके। अतः वैदिक शब्दों के उच्चारण को भी 'न्याय' की संज्ञा दी जाती थीं।[2] कौटिल्य ने 'विद्याओं (विज्ञान) की सूची में 'आन्वीक्षिकी' (प्रत्यक्ष और शास्त्रीय ज्ञान की विविध परीक्षाओं द्वारा सत्या सत्य विवेचन का विज्ञान) २. त्रयी (तीनों वेद) ३. वार्ता (कृषि एवं पशुपालन विज्ञान ४. दंड नीति (राजनीति) इन चार विद्याओं का वर्णन दिया है। दर्शनों में उन्होंने 'सांख्य', 'योग', 'लोकायत' और आन्वीक्षिकी इन चार दर्शनों का उल्लेख किया है। इसके आधार पर प्रोफेसर जैकोबी ऐसी कल्पना करते हैं कि ईसा से ३०० वर्ष पूर्व कौटिल्य के समय तक न्याय सूत्र का निर्माण नहीं हुआ था।[3] कौटिल्य ने न्याय के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग किया है। अतः प्रोफेसर जैकोबी को उपर्युक्त भ्रान्ति हुई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय तक न्याय शब्द का प्रचलन कम हो पाया था। इसी प्रकार उनको वात्स्यायन के कथन को समझने में

---

[1] 'आपस्तंब' ग्रन्थ की भूमिका श्री बुहलर द्वारा अनुवाद में इन्ट्रोडक्शन पेज xxxvii देखिए। साथ ही श्री बोडास का लेख, बाम्बे शाखा के जे० आर० ए० एस वाल्यूम xix में 'हिस्टोरिकल सर्वे आफ इन्डियन लोजिक' देखिए।

[2] कलिदास के कुमारसम्भव में कहा है 'उद्घाटो प्रणवो यासाम् न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।'
(इस पर मल्लो नाथ की टीका भी देखिए)।

[3] प्रोफेसर जैकोबी द्वारा लिखित पुस्तक "दि अरली हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी" एन्टीक्विटी १९१८ देखिए।

भी भ्रांति हुई है। वात्स्यायन कहते हैं न्याय वही विद्या है जो कौटिल्य के समय में 'आन्वीक्षिकी के नाम से प्रसिद्ध थी। न्यय सूत्र I.i.I प्रोफेसर जैकोवी ने इसका अर्थ यह समझा कि वात्स्यायन इन दोनों में भेद बतलाते है। प्रोफेसर जैकोवी ने यह अनुमान किया कि 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ तर्कशास्त्र से है और न्याय का विषय तर्कशास्त्र और आध्यात्मिक दर्शन दोनों हैं। वात्स्यायन इसके विपरीत निश्चित रूप से न्याय और आन्वीक्षिकी एक ही विद्या मानते हैं कि केवल तर्कशास्त्र के कुछ अंगों को निश्चित रूप देकर उनको अलग से स्थापित करना चाहते है जैसे संशय (शंका) आदि। साधारण रूप से ये पारिभाषिक शब्द 'प्रमाण' (संज्ञान के साधन) और 'प्रमेय' (संज्ञान के विषय) में सम्मिलित हैं। श्री वात्स्यायन का मत है कि जब तक इन परिभाषात्मक शब्दों को निश्चित रूप नहीं दिया जावेगा न्याय शास्त्र, भी 'अध्यात्म विद्या' में परिवर्तित हो जाएगा। इस-हेतु न्याय के विशिष्ट शब्दों की एवं उप शाखाओं की पृथक् स्थापना अत्यन्तावश्यक है। 'न्याय' का प्राचीन अर्थ है 'उचित अर्थो का निश्चय करना' इससे वात्स्यायन भी सहमत हैं। श्री वाचस्पति मिश्र ने भी अपनी 'न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका' (I iv) में इस अर्थ को स्वीकार किया है।

वाचस्पति 'न्याय' शब्द का अर्थ, तर्क एवं प्रमाण के आधार पर किसी वस्तु का परीक्षण करना बतलाते हैं–'प्रवाणैरर्थ परीक्षणम्।' इस अर्थ की तुलना मैं आन्वीक्षिकी शब्द के धातुगत अर्थ से करते हैं 'आन्वीक्षिकी का धातुगत अर्थ प्रत्यक्ष और शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान का यथार्थ परीक्षण करना है। वात्स्यायन साथ ही यह कहते हैं कि न्याय के तार्किक अग का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। सारे प्राणी, उनकी सारी क्रियाओं और सारी विद्याओं का अध्ययन तर्कशास्त्र द्वारा किया जा सकता है।[1] कौटिल्य का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि न्याय की इस क्षमता से सारी विद्या में प्रकाशित होती है और सारे शास्त्रों का आधार न्याय है अध्यात्म दर्शन के समुचित निरूपण और सत्य के स्वरूप को जानने में इससे जो सहायता मिलती हैं, उसके कारण यह मोक्ष का साधन है। प्रोफेसर जैकोवी का यह मत है कि अध्यात्म, न्याय में आरम्भ में सम्मिलित नहीं था, अपितु बाद में जोड़ा गया है। यह मत बहुत अंशों में सच हो सकता है। वात्स्यायन

---

[1] 'येन प्रयुक्ता : प्रवर्तन्ते तत् प्रयोजनम्' (जिसके द्वारा प्रेरित प्राणी कर्म करता है वह प्रयोजन (प्रयोजनम्) है यमर्थम् अभीप्सन जिहासन् वा कर्म आरभते तनो नेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या : तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते' (जिस अर्थ से मनुष्य अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म करता है अथवा जिससे प्रेरित कार्म का आरम्भ होता है वह 'प्रयोजन' है, अतः मनुष्य के सारे क्रिया व्यापार और सारी विद्या प्रयोजन के क्षेत्र में आती है। ये सारे प्रयोजन 'न्याय', का विषय है।

—वात्स्यायन भाष्य।

स्वयं भी तर्कशास्त्र की पृथक् शाखा "पृथक्-प्रस्थान" के रूप में उल्लेख करते हैं पर इन सब से यह अर्थ नहीं निकलता कि कौटिल्य के समय में न्याय की स्थापना हुई थी अथवा अध्यात्म, कौटिल्य के काल में न्याय का अंग नहीं था। वात्स्यायन ने तर्क पर विशेष बल दिया है। उसका कारण स्पष्ट है। अध्यात्म के महत्व को सभी स्वीकार करते थे पर तर्क शास्त्र के महत्व को वह स्थान प्राप्त नहीं था। इसका प्रतिपादन वेद, धर्मशास्त्र उपनिषद के आधार पर नहीं किया जा सकता था। अतः वात्स्यायन को कौटिल्य की सहायता लेनी पड़ी। कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी को विद्याओं में ही सम्मिलित नहीं किया है पर दर्शन की सूची में भी पुनः 'आन्वीक्षिकी' का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य इसको अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्या और दर्शन मानते थे। इससे यह भी धारणा बनती है कि सम्भवतः 'न्याय' की उस समय दो शाखाएँ होंगी। एक शाखा 'अध्यात्म' और दूसरी शाखा 'तर्क' का निरूपण करती होगी। यह भी सम्भव है कि तर्कशास्त्र के साथ अध्यात्म का अंग बाद में जोड़ा गया हो जिसका उद्देश्य न्याय के नीरस विषय को अधिक रुचिकर और न्याय बनाने का रहा हो। इन दोनों अंगों का संगठन कुछ शिथिल-सा है जिससे उपर्युक्त कथन को और भी बल मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान् महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने "जनरल ऑफ दि बंगाल एशियाटिक सोसायटी १८०५" में एक लेख में कहा है कि वाचस्पति ने न्याय सूत्रों का संकलन करने के लिए दो प्रयत्न किए हैं। पहले प्रयत्न में उसने 'न्याय सूची' ग्रन्थ की रचना की और दूसरे में 'न्याय सूत्रोद्धार' ग्रन्थ की। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति के समय में वह स्वयं भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता था कि इनमें कौन से सूत्र मूल न्याय शास्त्र के न होकर क्षेपक मात्र हैं। इसका भी निश्चित प्रमाण मिलता है कि अनेक सूत्र क्षेपक के रूप में 'न्याय सूत्र' में सम्मिलित कर दिए गए हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री इस प्रसंग में जापान और चीन की बौद्ध परम्परागत किवंदन्ती का वर्णन करते हैं जिसकी यह मान्यता है कि श्री मिरोक ने 'न्याय और योग' दोनों को भ्रान्तिवश सम्मिलित कर दिया है। उनके अनुसार न्याय सूत्रों के दो संस्करण, एक किसी बौद्ध के द्वारा और दूसरा किसी हिन्दू के द्वारा सम्पादित किए गए होंगे। हिन्दू सम्पादक ने बौद्धों के विचारों का खंडन करते हुए हिन्दू-मत की पुष्टि की है। श्री शास्त्री के मत में काफी सत्य हो सकता है। परन्तु हमारे पास ऐसा कोई आधार नहीं है जिससे हम क्षेपकों के समय का निर्धारण कर सकें। इस तथ्य से कि न्याय सूत्र में अनेक क्षेपक हैं, इसके रचना काल का निश्चय करना और भी कठिन हो जाता है। बौद्ध उद्धरणों से भी कोई सहायता नहीं मिलती। प्रो० जैकोबी ने बौद्ध शून्यवादी उद्धरणों के आधार पर इसके रचना काल का निश्चय करने का जो प्रयत्न किया है, उसका भी उपर्युक्त संदर्भ के प्रकाश में कोई महत्व नहीं रह जाता। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि शून्यवादी प्रसंग के कारण 'न्याय सूत्र' की रचना श्री नागार्जुन के बाद

हुई होगी। पर इसको भी निश्चित रूप से नहीं माना जा सकता क्योंकि नागार्जुन से पूर्व लिखे हुए महायान-सूत्रों में भी शून्यवादी प्रसंगों का उल्लेख मिलता है।

स्वर्गीय डा० विद्याभूषण द्वारा जे० आर० ए० एस० १९१८ में लिखे एक लेख में ऐसा उल्लेख करते हैं कि न्याय का पूर्व भाग गौतम ने ५५० ईसवी पूर्व लिखा है और श्री अक्षपाद के द्वारा न्याय सूत्र की रचना सन् १५० (ई० पश्चात्) की गई होगी। 'महाभारत' I. I. ६७ १. ७०. ४२-५१ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग तर्क के अर्थ में किया गया है। श्री विद्याभूषण के मतानुसार इसे क्षेपक समझना चाहिए। इस धारणा के लिए वे कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते हैं। उनके विषय विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी प्रकार यह सिद्ध करना चाहते थे कि श्री अक्षपाद ने अरिस्टोटल से प्रभावित होकर 'न्याय सूत्र' की रचना की और इस हेतु उन्होंने अक्षपाद द्वारा न्याय सूत्र रचना काल का निर्धारण १५० ईसवी पूर्व किया है। उनकी इस कपोल कल्पना का कोई विशेष प्रतिपाद करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु हमारा ध्येय 'न्याय सूत्र' की रचना काल का वास्तविक समय निर्धारण करना है जिस पर उपर्युक्त विवाद से कोई निश्चित प्रकाश नहीं पड़ता।

श्री गोल्ड-स्टुकर के मतानुसार पतंजलि (१४० ई० पू०) और कात्यायन (ई० पू० चौथी शताब्दी) दोनों को न्याय सूत्र का ज्ञान था।[1] हम ये भी जानते हैं कि कौटिल्य भी न्याय को आन्वीक्षिकी के रूप में जानते थे और उनका काल ३०० ई० पू० है। अतः इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि न्याय सूत्र की रचना ईसा मसीह के ४०० वर्ष पूर्व हुई होगी। परन्तु कुछ अन्य कारणों के आधार पर लेखक का मत है कि न्याय सूत्र के प्रस्तुत सूत्रों में से कुछ अवश्य ही दूसरी शताब्दी में लिखे गए हैं। श्री बोडास का कथन है कि बादरायण सूत्रों में जो संकेत मिलते हैं वे वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में है और न्याय से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आधार पर उनका विचार है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के पूर्व हुई है और न्याय सूत्र तत्पश्चात् लिखे गए हैं श्री चन्द्रकांत तर्कालंकार भी अपने वैशेषिक दर्शन के संस्करण में ऐसा अभिमत प्रकट करते हैं कि वैशेषिक सूत्र न्याय से पूर्व लिखे गए हैं। लेखक के अनुसार यह पूर्ण निश्चित है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना चरक (८० ई० पश्चात्) के पूर्व हुई है क्योंकि चरक ने स्थान-स्थान पर वैशेषिक सूत्रों के उद्धरण दिए हैं और उसकी चिकित्सा में सम्पूर्ण औषध-शास्त्रीय भौतिक विज्ञान का आधार वैशेषिक दर्शन में वर्णित भौतिकी है।[2] 'लंकावतार सूत्र' भी इस परमाणु विज्ञान का उल्लेख करता है और क्योंकि इसका उद्धरण अश्वघोष ने किया है अतः यह निश्चित रूप से ८० ई०

---

[1] गोल्ड स्टकर—'पाणिनि' पृष्ठ १५७।

[2] चरक 'शरीर' ३९।

से पूर्व का ग्रन्थ होना चाहिए। कुछ अन्य भी ऐसे महत्वपूर्ण प्रमाण पाए जाते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैशेपिक सूत्रों की रचना बौद्धकाल के पूर्व हुई है।[1] यह भी निश्चित है कि न्याय के तर्क अंग की रचना के पूर्व भी अन्य दर्शनों व मतों में तर्क के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की विवेचनाएँ की हैं। इस प्रकार स्वयं वात्स्यायन, न्याय सूत्र के ३२वे सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते है कि यह सूत्र जिसमें हेत्वनुमान के पांच आधार वाक्यों (अवयवों) का उल्लेख किया है, उन लोगों की धारणा का खंडन करने के लिए लिखा है जो ये मानते हैं कि हेतुमद अनुमान में दस अवयव होते हैं।[2] वैशेपिक सूत्र में भी अनुमान के प्रारम्भिक विवेचन के प्रसंग मिलते हैं, परन्तु इन प्रसंगों में 'न्याय' अनुमान सिद्धान्त की जानकारी नहीं दिखाई देती।[3]

क्या मीमांसा का प्राचीन दर्शन ही वैशेषिक दर्शन है ?

वैशेषिक दर्शन का न्याय के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारणतया यह कल्पना करना असम्भव-सा लगता है कि यह मीमांसा के प्राचीन दर्शन का ही स्वरूप है और 'मीमांसा सूत्र' से भी पूर्व के किसी दर्शन का निरूपण करता है। परन्तु ध्यानपूर्वक विवेचन करने पर यह अनुभव होता है कि सम्भवत: उपर्युक्त बहुत कुछ सच हो सकता है। चरक ने स्थान-स्थान पर 'वैशेपिक सूत्रों' के उद्धरण दिए हैं। उसके ग्रन्थ-'सूत्र स्थान' (३५.३८) का अध्ययन करने से स्पष्ट पता चलता है कि वैशेषिक दर्शन के किसी ग्रन्थ यथा 'भाषा परिच्छेद' आदि का अध्ययन इस ग्रंथ को लिखने से पूर्व किया गया है। चरक सूत्र या कारिका (I.i. ३६) में उल्लेख है कि 'गुण' वे हैं, जो सूची में 'गुरुत्व' (भारीपन) आदि से प्रारम्भ होते हैं, इसके अलावा बुद्धि (संज्ञान) और वे सब गुण भी जो सम्मिलित हैं 'पर' (व्यापक) से प्रारम्भ होकर सार्थ (इन्द्रिय चेतना के गुण) और प्रयत्न पर समाप्त होते हैं। इससे पता चलता है कि यह किसी ऐसी प्रख्यात गुण सूची की ओर संकेत है जो उस समय काफी प्रचलित होगी। लेकिन यह सूची वैशेपिक सूत्र में नहीं मिलती है (I.i. ६)। इसमें इन षट (छै) गुणों का उल्लेख नहीं है। 'गुरुत्व' (भारीपन), 'द्रवत्व' (तरलता), 'स्नेह' (चिकनापन), 'संस्कार' (परिणातियोग्यता, लचीलापन) 'धर्म' (विशिष्ट योग्यता) 'अधर्म' (अयोग्यता)। 'सूत्र' के एक भाग में एक सूची 'पर' से प्रारम्भ होती है और 'प्रयत्न' पर समाप्त होती

[1] अगला अनुभाग देखिए।

[2] न्याय सूत्र, I.i ३२ पर वात्स्यायन भाष्य। यह संकेत 'दश वैकालिक निर्युक्ति' में वर्णित जैन दृष्टिकोण की ओर है जैसा हम पहले देख चुके है।

[3] न्याय सूत्रI.i ५ और वैशेपिक सूत्र XI.ii.I-२, ४-५ और III.i. ८-१७।

है जिसमें 'बुद्धि' (संज्ञान) भी सम्मिलित है। पर चरक में 'बुद्धि' इस सूची में शामिल नहीं है और अलग से इसका उल्लेख किया गया है। इससे ऐसा विश्वास होता है कि चरक ने अपने सूत्रों की रचना ऐसे समय में की होगी जब वैशेषिक द्वारा छोड़े हुए छः गुणों को मान्यता मिल गई थी और कोई ऐसा ग्रन्थ बन गया था जिसमें इन षट् गुणों की गणना की गई थी। 'भाषापरिच्छेद' जो वैशेषिक दर्शन का उत्तर-कालीन ग्रन्थ है, कुछ अत्यन्त प्राचीन कारिकाओं का संग्रह है जिनके सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ ने कहा है कि ये कारिकाएँ अत्यन्त प्राचीन चिरन्तन उक्तियों का संकलन है 'अति संक्षिप्त चिरन्तनोक्तिभिः'।[1] चरक के द्वारा 'सामान्य' और 'विशेष' की व्याख्या से भी यह पता चलता है कि उस समय तक इनको भिन्न वर्गों में नहीं माना गया था, जैसाकि उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक सिद्धान्तों में माना गया है। चरक की 'सामान्य' और 'विशेष' की व्याख्या में इस वैशेषिक व्याख्या से विशेष अन्तर नहीं पाया जाता कि 'सामान्य' और 'विशेष' में सापेक्ष सम्बन्ध है।[2] इस प्रकार चरक-सूत्र की रचना उस समय हुई होगी जब वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों में परिवर्तन हो रहे थे और इस दर्शन पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने की प्रक्रिया चल रही थी।

वैशेषिक सूत्र में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। जहाँ आत्मा के अस्तित्व के ऊपर विवेचन किया गया है, वहाँ आत्मा के न होने का कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ सारा तर्क इस तथ्य पर किया गया है कि आत्मा का बोध 'अनुमान' से होता है अथवा 'अहम्' के स्वतः ज्ञान से होता है। इन विवेचनों में किसी अन्य दर्शन का भी कोई उल्लेख या प्रसंग नहीं पाया जाता।

केवल प्राचीन मीमांसा सिद्धान्तों का अथवा कहीं-कहीं सांख्य का प्रसंग अवश्य मिलता है। यह विश्वास करने का भी कोई आधार नहीं मिलता कि जिन मीमांसा-सिद्धान्तों के संकेत इस सूत्र में मिलते हैं वे जैमिनि के 'मीमांसा सूत्र' के आधार पर दिए गए हैं। अनुमान की जो व्याख्या दी गई है उससे पता चलता है कि 'पूर्ववत्' और 'शेषवत्' की न्याय-शब्दावली का ज्ञान उस समय नहीं था। 'वैशेषिक सूत्र' अनेक स्थानों पर ऐसा उल्लेख करते हैं कि काल ही आदि और अन्तिम महाकारण है।[3] हमको यह भी मालूम है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में उन दार्शनिकों का प्रसंग

---

[1] जे. ए. एस. बी. १९०८ में प्रो. वनमाली वेदान्त तीर्थ का लेख देखिए।

[2] चरक (i. i. ३३) का कथन है कि 'सामान्य' वह है जो एकत्व उत्पन्न करता है और 'विशेष' वह है जो विच्छिन्न करता है। वी. एस. II. II. ७.। सामान्य और विशेष हमारे चिन्तन की दृष्टि पर निर्भर है कि हम किसी विषय को संयुक्त रूप में देखते हैं या अन्यथा।

[3] वैशेषिक सूत्र (II.ii ९) और v.ii. २६।

आता है जो काल को आदि कारण मानते हैं, लेकिन किसी भी दर्शन ने इस प्राचीन दृष्टिकोण को मान्यता नहीं दी है।[1] इन सारे कारणों से और शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सूत्र बौद्ध-दर्शन से पूर्ववर्ती और वैशेषिक दर्शन पर प्राचीनतम उपलब्ध सूत्र हैं।

'वैशेषिक सूत्र' का प्रारम्भ इस उक्ति के साथ होता है कि इस सूत्र का उद्देश्य 'धर्म' की व्याख्या करना है। इस प्रकार की व्याख्या करना वास्तव में 'मीमांसा' का काम है और हम यह भी जानते हैं कि जैमिनि अपने मीमांसा सूत्र का प्रारम्भ धर्म की परिभाषा से करते हैं जो अन्य दर्शन-ग्रन्थों की विधि नहीं है। यह प्रथम दृष्टि में अप्रासंगिक लगता है कि वैशेषिक दर्शन जिसका क्षेत्र पदार्थ की व्याख्या करना है, धर्म व्याख्या ग्रन्थ का प्रारम्भ करता है।[2] वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा के सम्बन्ध में कहा है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय और 'निश्रेयस्'। (कल्याण) की प्राप्ति होती है क्योंकि वेदों के आदेश पालन से 'अभ्युदय' और निश्रेयस् की प्राप्ति होती है, अतः वेद को प्रमाणिक मानाना चाहिए। पुस्तक के अन्त में कहा है कि वैदिक कर्म अज्ञात रूप से मनुष्य की समृद्धि में सहायक होते हैं। साधारण वैदिक कृत्य जिनको हम नित्य किसी कामना के विना ही करते रहते हैं, उनसे भी संसारिक वृद्धि, अभ्युदय आदि प्राप्त होते है यद्यपि हमको यह सूत्र साधारण बुद्धि से समझ में नहीं आता है। अतः वेदों को प्रामाणिक मान कर उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।[3] वैशेषिक सूत्र (दर्शन) का प्रारम्भ इस कथन के साथ होता है कि इस सूत्र में धर्म की व्याख्या की जावेगी। लेखक फिर द्रव्य, गुण, तत्वों के स्वरूप, कर्म आदि का विवेचन करता है। वैदिक कृत्यों के करने से धर्म में गति होती है, धर्म से (अदृष्ट) फलों की प्राप्ति होती है। 'अदृष्ट' फल वे हैं जो धर्म कार्य करने से अज्ञात रूप से हमको प्राप्त

---

[1] श्वेताश्वतर i. i. २।

[2] 'कल्प व्याकरण' के प्राचीन भाष्य में एक श्लोक मिलता है जिसमें कहा गया है कि कणाद के द्वारा अपने 'वैशेषिक सूत्र' में धर्म की व्याख्या करने का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् षट्गुणों की व्याख्या करना अप्रासंगिक है। जैसे यह ऐसा ही है। कहा जावे कि हम हिमालय की ओर प्रस्थान करेंगे और फिर समुद्र की ओर चल दिया जावे। 'धर्मम् व्याख्यातु कामस्य सत्पदार्थो पवर्णनम्–हिमवद्गन्तु कामस्य सागर गमनोयमम्।'

[3] उपस्कार ने वैशेषिक सूत्र–'तद्वचनाद आम्नायस्य प्रामाण्यम्' की व्याख्या इस प्रकार की है–वेद का ईश्वरीय ज्ञान (वचन) होने से मान्य समझना चाहिए। परन्तु उपरोक्त वाक्य में ईश्वर शब्द का उल्लेख न होने से इस वैशेषिक वाक्य का अर्थ न्याय आधार पर करने का प्रयत्न है। सूत्र X.ii. ८ सूत्र VI. ii. I.की पुनरावृत्तिमात्र है।

होते हैं। पुस्तक के अन्त में कणाद मुनि कहते हैं कि वैदिक कर्मों के दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के फल होते हैं। कुछ फलों का लाभ तत्काल दिखाई देता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल हमें अदृष्ट रूप से मिलता है। कणाद का तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, तत्व आदि भौतिक क्रियाओं से धर्म के अनेक अंगों की व्याख्या की जा सकती है और उसके प्रकाश में सारी घटनाओं के कारण आदि को समझा जा सकता है, परन्तु धर्म का एक अज्ञात अदृष्ट रूप भी है। जो व्यापार साधारण बुद्धि के समझ में नहीं आते वे धर्म के अदृष्ट फल हैं। तत्व मीमांसा इस अर्थ में प्रासंगिक है कि भौतिक नियमों के आधार पर संसार की अनेक क्रियाओं को समझने में सहायता मिलती है साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक को भी केवल भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता। कुछ व्यापार इन्द्रियातीत हैं। ये तथ्य वैदिक कर्मों के करने से उपार्जित कर्म के अदृष्ट फल के आधार पर ही समझे जा सकते हैं। सूचिका का चुम्बक के प्रति आकर्षण (वै० सू० v i. १५) वनस्पति में जल का संचार (v.ii ७), अग्नि की उर्ध्व दिशा में गति (आग की लपटों का ऊपर आकाश की ओर उठना), वायु का यत्र-तत्र संचरण अणुओं की वह गति जिनसे अनेक संयोगों के कारण विभिन्न द्रव्य बनते हैं (v. ii १३, iv ii ७) और बुद्धि की (प्रारंभिक) गति, यह सब अदृष्ट का फल है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र के अनुसार मृत्यु के अनन्तर आत्मा की गति और स्थिति, अन्य शरीर वयोनियों में आत्मा का प्रवेश, खाने पीने की क्रिया में भोजन और पेय का सम्यक् पाचनादि, अन्य प्रकार के संयोग, (गर्भ में भ्रूण का स्वस्थ विकास 'उपस्कार' के अनुसार), यह भी अदृष्ट है। अदृष्ट के नाश होने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। अदृष्ट के नाश होने से सारे संसर्गों से और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिलती है। वैशेषिक 'दृष्ट' और अदृष्ट के भेद को विशेष रूप से स्पष्ट करता है। वे सारे कर्म जो सांसारिक अनुभव के आधार पर समझे जा सकते हैं जिनकी ज्ञात तथ्यों और घटना क्रम के सादृश्य से व्याख्या की जा सकती है 'दृष्ट हैं। जो हमारे सांसारिक अनुभव और ज्ञान से परे है जो इन्द्रियातीत हैं, जहां व्यावहारिक बुद्धि की गति नहीं है वह अदृष्ट हैं। समस्त वनस्पति और पशुओं में जीवन-प्रक्रिया अणुओं परमाणुओं की स्थिति और सृष्टि पिंडों की रचना, अग्नि और वायु की गति और प्रवाह, मृत्यु और जन्म (vi. ii. १५), हमारे भाग्य को प्रभावित करने वाली सारी भौतिक घटनाएँ (v. ii २) यह सब 'अदृष्ट' का ही फल है। कणाद के दर्शन में, हमारे अनुभव के आधार पर जिन द्रव्य गुण और कर्मों की व्याख्या नहीं की जा सकती वे सब 'अदृष्ट' के रूप में ही माने गए हैं। पर प्रश्न यह है कि 'अदृष्ट' का हेतु क्या है ? 'अदृष्ट' किस प्रकार बनता है इसके उत्तर में कणाद ऋषि पाप, पुण्य आदि की व्याख्या नहीं करते, शुभ और अशुभ का भी उल्लेख नहीं करते। वे वैदिक कर्मों का महत्व स्थापित करते हैं। स्नान, व्रत, ब्रह्मचर्य (पवित्र विद्यार्थी जीवन), 'गुरुकुलवास', 'वानप्रस्थ' (वन में संसार से विरक्त होकर निवास करना) 'यजन' (यज्ञ) 'दान' शुभ

मुहूर्त और शुभ वेला में यज्ञादि अनुष्ठान करना, मंत्रपाठ आदि करने योग्य वैदिक कर्म है (v. ii २) जिनसे 'अदृष्ट' भाग्य का निर्माण होता है।

कणाद मुनि ने पवित्र और अपवित्र भोजन का वर्णन किया है। यज्ञ में हविष्य के रूप में अर्पित किया हुआ यागपूत अवशिष्ट भोजन पवित्र है, उसे खाने से अदृष्ट के द्वारा अभ्युदय प्राप्त होता है (vi. ii १५)। साथ ही वह यह भी संकेत करते हैं कि अदृष्ट के द्वारा ही मोह, ममता और रागादि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक सूत्र के vi, i के अधिकांश भाग में दान की महिमा, किन अवस्थाओं में दान सार्थक होता है, और दान कब किस प्रकार और किससे ग्रहण करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। मीमांसाकार द्रव्य, गुण आदि के अधिकांश सिद्धान्तों से सहमत हैं। केवल इन विषयों में मीमांसा का वैशेषिक से मतभेद है (१) वेद स्वतः प्रमाण हैं, इन्हें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है (२) वेद अनादि अनन्त हैं। (३) किसी सृष्टा या परमात्मा में अविश्वास (४) शब्द अनन्त हैं (५) कुमारिल के मतानुसार अहम् की भावना में स्वात्म का प्रत्यक्ष बोध। उपर्युक्त विषयों में से प्रथम दो के ऊपर वैशेषिक ने किसी प्रकार का विचारविमर्श नहीं किया है। ईश्वर का वैशेषिक में कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है और क्योंकि अदृष्ट की उत्पत्ति वैदिक कर्मों के करने से ही मानी गई है अतः हम यह स्वीकार कर सकते है कि इन बिन्दुओं पर वैशेषिक का मीमांसा से कोई विशेष मतभेद नहीं है किसी प्रकार का मतभेद इन सूत्रों में नहीं पाए जाने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः इन सूत्रों के रचना काल तक कोई विशेष मतभेद उत्पन्न नहीं हुआ था। यह सम्भव है कि कणाद का यह विश्वास रहा हो कि वेदों की रचना विशिष्ट प्राप्त उच्च पुरुषों के द्वारा अथवा ब्रह्मर्षियों द्वारा की गई है (II. I. 18. III. 1-1-ii)। क्योंकि मीमांसाकारों से इस विषय पर किसी प्रकार का संघर्ष अथवा विचार भेद नहीं पाया जाता इससे यह स्पष्ट है कि वेद 'अपौरुषेय' है किसी पुरुष के द्वारा नहीं लिखे गए। यह मत वैशेषिक सूत्रों की रचना के पश्चात् स्थापित हुआ होगा। इन सूत्रों में ईश्वर का वर्णन न होने से और वैदिक कर्मों के करने से सारे फलों की प्राप्ति अदृष्ट के हेतु से होने से यह कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन है जिसमें किसी देवता की या ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। 'शब्द' शाश्वत अनन्त हैं अथवा नहीं इस पर वैशेषिक न्याय, और मीमांसा दार्शनिकों में उत्तरकाल में तीव्र मतभेद रहा है। इस विषय में कणाद ने (II. 11, 25-30) प्रारम्भ में कहा है कि 'शब्द' शाश्वत नहीं है परन्तु II ii ३३ के पश्चात् अध्याय की समाप्ति तक उन्होंने यह सिद्ध किया है कि शब्द अनन्त और शाश्वत हैं यह मीमांसा दर्शन का दृष्टिकोण है जैसा हमको उत्तरकालीन मीमांसा लेखकों से पता चलता है।[1]

---

[1] श्री सु. दा. गुप्ता के अनुसार श्री शंकर मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'उपस्कार' में अन्तिम दो

दूसरा मुख्य विषय 'आत्मा' के अस्तित्व के प्रमाण का है। न्याय का दृष्टिकोण यह रहा है कि आत्मा के अस्तित्व को अनुमान से जाना जाता है। क्योंकि आत्मा ही सुख, दु:ख और संज्ञान का केन्द्र है। वैशेषिक का भी परम्परागत दृष्टिकोण यही माना जाता है। परन्तु वैशेषिक सूत्र III में आत्मा के अस्तित्व का अनुमान पहले इसकी क्रिया और सुख-दु:ख कष्ट आदि की अनुभूति के अधार पर किया है। पुन: III में इस अनुमान का खंडन करते हुए कहा है कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सारी क्रिया या कर्म आत्मा के द्वारा सम्पन्न होता है। कर्म आत्मा का धर्म है या शरीर का। फिर III ८ में सुझाव दिया है कि क्या शास्त्र (आगम) के प्रमाण के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। अन्तिम रूप से वैशेषिक दर्शन ने आत्मा के अस्तित्व को यह कह कर सिद्ध किया है कि हम जब 'अहम्' भावना का अनुभव करते हैं, जब हम 'मैं' कहते हैं तो शरीर से भिन्न किसी वस्तु की ओर संकेत करते हैं। यह अहम् ही हमारी शरीर स्थित आत्मा है जिसका हम प्रत्येक क्षण प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसमें किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसके अस्तित्व का अनुमान से सिद्ध होना इसकी स्थिति का एक और प्रमाण है (III और) अन्यथा यह हमारे अहम् के प्रत्यक्ष बोध से स्वयं सिद्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन मीमांसा दर्शन की ही एक शाखा होनी चाहिए जो वैदिक दर्शन का मंडन और पुष्टि करता है।

वैशेषिक सूत्रों का दर्शन पक्ष

वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ 'धर्म' की व्याख्या से होता है। 'धर्म' वह है जिससे 'अभ्युदय' (सांसारिक उन्नति) और निश्रेयस। (आत्मिक कल्याण) की प्राप्ति होती है। वेद इस अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति का उपदेश करते हैं और इनकी सहायता से निश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: यह प्रामाणिक है। पुन: दूसरे सूत्र में वैशेषिक दर्शन यह मत प्रकट करता है कि सत्य ज्ञान से ही 'निश्रेयस' की प्राप्ति सम्भव है। सत्य ज्ञान, उत्तम धर्म के पालन से उपलब्ध होता है। इसके साथ ही सत्य ज्ञान के लिए 'द्रव्य', 'गुण', 'सामान्य' (जाति-विचार) 'विशेष' (विशिष्ट वस्तु विचार) और

सूत्र IIii. ३६-३७ की व्याख्या गलत की है। IIii. ३६ में 'अपि' शब्द को जोड़ने से अर्थ बदल गया है और IIii. ३७ में सधिविच्छेद ठीक नहीं किया गया है। 'सांख्या-भाव' का विच्छेद संख्या और 'भाव' किया जबकि यह संख्या और अभाव होना चाहिए था। इस प्रकार श्री शंकर ने इन सूत्रों का अर्थ शब्द के शाश्वतन होने के पक्ष में किया है जो उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण है।

'समवाय' (अन्तर्निहित सम्बन्ध–व्याप्ति सम्बन्ध) का भी उत्तम विवेक आवश्यक है।[1] द्रव्यों में–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, स्थान, आत्मा और बुद्धि की गणना की गई है। 'गुण' निम्न प्रकार हैं–रंग, रस, गन्ध, स्पर्श परिमाण (संख्या) मात्रा वियुक्ति (अलग अलग होना) संयुक्ति जाति अथवा किसी जाति विशेष से सम्बन्ध होने का गुण।[2] 'कर्म' गति है। ऊर्ध्व गति अधोगति संकोचक गति (अन्तर्गति) प्रसारक गति (I) (बाह्य गति) और सम स्तरीय गति (II) यह कर्म की विभिन्न गति है। द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में समान रूप से लक्षण निम्न है। इनका अस्तित्व है, ये अशाश्वत (अस्थायी) है सारभूत (I) है कारण और कार्य हैं और सामान्य विशेष लक्षणों से मुक्त है। द्रव्यों से अन्य द्रव्यों की और गुण से अन्य गुण की उत्पत्ति होती है परन्तु कर्म से अन्य कर्म की उत्पत्ति आवश्यक नहीं है। द्रव्य इसके कारण कार्य को विनष्ट नहीं करता है पर गुण कारण और कार्य रूप में नष्ट हो जाते हैं। कर्म से कर्म का नाश होता है। द्रव्य में गुण और कर्म दोनों का ही समावेश होता है और यह कार्य का समवायिकारण कहा जाता है। गुण द्रव्य में व्याप्त रहते हैं, अन्य गुणों को धारण करने में स्वयं असमर्थ हैं और ये संयोग या वियोग के कारण नहीं हो सकते। कर्म में गुण की स्थिति नहीं है। कर्म (गति) एक समय में एक ही वस्तु में नियोजित या स्थित होता है। द्रव्य में ही इसकी व्याप्ति है और यह संयोग और विभाग स्वतन्त्र कारण है। द्रव्य (v) संजात द्रव्य, गुण और कर्म का (vi) समवायि कारण है। गुण-द्रव्य, गुण और कर्म का असमवायि कारण है। कर्म (गति) संयोग, वियोग और अवस्थितित्व (vii) का सामान्य कारण है। कर्म (viii) द्रव्य का कारण नहीं है क्योंकि द्रव्य, कर्म के बिना भी उत्पन्न हो सकता है।[3] द्रव्य, द्रव्य द्वारा ही सामान्य (ix) रूप से उत्पन्न होता है अर्थात् द्रव्य, द्रव्य का ही सामान्य प्रभाव है। कर्म गुण से इस दृष्टि से भिन्न है कि कर्म स्वयं कर्म को उत्पन्न नहीं करता। एक, दो, तीन

---

[1] 'उपस्कार' के मतानुसार 'विशेष' से यहां अर्थ वस्तुओं के विभेद करने से है, वस्तुओं की जातियों में भेद से नहीं है। इस मत का एक विशेष सिद्धान्त यह है उसी तत्व के अविभाज्य परमाणुओं में से प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु से अपनी विशेषता अथवा स्वरूप के अनुसार भिन्न है।

[2] इस विवेचन में, 'गुरुत्व' (भारीपन) द्रव्यत्व (तरलता) स्नेह (चिकनापन तेल) संस्कार (लोच) धर्म (अच्छापन) अधर्म आदि प्रसिद्ध गुणों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उत्तरकालीन वैशेषिक ग्रन्थों और भाष्यों में इनकी भी गणना की गई है। वैशेषिक में 'गुण' लक्षण गुणों के अर्थ में प्रयोग किया गया है, और सांख्य की 'तन्मात्रा'।

[3] यदि कर्म का संयोग, एक से अधिक वस्तु से होता तो एक की गति से हम यह अनुभव करते कि कई वस्तुओं में गति हो रही है।

आदि मात्राएँ, पृथकत्व संयोग विभाग एक से अधिक द्रव्यों के प्रभाव से सम्भव होती है। कर्म (गति) का सम्बन्ध एक ही द्रव्य से होने से उसकी उत्पत्ति एक से अधिक वस्तु से नहीं होती (१) द्रव्य अनेक परमाणुओं के संयोग का फल है। एक वर्ण (रंग) अनेक वर्णो के संयोग से भी बन सकता है। ऊर्ध्व गति, गुरुत्व (I) प्रयत्न और संयोग का फल है। संयोग और विभाग भी कर्म का फल है। कर्म के कारण रूप को न मानने का अर्थ यह है कि कर्म द्रव्य और कर्म का कारण नहीं है।[1]

कणाद प्रथम सर्ग के द्वितीय अध्याय में कहते हैं कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं है परन्तु कार्य की स्थिति के बिना या उसके पूर्व भी कारण की स्थिति हो सकती है। पुनः वे कहते है कि 'सामान्य' (जाति) और 'विशेष' (iii) (जाति की इकाई) दोनों बुद्धि सापेक्ष्य हैं अर्थात् जिस दृष्टि से विचार किया जावे उसी दृष्टि से सामान्य और विशेष रूप को समझा जाता है। किसी वस्तु का अस्तित्व या 'भाव' उसके सातत्य या निरन्तरता का निर्देश करता है अतः यह सातत्य उस वस्तु के सामान्य भाव का द्योतक है। द्रव्य गुण और कर्म का सार्वत्रिक या व्यापक भाव सामान्य और विशेष दोनों हो सकते हैं परन्तु 'विशेष' वस्तुओं में (परमाणु) भिन्नता के अन्तिम तथ्यों के रूप में सदैव स्थित रहता है। इसकी स्थिति पर्यवेक्षक (देखने वाले) की अपेक्षा नहीं रखती वह स्वतन्त्र रूप से स्थित है। अन्तिम अथवा सर्वव्यापक जाति सत्ता है अन्य सारी जाति, उपजाति, वर्ग आदि इस 'सत्ता' के अंग या उससे सम्बन्धित माने जा सकते हैं 'सत्ता' का अपना विशेष वर्ग है क्योंकि यह द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है और फिर भी उनमें स्थित है। इसका कोई वंश या उप वंश 'सामान्य' या विशेष नहीं इस तथ्य से यह कल्पना सजीव होती है कि 'भाव' या 'सत्ता' का एक विशेष प्रकार है जो सबसे भिन्न है क्योंकि इसका अपना कोई विशेष लक्षण नहीं है, यह समान रूप से द्रव्य, गुण कर्म में स्थित है और फिर भी इसकी व्याप्ति के कारण किसी विशेष लक्षण या धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। 'द्रव्यत्व' 'गुणत्व' और कर्मत्व रूपी विशिष्ट व्यापक भाव (सामान्य रूप) भी भिन्न वर्ग है जो 'सत्ता' से भिन्न है, इनकी भी कोई अलग से सामान्य जाति नहीं है और फिर भी एक दूसरे से इनका अन्तर जाना जा सकता है। परन्तु 'भाव' या 'सत्ता' इन सब में समान रूप से व्याप्त है।

(अपनी द्वितीय पुस्तक के प्रथम अध्याय में) द्वितीय खंड के प्रथम अध्याय में कणाद मुनि द्रव्यों की व्याख्या करते हैं। पृथ्वी तत्व में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श होता है। जल में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व (तरलता) और स्निग्धता (स्निग्ध) होती है। अग्नि में रूप, रंग एवं स्पर्श, वायु में स्पर्श होता है पर आकाश में इनमें से कोई भी गुण

---

[1] यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ सामान्य रूप में प्रयुक्त कर्म शब्द से भिन्न है जिसके शुभ-अशुभ होने से मोक्ष अथवा पुनर्जन्म का फल मिलता है।

नहीं पाया जाता। तरलता जल का विशेष गुण है क्योंकि मक्खन, लाख, मोम, सीसा लोहा, चाँदी और स्वर्ण गर्म किए जाने पर तरल बनते हैं, पर जल स्वयमेव तरल होता है।[1] वायु को देखा नहीं जा सकता परन्तु इसकी स्थिति का अनुमान स्पर्श से किया जा सकता है जैसे गाय की जाति के सामान्य गुणों यथा सींग, पूँछ आदि की तुलना में गाय होने का अनुमान किया जाता है। वायस का अनुमान स्पर्श से होता है, इसमें गति और गुण दोनों है और यह अन्य वस्तु में व्याप्त नहीं है। अतः वायु को द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] कुछ ज्ञात लक्षणों से वायु का अनुमान उन वस्तुओं के अनुमान का उदाहरण है जो स्थूल रूप से नहीं देखी जा सकती। इन ज्ञात सामान्य लक्षणों के आधार पर अनुमान को 'सामान्यतो दृष्टा' कहा है। 'वायु' नाम शास्त्रों से लिया गया है। हमसे भिन्न अन्य वस्तुओं की भी स्थिति है, 'अस्मदविशिष्ट नाम' अर्थात् हमसे अन्य विशिष्ट वस्तुओं का भी अस्तित्व है इसको 'संज्ञा कर्म' या अन्य वस्तुओं का नामकरण करने के लिए स्वीकार करना आवश्यक है और इसे स्वीकार करना चाहिए क्योंकि नामकरण की पद्धति पहले से चली आ रही है।[3] हमने इसका प्रचलन नहीं किया है। गति एक समय में एक ही वस्तु में स्थापित होती है इसके अनुसार कोई भी वस्तु किसी भी रिक्त स्थान में गति कर सकती है और उस स्थान को घेर सकती है पर इस तथ्य से आकाश की स्थिति का अनुमान नहीं करना चाहिए। 'आकाश' वह काल्पनिक तत्व है जिसमें शब्द गुण की व्याप्ति है। शब्द किसी स्थूल वस्तु का गुण नहीं है जिसको स्पर्श किया जा सके क्योंकि शब्द स्वयं एक गुण है, द्रव्य नहीं है अतः उस द्रव्य का होना आवश्यक है जिसका शब्द गुण है। वह द्रव्य आकाश है। आकाश द्रव्य है और वायु के समान शाश्वत है। जैसे 'भाव' या 'सत्ता' एक है उसी प्रकार आकाश भी एक है।[4] दूसरी पुस्तक के दूसरे अध्याय में कणाद मुनि ने यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी द्रव्य का विशेष गुण गन्ध है। अग्नि विशेष गुण ताप और जल का विशेष गुण शीतलता है। काल वह है जो युवाजनों को यौवन की

---

[1] इस व्याख्या में पारद (पारा) का कहीं उल्लेख नहीं आया है। यह ध्यान देने योग्य है क्योंकि पारे का ज्ञान चरक के पश्चात् हुआ ऐसा समझा जाता है।

[2] द्रव्य वह है जिसमें गुण और गति (क्रिया) है। लेखक ने II i. १३ में 'अद्रव्यवत्वेन' शब्द का अर्थ 'अद्रव्यवत्वेन' के रूप में लिया है।

[3] लेखक 'संज्ञाकर्म' की व्याख्या में 'उपस्कार की व्याख्या' से सहमत नहीं है। उपस्कार इस शब्द की व्याख्या द्वन्द समास के रूप में करते हैं और लेखक इसकी व्याख्या सम्बन्धकार के रूप में करते है। उपस्कार की व्याख्या प्रासंगिक नहीं प्रतीत होती वह इसको परमात्मा की सत्ता के तर्क के रूप में उपस्थित करना चाहते हैं।

[4] यह व्याख्या शंकर मिश्र की 'उपस्कार' भाष्य के आधार पर है।

भावना प्रदान करता है, जो समकालिकता और त्वरा (ii) की कल्पना को उत्पन्न करता है। 'भाव' (iii) या 'सत्ता' के समान यह भी एक है। काल ही सारी अस्थायी और अशाश्वत वस्तुओं में काल की कल्पना का अभाव होता है। जो अनन्त है, उसमें काल की गति का कोई महत्व नहीं है। स्थान (i) से एक वस्तु से दूसरी वस्तु का अन्तर स्पष्ट होता है। भाव या सत्ता के समान स्थान भी एक है सूर्य की गति को आधार मानते हुए हम जब इस अनन्त आकाश को देखते हैं तो एक स्थान का सम्बन्ध अनेक स्थानों से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। 'शब्द' अनन्त है या नहीं इसका विवेचन करते हुए वह पहले संदेश का विवेचन करते हैं। सदेश क्या है? किसी वस्तु के बारे में सन्देश उस दशा में होता है जब हम उसको सामान्य दृष्टि से देखते हैं। उस वस्तु की विशेषताओं को जब हम निकट से नहीं देख पाते अथवा हम स्मृति के बल पर उन विशेषताओं का पुनः अवलोकन करते हैं या कोई गुण अथवा विशेषता किसी अन्य वस्तु में देखी विशेषता से साम्य रखती है, अथवा जब कोई वस्तु पूर्वकाल में किसी अन्य कोण से देखी गई थी और अब वह किसी अन्य कोण या वातावरण में दिखाई देती है तो हम उसके स्वरूप को पूर्णरूपेण ग्रहण न करने के कारण उसके संबंध में संदेह करने लगते हैं। इस व्याख्या के पश्चात् कणाद मुनि पहले 'शब्द' के अशाश्वत और अस्थायी होने के तर्कों को प्रस्तुत करते हैं और फिर अन्तिम रूप से यह सिद्ध करते हैं कि 'शब्द' शाश्वत और अनन्त है।

तीसरी पुस्तक के प्रथम अध्याय में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में व्याख्या की गई है। इन्द्रियों के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है उसका स्थायी न्यास करने के लिए कोई पदार्थ होना चाहिए। इन्द्रियाँ प्राप्ति की माध्यम हैं, जो प्राप्त करता है वह अन्य पदार्थ होना चाहिए। यह पदार्थ ही आत्मा है, जो ज्ञान को इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करती है।

इन्द्रियों के जो विषय हैं, (इन्द्रियार्थः) उनके ज्ञान के अनुरूप ही हम अन्य विषयों की कल्पना करते हैं। जिन पदार्थों को हम इन्द्रिय ज्ञान से प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं उसी के आधार पर अन्य उनके समान अथवा असमान पदार्थों का अनुमान करते हैं। कई प्रकार के अनुमान की विवेचना की गई है। जैसे (१) कुछ पदार्थों के अस्तित्व के आधार पर अन्य वस्तुओं की अस्तित्वहीनता का अनुमान। 'भाव' (सत्ता) से अभाव (२) कुछ पदार्थों के अभाव से अन्य वस्तुओं के होने की अथवा उनकी सत्ता का अनुमान-अभाव से 'भाव' का अनुमान (३) कुछ वस्तुओं के अस्तित्व के आधार पर अन्य वस्तुओं के भी अस्तित्व का अनुमान, भाव से भाव का अनुमान इन सारे अनुमानों में यह आवश्यक है कि अनुमान के आधार का आधेय से, अथवा जिसका अनुमान किया जाता है उससे कोई सम्बन्ध होना चाहिए। एक-दूसरे से सम्बन्ध होना अनुमान के लिए

आवश्यक है—'प्रसिद्धिपूर्वकत्वात अपदेशस्य ।'[१] जब इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता तो अनुमान में हेत्वाभास (i) 'अनपदेश' या 'संदिग्ध' (सन्देहपूर्ण हेतु) (ii) दोष होता है। यदि कहा जावे कि यह घोड़ा है क्योंकि इसके सींग है अथवा यह कहा जावे कि यह गाय है क्योंकि इसके सींग है तो यह दोनों वाक्य सदोष (iii) तर्क के उदाहरण हैं। इन्द्रिय विषय, इन्द्रियां और आत्मा के संयोग से संज्ञान उत्पन्न होता है और इस संज्ञान के आधार पर आत्मा की स्थिति के अनुमान में किसी प्रकार का हेत्वाभास नहीं है यह अनुमान युक्ति-संगत है, इसमें कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार, जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार यह अनुमान भी सहज ही किया जा सकता है कि अन्य व्यक्तियों में भी आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा के होने का एक आधार गति माना जा सकता है।[२] दूसरे अध्याय में कहा गया है कि आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रिय विषय) इन तीनों के सम्पर्क से संसार की उत्पत्ति होती है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'मानस' है। यह मानस एक द्रव्य है और शाश्वत है। इसके अस्तित्व का प्रमाण यह है कि संज्ञान की प्राप्ति के साथ ही मानवीय प्रयत्न का प्रारम्भ नहीं हो जाता। यह संज्ञान मानस में निक्षिप्त रहता है और आवश्यक समय, स्थान और आवस्था में इसका उपयोग किया जाता है, यह भी आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी का अपना एक मानस है।

श्वास-प्रश्वास से, नेत्रों की चमक, जीवन, मानस की गति। इन्द्रिय विषय, सुख, दुःख, संकल्प, घृणा और प्रयत्न से भी आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। यह आत्मा एक द्रव्य है और शाश्वत है इसकी तुलना वायु से की जा सकती है। इस सम्बन्ध में जिज्ञासु यह शंका कर सकते हैं कि जब मैं किसी मनुष्य को देखता हूं तो उसकी आत्मा को नहीं देखता। आत्मा के अस्तित्व का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है अर्थात् सुख दुःख संज्ञान के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि इन सबको प्राप्त करने वाला या अनुभव करने वाला कोई अस्तित्व होना चाहिए और वह आत्मा है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुख-दुःख जिसका विषय है वह आत्मा ही है। वैशेषिक दर्शन का उत्तर यह है कि ऐसा और कोई तत्व नहीं है जिसको 'अहम्' से सम्बोधित किया जाता है। यह 'मैं' जिसके लिए प्रयोग किया

---

[१] इस प्रसंग में तर्क दोष (i) अथवा तर्काभास का भी सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया है। इस विवेचन में श्री गौतम की शब्दावली का उल्लेख नहीं किया गया है। किसी सिद्धान्त की भी व्याख्या नहीं की गई है केवल अनुमान के विशिष्ट प्रकारों का संकेत किया गया है।

[२] कणाद के द्वारा अनुमान के स्वरूप की जिस ढंग से व्याख्या की गई है उससे ऐसा प्रकट होता है कि उनको सम्भवतः गौतम की शब्दावली का परिचय नहीं था।

जाता है वही आत्मा है। इसके लिए किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस पर पुनः यह तर्क किया जाता है कि यदि प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का बोध इस अनुभव के आधार पर किया जाता है कि 'मैं देवदत्त हूं' या 'मैं यज्ञदत्त हूं' तो फिर इस सम्बन्ध में अनुमान की क्या आवश्यकता है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है पर अनुमान प्रमाण के इस तथ्य की सत्यता को और भी अधिक बल मिलता है। यह इसकी पुष्टि का ही प्रमाण है। जब हम यह कहते हैं कि 'देवदत्त जाता है' या यह कहते हैं कि 'यज्ञदत्त जाता है' तो यह संदेह होता है कि क्या इस सम्बोधन से शरीर मात्र का संकेत या शरीर के अतिरिक्त भी कोई अन्य वस्तु है जो जाती है, देखती है, सुनती है। परन्तु जिसके लिए 'मैं' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शरीर नहीं है वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, वह आत्मा है। पुनः सुख, दुःख ज्ञान आदि का अनुभव सभी मनुष्य समान रूप से करते हैं अतः यह स्पष्ट है कि सभी प्राणियों में आत्मा समान है, एक रूप है। सब में एक ही आत्मा का निवास है। पर साथ ही यह व्यक्ति से सीमित होकर अनेक-रूपा है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा सीमित होने से यह अनेक है। यह भी शास्त्र से सिद्ध है।[1]

चतुर्थ पुस्तक के प्रथम अध्याय में यह कहा गया है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है पर जिसका कारण नहीं है उसे 'नित्य' शाश्वत मानना चाहिए। यह कार्य से अथवा उसके प्रभाव से अनुमान लगाना चाहिए। कोई भी कार्य, कारण के अभाव में सम्भव नहीं है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि यह अनित्य है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह 'नित्य' का निषेधात्मक या नकारात्मक रूप है। अतः यह सिद्ध होता है कि कोई न कोई वस्तु नित्य अवश्य है। यहाँ प्रभाव से भाव की सिद्धि है। 'अविद्या'[2] (अज्ञान) अनित्य है। संयुक्त और 'महत्' में 'रूप' (वर्ण) होता है। वायु में कोई रूप रंग नहीं होता, यद्यपि यह 'महत्' है और अनेक अंगों से बनी हुई है। वायु में 'रूप संस्कार' नहीं है (वायु के अव्यक्त रूप में ही रूप होता है)। विशेष अवस्था और गुण के होने पर ही रूप दृष्टिगोचर होता है।[3] इसी प्रकार रस, गन्ध

---

[1] 'उपस्कार' में दिए हुए अर्थ से लेखक सहमत नहीं है। इस सम्बन्ध में तीन सूत्र दिए गए हैं-(१) 'सुख दुःख ज्ञान निष्पत्य विशेषादैकात्म्यम्' (२) 'व्यवस्थातो नाना' और (३) 'शास्त्र सामर्थ्यात् च' इन तीनों सूत्रों का अर्थ मूल रूप में यही था कि आत्मा एक है यद्यपि व्यक्ति की सीमा में निबद्ध और शास्त्रानुसार धार्मिक क्रियाओं के करने के निमित्त, यह अनेक मानी जाती है।

[2] इस स्थान पर भी लेखक का 'उपस्कार' से मतभेद है। उपस्कार के अनुसार 'अविद्या' सूत्र का अर्थ है कि हम ऐसा कोई कारण नहीं जानते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि परमाणु अनित्य हैं।

[3] उत्तरकालीन विवेचन में-'उद्‌भूतरूपवत्व' और 'अनुद्‌भूतरूपवत्व' का यही अर्थ प्रतीत

ग्रौर स्पर्श की व्याख्या की गई है। मात्रा (संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग विभाग उच्च ग्रौर निम्न स्थान या वर्ग में होने का गुण ग्रौर क्रिया ये सब यदि ऐसे पदार्थों से सम्बद्ध हैं जिनका कोई रूप (i) है तो यह नैत्रों से दिखाई देता है अन्यथा जहाँ रूप-रंग नहीं है वहाँ दृष्टि कार्य नहीं कर सकती। दृष्टि रूप को ही देख सकती है। परन्तु 'भाव' (i) (ग्रस्तित्व) ग्रौर गुणत्व (गुणों की व्याप्ति) का बोध सारी इन्द्रियों के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए रूप, रस, गन्ध स्पर्श ग्रादि इन्द्रियों के द्वारा, सुख, दुःख ज्ञान ग्रादि मानस' के द्वारा ग्रौर मात्रा ग्रादि दृष्टि ग्रौर स्पर्श चेतना से जाती जाती है।[1]

चतुर्थ पुस्तक के दूसरे ग्रध्याय में कहा है कि पृथ्वी ग्रादि के ग्रस्तित्व के तीन स्वरूप हैं, शरीर, इन्द्रिय ग्रौर पदार्थ पंच तत्व का कोई योग या मिश्रण नहीं हो सकता परन्तु यदि इन तत्वों का निर्माण करने वाले परमाणुग्रों में से कोई परमाणु केन्द्रीय मूलांकुर के रूप में कार्य करे जिसे 'उपष्टम्मक' कहा है तो ग्रन्य तत्वों के परमाणुग्रों का संयोग हो सकता है। पिण्ड दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो ग्रंडाशय से उत्पन्न होते हैं, दूसरे वे जो परमाणुग्रों के योग से ग्रपने विशेष धर्मों के साथ उत्पन्न होते हैं। विशेष धर्मों के ग्रनुकूल ही परमाणुग्रों के योग से पिंडों का निर्माण होता है। प्रत्येक वस्तु का ग्रपना-ग्रपना धर्म (गुण) है ग्रौर उसी के ग्रनुसार उसका प्रयोग है कतिपय ग्रति-सांसारिक पिण्डों का भी ग्रस्तित्व स्वीकार करना ग्रावश्यक है सम्भवतः इनका नाम-करण भी ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया गया होगा जो दिव्य हैं ग्रथवा यदि इनका ग्राधार वेद-सम्मत है तो यह प्रमाणरूपेण स्वीकार करना पड़ेगा।

पांचवीं पुस्तक के प्रथम ग्रध्याय में 'कर्म' की व्याख्या की गई है। ध्यान को कूटने का उदाहरण देते हुए यह बताया गया है कि हाथ ग्रात्मा के द्वारा प्रेरित होकर गति

होता है। वैशेषिक दर्शन में 'संस्कार' ग्रनेक ग्रर्थों में प्रयुक्त हुग्रा है। इसका ग्रर्थ–ग्रचलता (iii) लचीलापन, एकत्र करना (समवाय) उत्पन्न होना (उद्भव) ग्रौर किसी से ग्रभिभूत नहीं होना (ग्रनभिभाव) है।

[1] यह संदर्भ शंकर मिश्र के 'उपस्कार' से लिया गया गया है जो कणाद के वैशेपिक सूत्र पर लिखा गया है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि वैशेपिक में मात्रा की कल्पना बुद्धि की ग्रपेक्षा पर है जिसे ग्रपेक्षा बुद्धि-जन्य कहा है। परन्तु यह मानसिक ग्रपेक्षा की प्रक्रिया का प्रारम्भ जब होता है जब उस वस्तु को देखा जाता है या स्पर्श किया जाता है ग्रौर इस ग्रर्थ में यह कहा गया है कि मात्रा या संख्या की कल्पना दृष्टि या स्पर्श चेतना पर निर्भर करती है। ग्रर्थात् जो संख्या चक्ष क्रम ग्रांखों से नहीं देखा जा सकता ग्रथवा जिसको स्पर्श से नहीं जाना जा सकता, वह पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई देने से एक ही रहेगी ग्रौर उसमें एक से ग्रधिक होने की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

करता है। परन्तु जब मूसल ओखली में चोट देकर वापस उछलता है तो यह हाथ की प्रेरणा से नहीं उछलता और मूसल को पकड़े हुए हाथ जब ऊपर उठता है तो वह आत्मा के प्रयत्न और प्रेरणा से ऊपर नहीं उठता। यदि हाथ मूसल को छोड़ दे तो वह गुरूत्व के कारण वापस गिरेगा। वस्तुओं में ऊपर की ओर अथवा पार्श्व की ओर गति विशेष कार्य-प्रेरणा (नोदन विशेष) से होती है। निद्रावस्था में विशेष प्रयत्न के बिना भी शरीर थोड़ी गति कर सकता है। चुम्बक की ओर लोहे की सुई का आकर्षण अज्ञात कारण से (अदृष्ट-कारणक) होता है। विशेष दिशा में प्रेरित किया हुआ बाण पहले उस दिशा में गति प्राप्त करता है फिर यह गति अवस्थितत्व "बल के कारण स्थिर रहती है अर्थात् यह बाण 'वेग-संस्कार' के कारण कुछ समय तक उसी दिशा में गति करता रहता है और इस संस्कार की समाप्ति पर गुरूत्वाकर्षण से भूमि पर गिर जाता है।

दूसरे अध्याय में भौतिक घटनाओं की व्याख्या की गई है जिनका कोई दार्शनिक महत्व नहीं है। प्रकृति के अनेक व्यापार जो साधारण बुद्धि से समझ में नहीं आते हैं उनके लिए कहा गया है कि वे अदृष्ट कारणों से (अदृष्ट करितम्) होते हैं। इस अदृष्ट के स्वरूप की कोई व्याख्या नहीं की गई है। यह अवश्य कहा गया है कि 'अदृष्ट' के अभाव में आत्मा और शरीर का सम्पर्क नहीं होता, पुनर्जन्म नहीं होता और मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषयों के संयोग से सुख, दुःख होते हैं। 'योग' वह है जिसमें चित्त (मन) केवल आत्मा स्थित हो जाता है, चित्त स्थिर होकर निर्विषय हो जाता है, शरीर के दुःखों की समाप्ति हो जाती है। स्थान, काल, आकाश निष्क्रिय तत्व है।

छठी पुस्तक में दान और श्रोत्र (वेद सम्मत) कर्मो की व्याख्या की गई है। दान दया से नहीं पर शास्त्रों के आदेशानुसार योग्य पात्रों को कर्त्तव्य समझ कर देना चाहिए। फिर इस पुस्तक में वेद विहित क्या कर्त्तव्य है इनका उल्लेख है। उन कर्त्तव्यों का निर्देश है जिससे 'अदृष्ट' की प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ कर्म, शुचिता और अशुचिता की व्याख्या है। कभी-कभी रागादि अदृष्ट से भी उत्पन्न होता है। धर्म और अधर्म से जीवन और मृत्यु और आत्मा के प्रयत्न से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सातवीं पुस्तक में उल्लेख है कि शाश्वत वस्तुओं के गुण भी शाश्वत होते हैं और अनित्य वस्तुओं के गुण भी अनित्य होते हैं पृथ्वी तत्व में ताप से गुण परिवर्तन कारण-रूप अणुओं के परिवर्तन से होता है। परमाणु रूप अदृश्य होता है पर महत् आकार दिखाई देता है। अनेक कारणों से होने के कारण ही द्रव्य दृश्यमान होता है या यह कहना चाहिए कि अनेक कारणों से निर्माण के कारण ही द्रव्य में दृश्यता (ii) का गुण होता है (१) परमाणु महदाकार वस्तुओं से भिन्न है। यह सूक्ष्म और अदृश्य है। एक ही वस्तु को दृष्टि की अपेक्षा से या तुलनात्मक दृष्टि से महत् और लघु कहा जा

सकता है। 'अणुत्व' और महत्व के आधार पर भी लघु और महत् की व्याख्या की जाती है 'परिमण्डल' (गोलाकार) का अनन्त गोलाकार रूप ही अणु का रूप है। 'आकाश' और 'आत्मा' को 'महान्' और 'परम महान' कहा जाता है। मानस महत् रूप नहीं है, यह अणु के समान सूक्ष्म रूप है। स्थान और काल का (iii) परिणाम भी 'परम्-महत्' कहा गया है। अणुरूप 'परिमंडल' मानस और पर परम महान् स्थान, काल, आत्मा और 'आकाश' नित्य एवं अनन्त माने गए हैं।

सातवीं पुस्तक के द्वितीय अध्याय में संयोग और पृथक्त्व अन्य गुणों से भिन्न माने गए हैं। गति और गुण में मात्रा या संख्या नहीं होती। उनमें संख्या की कल्पना भ्रान्त है। कारण और कार्य न एक है न उनमें विशेष अलगाव (एक-पृथक्त्व) है एकत्व की कल्पना द्वैत की कल्पना का कारण है। संयोग या संस्पर्श एक दो या अधिक वस्तुओं की क्रिया से हो सकता है अथवा किसी अन्य संयोग के फलस्वरूप भी हो सकता है। इसी प्रकार विभाग के लिए भी समझना चाहिए। कारण और कार्य में संयोग अथवा विभाग सम्भव नहीं है क्योंकि कारण या कार्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है (युतसिद्धयभावात्)। आठवीं पुस्तक में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा और मानस को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। इन दोनों को इनके गुणों के आधार पर ही जाना जा सकता है। इनके गुणों का, क्रिया का, इनके सामान्य और विशेष धर्मों का भी प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। इनका बोध इनके अन्य वस्तुओं के संसर्ग के कारण ही होता है। पृथ्वी तत्व से गन्ध का बोध होता है, जल, अग्नि और वायु से क्रमशः रस (स्वाद) रूप (रंग) और स्पर्श का बोध होता है।[1] इस सूत्र की नवीं पुस्तक में अभाव (i) (नकारात्मकभाव) की व्याख्या की गई है जिसका अस्तित्व नहीं है जो असत् है, उसमें न क्रिया सम्भव है न उसका कोई गुण हो सकता है वह क्रियाहीन और गुणविहीन है। जो सत् है जिसका अस्तित्व है वह असत् हो सकता है उसके अस्तित्व का लोप हो सकता है। जो एक प्रकार से सत् है वह दूसरे प्रकार से असत् भी हो सकता है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी एक अन्य प्रकार का अभाव है जो ऊपर लिखे सत् असत्-भाव, अभाव से भिन्न है।[2] अभाव का प्रत्यक्ष बोध (ii) स्मृति (iii) के आधार पर होता है जो पहले देखी हुई वस्तु की स्मृति रखती है और उसका लोप होने पर

---

[1] उपस्कार की व्याख्यानुसार इन विशिष्ट तत्वों से तत् सम्बन्धी इन्द्रिय चेतना का उद्भव होता है पर सूत्रों में इस प्रकार का कोई अर्थ प्रकट नहीं होता।

[2] पहले तीन प्रकार के अभावों में निम्न तीन वर्णन किया है-(१) प्रागभाव (v) (उद्भव के पूर्व ही अभाव) (२) ध्वंसाभाव (vi) (विध्वंस के पश्चात् अभाव) (३) अन्योन्याभाव (एक दूसरे के द्वारा पारस्परिक अभाव)। चौथा अभाव (vii) सामान्यभाव है (व्यापक रूप से सामान्य अभाव)।

अभाव का बोध प्रदर्शित करती है। इस सम्बन्ध में योगियों की विशिष्ट ज्ञान दृष्टि का भी उल्लेख किया गया है। योगियों में ऐसी दिव्य दृष्टि होती है कि वे अतीन्द्रिय (iv) रूप से विशेष बोध प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

दूसरे अध्याय में 'हेतु' (i) (कारण की व्याख्या की गई है। ऐसा कहा गया है कि कोई भी वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध, चाहे वह कार्य के रूप में हो या कारण के रूप में सम्पर्क या पृथक्त्व रूप में अथवा उससे विशेष संलग्नकता रूप में हो उस वस्तु के लिंग (ii) के रूप में जाना जावेगा। जैसे अग्नि और धूम्र के सम्बन्ध में, धूम्र, अग्नि के 'लिंग' के रूप में जाना जाता है। मुख्य तथ्य यह है कि यह वस्तु इस वस्तु से संलग्न है, अथवा इनमें कारण कार्य सम्बन्ध है। तर्क वाक्यों (iii) के आधार पर हेतु की स्थापना करने के पश्चात् एक निश्चित हेत्वानुमान (iv) की रचना उपर्युक्त दशाओं को पूर्ण करने वाले तर्क वाक्यों के साथ की जा सकती है। मौखिक-संज्ञान (v) के लिए किसी अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। असत्य ज्ञान (अविद्या) का कारण इन्द्रिय दोष, अथवा पूर्व-संस्कार के कारण भ्रान्त दृष्टि है जो अपनी इच्छा के प्रवाह के अनुसार ही घटनाओं को उनके मिथ्या रूप में देखती है। इसका दूसरा विपरीत अंग सत्य ज्ञान (विद्या) है। दसवें अध्याय में कहा गया है कि सुख और दुःख संज्ञान नहीं है क्योंकि इनका संदेह (संदिग्ध अवस्था) अथवा निश्चय से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थ यह है कि संज्ञान में वस्तु विशेष के विषय में या तो निश्चयात्मक ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्ध में कोई संदेह होता है। क्योंकि सुख दुःख के विषय में किसी निश्चय या संदेह की भावना का आधार नहीं है अतः यह संज्ञान नहीं हो सकता।

द्रव्य का उद्भव-कारण कभी-कभी कार्य का अन्तर्व्याप्ति (i) भी हो सकती है। ऐसी अवस्था में कार्य की प्रभाव क्रिया अन्तर्निहित होने से दूसरी वस्तु के योग (ii) से प्रकाश में आती है। सरल शब्दों में कभी-कभी अन्य वस्तु के योग से द्रव्य में प्रभाव क्रिया उत्पन्न होती है क्योंकि यह प्रभावी क्रिया दोनों वस्तुओं में अन्तर्निहित होती है अतः यह कहा गया है कि द्रव्य का कारण, क्रिया की अन्तर्व्याप्ति है। इसी प्रकार कर्म (गति) स्वयं भी कारण है क्योंकि इसमें कारण की व्याप्ति है, संयोग या सम्पर्क, कारण के व्याप्ति भाव से स्वयं कारण रूप हैं। कारण के कारण (iii) में व्याप्त संयुक्ति (iv) जब किसी कार्य के होने में सहायक होती है, तब भी यह कारण है। अग्नि का ताप रूपी विशेष गुण भी कारण है।

शास्त्रों के आदेशानुसार जो कार्य किए जाते हैं उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई देता परन्तु वे समृद्धि और अभ्युदय के कारण होते हैं क्योंकि ये कार्य वेदों के आदेश के अनुसार किए जाते हैं, अतः ये प्रामाणिक भी हैं।

न्याय-सूत्रों का दर्शन[1]

न्याय सूत्रों का प्रारम्भ सोलह पदार्थों के उल्लेख के साथ होता है जो इस प्रकार वर्णित हैं—(१) 'प्रमाण' (सत्यज्ञान) (२) प्रमाण का विषय 'प्रमेय' (३) 'संशय' (सन्देह) (४) 'प्रयोजन' (अर्थ कारण) (५) 'दृष्टान्त' (कथा आदि प्रसंग से समझाना) (६) 'सिद्धान्त' (जिन निष्कर्षों को स्वीकार कर लिया गया है) (७) 'अवयव' (अंग-तर्क के) (८) 'तर्क' (युक्तियाँ प्रस्तुत करना) (९) 'निर्णय' (निश्चय करना) (१०) 'वाद' (बहस या वार्तालाप करना) (११) 'जल्प' (विरोध करना, नहीं मानना), (१२) 'वितंडा' (कटु आलोचना करना ध्वंसात्मक दृष्टि से) (१३) 'हेत्वाभास' (सदोषतर्क) (१४) 'छल' (शब्दों के अर्थों में द्वयर्थक बात करना) (१५) 'जाति' (तर्क से खंडन करना) (१६) 'निग्रह स्थान' (विपक्षी को बाँध देने वाले बिन्दु, ताकि उसकी हार सुनिश्चित हो जाए) इसके साथ ही न्याय सूत्र का कथन है कि इन विषयों का पान होने से 'निश्रेयस' कल्याण और मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरे सूत्र में पुनः कहा है कि इनके अध्ययन से 'अपवर्ग' की प्राप्ति (मोक्ष की प्राप्ति) होती है क्योंकि शनैः-शनैः 'मिथ्या ज्ञान' (भ्रान्तज्ञान) 'दोष' 'प्रवृति' (रागात्मकलगाव, 'जन्म' और 'दुःख का क्रमशः विनाश होता जाता है। फिर प्रमाण की व्याख्या की गई है। प्रमाण चार प्रकार के होते हैं (१) प्रत्यक्ष (इन्द्रियों द्वारा स्पष्ट बोध) (२) अनुमान (परोक्ष कल्पना से अनुमान करना) (३) उपमान (किसी अन्य वस्तु के सादृश्य से सिद्ध करना) (४) शब्द (किसी आप्त व्यक्ति द्वारा कथन)। इन्द्रियों के द्वारा विषय-सम्पर्क से सुनिश्चित बोध जिसका नाम आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। 'अनुमान' तीन प्रकार का होता है—कारण से कार्य का अनुमान (पूर्ववत्)—कार्य से कारण का अनुमान (शेषवत्) और सामान्य गुण धर्म के आधार पर अनुमान (सामान्य तो दृष्ट) 'उपमान' किसी ज्ञात वस्तु के साथ तुलना कर किसी वस्तु या तथ्य का विनिश्चयन है।

'शब्द' (आप्त) प्राप्त पुरुषों के वाक्य के आधार पर निश्चय करना है शब्द से

---

[1] यहाँ न्याय सूत्रों के आधार पर न्याय दर्शन का संक्षिप्त सा देने का प्रयत्न किया गया है जिसमें कहीं-कहीं वात्स्यायन के विचारों के आधार पर विशेष प्रकाश डाला गया है। वात्स्यायन ने न्याय सूत्र का भाष्य लिखा है। इस संक्षिप्त वृत को न्याय सूत्रों के विषय क्रम के अनुसार लिखा गया है और इसमें उत्तरकालीन न्याय व्याख्याओं का समावेश नहीं किया गया है। न्याय वैशेपिक के संयुक्त वर्णन में उत्तरकालीन लेखकों और भाष्यकारों की व्याख्या और मत का आधार लिया गया है।

अर्थ (आप्त) सम्माननीय व्यक्ति द्वारा जो अधिकारी एवं विशेषतः माना जाता है उसके द्वारा किसी तथ्य का कथन है।[1]

ऐसा आप्त पुरुषों का कथन है कि हमको उन विषयों के सम्बन्ध में, जो हमारे अनुभव के वृत में आते हैं अथवा जो हमारे अनुभव के परे है, उचित ज्ञान दे सकते हैं। आत्मा, शरीर, इन्द्रियां (१), इन्द्रियार्थ (२) (इन्द्रियों के विषय) (३) 'बुद्धि' (४) 'मानस' (५) 'प्रवृत्ति' (६) पुनर्जन्म, आनन्द का उपभोग, और दुःख का भोग एवं मोक्ष ज्ञान के विषय है। (७) कामना, घृणा, प्रयत्न, सुख और दुःख एवं ज्ञान आत्मा के अस्तित्व के द्योतक है। शरीर पिण्ड (८) वह है जो गति और इन्द्रियों को धारण करता है, जिसमें इन्द्रिय विषयक सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है, शरीर इन सबका माध्यम है।[2] पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश इन पंचभूतों से पाँचों इन्द्रिय चेतना का प्रादुर्भाव होता है। गंध, रस, रंग, स्पर्श और शब्द, इन पाँचों तत्वों के गुण हैं। यहाँ पाँचों इन्द्रियों के विषय है। एक ही समय में एक साथ अनेक वस्तुओं का संज्ञानात्मक बोध (४) नहीं होता इससे 'मानस' की स्थिति का पता चलता है। अर्थात् जिस ओर मन इन्द्रियों को नियोजित करता है उसी विषय पर इन्द्रियाँ केन्द्रित होकर उसका ज्ञान प्राप्त करती हैं। वाणी, शरीर और बुद्धि (या मन) से जो कुछ क्रिया की जाती है, वह 'प्रयत्न' (१) है। 'दोष' (राग द्वेष आदि) वे हैं जिससे मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। दुःख वह है जिससे कष्ट होता है।[3] दुःख से अन्तिम निवृत्ति ही मोक्ष (अपवर्ग) है।[4] जब किसी विषय में एक ही कई प्रकार के मत प्रकट किए जाते हैं अथवा जब एक दूसरे से भिन्न मत प्रस्तुत किए जाते हैं और जिज्ञासु इन विभिन्न मतों में से एक निश्चित मत पर पहुँचना चाहता है तो 'संदेह' (संशय) की उत्पत्ति होती है, कि इनमें कौन सा विकल्प सत्य है। मनुष्य जब किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अथवा उसके परित्याग के लिए किसी कर्म में प्रवृत्त होता है तो वह उसका 'प्रयोजन' (२) कहलाता है। जिस अर्थ के लिए कार्य किया जावे वह अर्थ ही प्रयोजन है।

---

[1] वात्स्यायन कहते हैं कि 'आर्य', ऋषि अथवा म्लेच्छ (दूसरे देश का व्यक्ति 'आप्त' हो हो सकता है। यह कथन काफी रोचक है और विचारणीय है।

[2] यहाँ वात्स्यायन के मत के अनुसार वर्णन किया गया है।

[3] वात्स्यायन की व्याख्या के अनुसार, मनुष्य सारी वस्तुओं को दुःख का कारण मानकर दुःख से बचना चाहता है। जन्म से भी दुःख होता है अतः वह जीवन के प्रति विरक्त हो जाता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है।

[4] वात्स्यायन यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मोक्ष में 'आनन्द' की स्थिति नहीं है केवल दुःख से निवृति है। उस स्थिति में दुःख नहीं है।

'दृष्टान्त' (४) वह है जिसके सम्बन्ध में साधारण मनुष्य और विशेषज्ञ (परीक्षक) दोनों एक मत है।

'सिद्धान्त' (१) (जिन निर्णयों को स्वीकार कर लिया गया है) के सम्बन्ध में कहा है कि सिद्धान्त चार प्रकार के होते है। (१) (सर्व तंत्र सिद्धान्त) वे सिद्धान्त जो सारे मतों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं। (२) वे जिनको एक शाखा (मत) विशेष ही मानता है और अन्य इसका विरोध करते हैं, इनको 'प्रतितंत्र सिद्धान्त' कहते हैं। (३) वे सिद्धान्त जिनको स्वीकार करने के पश्चात् उनसे अन्य निष्कर्ष भी स्वतः स्वीकार करने होंगे इनको 'अधिकरण सिद्धांत' कहते हैं। (४) विपक्षी का वह मत जो वादी के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और फिर उसी के आधार पर विपक्षी के मत का कुशलता से खंडन किया जाता है, ऐसे स्वीकार किए हुए सिद्धान्त को 'अभ्युपगम-सिद्धांत' कहते हैं।[1]

'अवयव' (२) (तर्कांग) पाँच प्रकार के होते हैं। (१) 'प्रतिज्ञा' जिस वस्तु को सिद्ध करना है उसका कथन। (२) 'हेतु' वह कारण या युक्ति जिसके द्वारा किसी वस्तु से तुलना या अन्तर कर अपने पक्ष की पुष्टि का निर्णय प्रस्तुत किया जाता है। (३) उदाहरण-पक्ष या विपक्ष की युक्ति की पुष्टि अथवा खंडन के लिए किसी दृष्टान्त को प्रस्तुत करना (४) उपनय-दृष्टान्त के द्वारा पुष्टि (५) 'निगमन' सिद्ध किए हुए तथ्यों के आधार पर अन्तिम निष्कर्ष को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान आदि शब्दों की परिभाषाएँ दोहराई हैं जिनका उल्लेख प्रथम सूत्र में किया गया है।

'दूसरी पुस्तक में 'प्रमाण' (सत्य विद्या) के साधनों के विरोध में उठाई शंकाओं का खंडन किया गया है। विरोधियों द्वारा कहा जाता है कि 'संशय' के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि दो वस्तुओं में जिनके संबंध में संदेह होता है सदैव ही कुछ न कुछ अन्तर होता है अतः उनके बारे में संशय करना व्यर्थ है। इसके उत्तर में कहा गया है कि जब दो वस्तुओं के अन्तर उत्पन्न करने वाले विशिष्ट गुण, लक्षण व अन्य चिह्न (१) ध्यान पूर्वक मनन नहीं किए जाते तो उनके स्वरूप के संबंध में संशय उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विरोधी सम्भवतः बौद्ध लोग 'प्रमाण' की सत्यता (२) पर शंका करते हैं। उनके मत से प्रमाण को विश्वस्त नहीं माना जा सकता। विशेष रूप से इन्द्रियां ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष बोध का भी खंडन करते हैं। उनका मत है कि यदि वह बोध, इन्द्रियों के विषय के साथ सम्पर्क से पूर्व ही उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान इन्द्रिय-चेतना के कारण नहीं हो सकता। यदि इन्द्रिय संस्पर्श (१) के पश्चात् यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो इन्द्रियाँ, वस्तु विषय (२) के स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकतीं क्योंकि

---

[1] उपर्युक्त वर्णन वात्स्याय...

यही प्रथम अनुभूति है। यदि यह संज्ञान इंद्रिय संस्पर्श के साथ ही हो जाता है तो इसका अर्थ है कि हमारी संज्ञान की प्रक्रिया में कोई क्रम, कोई पौर्वापर्य-व्यवस्था (३) नहीं है।

इस सम्बन्ध में न्याय का उत्तर है कि यदि सत्य ज्ञान की प्राप्ति का कोई साधन नहीं है, तब शंकालु के पास भी सत्य ज्ञान तक पहुँचने का कोई साधन नहीं है, उसके पास कोई प्रमाण साधन न होने से सत्य ज्ञान के प्रमाणों का खंडन करने का भी साधन नहीं हो सकता। यदि विपक्षी का यह मत है कि वह किसी साधन या युक्ति के आधार पर सत्य ज्ञान तक पहुँच सकता है तो वह यह नहीं कह सकता कि सत्यज्ञान की संपुष्टि के लिए कोई प्रमाण, युक्ति अथवा साधन नहीं हो सकता। जैसे अनेक संगीत वाद्यों की संगीत ध्वनि से, विभिन्न प्रकार के संगीत वाद्यों के होने का अनुमान लगाया जा सकता है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों के सम्बन्ध में हमारे पूर्वज्ञान के आधार पर हम इन्द्रिय संस्पर्श से उन वस्तुओं के पूर्व अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं।[1]

सत्य ज्ञान के साधन जैसे इंद्रिय चेतना आदि जिनसे अन्य विषयों का उचित संज्ञान होता है स्वयं भी संज्ञान के विषय हो सकते हैं। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो ज्ञान के साधन हैं वे साध्य नहीं हो सकते। जो प्रमाण के साधन हैं उन्हें अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं साधन भी हैं और ज्ञान का विषय भी हैं। उदाहरण के लिए जो दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है वह स्वयं भी अपने अस्तित्व को प्रकट करता है–अपने ही प्रकाश से वह स्वयं भी प्रकाशित होता है।

प्रत्यक्ष बोध की परिभाषा की सत्यता की विवेचना में कहा है कि इस परिभाषा में आत्मा और चित्त के सम्पर्क की कल्पना की गई है।[2] फिर अवयव और अवयवा-भाव की विवेचना की गई है। कहा गया है कि यद्यपि हम एक भाग 'अवयव' को ही देख पाते हैं पर यह स्वयं सिद्ध है कि यदि अवयव है, एक भाग है, तो 'अवयवा' अवश्य होगा जिसका भाग वह अवयव है। पुनः यह पूर्णता या अवयव केवल विभिन्न भागों का समूह मात्र नहीं है यदि ऐसा होता तो हम यह कहते कि हमने परमाणुओं

---

[1] यथा पश्चात् सिद्धेन शब्देन पूर्व सिद्धम आतोधमनुर्भयते साध्ययि च आतोघम, साधनम् च शब्दा: अन्तर्हिते हयातोर्थ स्वन्त: अनुमानम् भवतीति, वीणा: वाघते, वेणु: पूर्यवं इति: स्वनविशेपेन आतोघविशेषम् अतिपाद्यते तथा पूर्व सिद्धम उपदब्धि विपयम, पश्चात्सिद्धेन उपलब्धि हेतुना प्रतिपाद्यते। [वात्स्यायन भाष्य ११.१ १५।

[2] इस प्रसंग में दिए हुए सूत्र II.i. २०-२८ सम्भवत: प्रत्यक्ष की परिभाषा के शब्दों के प्रति आलोचना का निराकरण करने की दृष्टि से बाद में क्षेपक रूप में सम्मिलित किए गए हैं। यह परिभाषा न्याय सूत्र में दी गई है।

को देखा है।[1] जैसे हम रेत के ढेर को देखकर किसी अन्य पूर्णता का अनुभव नहीं करते, केवल यह कहते हैं कि रेत का ढेर देखा है उसी प्रकार यह कह देते हैं कि हमने परमाणुओं की ढेरी देखी है अतः यह अवयव कि केवल अवयवों का समूह मात्र नहीं है, सम्पूर्ण अस्तित्व है। कुछ विपक्षी ऐसी शंका करते हैं कि कार्य से कारण का अनुमान करना उचित नहीं है क्योंकि एक कार्य की सम्पन्नता में अनेक कारण होते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इस कार्य विशेष का यह विशेष कारण है। इस शंका के समाधान में न्याय कहता है कि प्रत्येक कार्य की अपनी एक विशेषता होती है इस विशेषता का ध्यायपूर्वक मनन करने से उस कार्य विशेष का विशिष्ट कारण सरलता से जाना जा सकता है।[2] जो काल की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं और यह तर्क करते हैं कि काल की सत्ता अपेक्षाजन्य है उसके समाधान में न्याय यह उत्तर देता है कि यदि वर्तमान की स्थिति नहीं होती तो इसका प्रत्यक्ष बोध भी सम्भव नहीं होता। यदि भूत और भविष्य नहीं है तो हम यह नहीं कह सकते कि यह कार्य भूतकाल में या पहले आरम्भ किया गया था और अब भविष्य में भी होगा। जब किसी कार्य के पहले होने का या भविष्य में होने का बोध होता है, तो यह निश्चित है कि काल का भूत, वर्तमान और भविष्य है। इसके पश्चात् न्याय, ज्ञान के लिए 'उपमान' (साम्यानुमान सादृश्य) की प्रामाणिकता और वेदों की प्रामाणिकता की व्याख्या करता है इसके पश्चात् न्याय-सूत्र यह सिद्ध करते हैं कि इसके द्वारा वर्णित चार प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द किसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पर्याप्त हैं, किसी अन्य प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। प्रमाण के अन्य प्रकार व्यर्थ हैं। प्रमाण के अन्य प्रकार निम्न हैं–(१) अर्थापत्ति (अभिप्रेत अर्थ, लक्ष्यार्थ) (२) ऐतिह्य (परम्परा) (३) सम्भव (दीर्घ में लघु की स्थिति को स्वीकार करना जैसे एक क्विटल नाज यदि है तो यह निश्चित है कि उसमें एक मन नाज अवश्य होगा) (४) अभाव

---

[1] यह बौद्ध मत का खंडन है जो 'अवयवों' या सम्पूर्ण की सत्ता को नहीं मानते। इनके सम्बन्ध में पंडित अशोक (नवीं शताब्दी) द्वारा लिखा हुआ बौद्ध लेख 'अवयवी निराकरण' का अध्ययन प्रासंगिक होगा। यह 'सिक्स बुधिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स' में देखा जा सकता है।

[2] पूर्वोदक विशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरम् स्त्रोतसा वहुतर फेन फलपर्ण कष्ठादि वहनं चो पलभमानः पूर्णत्वेन नद्या उपरि वृष्टो देव इत्य अनुमिनोति नोदकवृद्धि मात्रेण। वात्स्यायन भाष्य II. १-३८। जब यह अनुमान किया जाता है कि नदी के ऊपर के भाग में विशेष रूप से वर्षा हुई है तो यह अनुमान केवल जल की वृद्धि के आधार पर नहीं किया जाता वरन् नदी में जल का पूर्वस्तर, जल के बढ़ते हुए प्रवाह में फल, फूल, पत्ते, फेन आदि वस्तुओं को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इस नदी के ऊपरी भाग में अवश्य विशेष वर्षा हुई है।

(अस्तित्व हीनता) न्याय का मत है कि इन अन्य प्रकारों की कोई अलग स्थिति नहीं है यह विभेद करना व्यर्थ है। परम्परा या ऐतिह्य, 'शब्द' में सम्मिलित है और अर्थापति, सम्भव और 'अभाव' अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत आ जाते हैं।

प्रमाण में यद्यपि इनका महत्व स्वीकार किया गया है पर ये उप-प्रमाण प्रमाण के चार भेदों में स्वतः ही आ जाते है, अतः अलग से गणना करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फिर 'शब्द' नित्य है इस मत का खंडन किया गया है और अनेक युक्तियों और प्रमाणों द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध की गई है। फिर यह बताया गया है संज्ञा शब्दों का अर्थ 'जाति', 'व्यक्ति' और आकृति को प्रकट करते हैं। आकृति के 'जाति' का विनिश्चयन होता है।

तीसरी पुस्तक में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण दिए गए हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय क्षेत्र है परन्तु इन इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व होना चाहिए जो इन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सारे बोध-चित्रों को ग्रहण कर इन सबसे एक सम्पूर्ण बोधात्मक चित्र को निर्मित कर उससे पूर्ण विषय का संज्ञान प्राप्त करता है। यह कार्य आत्मा का है जो इन्द्रिय चेतना के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करती है। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं होता तो किसी भी शरीर को क्षति पहुँचाने में कोई पाप नहीं लगता, क्योंकि आत्माविहीन शरीर अन्य वस्तुओं के समान ही जड़ वस्तु है। यदि आत्मा का स्थायी अस्तित्व न हो तो पहले देखी हुई वस्तुओं की स्मृति से नयी वस्तुओं को पहचानने वाली शक्ति कहाँ होती। यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तो दोनों नेत्रों से देखी गई एक ही वस्तु के दो बिंबों को एक रूप में देखना भी सम्भव नहीं होता।[1] यदि कोई स्थायी संज्ञानात्मक शक्ति नहीं होती तो खट्टे फल को देखकर यह पहचानना भी सम्भव नहीं हो जाता कि यह फल खट्टा है। यदि ज्ञान चेतना केवल इन्द्रियों की होती तो किसी वस्तु के पहचान का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि एक इन्द्रिय की अनुभूति को दूसरी इन्द्रिय के द्वारा जानना असम्भव हो जाता। यदि यह कहा जावे कि इन्द्रिय चेतना का समन्वय 'मानस' (मन) के द्वारा किया जाता है, तो फिर यह 'मानस' वही कार्य करता है जो आत्मा करती है और फिर यह विवाद केवल नाम के ऊपर रह जाता है। चाहे इसे आत्मा कहा जावे या मानस कहा जावे यह एक ही बात होगी। पुनः जो जानने वाली शक्ति है, जो संज्ञान अथवा अभिज्ञान प्राप्त करती है, उसके पास कोई ऐसा साधन होना चाहिए जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त विभिन्न विषयों के अभिज्ञान में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करता है,

---

[1] वात्स्यायन का मत है कि दोनों नेत्रों में दो अलग-अलग इन्द्रिय चेतना हैं। उद्योतकर विपरीत मत रखते हैं कि दृश्य चेतना एक है पर दोनों के माध्यम से यह कार्य करती हैं।

जो संज्ञान की उत्पत्ति करता है। यदि मानस को आत्मा का साधन नहीं माना जावे तो सम्भवतः इन्द्रियों की क्रियाओं व अनुभूति को समझा जा सकता है, पर यह समझना कठिन होगा कि विचारविमर्श कौन करता है, कल्पना, चिन्तन और मनन कौन करता है। यह कार्य मानस का है जो आत्मा का साधन है। शिशु प्रारंभिक अवस्था में भी आनन्द और दुःख के चिह्न प्रकट करते हैं जो इस जन्म की अनुभूति के प्रकाश में संभव नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि कोई ऐसी ज्ञानवान शक्ति है जो पिछले जन्म के अनुभवों के आधार पर बालक में आनन्द और प्रसन्नता या कष्ट का प्रादुर्भाव करती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी कुछ कामनाओं के साथ उत्पन्न होता है, ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो कामना के साथ उत्पन्न नहीं होता। यह कामना मोह आदि पिछले जन्म के मोह और अनुरक्ति के फलस्वरूप आत्मा के साथ ही दूसरे जन्म में पुनः उत्पन्न होती है।

शरीर क्षिति तत्व से निर्मित है। दृष्टि-चेतना भौतिक है।[1] साथ यह भी असत्य है कि केवल त्वचा ही संवेदना का एकमात्र साधन है। पृथ्वी तत्व में चार गुण हैं, जल में तीन गुण हैं। अग्नि में दो और वायु व आकाश में एक एक गुण है। गन्ध, रस, रूप और स्पर्श क्रमशः पृथ्वी आदि तत्वों से निर्मित हैं और जिस स्थूल तत्व से इनका निर्माण हुआ है उसके स्वानुकूल ही विशेष गुण को विशेष रूप से ग्रहण कर सकते हैं। जैसे गन्ध पृथ्वी तत्व से निर्मित है। पृथ्वी के चार गुण हैं परन्तु घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के गन्ध को ही ग्रहण कर सकने में समर्थ होती हैं अन्य गुणों को नहीं।

सांख्य की परम्परा के विपरीत न्याय 'बुद्धि' (संज्ञान शक्ति) और 'चित्त' (शुद्ध चेतना) में कोई अन्तर नहीं मानता। इसके मतानुसार 'बुद्धि' जो ('चित्त') एक ही है। हमारे चेतना में पार्थिव एवं अपार्थिव दो प्रकार के तत्व नहीं पाए जाते। चेतना सम्पूर्ण रूप से एक ही है। न्याय दर्शन सांख्य की इस 'ज्ञान-मीमांसा' को भी स्वीकार नहीं करता कि संज्ञान-प्रक्रिया में 'अन्तःकरण' अनेक रूप धारण कर लेता है। यह केवल मन का (मानस का) आत्मा, इन्द्रिय और विषयवस्तु से सम्पर्क मात्र है। सांख्य का एक और मत है कि जिस प्रकार कोई स्फटिक इसके पास पड़े हुए रंगीन वस्तुओं के विभिन्न वर्गों को प्रतिभासित करता है उसी प्रकार अन्तःकरण भी बाह्य पदार्थों के प्रतिबिंबित प्रकाश को ग्रहण करता है। बौद्ध दर्शन इसका प्रतिवाद करता है। उसका मत है कि यह सब एक क्षणिक प्रक्रिया है जिसमें एक क्षण के लिए स्फटिक के समान प्रकाश बिंब ग्रहण किया जाता है। कोई स्थायी तत्व स्फटिक के समान नहीं है जो

---

[1] सांख्य की यह मान्यता नहीं थी कि इन्द्रिय-चेतना भौतिक है जो स्थूल तत्वों से निर्मित है। परन्तु 'अत्रेय संहिता' (चरक भाष्य) में प्रतिपादित मत के अनुसार, इन्द्रिय चेतना भौतिक और स्थूल तत्वों से निर्मित है। यह दूसरा मत सांख्य-योग का है।

संसार के वाह्य पदार्थों के प्रकाश बिंब को ग्रहण कर परावर्तित करता रहता है। न्याय दर्शन सांख्य और बौद्ध दोनों मतों का खंडन करता है। न्याय का मत है कि यह नहीं कहा जा सकता कि सारी वस्तुएँ अथवा उत्पन्न पदार्थ क्षणिक हैं। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि जो वस्तुएँ हमारे अनुभव में या व्यवहार में क्षणिक दिखाई देती हैं वे सब क्षणिक हैं। जैसे दूध जब दही में बदलता है तो नए गुण विशेष रूप से उत्पन्न नहीं होते, न पुराने गुणों का लोप होता है। वास्तव में दूध का लोप होकर दही का निर्माण होता है। मानस का आत्मा के साथ सम्पर्क आन्तरिक है। यह सम्पर्क शरीर के बाहर स्थित किसी आत्मा से नहीं है। ज्ञान आत्मा का विषय है और उसी का धर्म है। यह इन्द्रिय या पदार्थ का धर्म नहीं है क्योंकि उनके नष्ट हो जाने के पश्चात् भी ज्ञान बना रहता है। नए संज्ञान के साथ पुराने संज्ञान का लोप हो जाता है। कामना और विरक्ति दोनों आत्मा के विषय हैं। ये शरीर अथवा मन के धर्म नहीं हैं। मानस की अपनी कोई चेतना नहीं है क्योंकि यह अपनी चेतना के लिए आत्मा पर निर्भर है। फिर यदि यह मानस चेतन होता तो इसके द्वारा किए हुए कर्मों का फल आत्मा को भोगना पड़ता है और यह नियम विरुद्ध है कि किसी अन्य को भोगना पड़े। स्मृति के निम्न हेतु बतलाए गए हैं—(१) ध्यान (२) प्रसंग (३) पुनरावृत्ति (४) संकेत (५) संपर्क (६) साम्य (७) स्वत्व रखने वाले और स्वत्व जिस पर है उनका संबंध अथवा स्वामी सेवक संबंध या स्थायी क्रमिक संबंध (८) वियोग, जैसे—पति-पत्नी विच्छेद (९) साधारण कार्य (१०) विरोध (११) आधिक्य (१२) वह जिससे किसी वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। (१३) ढकने वाला और ढक जाने वाला पदार्थ (१४) सुख और दुःख जिसके द्वारा पूर्व स्मृति की जागृति होती है (१५) भय (१६) प्रार्थना (१७) कोई कर्म जिससे स्मृति उत्पन्न होती हो जैसे, रथ के द्वारा रथी का ध्यान जाना। (१८) प्रेम (१९) गुण और अवगुण। फिर यह कहा गया है कि ज्ञान शरीर का धर्म नहीं है और तत्पश्चात् अदृष्ट के कारण शरीर के जन्म की व्याख्या की गई है। पुनः यह कहा गया है कि कर्म के विनाश से मानस की आत्मा से वियुक्ति या स्थायी संबंध विच्छेद कारण 'अपवर्ग' (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।[1] 'दोष' परीक्षा के प्रसंग में चतुर्थ पुस्तक में कहा गया है कि 'मोह' ही 'राग' और 'द्वेष' का मूल है। बौद्ध दृष्टिकोण के अनुसार किसी वस्तु की उत्पत्ति, विनाश से ही होती है। न्याय इसके विपरीत यह कहता है कि उत्पत्ति की प्रक्रिया में विनाश एक क्रम मात्र है। फिर कहा है कि मनुष्य के द्वारा किए हुए कर्मों के फल ईश्वर की इच्छा से प्राप्त होते हैं। ईश्वर ही फल प्राप्ति में मूल कारण है क्योंकि मनुष्य के कर्मों से सदैव ही इच्छानुसार अथवा कर्मानुसार फल की प्राप्ति नहीं होती है। तत्पश्चात् उन दार्शनिकों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है जो यह कहते हैं कि संसार के सारे

---

[1] न्याय — III ii ४४।

पदार्थ बिना किसी कारण के उत्पन्न होते हैं। संसार बिना किसी कारण के 'अनिमित्त' उत्पन्न हुआ है। यह असम्भव है क्योंकि इस आधार पर 'अनिमित्त' ही संसार का निर्मित होगा जो हास्यास्पद है।

फिर उन लोगों के मत का खंडन किया गया है जो यह कहते हैं कि संसार में सारी ही वस्तुएँ नित्य हैं। न्याय का कथन है कि यह व्यावहारिक बुद्धि और अनुभव के प्रतिकूल है क्योंकि हम सदैव ही यह देखते है कि वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। इसके पश्चात् शून्यवादी बौद्धों के इस सिद्धान्त का खंडन किया गया है कि संसार में सभी वस्तुओं की स्थिति, दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा से हैं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किसी वस्तु का नहीं है। इसके पश्चात् अन्य बौद्धों के इस सिद्धान्त का भी खंडन किया गया है कि पदार्थों के गुण मात्र का अस्तित्व है, द्रव्य स्वयं में कुछ नहीं है और 'अवयवां' की या सम्पूर्ण की कोई स्थिति नहीं है 'अवयव' (भाग) मात्र की ही स्थिति है। कर्मफल के सम्बन्ध में कहा गया है कि वृक्षों पर लगने वाले फलों के समान है जो पकने में कुछ समय लेते हैं। फिर जन्म के सम्बन्ध में कहा है कि यह सदैव दुःखमय है। यहाँ वहाँ थोड़े से आनन्द के क्षण कदाचित् दिखाई देते हैं तो वह क्षणिक है। जीवन में दुःख ही दुःख हैं। कभी-कभी प्राणी दुःख को ही सुख मान कर प्रसन्न हो लेता है। जैसे स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा में दुःख की कोई स्थिति नहीं रहती इसी प्रकार 'अपवर्ग' प्राप्त करने पर 'क्लेश' से मुक्ति मिल जाती है।[1] इस स्थिति के प्राप्त करने पर सारी 'प्रवृत्तियों' की सदैव के लिए समाप्ति हो जाती है। यद्यपि प्रवृत्तियाँ अनादि काल से चली आ रही है परन्तु इनका अस्तित्व राग द्वेषादि के कारण है। अपने दोषों के ज्ञान से 'अहंकार' का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् अवयव और अवयवार्थ का विवेचन है और 'अणु' की व्याख्या की गई है जो अविभाज्य तत्व है। पुनः विज्ञानवादी बौद्धों के इस सिद्धान्त का प्रतिपाद किया गया है कि संसार में कल्पना या विचार से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है अर्थात् सभी वस्तुएँ मनुष्य की कल्पना या विचार में ही अवस्थित हैं उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'योग' का भी प्रसंग आया है।

पाँचवीं पुस्तक में विभिन्न प्रकार के 'निग्रह स्थान' (प्रतिवाद बिंदु) एवं 'जाति' (व्यर्थ की युक्तियों) का वर्णन है।

चरक न्याय-सूत्र और वैशेषिक सूत्र

'न्याय सूत्र' की 'वैशेषिक सूत्रों' से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि

---

[1] वात्स्यायन के अनुसार यह मोक्ष उस प्राणी का है जिसने 'ब्रह्म' को जान लिया है।
—वात्स्यायन iv १.६३।

न्याय सूत्रों में दो तीन प्रकार की विचार धाराओं का समावेश हुआ है परन्तु वैशेषिक सूत्र प्रारम्भ से अन्त तक एक ही विषय को प्रतिपादित करता है। न्याय सूत्र में अपने प्रतिद्वन्दी को हराने के लिए तर्क की प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या की गई है। तर्कशास्त्र को जीवन की एक व्यावहारिक कला के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस सबके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब सामग्री किसी अन्य प्राचीन तर्कशास्त्र से ली गई होगी जिसको हिन्दू और बौद्ध समान रूप से शास्त्रार्थ की सफलता के लिए अध्ययन करते थे।[1] चरक के द्वारा लिखे हुए आयुर्वेदविज्ञान के ग्रन्थ (४,५) में 'जाति', 'छल' आदि तर्कशास्त्र के शब्दों की तुलना न्याय सूत्र में पायी जाने वाली शब्दावली से करने पर उपर्युक्त मत की ओर भी अधिक संपुष्टि हो जाती है। प्रारंभिक संस्कृत साहित्य में न्याय सूत्र और चरक-संहिता के अतिरिक्त, और कोई ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध नहीं होते जिसमें तर्कशास्त्र का इस प्रकार विवेचन किया गया हो। चरक में दृष्टान्त, प्रयोजन, प्रतिज्ञा और वितण्डा की परिभाषा और तर्क के अंगों का जो वर्गीकरण किया गया है वह न्याय सूत्र की व्याख्या से मिलता जुलता है। साथ ही दोनों ग्रन्थों में 'जल्प', छल, निग्रह स्थान, आदि की परिभाषाओं में काफी अन्तर भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त चरक में तर्क के कुछ ऐसे अंगों या वर्गों की विवेचना की गई है जो न्याय सूत्र में नहीं पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रतिस्थापन, जिज्ञासा व्यवसाय, वाक्यदोष, 'वाक्यप्रशंसा', उपालंभ, परिहार, अभ्यानुज्ञा आदि केवल चरक संहिता में ही वर्णित हैं।[2] इसी प्रकार न्याय सूत्र में 'जाति' और निग्रह स्थान की जो व्याख्या की गई है वह चरक में नहीं पाई जाती है। कुछ शब्द या पद ऐसे हैं जो भिन्न रूपों में हैं पर एक से अर्थ में दोनों ग्रन्थों में प्रयोग किए गए हैं। चरक के 'औपम्य' को न्याय सूत्र में 'उपमान' कहा है। न्याय सूत्र के 'अर्थापत्ति' के अर्थ में, चरक ने अर्थ प्राप्ति पद का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट ही है कि चरक को इस विषय में न्याय सूत्र नामक ग्रन्थ की जानकारी नहीं थी। चरक का विवेचन भी न्याय सूत्र से अधिक सरल और सुस्पष्ट हैं। यदि पांचवीं पुस्तक में 'जाति' आदि के भेद की ओर ध्यान न दिया जावे तो चरक और न्यायसूत्र दोनों में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में चरकसंहिता पहले लिखी गई है और न्याय सूत्र बाद में लिखा गया

---

[1] 'सुवर्ण प्रभास सूत्र' में एक प्रसंग में ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु शास्त्रार्थ में स्वर को अधिक सशक्त बनाने के लिए विशेष प्रकार के योग (औषध) का सेवन करते थे। इन भिक्षुओं ने सरस्वती (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) की भी उपासना करना प्रारम्भ कर दिया था जिससे शास्त्रार्थ के समय उनको प्रत्युत्पन्नमति बनाने में सरस्वती देवी सहायता करें।

[2] वैशेषिक के समान ही चरक में भी अनुमान के तीन भेद पूर्ववत, शेषवत और सामान्य दृष्टि का उल्लेख नहीं मिलता है।

है जब तर्क, खंडन मंडन और शास्त्रार्थ का विशेष प्रचलन हो गया था, और इसके कारण न्याय में तर्क के पदों और प्रक्रियाओं को और भी विशद रूप में वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि न्याय सूत्र का यह भाग दूसरी शताब्दी से पूर्व लिखा हुआ नहीं होना चाहिए। न्याय सूत्र में दूसरी धारा तत्कालीन बौद्ध मत की सौत्रांतिक, विज्ञानवादी, शून्यवादी विचारधाराओं के प्रतिवाद से सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त सांख्य, चार्वाक् व अन्य अज्ञात मतों का भी खंडन किया गया है। वैशेषिक सूत्र में केवल मीमांसा सिद्धान्तों से मतभेद प्रकट किया गया है और अन्त में उनके कई सिद्धान्तों को अंशतः स्वीकार कर लिया गया है। न्याय सूत्र में भी वैशेषिक के समान ही मीमांसा के शब्द की 'नित्यता' सिद्धान्त पर तीव्र मतभेद मिलता है। उत्तर मीमांसा और उत्तर न्याय में मुख्य मतभेद मीमांसा के 'स्वतः प्रामाण्यवाद' (ज्ञान का स्वयं प्रमाण होना) और भ्रान्ति को 'अख्याति' सिद्धान्त के विषय में पाया जाता है पर 'न्यायसूत्र' में इसका कोई उल्लेख नहीं है। 'न्याय सूत्र' में (IV ११.३८.४२,४६) योग साधन प्रसंग भी उसकी सामान्य विचार-धारा से साम्य नहीं रखता है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह वाद को क्षेपक रूप में सम्मिलित किया गया है। जापान में अनेक पीढ़ियों से प्रचलित यह जनश्रुति की यह प्रसंगश्री मिरोक (Mirok) ने बाद में जोड़ दिया है, सत्य प्रतीत होता है जैसाकि महामहोपाध्याय श्री हरिहर प्रसाद शास्त्री ने संकेत किया है।[1]

वैशेषिक सूत्र ३.१.१८ और ३.११.१ के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क के कारण होती है। साथ ही इस सिद्धांत का भी दृढ़तावंपूक प्रतिपादन करते हैं कि रूप विशेष 'संस्कार' में ही दिखाई दे सकता है। अर्थात् जब तक उचित प्रकार की अवस्थाओं का मेल नहीं होगा तब तक किसी स्वरूप या रूप को देखना सम्भव नहीं है। न्याय और वैशेषिक 'मानस' का अस्तित्व है इस अनुमान में एक मत हैं। विभिन्न वस्तुओं का संज्ञान एक ही समय, एक साथ नहीं होता और न तत्काल प्रयत्न का प्रारंभ होता है अतः यह स्पष्ट है कि अधिक-संज्ञान क्रिया और मनन के पश्चात् प्रयत्न किसी ऐसे तत्व की स्थिति के कारण होना चाहिए जो इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान का सामंजस्य निरूपण और मनन करता है यह कार्य आत्मा नहीं कर सकती। यह 'अयोगपाद्य' अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा के अलावा मानस का भी अस्तित्व है। न्याय सूत्र, प्रत्यक्ष की शास्त्रीय व्याख्या करते हैं परन्तु वैशेषिक के समान 'संस्कार' या 'उद्भूतरूपत्व' का उल्लेख नहीं करते। न्याय सूत्र 'अनुमान' के तीन भेद 'पूर्ववत्' 'शेषवर्त' और 'सामान्यतां दृष्टि' का उल्लेख करते हैं परन्तु इनकी कोई परिभाषा नहीं देते हैं। वैशेषिक में इन भेदों का कोई वर्णन नहीं मिलता।

---

[1] जे० ऐ० एस० बी० १९०५।

इसमें केवल अनुमान के विभिन्न उदाहरण मात्र दिए गए हैं (v.s 3.1.7–17, ix II, 1.2.4-5) किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध होने की स्थिति में ही 'अनुमान' किया जा सकता है अथवा उस अवस्था में अनुमान प्रमाण कार्य में लाया जाता है जब एक वस्तु की दूसरे में 'अन्तर्व्याप्ति' हो अथवा एक तीसरी वस्तु में व्याप्ति हो। एक प्रभाव से या कार्य से भी किसी अन्य समान धर्मा कार्य या प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। ये सब उदाहरण एक स्थान पर एकत्रित कर प्रस्तुत किए गए हैं पर इनसे किसी सामान्य सिद्धांत पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया गया है। उत्तर न्याय में 'व्याप्ति' सिद्धांत विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है परन्तु 'हेतु' और 'साध्य' की सह-व्याप्ति के इस सिद्धांत का विशेष निरूपण न न्याय में किया है और न वैशेषिक में। वैशेषिक सूत्र (iii. १:२४) में हेतु और साध्य की व्याप्ति की बात को साधारण रूप से ('प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् अपदेशस्य') स्वीकार कर लिया है परन्तु 'व्याप्ति' पद का कहीं उल्लेख नहीं है, न इसकी जानकारी ही दिखाई देती है। 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्' पद का पारिभाषिक अर्थ भी वैशेषिक में ऐसा नहीं प्रतीत होता जैसा उत्तरकालीन न्याय में स्पष्ट और शास्त्रीय हो गया है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 'शब्द' को (शब्दों को) अलग से प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते परन्तु वेदों को असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक मानते हैं। न्याय सूत्र में शब्द को प्रमाण माना है और शब्द प्रमाण न केवल वेदों के लिए प्रयुक्त हुआ है पर किसी भी आप्त पुरुष की वाणी या साक्ष्य को 'शब्द' प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। वात्स्यायन ने ऋषि, आर्य और म्लेच्छ तीन प्रकार के आप्त पुरुषों का वर्णन किया है। पुनः संज्ञान की सत्यता के प्रमाण के लिए न्याय ने 'उपमान' का विशेष महत्व माना है पर वैशेषिक में इसकी कोई जानकारी नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार न्याय सूत्रों में 'अर्थापति', 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' का अन्य प्रमाणों के रूप में उल्लेख आता है यद्यपि इन सब को प्रमाणों के स्वीकृत भेदों में ही सम्मिलित माना गया है। परन्तु वैशेषिक में इनका कहीं भी प्रसंग तक नहीं आता।[1] जिस संस्थिति की ओर अभाव का संकेत है उसकी अपेक्षा से वैशेषिक सूत्र 'अभाव' के बोध को मान्य समझते हैं (ix, १-१०-१०)। इसके विपरीत न्याय का मत है (II, ११.१.२.७.१२) कि 'अभाव' किसी वस्तु की अस्तित्वहीनता के रूप में प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है, जब कोई व्यक्ति किसी को यह कहता है कि वे वस्त्र उठा लाओ जिन पर कोई चिह्न नहीं है तो वह व्यक्ति, यह देखता है कि कुछ वस्त्रों पर कोई चिह्न नहीं है और उन्हें उठा कर ले आता है। अतः न्याय का यह तर्क है कि 'अभाव' का बोध सीधा, प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।[2] न्याय और वैशेषिक इस प्रकार 'अभाव'

[1] प्राचीन ग्रन्थों में केवल चरक में इनका उल्लेख मिलता है परन्तु चरक 'सम्भव' की एक अन्य व्याख्या देते हैं और 'अर्थापति' को अर्थपत्ति की संज्ञा दी गई है।

[2] इस उदाहरण को वात्स्यायन भाष्य में उद्धृत किया गया है।

की बोध स्थिति के सम्बन्ध में एक मत हैं। परन्तु इसके निरूपण और बोध प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतभेद है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और 'समवाय' के भेदों की विशद व्याख्या की गई है। परन्तु न्याय में इनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।[1] पुनः न्याय-सूत्र इन्द्रिये-चेतना को द्रव्य के रूप में सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न करते हैं पर वैशेषिक सूत्र इसको कोई महत्व नहीं देते। केवल एक स्थल पर इसका अत्यन्त स्वत्व प्रसंग आया है (viii, ११.५.६) जो पर्याप्त नहीं है। वैशेषिक 'ईश्वर' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है पर न्यायसूत्र ईश्वर के अस्तित्व को पिछले घटनाक्रम के आधार पर सिद्ध करने का अथक प्रयत्न करते हैं। न्याय सूत्र में आत्मा के अस्तित्व संबंधी कारणों में इन्द्रिय-चेतनात्मक संज्ञान की एकरूपता और अभिज्ञान की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है जिस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु वैशेषिक यह तर्क करता है कि आत्मचेतना ही ज्ञान का अंग है अर्थात् आत्मा प्रत्यक्ष रूप से बोध प्राप्त कर जिस चैतन्य को ग्रहण करती है वह आत्म चेतना ही संज्ञान है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही अणुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक में पाए जाने वाले अणु के निर्माण और स्वरूप की व्याख्या का इस काल में नितान्त अभाव है। वैशेषिक मोक्ष को 'निश्रेयस' और न्यायसूत्र उसे 'अपवर्ग' कहते हैं। वैशेषिक में मोक्ष देह के बन्धन से मुक्ति है तो न्याय में अपवर्ग दुःखों से मुक्ति हैं।[2] उत्तरकाल में न्याय और वैशेषिक में विशेष मतभेद संख्या की कल्पना और रूप से मट्टी के अणुओं में रंग परिवर्तन आदि के सम्बन्ध में पाया जाता है। इस प्रकार वैशेषिक का मत है कि संख्या का बोध मस्तिष्क की एक विशेष प्रक्रिया के कारण होता है। संख्या के प्रत्यक्ष बोध में पहले इन्द्रियों का वस्तु विशेष से सम्पर्क होता है फिर वस्तु एक है इसका बोध होता है फिर 'अपेक्षा बुद्धि' से 'द्वैत' और पुनः त्रैत आदि का बोध होता है। इसी प्रकार 'पीलुपाक' सिद्धान्त है जिसका अर्थ होता है अग्निसंयोग के द्वारा पृथ्वी के रूप में परिवर्तन वैशेषिक का मत है कि अग्निसंयोग के कारण पृथ्वी के परमाणुओं के गुणों में अन्तर आ जाता है पर न्याय का मत है कि यह अन्तर अणुओं में उत्पन्न होता है। वैशेषिक मत को नैयायिक मानने

---

[1] प्रसंगवश न्यायसूत्र 'जाति' की परिभाषा करते हुए उल्लेख करते हैं कि 'समान प्रसवात्मिका जाति।' (II.ii. 71)

[2] 'संक्षेप शंकरजय' और 'भासर्वज्ञा' नैयायिक लेखक (जे० ए० एस० बी० १९१४) से एक संदर्भ उद्धृत करते हुए श्री प्रो० वनमाली वेदान्ततीर्थ कहते है कि प्राचीन नैयायिक यह मानते थे कि मुक्ति में एक प्रकार के सुख की भावना है परन्तु वैशेषिक इसको अस्वीकार करते थे। न्याय या वैशेषिक सूत्रों में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है जब तक कि दुःख से निवृति को सुख नहीं मान लिया जावे।

को तैयार नहीं थे।[1] प्रारंभिक न्याय और वैशेषिक दर्शन में अन्तर समझना इसलिए कठिन है कि न्याय सूत्रों में इन सब उत्तरकालीन विवादों की कोई पृष्ठभूमि नहीं मिलती। क्योंकि न्याय सूत्र इन सब विषयों पर कोई प्रकाश नहीं डालते इसलिए इस पर कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मतभेद न्याय और वैशेषिक के भाष्यकारों और व्याख्या करने वालों में प्रारम्भ हुए होंगे। श्री प्रशस्तपाद भाय (छठी शताब्दी) के द्वारा प्रस्तुत वैशेषिक दर्शन और उद्योतकर द्वारा निरूपित न्याय दर्शन को लगभग एक से दर्शन के रूप में ही स्वीकार किया जाता है जिनमें यत्र तत्र साधारण मतान्तर पाया जाता है। अतः न्याय वैशेषिक का वर्णन साथ-साथ ही किया गया है। अतः इस अध्याय में छठी शताब्दी के पश्चात् जो न्याय वैशेषिक दर्शन उपलब्ध होता है इसकी व्याख्या की गई है।

वैशेषिक और न्याय साहित्य

कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र की रचना की है। ये उलूक के पुत्र थे और इसलिए इनको औलूक्य भी कहा जाता है। वैशेषिक सूत्रों की रचना तिथि निश्चित करना कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि ये बौद्ध काल से पूर्व की रचना है 'वायुपुराण' के अनुसार इनका जन्म द्वारका के निकट प्रभास में हुआ था और यह आचार्य सोम शर्मा के शिष्य थे। वैशेषिक सूत्रों पर श्री प्रशस्तपाद ने भाष्य लिखा है पर यह भाष्य अन्य भाष्यों से भिन्न है। अन्य भाष्यों में पहले मूलसूत्र और उनके अर्थ दिए जाते हैं और उस पर टीका की जाती है जिसमें भाष्यकार अपना मत प्रकट करता है। परन्तु प्रशस्तपाद-भाष्य में मूल सूत्रादि न देकर स्वतंत्र रूप से वैशेषिक सूत्रों के दर्शन का आधार लेकर व्याख्या की गई है। यह व्याख्या एक प्रकार से स्वतंत्र व्याख्या है।[2] दुर्भाग्यवश

---

[1] माधव रचित 'सर्व दर्शन संग्रह' औलूक्य दर्शन देखिए।

[2] श्री प्रशस्तपाद के भाष्य को कठिनाई से ही भाष्य की संज्ञा दी जा सकती है। वह स्वयं भी इसको वैशेपिक भाष्य के रूप में नहीं मानता है। वह अपने ग्रन्थ को पदार्थ के धर्मों की व्याख्या की संज्ञा देता है। उसने इसे 'पदार्थ धर्म संग्रह' का नाम दिया है। द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, विशेष और सामान्य, पदों के विभिन्न भेदों पर अपना स्वतंत्र मत प्रकट किया है। उत्तरकाल के न्याय वैशेषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख पहली बार इस संग्रह में पाया जाता है। उदाहरण के लिए सृष्टि रचना और प्रलय, संख्या का सिद्धान्त, अनेक परमाणुओं से अणु के परिमाण का विनिश्चयन, ताप से मही के वर्ण परिवर्तन का 'पीलुपाक' सिद्धांत इन सबका वर्णन पहली बार इस ग्रन्थ में ही पाया जाता है। वैशेपिक सूत्रों में इनका कोई उल्लेख नहीं है। प्रशस्तपाद के जीवनकाल के संबंध में भी

है। फिर इसके ऊपर एक उप टीका 'वर्धमानेन्दु' नाम से श्री पद्मनाभ ने लिखी है। इस पर श्री शंकर मिश्र ने एक और उप टीका 'न्याय तात्पर्य मंडन' नाम की लिखी हैं। सत्रहवीं शताब्दी में श्री विश्वनाथ ने न्यायसूत्र पर एक स्वतंत्र टीका 'विश्वनाथ वृत्ति' नाम की लिखी और श्री राधामोहन ने न्याय सूत्र पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम 'न्यायसूत्र विवरण' है। इनके अतिरिक्त भी न्याय दर्शन के ऊपर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्याय मंजरी' है जिसकी रचना श्री जयन्त (८८० ए. डी.) ने की है। श्री जयन्त का काल श्री वाचस्पति मिश्र के पश्चात् है। श्री जयन्त ने न्यायसूत्रों के कुछ सूत्रों की व्याख्या करते हुए न्याय दर्शन का स्वतंत्र ढंग से निरूपण किया है और अन्य मतों का खंडन भी किया है। श्री वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य-टीका' से यह अधिक सुस्पष्ट और विशद है। इसकी शैली भी सरल और विद्वतापूर्ण है। दूसरा सुन्दर ग्रन्थ उदयन रचित 'कुसुमांजलि' है जिसमें उसने 'ईश्वर' के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक का अध्ययन इसकी वर्धमान रचित (१२२५ ईसवी) टीका 'प्रकाश' और उसकी उपटीका 'मकरन्द' (१२७५ ई०) के साथ करना चाहिए। श्री उदयन ने बौद्ध दर्शन के आत्मा संबंधी सिद्धांतों का खंडन करने के हेतु और न्याय के आत्मा सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए 'आत्म तत्व विवेक' नाम का ग्रन्थ लिखा है। इनके अतिरिक्त भी न्याय दर्शन पर उत्तर मध्यकालीन युग में कई सुन्दर और विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—श्री विश्वनाथ रचित 'भाषा-परिच्छेद' उस पर 'मुक्तावली' 'दिनकरी' और 'रामरुद्री तर्क संग्रह' और उसकी टीका 'न्याय निर्णय' केशव मिश्र की तर्क भाषा और इसकी टीका न्याय प्रदीप, शिवदत्त रचित 'सप्तपदार्थी' वरदराज की 'तार्किकरक्षा' और उसकी मल्लिनाथ रचित टीका 'निष्कंटक' धार निवासी माधवदेव रचित 'न्याय सार' और श्री जानकीनाथ भट्टाचार्य द्वारा लिखी न्याय सिद्धांत मंजरी' और उस पर श्री यादवाचार्य द्वारा लिखी टीका 'न्याय मंजरी सार' और श्री शशधर रचित 'न्याय सिद्धांत दीप' और शेषानन्ताचार्य द्वारा लिखी हुई टीका 'प्रभा' इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थों में से हैं।

न्याय दर्शन की नयी शाखा जो 'नव्य न्याय' कहलाती है लगभग सन् १२०० ई० में प्रारम्भ हुई। इसके प्रवर्तक मिथिला के गंगेश उपाध्याय थे। न्याय द्वारा मान्य 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और शब्द इन चार प्रमाणों की ही व्याख्या श्री गंगेश ने अपने नव्य न्याय में की है। उन्होंने न्याय के अन्य अध्यात्मिक तत्वों के विषय में कुछ नहीं कहा है। परन्तु श्री गंगेश के ग्रन्थ 'तत्वचिन्तामणि' ने नवद्वीप के विद्वानों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया और तत्पश्चात् अनुमान के निरूपण पर अनेक ग्रन्थ, टीकाएँ और उप टीकाएँ नवद्वीप (बंगाल) के तार्किकों द्वारा लिखी गई। इस प्रदेश में इसके अतिरिक्त भी न्याय पर स्वतंत्र रूप से, अनेक ग्रन्थ लिखे गए यहाँ तक

कि कुछ शताब्दियों के लिए नवद्वीप नैयायिकों का गढ माना जाने लगा। श्री रघुनाथ सिरोमणी (१५०० ई०) मथुरा भट्टाचार्य (१५८० ई०) गदाधर भट्टाचार्य (१६५० ई०) और जगदीश भट्टाचार्य द्वारा लिखी हुई टीकाएँ बंगाल में विशेष रूप से प्रचलित हैं इसके अलावा 'तत्व चिन्तामणि' पर शिरोमणि टीका पर भी अनेक उप टीकाओं की रचना हुई जो बंगाल में विशेष रूप से पढ़ी जाती हैं। नवद्वीप 'नव्यन्याय' का घर हो गया और नव्य न्याय पर इस प्रदेश में विशाल साहित्य की रचना हुई।[1] नवद्वीप में इस शाखा के प्रचलन की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसमें अध्यात्मिक अथवा धार्मिक अंगों पर कोई चर्चा नहीं की गई है। केवल तर्क की दृष्टि से भाषा के पदों को ऐसा परिष्कृत किया गया है कि किसी भी विचार को अथवा कल्पना को विशुद्ध निश्चित अर्थों में प्रस्तुत किया जा सके और समझा जा सके।[2]

उदाहरण के लिए जब वे एक संकल्पना का दूसरी संकल्पना से सम्बन्ध और व्याप्ति का उल्लेख करना चाहते हैं (जैसे धूम्र और अग्नि की सहव्याप्ति) तो वे ऐसे स्पष्ट और निश्चित अर्थ वाले पारिभाषिक शब्दों और पदों का प्रयोग करेंगे जिससे इस व्याप्ति भाव की यही प्रकृति के समझने में कोई संदेह नहीं रहें। इस न्याय साहित्य में सूक्ष्म मार्मिक विश्लेषण पद्धति और निश्चयार्थ पारिभाषिक शब्दों का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। इन शास्त्रीय पदों और पारिभाषिक शब्दों को सभी मतों ने तार्किक-वार्ताओं और शास्त्रार्थों के निमित स्वीकार कर लिया था पर अब संस्कृत भाषा के ह्रास के साथ ही इस विद्या का भी ह्रास हो गया है।

न्याय दर्शन में तर्कशास्त्र की प्रथम विशद विवेचना श्री अक्षपाद ने की है, पर जैन और बौद्ध विद्वानों ने भी मध्य युग में स्वतंत्र रूप से न्याय के तर्क सिद्धान्तों की आलोचना प्रत्यालोचना कर अपने ढंग पर नवीन तर्क प्रणालियों की स्थापना की है। जैन तर्क साहित्य में भद्रबाहु रचित 'दशवैकालिक-नियुक्ति' (३५७ ईसापूर्व), उमास्वाति का 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' ने गमसूत्र सिद्धसेन दिवाकर रचित 'न्यायावतार' (५३३ ईसवी) श्री माणिक्यनन्दी (८०० ई०) का 'परीक्षामुख सूत्र' और देवसूरि (११५९ ई०) रचित 'प्रमाणनय तत्वालोकालंकार' और श्री प्रभाचंद्र रचित 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' कुछ मुख्य

---

[1] बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में न्याय की इस नवीन शाखा का उदय विहार के मिथला प्रदेश में हुआ—जहाँ इसका प्रचलन सोलहवी शताब्दी के तृतीय चरण तक रहा। फिर पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक बंगाल का नवद्वीप प्रदेश नव्य-न्याय का घर रहा। जे० ए० एस० बी० ९१५ में श्री चक्रवती का शोधपत्र देखिए। प्रस्तुत वर्णन में कुछ तिथियाँ उपरोक्त शोधपत्र से ही ली गई हैं।

[2] श्री रघुनाथ द्वारा लिखा हुआ ग्रन्थ 'ईश्वरानुमान' और 'परार्थतत्व निरूपण' ही इसके अपवाद हैं जिनमें अध्यात्मचर्चा भी की गई है।

रचनाएँ है। इसी प्रकार बौद्ध तर्कशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ श्री दिङ्नाग (५०० ई०) रचित 'प्रमाण समुच्चय' और 'न्याय-प्रवेश' श्री धर्मकीर्ति द्वारा लिखे हुए (प्रमाण वार्तिक कारिका) और 'न्याय बिंदु हैं। 'न्याय बिंदु' पर श्री धर्मोतर की एक सुन्दर टीका भी उपलब्ध है। हिन्दू, बौद्ध और जैन न्याय के सूक्ष्म बिंदुओं और विभेदों पर प्रकाश डालना प्रस्तुत पुस्तक में सम्भव नहीं है क्योंकि यह अपने आप में ही एक स्वतंत्र विशद विषय हैं। इस विषय में एक रोचक तथ्य यह है कि 'वात्स्यायन-भाष्य' और उद्योतकर की 'वार्तिक' के बीच तर्कशास्त्र पर हिन्दू दर्शन में किसी भी उत्तम ग्रन्थ की रचना नहीं हुई। सम्भवत: इस अवधि में तर्क का अध्ययन जैन और बौद्ध विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए विशेष रूप से अपना लिया था। श्री दिङ्नाग ने हिन्दू न्याय पर विशेष आक्षेप किये और उसका खंडन करना प्रारम्भ कर दिया जब उद्योतकर ने हिन्दू न्याय के मंडन के लिए 'वार्तिक' की रचना की। इसके अतिरिक्त उस समय में जैन दार्शनिकों की पद्धति 'तर्क' को अध्यात्म और धर्म से अलग विषय मानने की थी। यह मत हिन्दू दार्शनिकों को मान्य नहीं था। तर्क का अध्यात्म के एक अंग के रूप में ही अध्ययन किया जाता था। मिथिला के श्री गंगेश ने ही इस प्रथा का प्रचलन नव्य-न्याय के प्रवर्तन के द्वारा किया जिसमें न्याय को केवल विशुद्ध तर्क विज्ञान के रूप में अध्ययन किया जाने लगा। बौद्ध शैली में न्याय पर श्री भासर्वज्ञ रचित 'न्याय-सार' नाम का एक ही हिन्दू ग्रन्दू ग्रन्थ उपलब्ध है। अन्य हिन्दू न्याय ग्रंथों में 'अनुमान' आदि का अध्यात्म विषय के साथ ही विवेचन किया गया है।[1]

न्याय और वैशेषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्त

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने बौद्ध 'क्षणिकत्व' के सिद्धान्त को अमान्य समझते हुए, वस्तुओं के अस्तित्व के संबंध में व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओं का स्थायी स्वतंत्र अस्तित्व है। जब तक ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हो जातीं कि उन वस्तुओं का विनाश हो जाए उनकी स्थिति रहती हैं। जब तक इस प्रकार का संयोग नहीं बनता वस्तु का अस्तित्व भी स्थिर रहता है। घड़ा जब तक घड़े के रूप में स्थित रहता है जब तक वह गिर कर अथवा किसी लकड़ी आदि के आघात से फूट न जाए। वस्तुओं की स्थिति हमारे ऊपर रहने वाले उनके प्रभाव तक

---

[1] प्रस्तुत पुस्तक में इस अध्याय के लिखने में न्याय वैशेषिक दर्शन की लगभग सभी मुख्य ग्रन्थों की सहायता ली गई है। इस विषय पर यदि और अधिक अध्ययन करना है तो श्री चक्रवती द्वारा लिखे हुए शोध-पत्र (बंगाल में नव्य-न्याय का इतिहास) "दि हिस्ट्री ऑफ नव्य न्याय इन बंगाल" का अध्ययन कीजिए जो जे० ए० एस० बी० १९१५ में छपा है।

नहीं रहती जैसाकि बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जब तक हमारे कार्य की सिद्धि करती है अथवा उस क्षण तक जब तक उसका प्रभाव रहता है विद्यमान रहती है। उस क्षण के पश्चात् उस वस्तु का विनाश हो जाता है। परन्तु न्याय के अनुसार हमारे मन अथवा बुद्धि की चेतना से स्वतंत्र, वस्तु की सत्ता है। सत्ता वस्तु का गुण है। इसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। देखने वाला या व्यक्ति विशेष रहे या न रहे, इससे वस्तु की सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता वस्तु का प्रभाव किसी व्यक्ति पर या उसके आसपास के वातावरण पर क्या पड़ता है यह भी महत्त्वहीन है। वस्तुओं का अस्तित्व या सत्ता उनका एक सामान्य गुण है। इसी गुण के आधार पर हम अपनी साधारण व्यवहार बुद्धि और अनुभव से उनकी सत्ता को मानते हैं।[1]

इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव और व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर न्याय वैशेषिक दर्शन ने सांख्य की सृष्टि रचना की कल्पना को अस्वीकार कर दिया। इसके स्थान पर चार तत्वों (भूत) 'क्षिति', 'अप्', 'तेजस' और 'मरुत' (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के परमाणु सिद्धान्त को अपनाया। ये तत्व शाश्वत हैं। इनके अतिरिक्त पांचवा तत्व आकाश है। जो व्यापक और नित्य शाश्वत है। आकाश शब्द के प्रसार और संचार का हेतु है। आकाश सर्वत्र व्यापक है और सभी मनुष्यों के कानों के सम्पर्क में है परन्तु शब्द कर्ण कुहरों में ही व्यक्त होता है अर्थात् यद्यपि शब्द की व्याप्ति सारे आकाश में है पर यह कानों के ही द्वारा सुनाई देता है। श्रुति की यह अभिव्यक्ति (सुनने वाले) श्रोता के स्वयं के गुण पर निर्भर है। बधिर (बहरा) व्यक्ति के कर्ण कुहरों में यद्यपि आकाश की व्याप्ति है जो श्रुति-चेतना का साधन है परन्तु बधिर अपने स्वयं के अवगुण के कारण 'शब्द' नहीं सुन सकता।[2] इसके अतिरिक्त न्याय वैशेषिक दर्शन ने 'काल' के अस्तित्व को भी माना है। काल भूतकाल से चला आ रहा है, वर्तमान में भी इसकी स्थिति है और इसका विस्तार अनन्त भविष्य है। यदि 'काल' का अस्तित्व नहीं होता तो हमको इसका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, हमें समय की कोई कल्पना नहीं होती और न परिवर्तन के सम्बन्ध में ही हम समय की गणना करते। सांख्य ने काल को वास्तविक स्वतंत्र अस्तित्व, के रूप में स्वीकार नहीं किया है। सांख्य के अनुसार एक परमाणु द्वारा जितना स्थान घेरा जाता है उतने

---

[1] न्याय और वैशेषिक दर्शन को एक ही दर्शन प्रणाली के रूप में मान कर प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों में प्रारंभिक काल में कुछ अन्तर रहा है जिसकी विशद व्याख्या पूर्व पृष्ठों में पहले ही की जा चुकी है। सन् ६०० ईसवी से ये दोनों दर्शन धाराएँ एक ही मानी जा रही हैं। इन दोनों दर्शनों के सिद्धान्त न केवल एक-दूसरे की पुष्टि करते हैं पर एक-दूसरे के पूरक भी हैं।

[2] न्याय कंदलि पृ० ५९-६४ देखिए।

स्थान को दूसरा परमाणु जितने समय में पार कर लेता है उतना समय काल की ईकाई परमाणुओं की गति से अलग काल का कोई अस्तित्व नहीं है। काल की कल्पना हमारी बुद्धि की अपनी कल्पना है जिसे 'बुद्धि निर्माण' की संज्ञा दी गई है। परन्तु वैशेषिक दर्शन में काल को एक ऐसा तत्व माना है जिसकी स्वतंत्र सत्ता है। वस्तुओं के परिवर्तन से हमें काल की भूतकालिका, वर्तमान और भविष्य की सत्ता का ज्ञान होता है। सांख्या उधर 'काल' को प्रकृति विकास की विभिन्न व्यक्त अवस्थाओं में (अध्वन) वस्तुओं के निर्माण या संगठन में, (भूत, भविष्य और वर्तमान) प्रक्रिया मात्र समझता है। अर्थात् काल क्रम से प्रकृति की सामान्य अवस्था में विकृति होकर वस्तुओं का संगठन प्रारम्भ होता है और सृष्टि विकास का क्रम प्रारम्भ होता है इस व्यक्त प्रकृति के विकास की अवस्थाओं में वस्तुओं का संयोग, संगठन परमाणुओं के सन्निवेश से होता है। इस परमाणु सन्निवेश की प्रक्रिया ही 'काल' है, परमाणु की परमाणु-प्रदेश तक गति ही काल की इकाई है। ज्योतिर्विद इस 'काल' की उत्पत्ति ग्रहों की गति के कारण मानते हैं। परन्तु इन सबके विपरीत न्याय-वैशेषिक काल को सर्वव्यापक, सम्पूर्ण अवयवहीन तत्व मानता है जो इससे सम्बन्धित वस्तुओं में परिवर्तन की अपेक्षा से अनेक दिखाई देता है।[1]

सातवाँ तत्व दिक् (दिशा) है। यह वह तत्व हैं जिसके कारण हम वस्तुओं को दाएँ, बाएँ, पूर्व, पश्चिम में या ऊपर, नीचे देखते हैं। काल के समान ही 'दिक्' तत्व भी एक है। परन्तु परम्परा के अनुसार इसके दस प्रकार माने जाते हैं जिनमें आठ प्रकार, आठ दिशाओं के परिचायक हैं और दो ऊर्ध्व (ऊपर) और ध्रुव (नीचे की दिशा) माने जाते हैं।[2] अठवाँ तत्व 'आत्मा' है जो सर्वव्यापक है। प्रत्येक पुरुष की आत्मा पृथक्-पृथक् है। ज्ञान, सुख और दुःख की अनुभूति, इच्छा आदि आत्मा के गुण हैं। 'मनस' नवाँ तत्व है। 'मनस' परमाणु के समान सूक्ष्म है और स्मृति का आधार है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्प आत्मा में मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक बार जब मन का आत्मा के साथ सम्पर्क होता है तो आत्मा में एक नवीन भावना या अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है, इस प्रकार हमारे सारे मानसिक अनुभव और बौद्धिक चेतना एक क्रम में उत्पन्न होती हैं, एक साथ ही अनेक अनुभूतियों का आविर्भाव नहीं हो सकता। इन सब तत्वों के ऊपर सर्वोपरि 'ईश्वर' की स्थिति है। द्रव्य की परिभाषा यह है कि इसकी स्वतंत्र स्थिति है, परन्तु द्रव्येतर अन्य वस्तुएँ बिना किसी आधार के अपने आपको (व्यक्त) नहीं कर सकती जैसे गुण, कर्म सामान्य, विशेष

---

[1] 'न्याय कंदलि' पृ० ६४-६६ और 'न्याय मंजरी' पृ० १३६-१३६ देखिए। वैशेषिक काल को परिवर्तनशील वस्तुओं का कारण मानता है पर नित्य शाश्वत वस्तुएँ काल की गति से परे हैं, ऐसा उल्लेख करता है।

[2] कंदलि' पृष्ठ ६६-६६ और न्याय मंजरी पृ० १४० देखिए।

'समवाय' आदि द्रव्य की सहायता के बिना दिखाई नहीं दे सकते। इस प्रकार द्रव्य इस सब का 'आश्रय' है जिन पर ये वस्तुएँ 'आश्रित' हैं। 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, 'विशेष' और 'समवाय' वह मूल तत्व हैं जिनसे संसार के पदार्थ निर्मित हैं।[1] जब मनुष्य सत्यज्ञान के मार्ग में प्रवृत्त होकर, दोषादि को जानकर उपर्युक्त 'तत्वों के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, तो वह बाह्य विषयों से विरक्त होकर, आत्मज्ञान के अभ्यास से बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[2] न्याय वैशेषिक एक बहुवादी दर्शन है जो अनुभव की विविधता को न एक सर्वव्यापी सिद्धान्त में बांधना चाहता है और न तर्क के प्रवाह में व्यावहारिक सत्यों को छोड़कर काल्पनिक अभूत विचारों का प्रश्रय लेता है। जो तथ्य स्थूल रूप से प्रत्यक्ष, दृष्टिगोचर होते हैं, उन अनुभव सिद्ध तथ्यों की ओर से आँख मूंद लेना यह उचित नहीं समझता। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक प्रकार के बोध के पीछे निश्चित रूप से वह वस्तु मूर्त-रूप में होनी चाहिए जिससे बोध प्रारम्भ होता है, जो इन्द्रिय बोध का आधार है। न्याय वैशेषिक ने अनुभव के प्रत्यक्ष और संकल्पना को कई प्रकारों में (पदार्थ-प्रकार की अन्तिम इकाई) विभक्त किया है। ये द्रव्य, गुण आदि पदार्थ संख्या में दस हैं। यदि हम प्रत्यक्ष का उदाहरण लेकर यह कहते हैं कि मैं एक लाल पुस्तक देखता हूँ तो यह स्पष्ट है कि पुस्तक की स्वतंत्र सत्ता है जिसमें एकत्व की और लाली की संकल्पना का आश्रय है। अतः पुस्तक एक द्रव्य है जो अन्य गुण संकल्पनाओं का आधार (आश्रय) हैं। द्रव्य वह है जिसमें 'द्रव्यत्व' हो। इसी प्रकार 'गुण' और कर्म की परिभाषा है। द्रव्य के भेद या प्रकार करते हुए भी उसी सिद्धान्त को अपनाया गया है। उदाहरण के लिए बौद्ध और सांख्य के मतानुसार संवेदना की एक इकाई के पीछे वे एक सत् के अस्तित्व की कल्पना करते थे जैसे 'श्वेतता' की अनुभूति—संवेदना की प्रत्येक इकाई श्वेतता की इकाई के अस्तित्व की द्योतक है परन्तु न्याय वैशेषिक के अनुसार सम्पूर्ण श्वेत वस्तु की एक वस्तुपरक इकाई

---

[1] वैशेषिक सूत्रों में 'अभाव' का आश्रय 'भाव' में ऐसा उल्लेख आया है। परन्तु बाद को उदयन आदि लेखकों ने 'अभाव' को पृथक् पदार्थ के रूप में माना है। इसके विपरीत उदयन के समकालीन श्रीधर का मत है कि श्री प्रशस्तपाद ने 'अभाव' को पदार्थ के रूप में नहीं माना है क्योंकि यह 'भाव' पर आश्रित है—अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतंत्रात् न त्वभावात। 'न्याय कंदली' पृ० ६ और 'लक्षणावलि' पृ० २।

[2] 'तत्वातो ज्ञातेषु बाह्याध्यात्मिकेषु विषयेषु दोषदर्शनात् विरक्तस्य समीहानिवृतो आत्मज्ञस्य तदार्थानि कर्माण्यकुर्वतः तत्परित्यागसाधनानि श्रुति स्मृत्युदितानि असंकल्पित फलानि उपाददान्स्य आत्मज्ञानम अभ्यास्यतः प्रकृष्ट निवर्तक धर्मोपचये सति परिपक्वात्मज्ञानस्या त्यान्तिक शरीर वियोगस्य भावात्।'

'न्याय कंदलि व 'लक्षणावली'।

है जो श्वेत गुण उत्पन्न करने वाले परमाणुओं से बनी है।[1] यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि न्याय वैशेषिक ने जहाँ भी सामान्य नियम का व्यापक भाव देखा है, उन वस्तुओं का एक वर्ग अलग से निश्चित कर दिया है जिसे 'पदार्थ' की संज्ञा दी है। वस्तुओं की प्रकृति का निरूपण करते हुए जिस कल्पना को कई वस्तुओं को अन्तिम रूप से एक समान अनुभव करते थे वहीं इसके पंडित विश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसरण में नये पदार्थों का वर्ग स्थापित कर देते थे।

षट्-पदार्थ-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय,

'द्रव्य' की व्याख्या पूर्व प्रसंग में पहले ही की जा चुकी है। द्रव्य षट् पदार्थों में से एक है।[2] गुणों में प्रथम 'रूप' है। 'रूप' का अर्थ वर्ण से है। 'रूप' वह है जो केवल नेत्रों से देखा जा सकता है और किसी इन्द्रिय से जिसका ज्ञान सम्भव नहीं है। रूप निम्न है—श्वेत, नील, पीत, लोहित, (लाल) बादामी और विविध वर्ण ('चित्र')। 'क्षिति' (पृथ्वी) 'अप्' (जल) और 'तेजस्' (अग्नि) में ही वर्ण पाये जाते हैं। जल और अग्नि के वर्ण स्थायी ('नित्य') हैं पर क्षिति का वर्ण ताप से परिवर्तित होता है। श्रीधर के अनुसार ताप से परमाणु गठन में परिवर्तन हो जाता है और इस कारण भट्टी का रंग ताप में बदल जाता है। ताप से द्रव्य के परमाणु-सन्निवेश में परिवर्तन के कारण, इसका पूर्व रंग विनष्ट हो जाता है और नये परमाणु सन्निवेश में नवीन वर्ण का आविर्भाव हो जाता है, 'रूप' विशिष्ट रंगों की सामान्य संज्ञा है। 'रूपत्व' सामान्य भाव है। इसका आधार या प्रश्रय 'रूप' गुण है। 'रूप' स्वयं मूर्त है जिसको नेत्रों से देखा जा सकता है। 'रूपत्व' अमूर्त है यह भाववाचक है।

दूसरा गुण 'रस' है। 'रस' (स्वाद) वह है जो रसना (जिह्वा) से जाना जाता है। 'रस' मधुर, अम्ल (खट्टा) 'कटु' 'कषाय' (कसैला) और 'तिक्त' (चरपरा) है। 'क्षिति' और 'अप्' में ही रस होता है। अप् का स्वाभाविक रस (स्वाद) मधुर है। 'रूप' के समान ही रस भी 'रसत्व' के भाव को प्रकट करता है। 'रस' शब्द गुणवाचक और भाववाचक दोनों ही के अर्थ में प्रयुक्त होता है। विशिष्ट रस का और 'रसत्व' दोनों का जिह्वा से ही बोध होता है।

तीसरा गुण 'गन्ध' है। इस गुण का बोध नासिका से होता है। गन्ध केवल 'क्षिति' का गुण है। वायु या जल में गन्ध क्षिति के प्रभाव से उत्पन्न होती है।

---

[1] ये प्रसंग सौत्रांतिक बौद्ध दर्शन की ओर संकेत करता है, "ये यो विरुद्धाध्यासवान ना सावेकाः।" पंडित अशोक की 'अवयविनिराकरण' 'सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स' में देखिये।

[2] 'पदार्थ' का वास्तविक अर्थ शब्द (पद) की व्याख्या है।

क्षिति के सूक्ष्मतत्व जब वायु या जल में मिल जाते हैं, तो उनमें गन्ध उत्पन्न हो जाती है।

चौथा गुण 'स्पर्श' है। स्पर्श-बोध का साधन त्वचा है। स्पर्श तीन प्रकार का है, उष्णा, शीत और 'शतोष्णा'। क्षिति अप् तेजस् और वायु में स्पर्श गुण पाया जाता है। पाँचवा गुण शब्द है जो आकाश का गुण है। यदि आकाश नहीं होता तो शब्द भी नहीं होता। आकाश, शब्द का आधार है।

छठा गुण 'संख्या' है। संख्या वह गुण है जिसमें हम वस्तुओं की गणना करते हैं। वस्तुओं में संख्या की कल्पना बुद्धि गति की अपेक्षा से है अथवा 'अपेक्षाबुद्धि' के कारण है। उदाहरण के लिए जब दो घड़े दिखाई देते हैं तो हम सोचते हैं कि यह पहला घड़ा है और यह दूसरा है। यही 'अपेक्षाबुद्धि' है। घड़ों को पहली दृष्टि में देखने पर घड़ों में 'द्वित्व' भाव की उत्पत्ति होती है, और फिर हमारी बुद्धि में अनिश्चयात्मक द्वैत कल्पना ('निर्विकल्प द्वित्व गुण') की जागृति होती है और फिर एक क्षण में यह निश्चयात्मक बोध हो उठता है कि ये दो घड़े हैं। इसी प्रकार अन्य संख्याओं का भी निर्विकल्प और सविकल्प क्रिया से बोध होता है।[1]

सातवां गुण 'परिमिति' है। यह वह गुणवता है जिससे हम वस्तुओं को बड़े, छोटे स्वरूप में देखते हैं और उनको तदनुसार संज्ञा देते हैं। अखंड, अविभाज्य गोल परमाणुओं का माप 'परिमंडल परिमाण' कहलाता है। यह 'परिमाण' नित्य शाश्वत है, इससे किसी अन्य परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती यह सूक्ष्मतम परिमाण है। जब दो परमाणुओं के मेल से 'द्वणुक' (दो परमाणुओं द्वारा बना द्रव्य) का निर्माण होता है तब परमाणु के परिमाण से इस 'द्वयणुक' के परिमाण की उत्पत्ति नहीं होती हैं। 'द्वयणुक' का परिमाण भिन्न प्रकार का है, यह परिमाण 'ह्रस्व' है। यदि 'परिमंडल परिमाण' से 'द्वयणुक' परिमाण की उत्पत्ति होती तो यह परिमाण, आणविक परिमाण से भी छोटा होता।[2] दो अणु मिलकर एक 'द्वयणुक' का सृजन करते हैं पर इन दोनों के मिलने से एक अन्य प्रकार के परिमाण 'हस्व' की उत्पत्ति होती है जब तीन द्वयणुक

---

[1] यह निश्चित रूप से वैशेषिक दृष्टिकोण है जिसका सूत्रपात प्रशस्तपाद ने किया है। श्री शंकर मिश्र का 'उपस्कार' देखिये।

[2] ध्यान देने योग्य बात यह है कि आणविक माप के दो स्वरूप हैं, परमाणु में यह नित्य शाश्वत परिमाण है और द्व्यणुक में यह अनित्य-अस्थायी है। 'परिमंडल परिमाण' 'अणुपरिमाण' का एक प्रकार है। ये दोनों परिमाण द्वयाणुक परिमाण के दो परिमाण या विमित्त है। जैसे 'त्र्यणुक' में महत् और दीर्घ दो प्रकार के परिमाण है।

—न्याय कंदलि पृ० १३३।

मिलकर एक 'त्र्यणुक' का निर्माण करते हैं तब उनकी संख्या 'महत्' परिमाण का कारण होती है। द्वयणुक के ह्रस्व परिमाण महत् का हेतु नहीं है। परन्तु जब हम इन स्थूल 'त्र्यणुक' से द्रव्यनिर्माण की कल्पना करते हैं तो इन 'त्र्यणुक के महत् परिमाण से अन्य स्थूल द्रव्यों के परिमाण भी महत् रूप ग्रहण करते हैं। जितने अधिक त्र्यणुक द्वारा एक वस्तु बनती है, उतना ही बड़ा स्वरूप (महत् परिमाण) उस स्थूल वस्तु का हो जाता है। इन 'त्र्यणुक' का माप केवल 'महत्' ही नहीं होता पर 'दीर्घ' (लम्बा) भी होता है। यह इसके परिमाप की दूसरी दिशा है। त्र्यणुक की संख्या जैसे किसी स्थूल संयोग में बढ़ती जाती है वैसे ही उसकी 'परिमिति' दीर्घ या 'महत्' होती जाती है। क्योंकि 'त्र्यणुक' अणुओं से बने हैं अतः अणु के समूह से बनने के कारण इन स्थूल वस्तुओं का परिमाण इन अणुओं में निश्चित रूप से महत् और दीर्घ होगा। परन्तु द्वयणुक का परिमाण जो ह्लस्व कहलाता है अपने आप में भिन्न है, यह परिमाण का एक विशिष्ट प्रकार है जो महत् आदि से भिन्न है। उदाहरण के लिए स्थूल, महत् और दीर्घ तत्वों की वृद्धि होने पर और अधिक स्थूलता, महत्ता या दीर्घता में वृद्धि होती है, उसी आधार पर द्वयणुक जिनका परिमाण 'ह्लस्व' है, उनके समूह की वृद्धि से ह्लस्वता में वृद्धि होनी चाहिए। यदि महत के योग से महत् की वृद्धि होती है तो उसी आधार पर ह्लस्व से ह्रस्व की वृद्धि होनी चाहिए। इस युक्ति से त्र्यणुक जो द्वयणुक से ही 'ह्लस्व' (छोटे) होने चाहिए। इसी प्रकार आणविक और 'परिमंडल' (गोलाकार) परिमाण से द्वयणुक के परिमाण की उत्पत्ति होने से द्वयणुक का परिमाण और भी अधिक आणविक होना चाहिए। इस विरोधाभास से स्पष्ट है कि आणविक परिमाण को अन्य परिमाण में भिन्न और विशिष्ट मानना चाहिए। यह समझना उचित नहीं है कि आणविक परिमाण की समूह वृद्धि से महतया दीर्घ परिमाणों की उत्पत्ति होगी। द्वयणुक और त्र्यणुक अणुओं से निर्मित हैं पर अपने कारण के परिमाण गुण से भिन्न परिमाण गुण वाले हैं। अणु और द्वयणुक के परिमाण उनके कार्य रूप त्र्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति नहीं करते हैं। वास्तव में उनकी संख्या से त्र्यणुक का परिमाण विनिश्चित होता है। इनसे अणु परिमाण, दीर्घ-परिमाण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आकाश, काल, दिक् और आत्मा जो सर्वव्यापक हैं, उनका परिमाण 'परममहत्' माना जाता है। अणु, आकाश, काल, दिक्-मानस और आत्मा का परिमाण नित्य (शाश्वत) माना जाता है। अन्य सब अनित्य वस्तुओं के परिमाण भी अनित्य माने जाते हैं।

आठवां गुण 'पृथक्त्व' है। इससे वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान होता है यथा यह वस्तु इससे भिन्न है। यह भिन्नता हमें निश्चित रूप से प्रतीत होती है। यह नकारात्मक गुण नहीं है–यह नहीं समझा जाता कि यह घड़ा वह घड़ा नहीं है। यह एक निश्चयात्मक स्थिति का बोध करता है कि यह घड़ा उस घड़े से 'पृथक्' है।

नवां गुण 'संयोग' है। इस गुण से वस्तुओं के सम्बन्ध या संयुक्ति का ज्ञान होता है।

दसवाँ गुण 'विभाग' है जो सम्बन्ध को नष्ट कर नियुक्ति कर देता है।

ग्यारवाँ और बारहवाँ गुण 'परत्व' और 'अपरत्व' है जिसके द्वारा हमें अधिक और कम समय और निकटता और दूरी का बोध होता है।

अन्य दूसरे गुण 'बुद्धि' (ज्ञान) सुख, दुःख, 'इच्छा', 'द्वेश' और 'यत्न' है जो केवल आत्मा के गुण हैं।

'गुरुत्व' वह गुण है जिसके कारण वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं। 'स्नेह' (तरलता) का गुण जल का है। 'संस्कार' गुण तीन प्रकार के होते हैं। पहला 'वेग' जिसके कारण विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न दिशाओं में गतिमान रहती हैं। दूसरा 'स्थिति-स्थापक' जिसके अनुसार कोई भी स्थूल द्रव्य स्थिति भंग होने के पश्चात् अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त होना चाहता है। तीसरा 'भावना' आत्मा का गुण है। यह वह गुण है जिससे जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं उनकी स्मृति रखते हुए उनको पुनः पहचानते हैं।[1] 'धर्म' वह गुण है जिससे आत्मा को आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] 'अधर्म'

---

[1] श्री प्रशस्तपाद कहते हैं कि—'भावना' आत्मा का वह विशेष गुण है जिसके द्वारा आत्मा वस्तुओं को देखती है, उनकी स्मृति रखती है और फिर उनको पहचानती है। यह दुःख, ज्ञान आदि से भिन्न है। आशातीत दृश्य जैसे दक्षिण भारतीय द्वारा ऊँट को देखना, पुनरावृत्ति (पढ़ाई आदि में) और प्रबलजिज्ञासा के कारण संस्कार प्रबल हो जाते हैं। देखिए 'न्याय कंदलि' पृ० २६७ 2-II कणाद इस विषय पर मूक हैं। उनका केवल इतना ही कथन है कि बुद्धि एवं आत्मा के सम्पर्क से और संस्कार के कारण 'स्मृति' उत्पन्न होती है।

[2] प्रशास्तपाद के अनुसार धर्म आत्मा का गुण है। इस पर श्रीधर यह संकेत करते हैं कि यदि यह सही है तो फिर धर्म को कर्म की सामर्थ्य से अलग मानना पड़ेगा। (ना कर्म सामर्थ्यम्) श्री प्रशस्तपाद का मत है कि यज्ञ आदि 'धर्म' नहीं है क्योंकि ये कर्म क्षणिक हैं अतः इनसे उस प्रभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती जिसका फल भविष्य में प्राप्त होगा। यदि कर्म समाप्त हो जाता है तो उसकी 'सामर्थ्य' स्थायी नहीं रह सकती। अतः 'धर्म' गुण है जो कुछ शुभ कर्मों से आत्मा में उत्पन्न होता है। स्थान-काल आदि के अवस्था संयोग से आनन्द की प्राप्ति होती है। श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिमात्र का हितचिन्तन (परोपकार) पवित्र आहार, शास्त्रानुसार कर्त्तव्यों का पालन, वर्ण (जाति) और अवस्था के अनुसार अपने धर्म का पालन वे कर्त्तव्य हैं जिनको अपनाने से प्रशस्तपाद के अनुसार धर्म की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति उपर्युक्त कर्त्तव्यों को जीवन का अंग बनाकर (पातंजलियोग के अनुसार) यम-नियमों का पालन करते हैं, जो षट् पदार्थों का ध्यान कर योग साधना करते हैं वे धर्म को प्राप्त कर, मोक्ष लाभ करते हैं। श्रीधर मोक्ष-प्राप्ति के लिए, 'सांख्ययोग' दर्शन

वह गुण है जिससे मनुष्य दुःख के बन्धन में बंधता जाता है। 'अदृष्ट' वस्तुओं और आत्मा का वह गुण है जिससे इस समस्त ब्रह्माण्ड की व्यवस्था की स्थापना होती है और जो आत्मा को उसके गुणानुसार भोग में प्रवृत्त करती है। अर्थात् आत्मा अदृष्ट के कारण अपने कर्मों का फल भोगती है।

'कर्म' का अर्थ गति है। द्रव्य और गुण के समान इसकी भी स्वतंत्रता है। गति पांच प्रकार की है (१) ऊर्ध्वगति (२) अधोगति (३) संकुचन (४) प्रसरण (५) सामान्य गति। गुणों के समान कर्म का भी आश्रय द्रव्य है, कर्म से ही द्रव्य में गति उत्पन्न होती है।

'सामान्य' चौथा वर्ग है। इसका तात्पर्य है 'जाति' या अनेक वस्तुओं में पाया जाने वाला समान भाव। एक से गुणों वाली वस्तुओं की एक जाति होगी। उदाहरण के लिए गायों के वर्ण अलग-अलग हो सकते हैं पर उन सब में सामान्य रूप से एक से गुण पाए जाते हैं अतः उनको गौ जाति या गौ वंश के नाम से पुकारते हैं जिससे उस जाति के वर्ग का बोध होता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की विभिन्नता होते हुए भी वस्तुओं में 'सत्ता' का सर्वनिष्ठ गुण पाया जाता है, अतः इनको 'सत्' की संज्ञा दी है वह 'सत्' है जिसका अस्तित्व है। 'सत्' द्रव्य, कर्म और गुण तीनों में पाया जाता है। उच्चतम जाति 'सत्ता' है जिसे 'पराजाति' कहते हैं, यह उच्चतम सार्वदेशिक, सार्वत्रिक स्थिति है। इसके पश्चात् बीच की मध्यम जाति है, जिसे 'अपरजाति' कहते हैं; द्रव्य, गुण, कर्म आदि इस 'अपरजाति' की श्रेणी में आते हैं। इससे भी नीचे की श्रेणी में अन्य जातियाँ हैं जैसे 'गोत्व जाति' (गाय की जाति) 'नीलत्वजाति' (नीलेपन की जाति) जिनसे एक सामान्य भाव का बोध होता है। यहाँ 'गोत्व' एक वर्ग परिवार के रूप में दिखाई देता है परन्तु यह भी जाति है। एक दृष्टि से जो वर्ग है दूसरे से वही जाति है। इस प्रकार 'सामान्य' की एक स्वतंत्र सत्ता है यद्यपि यह कर्म, गुण और द्रव्य में पाया जाता है। बौद्ध 'सामान्य' की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। उनके अनुसार गाय का सामान्य अन्य प्राणियों का नकारात्मक स्वरूप है। गाय की सामान्य चेतना में 'अगोत्व' का निषेध मात्र है। अतः निषेध के आधार पर किसी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता नहीं हो सकती। इस सामान्य का अस्तित्व यदि निषेध के ऊपर है तो इस तर्क के अनुसार किसी भी वस्तु की सत्ता हास्यास्पद के निषेध पर सत्ता को स्वीकार करता है वह अपने सर पर दो सींगों की भी सत्ता मान सकता है। अतः सामान्य की अपनी कोई सत्ता नहीं हो सकती।[1] यह 'जाति' नित्य और अविनाभावी है क्योंकि

में वर्णित योग पद्धति का निदर्शन करते हैं। 'न्याय-कंदलि' पृ० २७२-२८०। वल्लभ रचित 'न्याय-लीलावती' पृ० (७४-७५) (बम्बई १९१५) भी देखिए।

[1] बौद्ध पं. अशोक का कथन है कि विभिन्न व्यक्तियों में कोई भी ऐसा गुण नहीं हो सकता

जाति विशेष की इकाई के नाश हो जाने पर भी उस जाति का नाश नहीं होता। इस प्रकार जाति शाश्वत है।[१]

'विशेष' से वस्तुओं में भिन्नता का बोध होता है। बाह्य जगत् से प्राप्त प्रत्येक संवेदना अन्य संवेदनाओं से भिन्न होती है। जो वस्तुएँ इन संवेदनाओं का स्रोत हैं, निश्चय ही उनके परमाणुओं में कुछ अन्तर होना चाहिए जिसके कारण इनमें यह भिन्नता उत्पन्न होती है। इन परमाणुओं में ये विशिष्ट भेद शाश्वत है, चूँकि मुक्त आत्मा और बुद्धि की सत्ता शाश्वत है। इस 'विशेष' भेद के कारण ही योगी-गण अणुओं के अन्तर को सहज ही जान लेते हैं।

'समवाय' व्याप्ति-सम्बन्ध है। 'समवाय' के द्वारा दो विभिन्न वस्तुओं में ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है जिससे दोनों वस्तुएँ अविभाज्य दिखाई देती हैं।

जो सर्वनिष्ठ हो जिसके आधार पर 'सामान्य' की स्थिति की स्थापना की जा सके। यदि ऐसी कोई वस्तु होती तो हम रसोईये (पाचक) को देखकर बिना उसके कार्य को देखे ही तत्काल कह देते है कि यह पाचक है। 'सामान्य' उनके कर्म में है। यदि रसोइयों के कार्य में समानता है तो इस कर्म के सामान्य से रसोइयों की एक जाति नहीं हो सकती क्योंकि सामान्य भाव रसोइयों में न होकर अन्य वस्तु में अर्थात् उनके कर्म में है। यदि गाय की विशिष्टताओं में कोई कोई एक सामान्य घटक (उपादान) के स्थापित करने की आवश्यकता है तो फिर इन घटकों में पुनः एक सर्वनिष्ठ घटक की आवश्यकता होगी और फिर उनमें किसी सामान्य घटक को ढूंढना होगा। इस क्रिया का कोई अन्त नहीं होगा, यह केवल अनवस्था-दोष होगा। जो वस्तु बोधगम्य है और बोधित नहीं होती उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। 'यद्यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् सन्नोपलभ्यते तत्तदसत्' क्योंकि 'सामान्य' ऐसा है और वह बोधित नहीं होता अतः यह असत है इसका कोई अस्तित्व नहीं हैं। सामान्य की कोई सत्ता नहीं हो सकती। अस्तित्व और अनस्तित्व के पूर्व संस्कारों के कारण इस प्रकार की कल्पना की उत्पत्ति होती है जिसे बाह्य वस्तुओं में आरोपित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सामान्य के किसी बाह्य स्वरूप का भी बोध नहीं होता। ('सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता' सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स में देखिए) वेदान्त का भी यह मत है कि हम 'जाति' को एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में न 'प्रत्यक्ष' से और न 'अनुमान' से, स्वीकार कर सकते हैं। अतः यह भी 'जाति' को अस्वीकार करना है। इस विषय में 'वेदान्त परिभाषा', 'शिखामणि', 'मणिप्रभा', पृ० ६०-७१ देखिये। श्री हर्ष का 'खंडनखंडखाद्य' पृ० १०७९-१०८६ भी देखें।

[१] 'सादृश्य' को अतिरिक्त या पृथक् के रूप में नहीं देखते हैं क्योंकि यह भिन्नता में एकता है ('तदभिन्नत्वे सति तदगत भूयोधर्मवत्त्वम्')।

द्रव्य और उसके गुण में, द्रव्य और कर्म (गति) में, द्रव्य और सामान्य में, कारण और कार्य में, परमाणु और 'विशेष' में, समवाय सम्बन्ध के कारण ऐसा दिखाई देता है कि ये एक ही हैं। इस सम्बन्ध का कारण एक विशेष प्रकार की लक्षणात्मक अन्तः व्याप्ति है जो सदैव, सर्वत्र, सर्वपरिस्थितियों में अन्तर्निहित रहती है। वस्तु विशेष के नाश होने से भी व्याप्ति-भाव में अन्तर नहीं आता। संयोग अथवा सम्पर्क से यह भिन्न है। संपर्क या संयोग के कारण दो वस्तुओं में कुछ समय के लिए सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो पहले नहीं था जैसे लेखनी को मेज पर रख देने से इन दोनों का संयोग हो गया। ये पहले अलग-अलग थीं फिर दोनों का संयोग ('युतसिद्ध') हुआ। संयोग यहाँ पर ऐसा गुण विशेष है जिसके कारण थोड़े समय के लिए दोनों में सम्बन्ध स्थापित होना दिखाई देता है। परन्तु समवाय के कारण भिन्न वस्तुएँ जैसे द्रव्य, गुण, कर्म एवं कारण और कार्य (मिट्टी और घड़ा) एक ही दिखाई देती हैं उनमें भेद नहीं दिखाई देता जिसे 'अयुतसिद्ध' की संज्ञा दी गई है। अतः यह सम्बन्ध एक भिन्न वर्ग का है। यह संयोग की तरह अस्थायी नहीं है। यह नित्य सम्बन्ध है क्योंकि इसका कारण नहीं है। वस्तु विशेष का नाश हो सकता है पर इस समवाय सम्बन्ध का नाश नहीं होता क्योंकि समवाय सम्बन्ध किसी के द्वारा स्थापित नहीं किया गया। यह वस्तुओं में प्रकृति रूप से पाया जाने वाला शाश्वत सम्बन्ध है। अतः समवाय (व्याप्ति) को नित्य मानते हैं।[1]

ये छै वर्ग 'षट् पदार्थों' के नाम से जाने जाते हैं। इनका बोध प्रत्यक्ष अनुभव से होता है और इनको दार्शनिक साहित्य में स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

सत्यों पर आधारित है। ये सत्य वे हैं जिनको हम साधारण रूप से नित्य प्रति के सामान्य अनुभव के द्वारा प्राप्त करते हैं और वाणी द्वारा प्रकट करते हैं। इस प्रकार न्याय वैशेषिक 'द्रव्य' 'गुण' 'कर्म' और 'सामान्य' को स्वीकार किया है। 'विशेष' को भी इस दर्शन ने परमाणुओं के विशेष संगठन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु न्याय वैशेषिक ने इसे स्वीकार नहीं किया कि वस्तुओं में सदैव परिवर्तन होता रहता है अथवा किसी भी वस्तु के परमाणु-संगठन या वंश्याक्रम में परिवर्तन करने से किसी भी अन्य वस्तु का निर्माण किया जा सकता है। न्याय वैशेषिक यह भी नहीं मानते कि कार्य की कारण में पूर्व स्थिति है। इस दर्शन का मत है कि किसी भी कार्य की सिद्धि में कुछ क्षमता, उपादान कारण में (जैसे मिट्टी में), और कुछ क्षमता नैमित्तिक कारणों में (जैसे कुम्हार का चक्र, लकड़ी आदि) में होती है। इन विभिन्न कारणों की सम्मिलित क्षमता से कारण का लोप होकर नए कार्य की उत्पत्ति होती है। इस कार्य की पहले कोई स्थिति नहीं थी। यह सर्वथा नवीन अस्तित्व है। यह 'असत्कार्यवाद' कहलाता है। सांख्य के सिद्धान्त से यह एकदम विपरीत है। सांख्य के अनुसार जिसकी स्थिति है, जिसका अस्तित्व है उसका अनस्तित्व नहीं हो सकता। अर्थात् जो एक समय 'सत्' है वह 'असत्' नहीं हो सकता। 'नाभावो विद्यते सतः'। इसके साथ ही सांख्य मतानुसार जिसका अस्तित्व नहीं है वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता। 'नासतो विद्यते भावः'। जो नहीं है वह, जिसका अभाव है, स्थिति ही नहीं है वह फिर कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि यह मान लिया जाए कि जो 'असत्' है उसकी भी उत्पत्ति हो सकती है तो फिर खरगोश (खरहे) के सर पर सींग भीं उत्पन्न हो सकते हैं। न्याय वैशेपिक का मत है कि उसका दृष्टिकोण यह नहीं है कि कोई भी वस्तु जिसका अस्तित्व नहीं है उत्पन्न की जा सकती हैं। दृष्टिकोण यह है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है उसका पहले अभाव था।

मीमांसा का कथन है कि कारण में एक ऐसी अज्ञात क्षमता और शक्ति है जिससे कार्य सम्पन्न होता है। न्याय का मत है कि यह न तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है न इसे किसी वैध प्रक्कल्पना के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। कारण की प्रक्रिया में किसी इन्द्रियातीत तत्व की कल्पना अस्वाभाविक सी लगती है। क्योंकि इन प्रक्रियाओं को आणविक क्रिया (परिस्पन्द) के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है कारण-कार्य के मध्य केवल स्थायी पूर्ववर्तिता और अनुवर्तिता सम्बन्ध है। परन्तु किसी कार्य के कारण के लिए केवल 'पूर्ववर्तिता' सम्बन्ध ही पर्याप्त नहीं हैं। यह अनन्य-पूर्ववर्तिता होनी चाहिए—"अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।" 'कार्य-कारण भाव' में निरुपाधिता और स्थायी 'निरपवादिता' आवश्यक है। कार्य विशेष का कारण विशिष्ट एवं निश्चित होगा। इसमें न अपवाद का प्रश्न उठता है और न किसी प्रकार की अन्य उपाधि या शर्त का। किसी निश्चित पूर्ववर्ती कारण के साथ

अन्य छोटे-मोटे तत्व भी हो सकते हैं और ये भी एक प्रकार से उस कारण के समान ही निश्चित और अपरिवर्तनशील माने जा सकते हैं पर ये तत्व गौण और समपार्श्वी हैं पूर्ववर्तिता अन्य कारण पर निर्भर है, यह स्थिति स्वतंत्र नहीं है (न स्वातंत्र्येण)। कुम्हार की छड़ी घड़े के निर्माण में निश्चित एवं अपरिवर्तनीय पूर्ववर्तिता स्थान रखती है। इसमें किसी अपवाद का स्थान नहीं है। घड़े के निर्माण में उसकी पूर्ववर्तिता निरपवाद एवं निरूपाधि है। परन्तु यह बात उस छड़ी के रंग अथवा आकार के लिए नहीं कही जा सकती। उसका रंग या लम्बाई में अन्तर हो सकता है, वह किसी प्रकार की लकड़ी का दंड हो सकता है, अतः यद्यपि इस दंड का रंग-रूप गौण रूप से निर्माण में सहायक हुआ है अथवा समपार्श्वी रहा है परन्तु यह रंग या बनावट घड़े के निर्माण का कारण नहीं हो सकती। इसी प्रकार पूर्ववर्ती कारणों के साथ कई प्रकार के संचारी भाव भी संलग्न हो जाते हैं और यह भी सम्भव है कि ये संचारी भाव भी अपरिवर्तनशील-पूर्ववर्तिता का रूप धारण करलें पर ये स्वयं निरुपाधिक नहीं हो सकते क्योंकि ये भी अपनी स्थिति के लिए मुख्य भाव पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए घड़े के निर्माण में कुम्हार की छड़ी अथवा उसके चाक की ध्वनि उत्पन्न होती है, आकाश में वायु के द्वारा इस ध्वनि का संचरण होता है। परन्तु यह ध्वनि, आकाश एवं वायु घड़े के निर्माण के कारण के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी प्रकार कारण के कारणों को भी कारण के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं है। कुम्हार घड़े का पूर्ववर्ती कारण है, परन्तु कुम्हार का पिता जो कुम्हार का कारण है, घड़े के पूर्ववर्ती कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ववर्तिता अपरिवर्तनशील और निरुपाधिक ही नहीं वरन् तात्कालिक भी होनी चाहिए। निश्चित रूप से उस कार्य विशेष की पृष्ठभूमि में जिसकी प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक स्थिति है वही पूर्ववर्तिता कारण रूप में स्वीकार की जा सकती है। वे सब तत्व जो वाह्य दृष्टि से पूर्ववर्ती दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु जिनको गौण मान कर छोड़ा जा सकता है, कारण-तत्वों के रूप में अस्वीकार्य समझे जाने चाहिए।

डाक्टर सील इस सम्बन्ध की बड़े सुन्दर शब्दों में व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'इस तथ्य का निश्चय करने में कि कौन सा तत्व किसी कार्य विशेष के कारण रूप में स्वीकार करना चाहिए, और कौन से तत्व गौण, समपार्श्वी अनावश्यक, अपेक्षाधिक एवं अप्रिय माने जाने चाहिए, सबसे बड़ा परीक्षण शक्ति के व्यय का है। ऊर्जा के व्यय की इस कसौटी को न्याय स्पष्ट भौतिक दृष्टि से उस क्रिया के रूप में देखता है जिसमें आणविक क्रिया के रूप में ऊर्जा का व्यय होता है, जिसको न्याय ने परिस्पन्द क्रिया का नाम दिया है। न्याय किसी अन्य दैवी अथवा अतीन्द्रिय शक्ति को कारण तत्व के रूप में स्वीकार नहीं करता। ('परिस्पन्द इव भौतिको व्यापारः करोत्यर्थः अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्ति।' जयन्त रचित मंजरी आह्निक)।'[1]

---

[1] डॉ. पी. सी. राय 'हिन्दू कैमिस्ट्री' १६०० पृ० २४६-२५०।

न्याय के अनुसार ऊर्जा का स्रोत गति है अर्थात् सारी ऊर्जा गतिज है। किसी भी कार्य की सृष्टि में, कारण क्रिया अवश्यंभावी है। कारण क्रिया गतिज है अर्थात् यह एक भौतिक प्रक्रिया है जिसमें कार्य विशेष के लिए निश्चित आणविक आन्दोलन अथवा परिस्पन्द होता है। यह गति के रूप में होता है, इस गति में ऊर्जा का व्यय होता है। इस प्रकार ऊर्जा का न्याय अथवा निश्चित गतिज प्रक्रिया ही किसी भी कार्य का हेतु बनती है। यह न्याय का निश्चित मत है। सांख्य के द्वारा जिस उत्पादक शक्ति की एक अतीन्द्रिय कल्पना की गई है उसका न्याय विरोध करता है। किसी कार्य के पीछे किसी रहस्यमयी अथवा इन्द्रियातीत शक्ति की कल्पना न्याय के अनुसार बुद्धिसंगत नहीं दिखाई देती। 'कारण-सामग्री' कई अपरिवर्तनशील, निरुपाधिक तत्व हो सकते हैं परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक कार्य, पूर्ववर्ती परिस्थितियों की सम्मिलित क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है।[1] प्रत्येक प्रभाव या क्रिया की पृष्ठभूमि में कुछ सामान्य परिस्थितियाँ भी विद्यमान हो सकती हैं। उदाहरण के लिए 'दिक्' (दिशाएँ) काल ईश्वरेच्छा, अदृष्ट आदि सभी कार्यों में सर्वनिष्ठ रूप से विद्यमान हैं। इनको 'कार्यत्व प्रयोजक' की संज्ञा दी गई है। ये 'साधारण कारण' के रूप में हैं जो सभी कार्यों के लिए समान हैं। विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण आवश्यक हैं। ये विशिष्ट कारण 'असाधारण कारण' के रूप में जाने जाते हैं। न्याय के दृष्टि-कोण से प्रकृति के व्यापार में किसी इन्द्रियातीत शक्ति का स्थान नहीं है परन्तु यह 'धर्म' को स्वीकार करता है। 'धर्म' प्रकृति की प्रक्रिया में व्याप्त है। प्रकृति के क्रम में धर्म के अनुसार गति होती है, प्रत्येक वस्तु का एक अपना नैतिक आधार है, इस नैतिक आधार के व्यवहार की पूर्ति प्रकृति की क्रिया के माध्यम से होती है।

जिस प्रकार वंशानुक्रम से जातिविशेष में विशिष्टता क्रम पाया जाता है उसी प्रकार कारण की व्याप्ति कार्य में पायी जाती है जिसका विनिश्चयन कार्य विशेष में भाव और प्रभावकी एकरसता के माध्यम से अपवादरहित अनुभूति के आधार पर सम्भव है। सरल शब्दों में कारण में जिस भाव अभाव की स्थिति है, कार्य में उसका क्या स्वरूप है, इसके परीक्षण और अनुभव से व्याप्ति का विनिश्चयन हो सकता है। इस विशिष्ट व्याप्ति के आधार पर ही विशिष्ट कारण का ज्ञान होता है। किसी पूर्व निश्चित सिद्धान्त के आधार पर हम किसी सामान्य-निगमन प्रक्रिया द्वारा कारण को केवल तर्क कल्पना से सिद्ध नहीं कर सकते।[2]

---

[1] डॉ. पी. सी. राय 'हिन्दू कैमिस्ट्री' १६०० पृ० २४६-२५०।

[2] इस प्रसंग में डाक्टर बी. एन. सील द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'पाजिटिव साइन्सेज आव एनशिमेन्ट हिन्दूज' पृ० २६३-२६६ देखिए। इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ भी देखिए: बौद्ध मत पर 'सर्वदर्शन संग्रह', 'न्याय मंजरी', 'भाषा परिच्छेद', दिनकरी एवं

मट्टी के द्वारा घड़े का निर्माण होता है। यह मिट्टी घड़े का 'समवाय कारण' कही जाती है। 'समवाय' का अर्थ विशिष्ट अन्त व्याप्ति सम्बन्ध है जो अपरिवर्तनीय है। कारण द्रव्य जब कार्य में अपृथक रूप से पाया जाता है तो वह समवायी कारण कहलाता है। द्रव्य अथवा सामग्री के माध्यम से यदि किसी विशेष गुण का कार्य में प्रादुर्भाव होता है तो यह असमवायी कारण कहलाता है। उदाहरण के लिए घड़े के रंग का कारण मिट्टी नहीं है। परन्तु मिट्टी के रंग के कारण घड़े के रंग का आविर्भाव होता है। मट्टी का रंग अविभाज्य है। घड़े का रंग इस गुण का परिणाम है। मिट्टी का यह रंग घड़े का असमवायी कारण कहा जाता है। समवायी कारण के जिस गुण विशेष के द्वारा कार्य में गुण की उत्पत्ति होती है, वह असमवायी कारण के रूप में जाना जाता है। 'निमित्त कारण' और 'सहकारी कारण' वे कहलाते हैं जिनके द्वारा उपादान कारण की द्रव्य विशेष के कार्य में परिणति होती है। इस प्रकार मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार, उसका चाक छड़ी आदि निमित्त और सहाकारी कारण माने जाते हैं।

न्याय वैशेषिक कारण की गति-प्रक्रिया के पूर्व कार्य की स्थिति को स्वीकार नहीं करता है। परन्तु इस दर्शन की यह मान्यता अवश्य है कि कारण के गुणों द्वारा कार्य के गुणों का आविर्भाव होता है। मिट्टी के काले रंग से घड़े में काला रंग उत्पन्न होता है। अर्थात् घड़े के काले रंग का कारण मट्टी का काला रंग है। पर अन्य अवस्थाओं और कारणों से इस रंग में परिवर्तन हो सकता है जैसे अग्नि के ताप से काला रंग लाल रंग में बदल जाता है। दूसरा अपवाद द्वयाणुक और त्रसरेणु के परिमाण में है जो अणु और द्वयणुक के परिमाण से निर्धारित नहीं होता। इस संबंध में हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि इनका परिमाण अणु और द्वयाणु की संख्या से निश्चित होता है।

प्रलय और सृष्टि

मीमांसा के अतिरिक्त सभी हिन्दू-दर्शनों में प्रलय के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों को शान्ति और विश्राम देने के लिए प्रलय की इच्छा करता है—'संहारेच्छो भवति'। इसके साथ ही सारी आत्माओं, शरीर, इन्द्रियादि स्थूल तत्वों में निवास करने वाली अदृष्ट शक्ति का लोप हो जाता है, जिसे न्याय में शक्ति प्रतिबन्ध कहा है। इस प्रकार उत्पत्ति का क्रम समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही ईश्वर की इच्छा से प्रलय की प्रक्रिया का प्रारम्भ

मुक्तावली और तर्क-संग्रह। श्री गंगेश के समय से ही अन्यथा सिद्धि के सिद्धान्त का सुचारु रूप से विकास हुआ था।

हो जाता है जिसमें सृष्टि की समस्त मुख्य और स्थूल वस्तुओं का आणविक विघटन होने लगता है। सारी पृथ्वी और सारी सृष्टि विघटित होकर अणुओं में परिवर्तन हो जाती है। फिर ये अणु जल, तेजस और अन्ततः वायु के रूप में स्थित हो जाते हैं। यह पार्थिव अणु और आत्मा तत्व धर्म, अधर्म और पूर्व संस्कारों के साथ निर्जीव अवस्था में अवस्थित रहते हैं। आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति में निर्जीव, ज्ञानहीन एवं चेतनाविहीन है। शरीर के साथ सम्बन्धित होने पर मानस के संयोग से ही आत्मा में ज्ञान चेतना का उदय होता है। प्रलय की स्थिति में आत्मा के अदृष्ट के कारण अणु संघटन नहीं होने पाता, अतः आत्मा विघटित रूप में रहती है। प्रलय ईश्वर की क्रूरता का द्योतक नहीं है। वह प्रभु तो सांसारिक प्राणियों को उनके दुःख से छुटकारा देने के लिए थोड़े समय के लिए प्रलय की व्यवस्था करता है।

सृष्टि रचना के समय ईश्वर सृष्टि के निर्माण की इच्छा करता है। वह ईश्वरेच्छा सारी आत्माओं में 'अदृष्ट' के रूप में व्याप्त होकर एक नवीन स्पन्दन का प्रारम्भ करती है। इस अदृष्ट के स्पन्दन से सर्वप्रथम वायु के अणु प्रभावित होते हैं। आत्मा के साथ इन अणुओं का संयोग होता है। गतिज अदृष्ट ऊर्जा से अणु मिलकर द्वयाणुक और ये मिल कर त्र्यणुक की सृष्टि करते हैं, इनके द्वारा वायु का संचरण होता है। वायु के पश्चात् जलाणुओं के समुच्चय से जल और फिर तेजस् की सृष्टि होती है। इसके पश्चात् पृथ्वी तत्व का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार अणुओं के संयोग से जब इन चार तत्वों का निर्माण हो जाता है, तो फिर 'ईश्वर' सारे स्थूल ब्रह्मांड और ब्रह्म की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा नियोजित ब्रह्म, पुनः सृष्टि-क्रम-संचालन का कार्यभार ग्रहण करता है। कर्मों के फलस्वरूप सुख, दुःख एवं अन्य नियमों की व्यवस्था करता है। ईश्वर किसी स्वार्थ की दृष्टि से सृष्टि का निर्माण नहीं करता। वह सारे प्राणियों के हित के लिए, ज्ञान और आनन्द के लिए सृष्टि का निर्माण करता मनुष्य के धर्म और अधर्म के अनुसार ही वह सुख दुःख आदि भोगों की व्यवस्था करता है। जिस प्रकार एक स्वामी अच्छे और बुरे कर्मों के लिए पारितोषिक और दंड का विधान बनाता है। ईश्वर की अनादि अनन्त इच्छा से ही प्रलय और सृष्टि का क्रम चलता रहता है। जब वह प्रलय की इच्छा करता है तो सर्वभूत पंचतत्व आदि विलय होकर अनन्त आकाश में लुप्त हो जाते है। स्थूल प्रकृति का क्षय हो जाता है। उसकी यह इच्छा ही आत्मा में व्याप्त होकर अदृष्ट का रूप ग्रहण करती है। सृष्टि रचना में 'अदृष्ट' ही नवीन उत्पत्ति में सहायक होता है, और प्रलय काल में ईश्वरेच्छा से यही अदृष्ट निष्क्रिय स्थिति में रहता है। उस ईश्वर की महान् इच्छा पर ही सारी सृष्टि का क्रम निर्भर है।'

न्याय के अनेक विद्वान् ब्रह्मा की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। मनुष्य के कर्मों के आधार पर ही प्रलय और सृष्टि का विधान नियमित होता है। सृष्टि और प्रलय उस परम ईश्वर की 'लीला' मात्र है। ईश्वर एक है। उसकी इच्छा से न केवल प्रलय और सृष्टि होती है वरन् संसार के सारे कार्य कलाप उसकी इच्छा पर ही आधारित हैं। हमारे कर्मों का फल सुख, दु:ख, और बाह्य जगत् के सुव्यवस्थित नियमन और परिवर्तन सब में उसी की इच्छा व्याप्त है। धर्म, अधर्म और मनुष्यों के कर्मों के अनुरूप ही बाह्य जगत् की व्यवस्था होती है। न्याय वैशेषिक में यह ईश्वरेच्छा की कल्पना योग दर्शन में वर्णित ईश्वरीय इच्छा के अधिक समतुल्य है।

ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण

सांख्य का मत है कि प्रकृति का व्यवस्था क्रम स्वचालित है जिसका प्रत्येक अंग अपनी क्रियाओं में आत्म निर्भर एवं सशक्त है। इसके संचालन के लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता नहीं है। मीमांसक, बौद्ध, जैन और चार्वाक के अनुयायी सभी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। न्याय का विश्वास है कि अनन्त शाश्वत अणुओं के उपादान से ईश्वर ने अपनी इच्छा शक्ति से विश्व का निर्माण किया है। प्रत्येक कार्य का कोई निमित्त कारण होना चाहिए। जैसे घड़े की रचना कुम्हार के बिना नहीं हो सकती। इसी प्रकार इतनी विशद व्यवस्थित सृष्टि की रचना का भी कोई निमित्त कारण होना चाहिए। यह कारण 'ईश्वर' है। बौद्ध दृष्टि से यह संसार क्षणिक है पर वास्तव में ऐसा नहीं है, अणु रूप में यह विश्व शाश्वत है, अणु समुच्चय के रूप में यह, प्रभाव अथवा कार्य रूप है। घड़े के समान ही यह अनेक तत्वों से निर्मित है। अतः यह निश्चित है कि इस कार्य रूपी विश्व का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इस मत के विरोध में यह कहा जाता है कि हमारे नित्य प्रति के अनुभव के अनुसार यह सत्य है कि प्रत्येक साधारण कार्य या प्रभाव का कोई कारण होता है, पर यह संसार इतना विशाल है कि नदियों, पहाड़ों और अनन्त समुद्रों वाले इस विश्व के लिए यह नियम सत्य नहीं हो सकता। यह हमारी अनुभूति और कल्पना का अतिक्रमण करता है? इस कल्पनातीत विशद विश्व के लिए हमारे तुच्छ अनुभव पर आधारित साधारण नियम सत्य नहीं हो सकते। न्याय का उत्तर है कि जब हम दो वस्तुओं में सह व्याप्ति के सिद्धान्त से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तो हमें सह व्याप्ति के सामान्य तत्व को आधार बनाना चाहिए। उन वस्तुओं की अन्य विशिष्टताओं से भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए हम प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुभव करते हैं कि धुएँ की अग्नि के साथ सहव्याप्ति है। इससे हमने सिद्धान्त बनाया कि जहां-जहां धुआं है वहां अग्नि होनी चाहिए। क्या इसका अर्थ यह है कि छोटे आकार का धुआं देख कर अग्नि की

कल्पना ही उचित है और यदि धुएँ के विशाल बादल दिखाई दें जो जंगल की आग से उत्पन्न हुए हैं तो हमें इस धूम्र समूह को देखकर जंगल में लगी अग्नि का अनुमान नहीं करना चाहिए ? अतः हमारा निष्कर्ष यह कदापि नहीं हो सकता कि कारण-नियम केवल छोटी-छोटी वस्तुओं में ही लगता है और बड़ी क्रियाएँ कारण-नियम से मुक्त हैं। प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से अपरिवर्तनीय निरुपाधि कारण की स्थिति है, यह नियम सर्वनिष्ठ है। इस संसार की स्थिति है, यह कार्यरूप में स्थित है अतः इसका कारण अवश्यंभावी है और यह कारण ईश्वर है। ईश्वर निराकार है, अकाय है अतः हम उसे नहीं देख सकते। वह हमें दृष्टिगोचर नहीं होता इसका यह अर्थ नहीं कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। कुछ लोगों का पक्ष है कि हम नित्य बीज से कोपलों और पत्तियों को अंकुरित होते देखते हैं, यह प्रकृति की सामान्य प्रक्रिया है, इसमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। न्याय का उत्तर यह है कि सृष्टि में सारा व्यापार ईश्वर की ही इच्छा से होता है, बीज और फल सब उसकी इच्छा के विना नहीं होते। उसकी इच्छा और शक्ति ही मूल कारण है, जब तक कोई अन्यथा सिद्ध नहीं करता इसके न मानने का कोई कारण नहीं है। वह महान् ईश्वर दयालु और अनन्त ज्ञानमय है। सृष्टि के प्रारम्भ में उसने वेदों की रचना की। वह हमारे पिता के समान है जो बालकों के हित-चिन्तन में ही कार्यरत रहता है।[1]

न्याय वैशेषिक का भौतिकशास्त्र

जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु इनके परमाणु होते हैं, इस प्रकार चार प्रकार के परमाणु होते हैं। इन परमाणुओं में द्रव्य मान संख्या, भार, तरलता या कठोरता, श्यानता (चिप-चिपापन) अश्यानता, वेग, विशिष्ट वर्ण, स्वाद, गन्ध, स्पर्श होता है। आकाश निष्क्रिय एवं संरचना-हीन है अर्थात् इसमें न गति है न इसकी कोई विशेष बनावट। आकाश में शब्द-तरंग प्रवहमान होती है और वायु के माध्यम से ध्वनि प्रकट होती है। चार तत्वों के साथ ही आणविक संयोग सम्भव है। सृष्टिकाल में परमाणु स्वतंत्र, असंबद्ध अवस्था में स्थित नहीं रह सकते। परन्तु ये परमाणु उच्चस्तरीय वातावरण में असंबंध अवस्था में अवस्थित रह सकते हैं।

दो परमाणुओं के मेल से द्वयणुक का निर्माण होता है। तीन व द्वयणुक के मेल से त्र्यणुक, चतुरणुक आदि का संघठन होता है।[2] इस साधारण रूप से प्रचलित मत के

---

[1] इस प्रसंग में देखिए श्री जयन्त रचित 'न्याय मंजरी' पृ० १९०-२०४, उदयन रचित 'कुसुमांजलि प्रकाश' के साथ, और श्री रघुनाथ द्वारा लिखी 'ईश्वरानुमान'।

[2] 'कदाचित् त्रिभिरारम्यते इति त्र्यणुकमित्युच्यते, कदाचित् चतुरभिराम्यते कदाचित् पंचभिरिति यथेष्टम् कल्पना।' 'न्याय कंदलि' पृ० ३२।

अतिरिक्त डाक्टर बी. एन. सील अपनी पुस्तक "पोजिटिव साइन्सेज ऑफ दि एन्शिमेन्ट हिन्दूज" में एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं कि सूक्ष्म अध्ययन से यह मत मिलता है कि 'परमाणुओं' में संघटित होने की स्वाभाविक क्षमता और रुचि है। और वे दो, तीन, चार के युग्म में सम्मिलित होते हैं अथवा पूर्ववर्यी परमाणुओं की संख्या के योग में एक और परमाणु के मेल से नया संन्निवेश या नया युग्म बनता है।[1] परमाणुओं के सम्बन्ध में धारणा है कि इनमें सतत स्पन्दन होता रहता है। इस संबंध में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सारे व्यापार के पीछे अदृष्ट को नहीं भुलाया जा सकता। इस अदृष्ट के कारण ही परमाणु स्पन्दित होते हैं, उनमें गति होती है और उनके अनेक सन्विेश या युग्म बनते हैं। यह अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा से प्रेरित हुआ संसार को नियमित रूप से धर्मानुकूल संचालित करता है, इस ऋत के अनुकूल ही विश्व की व्यवस्था का नियमन होता है। यह नियमन अथवा ऋत, कर्म फल के सामंजस्य में सृष्टि-प्रक्रिया को अनुचालित करता है। भौतिक दृष्टि से किसी भी परमाणु के संयोग से बने साधारण द्रव्य में ताप के प्रभाव से गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है। ताप के प्रभाव से द्वयणुक में परमाणु विघटन सम्भव है और इस विघटन के कारण और पुनः ताप के कारण उस युग्म के स्वभाव या गुण में परिवर्तन होता है। अणु विघटित होकर नए युग्म बना लेते हैं और इस प्रकार नए सन्निवेशों अथवा गुणों की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक का मत है कि ताप के कारण पहले किसी भी अणु युग्म का विघटन प्राथमिक परमाणुओं से होता है, फिर आणविक गुणों में परिवर्तन होता है और फिर अन्तिम संघटन होकर नवीन संन्निवेश का निर्माण होता है। इस सिद्धान्त को 'पीलुपाक' (अणु को ताप देना) सिद्धान्त कहते हैं। न्याय का मत है कि ताप से परमाणुओं का विघटन हो, यह आवश्यक नहीं है। केवल अणुयुग्मों के गुण स्वभाव में आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार न्याय के अनुसार ताप परमाणुओं में किसी प्रकार का परिवर्तन न करते हुए अणु युग्मों को सीधा प्रभावित करता है और उनके गुण-स्वभाव में परिवर्तन कर सकता है। ऊष्मा के सूक्ष्मकण द्रव्य के सरंध्र पिंड में प्रवेश कर उसमें वर्णपरिवर्तन कर देते हैं। इस प्रक्रिया में सारे द्रव्य का परमाणुओं में विघटन नहीं होता क्योंकि अनुभव और परीक्षण से ऐसा नहीं पाया जाता। इस प्रक्रिया को 'पिठरपाक' (अणु को नरम करने की क्रिया) सिद्धान्त कहा जाता है। उत्तरकालीन न्याय दर्शन और वैशेषिक में कुछ थोड़े से ऐसे सन्दर्भों में साधारण अन्तर पाया जाता है।[2]

---

[1] वृहत् संहिता' पर उत्पल भाष्य देखिए, II. ७।

[2] डॉ० पी. सी. राय द्वारा लिखी 'हिन्दू कैमिस्ट्री' पुस्तक में डॉ. बी. एन. सील का मत देखिए। पृ० १९०-१९१। 'न्याय मंजरी' पृ० ४३८ और उद्योतकर की 'वार्तिक' भी देखिए। न्याय और वैशेषिक सूत्र में उपर्युक्त दृष्टिकोण के अन्तर के सम्बन्ध में

गुणों में परिवर्तन हो जाता है और इनका पुनः संयोग संघटन होकर नवीन रासायनिक द्रव्यों का निर्माण हो जाता है।[1]

उत्तरकालीन न्याय लेखक श्री गोवर्धन का कथन है कि 'पाक' का अर्थ विभिन्न प्रकार की ऊष्मा का प्रभाव है। वह ऊष्मा जिससे फल के रंग में परिवर्तन होता है, उस उष्मा से भिन्न है जिसके द्वारा रस में परिवर्तन होता है।

गाय के द्वारा खाया हुआ घास सूक्ष्म परमाणुओं में बदल जाता है और फिर ऊष्मा प्रकाश के प्रभाव से उसके रस, रूप, गन्धादि में अनेक रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिससे वह दूध के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[2]

न्याय वैशेषिक दर्शन में द्रव्य की अन्य द्रव्य पर क्रिया एक भौतिक गति क्रिया है। प्रयत्न और गति दोनों में अन्तर है। सांख्य की दृष्टि इसके विपरीत है। सांख्य के अनुसार 'पुरुष' के अतिरिक्त (चित्) अन्य सब पदार्थ सृष्टि के विकास के क्रम में उत्पन्न होते हैं और उनमें स्वतः स्पन्दन होता रहता है।

ज्ञान का मूल (प्रमाण)

भारतीय दर्शन में ज्ञानबोध किस प्रकार होता है इस पर बड़ा विचार किया गया है। सांख्य योग में बुद्धि प्रत्यक्ष दर्शन की विषय वस्तु का स्वरूप ग्रहण कर लेती है और वह फिर निर्मल चित् (पुरुष) के प्रकाश से प्रकाशित होकर बोध ज्ञान के रूप में [illegible] की जाती है। जैन दर्शन में सर्वज्ञानमयी स्वात्मा पर कर्म का अवगुण्ठन ज्ञान के [illegible] को मलिन किए रहता है। इस मलिनता के आवरण के हटते ही आत्मा में ज्ञान [illegible] स्पष्ट हो उठता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रत्येक कार्य या प्रभाव की पृष्ठ-भूमि में कारण संयोग है [illegible] के पूर्ववर्ती है, जो आवश्यक और अपरिवर्तनशील है। अतः जिस सामग्री [illegible] होती है उसमें कुछ चेतन और कुछ अचेतन तत्व हैं। इन तत्वों के [illegible] प्रभाव से निश्चित ज्ञान की उपलब्धि होती है। यह सामग्री प्रमाण कहलाती [illegible] की प्राप्ति का या ज्ञानबोध का सुनिश्चित कारण हैं।[3]

[illegible] रचित 'पौजिटिव साइन्सेज ऑफ हिन्दूज।'

[illegible] रचित 'न्यायबोधिनी' टीका पृ० ९.१० जो 'तर्क संग्रह' पर लिखी हुई।

डॉ० ब. [illegible] [illegible]थार्थोपलब्धिम् विदधाति बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् [illegible] ने 'प्रमाण' को उपलब्धि हेतु (ज्ञान का कारण)

बहु-भौतिक या द्वि-भौतिक यौगिकों में एक अन्य प्रकार का संयोग होता है जिसे 'उपष्तम्भ' योग कहते हैं। इस प्रकार तेल, घी, फलों के रस आदि में पृथ्वी के परमाणु तब तक नहीं मिल सकते जब तक कि जल के परमाणु बीच में न हों। ये जल के परमाणु पृथ्वी के परमाणुओं को घेरे रहते हैं। ऊष्मा कणों के संघात से और अवपरमाणविक बल के कारण पृथ्वी के परमाणु विशिष्ट गुणों को धारण करते हैं। इसी प्रकार अन्य यौगिकों का भी निर्माण होता है जहाँ अप् (जल) तेजस् और वायु के परमाणु आन्तरिक मूलांकुर या केन्द्र के रूप में अवस्थित होते हैं और पृथ्वी के कण उपस्तम्भक के रूप में आसपास स्पन्दित होते रहते हैं। पृथ्वी तत्व के जल में मिले इस प्रकार के सम्मिश्रण या घोल भौतिक-मिश्रण कहलाते हैं।

श्री उदयन का मत है कि रासायनिक-प्रक्रिया के लिए आवश्यक सारी ऊष्मा का स्रोत सूर्य का ताप है। परन्तु परिपाक क्रिया में अन्तर है। ताप के सूक्ष्म कणों के सम्पर्क और ऊष्मा के प्रकार विभिन्न हैं। जिस पाक क्रिया से वर्ण परिवर्तन होता है और जिससे रस परिवर्तन होता है वे निश्चय ही एक दूसरे से भिन्न हैं।

ऊष्मा और प्रकाश की किरणें अत्यन्त सूक्ष्म कणों से बनी हुई होती हैं। ये तीव्र गति एवं वेग से ऋजु रेखीय स्तर पर सारी दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। ताप परमाणु सन्धि में सहज ही प्रवेश कर जाता है जैसा तापचालन की क्रिया में पाया जाता है। अग्नि पर पात्र में जब जल गरम किया जाता है तो पात्र के परमाणुओं की सन्धि में प्रवेश कर ताप जल तक सहज ही पहुँच जाता है। प्रकाश किरणें पारदर्शक पदार्थ में 'परिस्पन्द' के द्वारा परमाणु सन्धि से प्रवेश कर विक्षेप अथवा अपवर्तन की अवस्था को प्राप्त करती है जिसे 'तिर्यक्गमन' कहा है। अन्य अवस्थाओं में उष्मा या प्रकाश की किरणें परमाणुओं से टकरा कर प्रत्यावर्तित हो जाती हैं।

ताप की विशेष क्रिया से अन्य अवस्थाओं में परमाणु छिन्न भिन्न होकर विघटित हो जाते हैं। निरन्तर परिपाक से इन विघटित परमाणुओं के भौतिक रासायनिक

'न्याय कंदली' पृ० ३३-३४ देखिए–'शरीरारंभे परमाणव एव कारणम् न शुक्र शोणित सन्निपातः क्रियाविभागादिन्यायेन तयोर्विनाशे सति उत्पन्न पाकजैः परमाणुभिरारंभात् न च शुक्रशोणितपरमाणुनाम् कश्चिदविशेषः पार्थिवत्वाविशेषात्'''पितुः शुक्रम् मातुः शोणितम् तयो सन्निपातानन्तरम् जठरानलसंबंधात् शुक्र शोणितारंभकेशु परमाणुपु पूर्वरूपादिविनाशे समानगुणान्तरोत्पतौ द्वयणुकादिक्रमेण कललशरीरोत्पत्तिः तत्रान्तःकरण प्रवेशो तत्र पुनरजठरानल संबंधात् कललारंभक परमाणुपु क्रियाविभादिन्यायेन कललशरीरे नष्टे समुत्पन्नपाकजैः कललारंभकपरमाणुभिरदृष्टवसाद उपजातक्रियैराहारपरमाणुभिः सह संभूय शरीरान्तरमारंभ्यते।''

गुणों में परिवर्तन हो जाता है और इनका पुनः संयोग संघटन होकर नवीन रासायनिक द्रव्यों का निर्माण हो जाता है।[1]

उत्तरकालीन न्याय लेखक श्री गोवर्धन का कथन है कि 'पाक' का अर्थ विभिन्न प्रकार की ऊष्मा का प्रभाव है। वह ऊष्मा जिससे फल के रंग में परिवर्तन होता है, उस उष्मा से भिन्न है जिसके द्वारा रस में परिवर्तन होता है।

गाय के द्वारा खाया हुआ घास सूक्ष्म परमाणुओं में बदल जाता है और फिर ऊष्मा प्रकाश के प्रभाव से उसके रस, रूप, गन्धादि में अनेक रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिससे वह दूध के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[2]

न्याय वैशेषिक दर्शन में द्रव्य की अन्य द्रव्य पर क्रिया एक भौतिक गति क्रिया है। प्रयत्न और गति दोनों में अन्तर है। सांख्य की दृष्टि इसके विपरीत है। सांख्य के अनुसार 'पुरुष' के अतिरिक्त (चित्) अन्य सब पदार्थ सृष्टि के विकास के क्रम में उत्पन्न होते हैं और उनमें स्वतः स्पन्दन होता रहता है।

ज्ञान का मूल (प्रमाण)

भारतीय दर्शन में ज्ञानबोध किस प्रकार होता है इस पर बड़ा विचार किया गया है। सांख्य योग में बुद्धि प्रत्यक्ष दर्शन की विषय वस्तु का स्वरूप ग्रहण कर लेती है और वह फिर निर्मल चित् (पुरुष) के प्रकाश से प्रकाशित होकर बोध ज्ञान के रूप में ग्रहण की जाती है। जैन दर्शन में सर्वज्ञानमयी स्वात्मा पर कर्म का अवगुण्ठन ज्ञान के दर्पण को मलिन किए रहता है। इस मलिनता के आवरण के हटते ही आत्मा में ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट हो उठता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रत्येक कार्य या प्रभाव की पृष्ठ-भूमि में कारण संयोग है जो प्रभाव के पूर्ववर्ती है, जो आवश्यक और अपरिवर्तनशील है। अतः जिस सामग्री से ज्ञान की क्रिया होती है उसमें कुछ चेतन और कुछ अचेतन तत्व हैं। इन तत्वों के सम्मिलित प्रभाव से निश्चित ज्ञान की उपलब्धि होती है। यह सामग्री प्रमाण कहलाती है जो कि ज्ञान की प्राप्ति का या ज्ञानबोध का सुनिश्चित कारण हैं।[3]

---

[1] डा० सील रचित 'पौजिटिव साइन्सेज ऑफ हिन्दूज।'

[2] श्री गोवर्धन रचित 'न्यायबोधिनी' टीका पृ० ९.१० जो 'तर्क संग्रह' पर लिखी गई है।

[3] अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धार्थोपलब्धिम् विदधाति बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् 'न्याय मंजरी' पृ० १२। उद्योतकर ने 'प्रमाण' को उपलब्धि हेतु (ज्ञान का कारण)

किसी एकांगी तत्व को मुख्य कारण नहीं समझा जा सकता क्योंकि सारे पूर्ववर्ती कारणों के संयोग से कार्य-प्रभाव सम्भव होता है। कभी-कभी एक तत्व के न होने से सारा प्रभाव या कार्य रुक जाता है। अतः कारण सामग्री के सारे तत्व मिलकर कार्य या प्रभाव विशेष की उत्पत्ति करते हैं। ज्ञान के प्रमाण में भी यही बात सत्य है। इस सामग्री में सारे बौद्धिक चेतना तत्व (उदाहरण के लिए सुनिश्चित प्रत्यक्ष बोध में अनिश्चित बोध की प्राथमिक विशेषणात्मक क्रिया, अनुमान में लिंग का ज्ञान, उपमान में एकरूपता और शब्द में ध्वनि का सुनना) के अतिरिक्त भौतिक सामग्री का भी यथोचित सामंजस्य आवश्यक है। उदाहरणार्थ देखी जाने वाली वस्तु का सामीप्य, प्रकाश, इन्द्रिय क्षमता आदि सभी बाह्य तत्वों के उचित स्थिति में होने पर, समुचित ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। बोध ज्ञानात्मक सभी चेतन और बाह्य भौतिक तत्व एक ही तल पर सम्मिलित रूप में जब क्रिया करते हैं, तब ये सब मिलकर ज्ञान के प्रमाण के रूप में जाने जाते हैं।

न्याय, सांख्य मत की आलोचना करता हुआ कहता है कि सांख्य के अनुसार बुद्धि की एक विशेष अवस्था में पुरुष के किसी अतीन्द्रिय प्रभाव से वस्तुबोध होता है। यह बात आसानी से समझ में नहीं आती है। ज्ञान बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि बुद्धि चेतन नहीं है यद्यपि यह विषयवस्तु के स्वरूप और कल्पना को धारण करती है। पुरुष जो चेतना है, जिसको विषय ज्ञान होना चाहिए वह सदैव सांख्य मत के अनुसार इन्द्रियातीत, शुद्ध, चेतन अवस्था में रहता है, अतः न यह सांसारिक अर्थों में सुनता है, न देखता है, न जानता है, न किसी अन्य प्रकार की ज्ञानानुभूति करता है। यदि इस चेतन पुरुष का बुद्धि के साथ सम्पर्क केवल एक प्रतिभा मात्र है, यह केवल एक प्रतिविम्ब रूप माया है तो फिर सत्यज्ञान का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यदि सारा ही ज्ञान मिथ्या है तो फिर सांख्य मतावलम्बी सत्य ज्ञान-उत्पत्ति की कल्पना नहीं कर सकते।

कह कर समझाया है। यह दृष्टिकोण श्री जयन्त के दृष्टिकोण का विरोधी नहीं है। पर यह 'इन्द्रिय व्यापार' के पक्ष पर बल देता है। इन्द्रियों के सम्पर्क में वस्तुओं के आने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। वाचस्पति ने लिखा है—सिद्धमिन्द्रियादि असिद्ध च तत् सन्निकर्षादि व्यापारयन्नुत्पादयन् करणएव चरितार्थः करणम् त्विन्द्रियादि तत्सन्निकर्षादि वा नान्यत्र चरितार्थमिति साक्षादुपलब्धावेव फले व्यप्रियते। तात्पर्य टीका पृ० १५। इस प्रकार ज्ञान बोध में इन्द्रियों की क्रिया प्रमाण है परन्तु यह बोध, वस्तु और वस्तु के सम्पर्क में आने वाले अभाव में नहीं हो सकता अतः कारण सामग्री या प्रमाण में इनको भी सम्मिलित किया गया है।

'प्रमातृ प्रमेययोः प्रमाणे चरितार्थत्वम् प्रमाणस्य तस्मान् तदेव फलहेतुः प्रमातृ प्रमेयेतु फलोद्देशेन प्रवृत्ते इति तदहेतु कथांचित्।' 'तात्पर्य टीका' पृ० १६।

इसी प्रकार बौद्ध मत वाले यह सिद्ध करते हैं कि वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही तद्विषयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और उसकी समाप्ति के साथ ही अगले क्षण में इस ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। न ज्ञान, वस्तु से उत्पन्न होता है और न वस्तु ज्ञान से उत्पन्न होती है। साथ ही ज्ञान के उत्पन्न होते ही उस ज्ञान की वस्तु का उदय होता है। यह समझ में नहीं आता कि ज्ञान और ज्ञान के विषय का सामंजस्य कैसे होता है, वह एक साथ कैसे उत्पन्न होते हैं, और ज्ञान कैसे उस वस्तु को जान लेता है? विज्ञानवादियों का मत है कि ज्ञान ही स्वयं वस्तु और उसका बोध, दोनों के रूप में, प्रकट होता है। यह भी युक्ति संगत नहीं दिखाई देता कि ज्ञान एक साथ वस्तु और उसके बोध के रूप में कैसे विभाजित हो जाता है। वस्तु रूपी ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए फिर किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होनी चाहिए। और इस ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता हो तो फिर इस क्रम का कहीं अन्त नहीं हो सकता। यदि बौद्धमतानुसार 'प्रमाण' को 'प्रापण' (प्राप्त करने की क्षमता) के रूप में समझा जाए तो यह भी उचित नहीं होगा क्योंकि बौद्ध दृष्टि से सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं और क्षण मात्र में नष्ट हो जाती हैं। अतः, इस क्षण में नष्ट होते हुए संसार में प्राप्त करने योग्य कुछ भी नहीं है। इन सब दृष्टियों से ज्ञान की उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अतः न्याय का कथन है कि ज्ञान भी एक कार्य या प्रभाव है जो अन्य प्रभाव के समान ही कारण सामग्री के द्वारा अर्थात् भौतिक और बौद्धिक कारणों के संयोग से उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति में कोई इन्द्रियातीत, दैविक तत्व नहीं है। यह उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे कारण संयोग से अन्य भौतिक प्रभावों की उत्पत्ति होती है।[1]

न्याय के चार प्रमाण

ज्ञान के प्रामाणिक या वैध आधार के रूप में चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण मानते हैं। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करते हैं।[2]

---

[1] ख्याति प्राप्त उत्तरकालीन नैयायिक श्री गंगेश ने ज्ञान की प्रामाणिकता की मीमांसा की है। उनका कथन है कि किसी वस्तु के अवयव के साथ ही जिस क्रिया के कारण हम इस अवगम अथवा प्रत्यक्ष बोध के लिए प्रेरित हुए हैं, इन दोनों के उचित सम्बन्ध के आधार पर जो अनुमान या निष्कर्ष निकाला जाता है वह प्रामाणिक होता है। जब यह विश्वास होता है जिसका मैंने प्रत्यक्ष (अवगम) किया है उस प्रत्यक्ष के आधार पर कर्म करने से मुझे सफलता मिलेगी तो वह ज्ञान प्रामाणिक होना चाहिए। देखिए 'तत्वचिंतामणि' के तर्कवागीश का संस्करण प्रमाण्यवाद।

[2] वैशेषिक सूत्र—'वेदों' को स्पष्ट रूप से प्रमाण मानते हैं। यह मान्यता भी सदैव से

सांख्य ने 'शब्द' को तीसरे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया और न्याय ने एक और प्रमाण 'उपमान' को मान्यता दी। इस प्रकार न्याय ने चार प्रमाणों को माना है। इन चार प्रमाणों का आधार न्याय के अनुसार यह है कि ज्ञान बोध एक कार्य है जो कारण के अभाव में नहीं हो सकता। कारण पूर्ववर्ती कारण सामग्री से निर्मित है जैसा पहले कहा जा चुका है। ज्ञान की उपलब्धि कारण सामग्री की विविधता हो सकती है। इस विविधता के साथ ही चारों अवस्थाओं में ज्ञान का स्वरूप और स्वभाव भी भिन्न होता है। ज्ञान की उपलब्धि के साधन, वस्तु विशेष को प्रकाश में लाने वाली अवस्थाएँ और प्रकार भिन्न होते हैं। अतः जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसी वस्तु के सम्बन्ध में अनुमान भी किया जा सकता है। किसी आप्त पुरुष के कहने पर भी विश्वास किया जा सकता है और किसी उपमेय द्वारा भी उसे जाना जा सकता है। इस अवस्था भेद के कारण ही न्याय 'शब्द' और 'उपमान' को 'अनुमान' से भिन्न प्रमाण मानता है।[1]

प्रत्यक्ष

नैयायिक केवल पांच ज्ञानेन्द्रियों को मानते हैं। न्याय मत के अनुसार ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मूलभूतों (पाँच तत्व) से निर्मित हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशिष्ट

चली आती है कि वैशेषिक केवल दो प्रमाण मानता है एक अवगम (प्रत्यक्ष) और दूसरा 'अनुमान' प्रत्यक्षमेकम् चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः अनुमानच्च तत्वापि आदि। श्री प्रशस्तपाद सारे बोध (बुद्धि) को विद्या और अविद्या में विभाजित करते हैं। सत्य ज्ञान विद्या है अज्ञान अविद्या है। 'संशय' विपर्यय (भ्रान्ति) अतध्यवसाय (निश्चित ज्ञान का अभाव जैसे आपको प्रथम वार देखने से आश्चर्य कि यह क्या है)। और 'स्वप्न', इन सबको अविद्या माना है। विद्या अथवा सत्य ज्ञान चार प्रकार का है—'अवगम' (प्रत्यक्ष बोध) अनुमान, स्मृति और ऋषियों का विशिष्ट दिव्य ज्ञान जिसे 'आर्ष' कहा है। वैशेषिक सूत्रों की (१.१ ३) व्याख्या करते हुए, श्री प्रशस्तपाद ने कहा है कि वेदों की प्रामाणिकता का आधार उनके लेखक का विश्वसनीय व्यक्तित्व है। वेद स्वयं में प्रामाणिक नहीं है। 'अर्थापत्ति' (तात्पर्य) अनुपलब्धि (किसी का प्रत्यक्ष बोध नहीं हो पाता) को अनुमान की श्रेणी में मानते हैं। 'उपमान' (उदाहरण से एकरूपता) और 'ऐतिह्य' (परम्परा) विश्वसनीय व्यक्तियों में श्रद्धा इनको भी 'अनुमान' ही माना है।

[1] सामग्रीभेदात् फलभेदाच्च प्रमाण भेदाः।
अन्ये एव हि समाग्री फले प्रत्यक्षालिंगयोः।
अन्ये एवच सामग्री फले शब्दोपमानयोः। न्याय मंजरी पृ० ३३।

तत्व के सम्पर्क में जाती है और तद्जनित ज्ञान को ग्रहण करती है। जैसे श्रोत्र (कान) आकाश तत्व से निर्मित है तो यह आकाश के गुण शब्द को सहज ही ग्रहण करती है। नेत्र प्रकाश को, वर्णादि को ग्रहण करते हैं। वे स्वयं प्रकाश की किरणों से स्थान विशेष को आविष्ट कर देते हैं, वे तेजस् तत्व से ही तेजवान् हैं। न्याय सांख्य के समान अन्य पाँच इन्द्रियों को अर्थात् कर्मेन्द्रियों को नहीं मानते। सांख्य के अनुसार ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ 'वाक्', 'पाणि', 'पाद', 'वायु', और 'उपस्थ' हैं। न्याय का मत है इन पाँचों का कर्म शरीर की प्राण शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है, अतः इनकी गणना इन्द्रियों में नहीं की जा सकती।

ज्ञानेन्द्रिय के वस्तु विशेष के सम्पर्क में आने से जिस सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है वही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का संशय अथवा भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए, प्रत्यक्ष दर्शन के समय किसी अन्य द्वारा उच्चरित ध्वनि, नाम आदि का सम्पर्क नहीं होना चाहिए।[1] जैसे यदि हम गाय को देखते हैं और उसी समय कोई अन्य व्यक्ति कहता है कि यह गाय है तो गाय के सम्बन्ध में ज्ञान का आधार 'शब्द प्रमाण' है प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प प्रत्यक्ष। निर्विकल्प प्रत्यक्ष किसी वस्तु की इन्द्रियों के सम्पर्क में आने की वह अनिश्चित अवस्था है जब हम उसके विशिष्ट गुणों का, नाम आदि का विनिश्चयन नहीं कर पाते हैं। केवल उसके सामान्य जाति सूचक गुणों को ही प्रथम दृष्टि में देख पाते हैं। इस अवस्था के पश्चात् सविकल्प अवस्था आती है जब हम उपर्युक्त इन्द्रिय सम्पर्क और अनिश्चित ज्ञान के पश्चात् विशिष्ट गुणों को ध्यान में लाकर नामादि का निश्चय कर लेते हैं। उत्तरकालीन नैयायिकों का कथन है कि निर्विकल्प अवस्था का हमको साधारणतया बोध नहीं होता पर यह वह अवस्था है जो सविकल्प प्रत्यक्ष के पूर्व आती है और जिसके अभाव में सविकल्प प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। इन्द्रियों का अपने विषय के साथ सम्पर्क छः प्रकार का है—(१) द्रव्य के साथ सम्पर्क जिसे संयोग संज्ञा दी गई है (२) वस्तु के माध्यम से गुणों के साथ संपर्क 'संयुक्त समवाय' इसमें उन गुणों की अन्तर्व्याप्ति को जाना जाना जाता है जो वस्तु से अलग नहीं की जा सकती। (३) सामान्य गुणों के साथ सम्पर्क जिसमें वस्तुविशेष के गुणों के सार्वत्रिक जाति रूप गुणों की व्याप्ति समवाय की ओर ध्यान दिया जाता है। इसे 'संयुक्त समवेत समवाय' कहा जाता है। उदाहरण के लिए नेत्र वस्तु विशेष के सम्पर्क में आते हैं, वस्तु में वर्ण का समवाय सम्बन्ध है, पुनः वर्ण में सार्वत्रिक रूप का अथवा जिस जाति का वह रूप है उसका व्याप्ति समवाय है, उस रूपत्व के साथ सम्पर्क होता है। (४) समवेत समवाय—'शब्द' की स्थिति आकाश में है। अतः शब्द का समवाय

[1] गंगेश नाम के ख्याति प्राप्त नैयायिक प्रत्यक्ष को तात्कालिक साक्षात्कार (उसी समय देखकर जानना) कहकर व्याख्या करते हैं—"प्रत्यक्षस्य साक्षात् कारित्वम् लक्षणाम्।"

आकाश से है, जिस आकाश के माध्यम से शब्द का ज्ञान होता है वह समवेत समवाय है। (५) शब्द के स्वयं के गुण 'शब्दत्व' से विशेषता की जानकरी समवेत समवाय के माध्यम से होती है। (६) एक अन्य सम्पर्क के द्वारा किसी विषय के 'अभाव' का ज्ञान होता है इसे संयुक्त विशेषण कहते हैं। यह ऐसा इन्द्रिय-सम्पर्क है जो वस्तु विशेष के न होने की विशेषता बतलाता है। नेत्र किसी स्थान विशेष को देखते हैं। इस स्थान का विशेषण उसकी रिक्तता है अथवा वस्तु-विशेष का अभाव है। उदाहरण के लिए दृष्टि यह देखती है कि स्थान विशेष पर घड़ा नहीं है। यहाँ दृष्टि रिक्त-स्थान के सम्पर्क में आकर केवल उसका सम्पर्क करती है। उस स्थान की यह विशेषता भी अनुभव करती है कि यहाँ अन्य वस्तु का अभाव है। इस प्रकार न्याय केवल वस्तु और उसके गुण को ही प्रत्यक्ष नहीं देखता परन्तु सारे सम्बन्ध समवाय भी वास्तविक मान कर उनको प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मान्य समझता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन के प्रत्यक्षवाद में यही सबसे मुख्य बात है कि यह केवल वस्तु तक ही प्रत्यक्ष को समाप्त नहीं कर देता। इन्द्रिय सम्पर्क की क्रिया से प्रारम्भ होकर, उसका विनिश्चयन और उसके गुण दोष दर्शन तक प्रत्यक्ष की परिधि में आ जाते हैं। इस प्रकार समस्त ज्ञान 'अर्थप्रकाश' है अर्थात् वस्तु का सम्यकज्ञान है। सभी ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से विषय का पूर्ण ज्ञान ही प्रत्यक्ष 'अर्थ-प्रकाश' है। इन इन्द्रियों की समस्त क्रिया भौतिक है और उनकी उपलब्धि भी भौतिक तल पर है। अतीन्द्रिय या दैविक शक्ति की कोई कल्पना न्याय वैशेषिक इस प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए स्वीकार नहीं करता। केवल भौतिक स्पन्दन, गति और क्रिया ही इन्द्रिय बोध के लिए ग्राह्य और मान्य है।[1] इस प्रकार अन्य भौतिक कारणों की प्रक्रिया और कारण संयोग से जिस प्रकार अन्य किसी कार्य की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ज्ञान भी निश्चित भौतिक कारण सामग्री और प्रक्रिया पर निर्भर है। नारंगी को देखने पर दृष्टि एवं स्पर्श से इसके रूप, रंग कठोरता आदि का प्राथमिक भान होता है, साथ ही उसके सार्वत्रिक, सामान्य, जातिरूप गुणों का जिसकी नारंगियों में व्याप्ति होती है उसका भी बोध होता है। यह प्रथम सम्पर्क 'आलोचन-ज्ञान' है। इस 'आलोचन-ज्ञान' के साथ ही नारंगी के मधुर स्वाद, गुण आदि की स्मृति का उदय होता है जो सुखकर प्रतीत होता है जिसका 'सुख साधनत्व स्मृति' के रूप में वर्णन किया गया है।[2] स्मृति के इस सहकारि कारण से नारंगी के

---

[1] न खल्वितीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरूपगम्यते
यया सह न काय्यस्य संबंध ज्ञानं संभवम्। न्याय मंजरी पृ० ६९।

[2] सुखादि मनसा बुद्ध्वा, कपित्थादि च चक्षुषा।
तस्य कारणता तत्र मनसैवावगम्यते।
सम्बन्ध ग्रहण कालेयत्तत्कपित्थादिविषयमक्षजम।

मधुर होने की विवेचना भी प्रत्यक्ष का स्पष्ट फल है। यद्यपि यह मत बुद्धि से जाना जाता है कि नारंगी सुखकर मधुर पदार्थ है, पर यह प्रक्रिया इन्द्रिय सम्पर्क के कारण प्रारम्भ हुई और इस ज्ञान का स्रोत इन्द्रिय सम्पर्क है। अतः यह ज्ञान प्रत्यक्ष की परिभाषा में स्वीकार किया जाएगा। प्रत्यक्ष की मुख्य उपाधि इन्द्रिय सम्पर्क है। यह सम्पर्क न केवल विषय विस्तु, उसके विशिष्ट सामान्य और सार्वत्रिक गुणों को ही ग्रहण करता है वरन् उसके 'अभाव' को भी दृष्टिगत करता है। यदि किसी वस्तु में ऐसे गुण का वर्णन किया जाए जो उसमें नहीं है तो वह प्रत्यक्ष भ्रान्ति मूलक होगा, उसे प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में वह प्रत्यक्ष ही नहीं है जो ऐसा गुण भ्रान्ति से देखता है जो वस्तु विशेष में है ही नहीं (अतस्मि स्तदिति) इसी प्रकार 'प्रमा' (सत्यज्ञान) वह है जो वस्तु को उस स्वरूप और गुण में प्रस्तुत करती है जो उसमें है जैसाकि उल्लेख है 'तद्वति तत्प्रकारकानुभव'।[1] प्रत्यक्ष भ्रान्ति में इन्द्रियों का सम्पर्क तो सही विषय वस्तु से ही होता है परन्तु अन्य परिस्थितियों और उपाधि कारणों से (वातावरण दोष से) उसके गुण स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अन्य अप्रासंगिक बाह्य प्रत्यक्षों के कारण ही वस्तु विशेष को अन्य रूप में देखने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे सूर्य रश्मियों को मरुभूमि में देखने पर नदी की भ्रान्ति होती है। इसमें दृष्टि सम्पर्क वास्तव में सूर्य रश्मियों से ही होता है, इस निर्विकल्प अवस्था में कोई भ्रान्ति नहीं होती पर दूसरी सविकल्प अवस्था में, विनिश्चयन करते समय बालू की चमक के गुण से जल के इसी गुण से एकरूपता होने के कारण नदी की भ्रान्ति होती है।[2] श्री जयन्त का कथन है कि इन्द्रिय दोष से अथवा उसी प्रकार की वस्तु की स्मृति से जो वस्तु देखी जा रही है, उसमें पूर्व वस्तु के गुणों का निक्षेप हो जाता है और इस प्रकार भ्रम हो जाता है।[3] मनोभ्रान्ति में इन्द्रिय सम्पर्क आवश्यक नहीं है। अप्रासंगिक स्मृतियों के स्फुरण मात्र से ऐसी भ्रान्ति होती है।[4] मानसिक भ्रान्ति के इस सिद्धान्त को 'विपरीत ख्याति' या 'अन्यथा ख्याति' कहते हैं। जो मनोकल्पना के रूप में पहले से ही स्थित था वह विषय वस्तु के रूप में दिखाई

ज्ञानं तदुपादेयादि ज्ञान फलमिति, भाष्यकृतश्चेतासि स्थितिम् सुख साधनत्व ज्ञनमुपादेय ज्ञानम्। न्याय मंजरी, पृ० ६९-७०।

[1] इस प्रसंग में श्री उद्योतकर की 'न्याय वार्तिक' पृ० ३७ और श्री गंगेश रचित तत्वचिन्तामणि पृ० ४० देखिए। विविलिओथेका इन्डिका।

[2] इन्द्रियेणालोच्य मरीचिन उच्चावचमुच्चलतो निर्विकल्पेन गृहीत्वा पश्चात् तत्रोपघातदोपात विपर्य्येति, सविकल्पकोत्य प्रत्ययो भ्रान्तो जायते तस्माद्विज्ञानस्य व्यभिचारो नार्थस्य।

[3] न्याय मंजरी पृ० ८८।

[4] न्याय मंजरी पृ० ८९-१८४।

देने लगता है–"हृदये-परिस्फुरतोऽर्थस्य वहिरवभासनम् ।"[1] उत्तरकालीन वैशेषिक जिसकी श्री प्रशस्तपाद और श्रीधर ने व्याख्या की है, इस सम्बन्ध में न्याय से सहमत है कि 'भ्रम' (न्याय) अथवा 'विपर्यय' (वैशेषिक) की अवस्था में इन्द्रियों का संपर्क सदैव सही वस्तु से ही होता है परन्तु किसी अन्य के गुणों को उस वस्तु में स्थापित कर देने से यह भ्रम उत्पन्न होता है।[2] न्याय प्रत्यक्ष को 'निर्विकल्प' और सविकल्प इन दो भागों में विभाजित करता है जैसा पूर्व प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है। श्री वाचस्पति का कथन है कि पहली अवस्था में वस्तु का विशेष वस्तु के रूप में ज्ञान होता है अर्थात् उसके व्यक्तिगत रूप का बोध होता है। इस अविकल्प या निर्विकल्प अवस्था में उसके विशिष्ट गुण का ही बोध नहीं होता वरन् जाति आदि सार्वत्रिक सामान्य गुणों का भी बोध होता है, उसके रूप, रंग एवं रूपत्व आदि का एक दृष्टि से बोध हो जाता है, परन्तु बलपूर्वक यह कहने के लिए कि यह नारंगी है, सविकल्प अवस्था की आवश्यकता होती है जहाँ नामादि का विनिश्चयन होता है। अर्थात् प्रथम दृष्टि में सारे विषय का एक विहंगम अवलोकन हो जाता है पर वस्तु और उसके गुण का निश्चित सम्बन्ध, विशेष्य विशेषण सम्बन्ध का अवगाहन नहीं हो पाता 'जात्यादिस्वरूपावगाही न तु जात्यादी नाम्मिथो विशेषणाविशेष्य भावावगाहीति यावत् ।"[3] श्री वाचस्पति का मत है कि प्रथम अवस्था में जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन केवल विहंगम दृष्टि तक सीमित रहता है, न केवल बालक और मूक व्यक्ति इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उपलब्धि कर सकते हैं अपितु जन साधारण भी ऐसा कर सकते हैं क्योंकि सविकल्प अवस्था, जिसमें संस्कार युक्त विवेचन की आवश्यकता होती है प्रत्यक्ष बोध का दूसरा चरण है।[4] श्रीधर वैशेपिक मत की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति के उपर्युक्त मत से सहमत हैं। श्रीधर के मत के अनुसार प्रथम निर्विकल्प दर्शन में जात्यादि स्वभाव के साथ ही गुण आदि अन्तर भी दृष्टिगत होता है पर इस अवस्था में पहले देखे या जाने हुए विषय की स्मृति के न होने से भेदा भेद विवेचन नहीं हो पाता जो केवल तुलनात्मक 'आलोचना' से ही हो सकता है। अत: जो गुण, जाति आदि की प्रथम अवस्था में प्रत्यक्ष होता है उसका ज्ञानक्रम में निश्चित स्थान नहीं हो सकता जो विवेक द्वारा वस्तुओं के अन्तर के अनुसन्धान द्वारा ही सविकल्प अवस्था में होता है।[5] श्री वाचस्पति ने अपने मत में तुलनात्मक

---

[1] न्याय मंजरी पृ० १८४।

[2] न्याय कंदलि पृ० १७७-१८१ "शुक्ति संयुक्तेनेन्द्रियेण दोपासहकारिणा रजत संस्कार सचिवेन सादृश्यमनुरुन्धता शुक्ति का विपयों रजताध्यवसाय: कृत: ।

[3] तात्पर्य टीका पृ० ८२ और पृ० ६१। "प्रथममालोचितोर्थो: सामान्य विशेषवान ।"

[4] तात्पर्य टीका पृ० ८४ तस्माद्व्युत्पन्नस्यापि नामधेय स्मरणाय पूर्वमेपितव्यो, विनैव नाम ध्येयमर्थ प्रत्यय: ।

[5] 'न्याय कन्दली' पृ० १८६ 'अत: सविकल्पनिच्छता निर्विकल्पकमप्येपितव्यम तच्च न

आलोचना के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। 'सविकल्प' अवस्था में सुनिश्चित विशेषता विशेष्य सम्बन्ध और नाम आदि विनिश्चयन के पश्चात् स्पष्ट ज्ञान होता है, ऐसा कहा है। उत्तरकालीन न्याय लेखक, जो श्री गंगेश के मत को अधिक मान्य समझते हैं, इस सम्बन्ध में एक और व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्प अवस्था केवल वस्तु विशेष की विशेषता का ज्ञान है जो विशेष्य या विशेषण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। परन्तु इसका परीक्षण अनुभव से नहीं हो सकता। निर्विकल्प अवस्था प्रत्यक्ष बोध के क्रम में एक निश्चित युक्तिसंगत चरण है, यह कोई मनोवैज्ञानिक दशा नहीं है। परन्तु इस अवस्था को जिसे केवल युक्ति से ही जाना जाता है, सहज ही नहीं भुलाया जा सकता। किसी भी वस्तु का ज्ञान, उसके विशेषणों के पूर्व ज्ञान के अभाव में नहीं हो सकता। उसकी विशिष्टता का ज्ञान होना आवश्यक है जैसा कहा है—विशिष्टवैशिष्ट्य ज्ञानं प्रति हि विशेषणतावच्छेदक प्रकारमज्ञानं कारणम्।[1] इस प्रकार इस निश्चित निर्धारित ज्ञान के पूर्व कि यह गाय है एक अनिर्धारित अवस्था आती है, जिसमें अनिर्धारित असंबधित वैशिष्ट्य का ही ज्ञान होता है जो जाति आदि के बोध से पृथक् है—'यज्ज्ञानं जात्यादि रहितम् वैशिष्ट्यनवगाही निष्प्रकारकम् निर्विकल्पकम्।[2] लेकिन इस अवस्था की अनुभूति हमें भूत में नहीं हो पाती यह एक प्रकार से 'अतीन्द्रिय अवस्था है जो केवल तर्क या युक्ति से जानी जाती है। यह तर्क की प्रक्रिया में विशेषण विशेष्य को सम्बन्धित करने वाली प्रकृति है जो साध्य की कल्पना के साथ जुड़ी हुई है। अपनी पुस्तक न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि में श्री विश्वनाथ का कथन है कि 'वह ज्ञान बोध जिसमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता, प्रत्यक्ष मैं जानता हूं कि 'यह घड़ा है', इस स्वरूप में होता है। यहाँ बोध का सम्बन्ध जानने वाले के साथ है, घड़े के साथ है। फिर घड़े का सम्बन्ध घड़े पर (पात्रत्व) से है। यह पात्रत्व ही घड़े का वैशिष्ट्य है। यह पात्रत्व ही मुख्य विषय एवं घट की विशेषता ('विशेषणतावच्छेदक') है। घड़े का वैशिष्ट्य ही उसकी अन्तर्वस्तु है, उसके अभाव में हमें घड़ें का पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।[3] परन्तु घड़े के प्रत्यक्ष बोध के पूर्व निर्विकल्प अवस्था आवश्यक है, इसको हम अनुभूति में से नहीं देख पाते पर युक्ति से सहज ही समझ सकते हैं।

सामान्य मात्रम् गृह्णाति भेदस्यापि प्रतिभासनात् नापि स्वलक्षणमात्रम् सामान्याकारस्यापि संवेदनात् व्यक्त्योन्तरदर्शने प्रतिसंधानाच्च किन्तु सामान्यम् विशेषाञ्चोभयमपि गृह्णाति यदि परमिदम् सामान्यमयम विशेषः इत्येवम् विविच्य न प्रत्येति वस्तवन्तरानुसन्धानविरहम पिंडान्तरानुवृति ग्रहणाद्धि सामान्यम् विविच्यते, व्यावृत्ति ग्रहणादविशेषोयामिति विवेकात्।

[1] तत्व चिन्तामणि पृ० ८१२।

[2] तत्व चिन्तामणि पृ० ८०९।

[3] 'भाषा परिच्छेद कारिका' पर 'सिद्धान्त मुक्तावली' पृ० ५८ देखिए।

न्याय की नवीन और प्राचीन सभी शाखाओं ने सविकल्प प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है जिसको बौद्ध दर्शन नहीं मानता। न्याय के अनुसार द्रव्य वस्तु क्षणिक स्वभाव के नहीं होते। सभी द्रव्यों की अपनी-अपनी विशेपता है जिनके आधार पर उनकी जाति का निर्धारण होता है। यह तभी हो सकता है जबकि उनके गुणों का स्थायित्व हो। इस प्रकार वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर संचित जाति कल्पना मिथ्या नहीं हो सकती। बौद्ध मत इसके विपरीत है। उनका मत है कि 'सविकल्प' प्रत्यक्ष की भ्रान्ति का कारण यह है कि हम वस्तुओं में भ्रम के कारण 'जाति', 'गुण', 'किस्म', 'नाम' और 'द्रव्य' की कल्पना कर लेते हैं।[1] जाति और जिसकी जाति है, वह एक दूसरे से पृथक् वस्तु नहीं है, इसी प्रकार द्रव्य और गुण पृथक् न होकर एक ही अस्तित्व है, अतः किसी वस्तु के विशेपण की पृथक् से बात करना मिथ्या विचार है। इसी प्रकार गति और गति करने वाली वस्तु का कोई भेद नहीं किया जा सकता। यद्यपि नाम वस्तु से भिन्न होता है पर नाम से ही वस्तु जानी जाती है और उन दोनों की समरूपता है। पहले तीन आक्षेपों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध और न्याय वैशेपिक के प्रकृति रचना के दृष्टिकोण का अन्तर है। हम यह भली भाँति जानते हैं न्याय वैशेपिक जाति, गुण क्रिया को द्रव्य से भिन्न मानते हैं अतः वस्तु के विशिष्ट गुणों के रूप में उनकी आलोचना और उसके द्वारा सविकल्प अवस्था में बोध निर्धारण प्रक्रिया को अनुचित नहीं समझा जा सकता। चौथे आक्षेप के सम्बन्ध में श्री वाचस्पति का मत है कि किसी वस्तु को देख कर उसके सम्बन्ध में पूर्व स्मृति के उदय होने से और उस पूर्व संस्कार के आधार पर उस वस्तु के विनिश्चयन में कोई भ्रान्ति नहीं होती। यदि यह समझ लिया जाए कि नाम और वस्तु एक ही नहीं है अपितु नाम वस्तु के बाद ग्रहण किया जाता है तो फिर यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि पूर्व संस्कार के आधार पर यह ध्यान आ जाएगा कि इस प्रकार, गुण रूप वाली वस्तु ने इस प्रकार का नाम प्राप्त किया है और समरूपता होने से इस वस्तु का भी वही नाम होना चाहिए। लेकिन बौद्धों का एक और आक्षेप है कि ऐसा कोई कारण नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जिस वस्तु को इस समय देखा जाता है वह वही है जिसे पहले देखा था या उन दोनों की समरूपता है क्योंकि प्रत्यक्ष यह उद्देश्य ही नहीं है कि किसी प्रकार की समरूपता स्थापित की जाए। श्री वाचस्पति का कथन है कि स्मृति या पूर्व संस्कार के आधार पर प्रत्यक्षबोध का यदि यह उद्देश्य मान भी लिया जावे तो कोई हानि नहीं है क्योंकि जब इन्द्रिय सम्पर्क की मुख्य विपयवस्तु उपस्थित है

---

[1] न्याय मंजरी पृ० ९३-१०० पच चैते कल्पना भवन्ति-जातिकल्पना, गुण कल्पना, क्रिया कल्पना, नाम कल्पना, द्रव्य कल्पना चेति, तास्च क्वचित भेदेऽपि भेदकल्पनात्: क्वचिच्च भेदेप्य भेदकल्पनात् कल्पना उच्यते। धर्म कीर्ति की प्रत्यक्ष सिद्धान्त व्याख्या पृ० १५१-४ इस पुस्तक में भी ४०९-१० देखिए।

तो समरूपता का प्रत्यक्ष इसके फलस्वरूप ही मानना चाहिए। चाहे वह सहकारी कारण के रूप में ही हो। लेकिन बौद्ध पुनः आक्षेप करते हैं पूर्व अनुभव उस समय, स्थान और काल का अंग है, उस स्मृति को प्रस्तुत क्षण की अनुभूति के साथ जोड़ देना उचित नहीं प्रतीत होता। वाचस्पति का उत्तर विशेष सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि यह अन्त में उस सीधे प्रत्यक्षबोध के आधार की ओर संकेत करता है जिसे बौद्धों ने अमान्य समझा है।[1] अन्त में यह स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक सविकल्प प्रत्यक्ष को अमान्य नहीं समझते हैं और प्रत्यक्ष दर्शन की क्रमिक विकास की प्रक्रिया का बुद्धिसंगत विश्लेषण करते हैं। वेदान्त की भाँति वह यह भी नहीं मानते थे कि सही प्रत्यक्ष वह है जो पूर्व अर्जित ज्ञान का आश्रय न लेकर, जो बोध इन्द्रिय सम्पर्क से वर्तमान में होता है उसी को प्रस्तुत करे। न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञानोपलब्धि की विविधता का मूल कारण, कारण सामग्री की विविधता है।

न्याय के अनुसार मन (चित्त) छठी ज्ञानेन्द्रिय है। यह मन सुख, दुःख, राग, विराग और इच्छा के सम्पर्क में आता है। उत्तरकालीन न्याय लेखक तीन प्रकार के अन्य अतीन्द्रिय सम्पर्क का उल्लेख करते हैं (१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञान लक्षण, (३) योगज (अद्भुत)। सामान्य लक्षण के द्वारा जब हम किसी विशेष वस्तु के सम्पर्क में आते हैं तो हम 'अलौकिक' ढंग से उस जाति की सभी वस्तुओं से एक सामान्य संपर्क स्थापित कर लेते हैं। जैसे जब किसी एक स्थान पर धुआँ देखते हैं तो उसके माध्यम से धुएँ से सम्बन्धित सारे सार्वत्रिक जात्यादि गुणों के ध्यान के साथ ही, हमारी नेत्रेन्द्रिय सामान्यतया अलौकिक रूप में सारे ही धुएँ को दृष्टिगत कर लेती हैं। ज्ञान लक्षण के द्वारा हमको जब वस्तु विशेष के किसी गुण का एक इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान होता है तो हम अन्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष को स्वतः ही संलग्न कर लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हम चन्दन के काष्ठ खंड को देखते हैं तो हमारी दृष्टि केवल उसकी पीत आभा को देखती है परन्तु उसके साथ ही हम उसके गन्ध का भी प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते हैं यद्यपि हमारी घ्राणेन्द्रिय के सम्पर्क में वह श्रीकाष्ठ (चन्दन) नहीं आया है। यह अतीन्द्रिय संपर्क है जिसे ('अलौकिक सन्निकर्ष') नैयायिकों ने 'ज्ञान लक्षण' के नाम से वर्णित किया है। परन्तु जो ज्ञान इस प्रकार प्राप्त होता है उसे वे प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं।[2]

---

[1] 'तात्पर्य टीका' पृ० ८८-९५।

[2] 'कारिका' पर 'सिद्धान्त मुक्तावली' का मत देखिए पृ० ६३-६४ ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्री गंगेश ने 'न्याय सूत्र' में दी हुई 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा को अस्वीकार कर दिया। उनके मत से प्रत्यक्ष वह बोध है जिसे बुद्धि प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करती है। उनके मत से इन्द्रिय सम्पर्क की पुरानी परिभाषा से तर्क हानि होती है। यद्यपि वह ये मानते हैं कि इन्द्रिय सम्पर्क बुद्धि के द्वारा बोध का कारण है। वह

सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न हैं। ज्ञान कल्पना, बोध और प्रकाश का साधन है परन्तु सुख से किसी प्रकार का बोध नहीं होता। सत्य तो यह है कि सुख, दुःख का बोध भी ज्ञान के द्वारा होता है। सुख, दुःख स्वयं अपने आपको प्रकट करने वाले (स्वप्रकाशी) भी नहीं है। स्वयं ज्ञान भी इस संज्ञा में नहीं आता। यदि सुख स्वयं प्रकाशित होता तो वह सबको एक ही स्वरूप में दिखाई देता। परन्तु एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए सुख और अन्य के लिए दुःखमय होती है। तर्क के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि ज्ञान ही स्वयं सुख और दुःख के रूप में प्रकट होता है तो सुख और दुःख की अनुभूतियों में अन्तर आवश्यक है। अतः एक अवस्था में ज्ञान सुख के साथ और दूसरी में दुःख के साथ संलग्न था। जो वस्तु संलग्न है वह सुख-दुःख से भिन्न होनी चाहिए, अतः स्पष्ट है कि सुख और दुःख ज्ञान नहीं है। वास्तविक तथ्य यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों के संयोग से सुख और दुःख होता है जो स्मृति अथवा प्रत्यक्ष के रूप में प्रकट होता है। धर्म और अधर्म सुख और दुःख की उत्पत्ति में सहकारी कारण हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि योगियों को इन्द्रियों के परे दूरस्थ वस्तुओं और घटनाओं का प्रत्यक्षबोध सहज ही हो जाता है। ध्यान के द्वारा वह इस शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। वह चित्त को एकाग्र कर सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं और भविष्य की गतिविधियों को देख लेने में समर्थ होते हैं। यह एक प्रकार की विशिष्ट अन्तर्दृष्टि है। यह 'प्रतिभान ज्ञान' कहलाता है। यह मन का प्रत्यक्ष बोध है। परन्तु यह मानस प्रत्यक्ष से भिन्न है। मानस-प्रत्यक्ष में हम पूर्व प्रत्यक्ष की स्मृति के आधार पर किसी वस्तु के वर्तमान प्रत्यक्ष में पहले जाने हुए गुणों को प्रत्यक्ष देखने लगते हैं। जैसे गुलाब के फूल को देखने पर सुगन्ध का प्रत्यक्ष, सुगन्ध न सूंघते हुए भी पूर्व स्मृति के ही आधार पर होता है। पूर्व प्राप्त ज्ञान को स्मृति से पुनः जीवित कर वर्तमान के साथ नियोजित कर देना ही 'मानस प्रत्यक्ष' है। वेदान्तियों के मत से यह केवल 'अनुमान' की प्रक्रिया है। परन्तु भविष्य की घटनाओं को प्रत्यक्ष देखना 'प्रतिभा प्रत्यक्ष' कहलाता है।

जब किसी वस्तु का बोध होता है तो वह साधारणतया वस्तुनिष्ठ होता है। उदाहरण के लिए हमको बोध होता है—'यह एक घड़ा है।' पर फिर हम इसका सम्बन्ध अपने साथ करते हुए सोचते है—'मैं इसे जानता हूं।' इस दूसरी क्रिया में मन पुनः उस घड़े के पास लौटकर एक व्यक्तिनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। यह दूसरा आत्मबोध 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। सारा व्यावहारिक कार्य, इस 'अनुव्यवसाय' के आधार पर ही सम्पन्न होता है।[1]

सम्पर्क के छः भेद भी स्वीकार करते हैं जिनका वर्णन सर्वप्रथम श्री उद्योतकर ने किया है। तत्व चिन्तामणि पृ० ५३८-५४६।

[1] उत्तर न्याय का यह सिद्धान्त कि बोध के साथ आत्मनिष्ठ सम्पर्क दूसरे क्षण में होता

अनुमान

प्रमाण का दूसरा मुख्य साधन 'अनुमान' है। किसी वस्तु के 'लिंग' (विशिष्ट चिह्न) के आधार पर निश्चित मन्तव्य स्थापित करना ही 'अनुमान' है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत पर उठते हुए धुएँ को देखकर यह अनुमान होता है कि अग्नि के बिना धुआँ नहीं हो सकता। अतः पहाड़ी पर अग्नि होनी चाहिए। इस उदाहरण में धूम्र अग्नि का 'लिंग' अथवा 'हेतु' है। जिसके सम्बन्ध में मन्तव्य स्थापित किया जाता है वह 'पक्ष' होता है। यहाँ पर पहाड़ी पक्ष है। इसमें जो मन्तव्य स्थापित किया गया है (अर्थात् अग्नि) 'साध्य' है। सत्य 'अनुमान' के लिए 'पक्ष' में 'लिंग' का होना आवश्यक है, साथ ही 'पक्ष' से समता रखने वाली अन्य सब वस्तुओं में साध्य की स्थिति 'सपक्षसत्ता' (पक्ष की समरूप स्थिति में साध्य का होना) संभव होनी चाहिए। 'लिंग' साध्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में नहीं होना चाहिए अर्थात् जहाँ 'साध्य' की स्थिति नहीं है वहाँ 'लिंग' नहीं पाया जाना चाहिए। न्याय के शब्दों में 'विपक्ष व्यावृति' (विपक्ष में स्थिति) नहीं होनी चाहिए। 'विपक्ष' वह है जिसमें साध्य नहीं है। जहाँ साध्य नहीं वहाँ 'लिंग' भी नहीं होना चाहिए। 'अनुमान' के आधार पर जो मन्तव्य स्थापित किया जाए वह ऐसा होना चाहिए कि वह 'प्रत्यक्ष' से अप्रमाणित न हो। अनुमान 'शास्त्र' के विरुद्ध भी नहीं होना चाहिए—इसको 'अबाधित विषयत्व' होना चाहिए। 'लिंग' ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिससे विपक्ष के मत की पुष्टि में भी निष्कर्ष निकलता हो, अर्थात् 'असत् प्रतिपक्ष' वाला हेतु नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त उपाधियों में एक की भी कमी होने पर वह हेतु अनुमान प्रमाण द्वारा सत्य का विनिश्चयन करने में समर्थ नहीं हो सकेगा और इस प्रकार 'हेत्वाभास' उत्पन्न हो जाएगा। 'हेत्वाभास' का अर्थ है—हेतु का मिथ्या आभास, जो वास्तव में हेतु नहीं है उसको भ्रान्ति से हेतु मानना। इससे सही अनुमान पर नहीं पहुँचा जा सकता। उदाहरण के लिए यह 'अनुमान' कि 'ध्वनि या शब्द अनन्त है क्योंकि यह दिखाई देता है', असत्य है क्योंकि

है, प्रभाकर के 'त्रिपुटि प्रत्यक्ष' से भिन्न है। 'त्रिपुटि प्रत्यक्ष' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षबोध में, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का एक ही बोधात्मक क्षण में सामंजस्य होता है। श्री गंगेश के अनुसार 'व्यवसाय' (निर्धारक बोध) केवल वस्तु का बोध देता है। 'मैं इस वस्तु को जानता हूं' यह दूसरी प्रतिक्रिया है और 'व्यवसाय' के पीछे आने से 'अनु' 'व्यवसाय' कहलाती है–'इदमहं जानामीति व्यवसाये न भासते तदबोध केन्द्रिय सन्निकर्षा भावात् किन्त्विदम् विषयक ज्ञानत्व विशिष्टस्य ज्ञानस्य वैशिष्ट्य मात्मनि भासते, न च स्वप्रकाशे व्यवसाये तादृशम् स्वस्य वैशिष्ट्यम् भासितुमर्हति, पूर्वं विशेषणस्य तस्या ज्ञानात् तस्मादिदमहम् जानामीति न व्यवसायः किन्तु अनुव्यवसायः 'तत्वचिन्तामणि' पृ० ७६५।

स्थूल नेत्रों से दीखना (दृश्यता) ध्वनि का गुण नहीं है—यहां पक्ष का जो लिंग है ही नहीं उसके आधार पर अनुमान किया गया है अतः यह अप्रामाणिक है।[1] इस प्रकार के हेत्वाभास को 'असिद्ध-हेतु' कहते हैं। दूसरे प्रकार का हेत्वाभास 'विरुद्ध हेतु' है उदाहरण के लिए कहा जाए कि शब्द शाश्वत हैं क्योंकि इसकी उत्पत्ति होती है यहाँ यह हेतु 'उत्पत्ति होती है' साध्य के विपरीत पक्ष में 'विपक्ष' में पाया जाता है। विपरीत पक्ष है 'अशाश्वत' होना। यह सर्वविदित है कि जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं वे अशाश्वत हैं। एक अन्य हेत्वाभास 'अनैकान्तिक हेतु' है। जैसे, कहा जाए कि शब्द शाश्वत है क्योंकि यह ज्ञान की वस्तु है। ज्ञान की वस्तु होना 'प्रमेयत्व' यहाँ पर हेतु है परन्तु यह शाश्वत (साध्य) और अशाश्वत (जो साध्य नहीं है) उन दोनों में पाया जाता है अतः साध्य में यह हेतु एकान्तिक नहीं है। अर्थात् हेतु की सहव्याप्ति केवल साध्य में ही नहीं है यह हेतु 'अनेकान्तिक' है। चतुर्थ हेत्वाभास 'कालात्यया-पदिष्ट' है। अग्नि उष्ण नहीं है क्योंकि यह घड़े के समान ही मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाती है। यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव से स्पष्ट मालूम होता है कि अग्नि (उष्ण) होती है अतः हेतु दोषपूर्ण (सदोष) है। पाँचवा हेत्वाभास 'प्रकरणसम' है। इस हेत्वाभास में एक ही समय में दो विरोधी हेतु दो विरोधी अनुमान के लिए उपलब्ध होते हैं जैसे, ध्वनि घड़े के समान ही क्षणिक है क्योंकि इसमें कोई शाश्वत गुण नहीं पाए जाते हैं और ध्वनि आकाश के समान ही अनन्त, शाश्वत है क्योंकि आकाश में कोई अशाश्वत तत्व या गुण नहीं पाया जाता।

चार्वाक् आदि ने अनुमान को प्रमाण मानने में अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की थीं। उनके उत्तर में बौद्ध नैयायिकों का कथन है कि अनुमान के आधार पर जो तथ्य निरूपित किए जाते हैं वे प्रामाणिक हैं। अनुमान के आधार पर जो तर्क किया जाता है वह प्रकृति की दो प्रकार की एकरूपता के समवाय के अनुसार है—'तादात्म्य' (आवश्यक समरूपता) और 'तदुत्पत्ति' (कारण कार्य अनुक्रम)। 'तादात्म्य' वर्ग और जाति का सम्बन्ध है, यह कारण कार्य सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि सारे नीम वृक्ष हैं। क्योंकि यह नीम है अतः यह वृक्ष होना चाहिए। यहाँ वृक्ष और नीम जाति और वर्ग सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। जहां वृक्ष के जाति गुण और नीम के वर्ग गुण में तादात्म्य है। तदुत्पत्ति में कारण कार्य अनुक्रम की एकरूपता पाई जाती है जैसाकि अग्नि से धुएँ का सम्बन्ध।

---

[1] न्याय शब्द की अनन्तता में विश्वास नहीं रखता जैसाकि मीमांसा का मत है। मीमांसा के अनुसार ध्वनि या नाद अनन्त, कभी नष्ट न होना वाले अस्तित्व है जो विशेष अवस्था संयोग से प्रकट होता है। जैसे, कान के निकट वाद्य का वजना या गले की मांसपेशियों की गति होने से शब्द का प्रकट होना।

न्याय का मत है कि अनुमान तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध के कारण नहीं किया जाता। अनुमान प्रमाण की सत्यता का आधार लिंग (हेतु) का साध्य के साथ अपरिवर्तनीय सम्बन्ध है। यह 'नियम' ही प्रामाणिकता का कारण है जिसको पूर्व वर्णित पंच उपाधियों से और भी अधिक सुनिश्चित कर दिया गया है। वृक्ष और नीम में आवश्यक समरूपता के कारण यदि यह अनुमान किया जाता है कि क्योंकि यह नीम है इसलिए यह वृक्ष है तो इसी समरूपता के आधार पर (तादात्म्य के अनुसार) इसके विपरीत यह सत्य भी होना चाहिए कि क्योंकि यह वृक्ष है इसलिए यह नीम होना चाहिए। समरूपता दोनों पक्षों में समान होनी चाहिए। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि वृक्ष के लाक्षणिक गुण नीम में पाए जाते हैं परन्तु नीम के लाक्षणिक गुण वृक्ष में नहीं पाए जाते तो फिर यह तर्क समरूपता पर आधारित न होकर 'लिंगज' (लिंग को धारण करने वाला) के साथ लिंग के अपरिवर्तनीय सम्बन्ध पर निर्भर है जिसे 'नियम' की संज्ञा दी गई है। यह सिद्धान्त कारण-कार्य अनुमान एवं अन्य अनुमानों[1] की प्रक्रिया को उचित रूप से समझने में सहायक है। इस प्रकार प्रामाणिक अनुमान का आधार उपाधियों से रक्षित 'लिंग' का 'लिंगिन्' के साथ अविच्छेद 'व्याप्ति' सम्बन्ध है।[2]

कई स्थानों पर हमने यह अनुभव किया कि धूम्र (लिंग) अग्नि (लिंगिन्) के साथ पाया जाता है। अतः हमने यह धारणा बनाई कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है। जब हमने पर्वत पर धुआँ उठते देखा तो हमने धुएँ की अग्नि के साथ 'व्याप्ति' का स्मरण करते हुए यह अनुमान किया कि इस पर्वत पर अग्नि होनी चाहिए। पर्वत पर लिंग (धूम्र) को देखकर अग्नि के साथ इसकी सर्वदा व्याप्ति का स्मरण ('तृतीय लिंग परामर्श') ही अग्नि के अनुमान (अनुमिति) का कारण (अनुमिति कारण) है। धूम्र का अग्नि के साथ सम्बन्ध न्याय की भाषा में 'व्याप्ति' की संज्ञा से जाना जाता है। जब यह सम्बन्ध अन्य अवस्थाओं में या परिस्थितियों में अग्नि के साथ धूम्र की व्याप्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो इसे 'बहिर्व्याप्ति' कहते हैं। पर जब अन्य अवस्थाओं या परिस्थितियों को दृष्टिगत न करते हुए विश्वासपूर्वक:, स्थिति विशेष में धूम्र की व्याप्ति अग्नि के साथ बताई जाती है तो यह अन्तर्व्याप्ति सम्बन्ध कहा जाता है। बौद्ध दार्शनिक सामान्यतया आदि की कल्पना में विश्वास नहीं रखते, अतः वे अनुमान के लिए 'अन्तर्व्याप्ति' को ही प्रामाणिक मानते थे।[3]

---

[1] अनुमान पर 'न्याय मंजरी' देखिए।

[2] कारण कार्य अनुमान के अतिरिक्त अन्य अनुमान का उदाहरण इस प्रकार है—'सूर्य छिप गया है अतः तारे उदय हो गए होंगे।'

[3] सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स में श्री रत्नाकर शान्ति द्वारा लिखित 'अन्तर्व्याप्ति समर्थन' देखिए। बिबलि ओथेका इन्डिका १९१०।

अनुमान की प्रामाणिकता का आधार 'हेतु' की 'साध्य' में 'व्याप्ति' है। प्रश्न यह है कि व्याप्ति संबंध (व्याप्तिग्रह) की सत्यता और जिस अनुभव के आधार पर हमने व्याप्ति विशेष को सामान्य नियम माना है उसकी सत्यता का क्या प्रमाण है। दूसरे शब्दों में साध्य में जिस व्याप्ति का हमने उल्लेख किया है वह व्याप्ति है या नहीं या उस सम्बन्ध में भ्रान्ति है। पुनः व्याप्ति-नियम की स्थापना का आधार अनुभव और प्रेक्षण है। यह प्रेक्षण पर आधारित अनुभव कहाँ तक प्रामाणिक है यह भी निश्चय करना आवश्यक है। मीमांसा का मत है कि यदि ऐसा कोई उदाहरण हमारे प्रेक्षण में नहीं आया है जिसमें धूम्र है पर अग्नि नहीं है और जितने भी ज्ञात उदाहरण हैं उनमें धूम्र के साथ अग्नि देखी गई है तो फिर इस सिद्धान्त का निरूपण कर सकता है कि अग्नि में धूम्र की व्याप्ति पाई जाती है। न्याय का मत है कि यह नियम इतना यथेष्ट नहीं है। उपर्युक्त निरूपण के लिए यह भी आवश्यक है कि जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम्र कभी नहीं पाया गया इस तथ्य को भी प्रेक्षण से सिद्ध किया जाए। दूसरे शब्दों में, इतना ही आवश्यक नहीं है कि जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है पर यह भी सत्य होना चाहिए कि जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम्र भी नहीं है। पहली अवस्था 'अन्वय-व्याप्ति' और दूसरी स्थिति 'व्यतिरेक-व्याप्ति' है। लेकिन इतना भी पर्याप्त नहीं है। ऐसा भी संभव हो सकता है कि एकसी अवस्थाओं में जब-जब मैंने धुआँ देखा वहाँ गधा भी साथ ही देखा और अन्य एक सौ स्थितियों में गधा और धुआँ दोनों ही नहीं देखे, परन्तु इससे गधे और धुएँ में कारण-कार्य सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यह सम्भव हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने धूम्र को गर्दभ की अनुपस्थिति में नहीं देखा हो अथवा किसी गधे को बिना धुएँ की अनुवर्तिता के नहीं देखा हो। इस प्रसंग में आवश्यक तथ्य यह है कि जब कभी हमने गधे को उपस्थित किया हो तभी धुएँ की उत्पत्ति होती हो और अन्य सब परिस्थितियों के उसी प्रकार रहने पर जैसे गधे को हटाया हो और धुएँ का लोप हो गया हो तभी हम कह सकते हैं कि धूम्र और गधे में व्याप्ति-सम्बन्ध है।[1] ('यस्मिन् सति भवनं यतो विना न भवनम् इति भूयोदर्शनम्', न्याय मंजरी, पृ० १२२)।

यह भी सम्भव हो सकता है कि 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर हमने जिस हेतु को सत्य समझा हो वह सही नहीं हो और उसके साथ ऐसी अन्य उपाधि संलग्न हो जो वास्तविक रूप में हेतु हो। इस प्रकार हम यह जानते हैं कि गीले ईंधन में (आर्द्रेन्धन संयोग) अग्नि प्रज्वलित करने पर धुआँ होता है। पर हम यह सन्देह कर सकते हैं कि हरे ईंधन में अग्नि के कारण धुआँ नहीं होता। यह धुआँ तो किसी राक्षस या प्रेत द्वारा उत्पन्न किया जाता है। परन्तु ऐसे संदेहों का कोई अन्त नहीं है। यदि ऐसे

---

[1] 'अनुमान' और 'व्याप्तिग्रह' पर 'तात्पर्यटीका' ग्रन्थ देखिए।

निरर्थक संशयों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया तो हमारे सारे कार्यों और क्रिया-कलाप में व्यवधान (व्याघात) पड़ जावेगा।[1]

बौद्ध और नैयायिक व्याप्ति कल्पना (व्याप्तिग्रह) के स्वरूप और प्रकार के संबंध में लगभग एक मत थे परन्तु बौद्ध दृष्टि से व्याप्ति की प्रामाणिकता का आधार कारण कार्य सम्बन्ध और जाति, वर्ग की समरूपता है। नैयायिक का मत है कि कारण कार्य सम्बन्ध और इस समरूपता के अतिरिक्त भी अन्य अनेक अवस्थाएँ हैं जिनमें अनुमान के द्वारा सत्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उपर्युक्त व्याप्ति अनुमान प्रमाण के विशद क्षेत्र के कुछ प्रसंगों को ही प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए 'चन्द्रमा के उदय के साथ समुद्र में ज्वार आता है।' सत्व की समरूपता के विना भी प्रकृति के नियमों में एक विशेष प्रकार की व्याप्ति पाई जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी पाया जाता है कि अनेक विभिन्न कारणों से एक से ही प्रभाव की उत्पत्ति होती है। ऐसी अवस्था में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन से कारण से यह फल हुआ है। नैयायिकों का मत है कि यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाए तो एक कारण विशेष के फलस्वरूप उत्पन्न प्रमाण में अन्य कारण द्वारा उत्पन्न प्रभाव में सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। इसके लिए उस विशेष प्रभाव के विशिष्ट गुण लक्षणादि, वैशिष्ट्य और अन्य सहवर्ती परिस्थितियों को ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता है। किसी भी मार्ग पर निकटवर्ती नदी में जल के आधिक्य से अथवा भीषण वर्षा से बाढ़ आ सकती है। परन्तु सूक्ष्म दर्शन द्वारा उन दोनों प्रकार की बाढ़ का अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। वर्षा के कारण आई बाढ़ में आस पास के निवास स्थानों की अवस्था, छोटी-छोटी धाराओं में जल के एकत्रित होने का साक्ष्य, छप्परों से जल का झरना आदि सभी संकेत, कारण को स्पष्ट कर देंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्याय प्रकृति के नियमों की अपवादहीन एकरूपता के आधार पर अनुभवाश्रित आगमन को ही विश्वसनीय मानता है। बौद्ध केवल कारणता और सत्व समरूपता के सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं। अतः उत्तरकालीन न्याय ग्रन्थों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि हेतु के साथ कोई ऐसी उपाधि संश्लिष्ट नहीं होनी चाहिए जिससे मिथ्या व्याप्ति की भावना का जन्म हो। हेतु का साध्य के साथ अविच्छेद, अपरिवर्तनीय सम्बन्ध होना चाहिए तब ही व्याप्ति प्रामाणिक समझी जा सकती है। यह विश्वास केवल व्यापक अनुभव (भूयोदर्शन) के आधार पर ही सम्भव है। श्री प्रशस्तपाद अनुमान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "अनुमान लिंग के दर्शन से लिंग (धूम्र) के साथ सम्बन्धित वस्तु (अग्नि) का ज्ञान है।" प्रामाणिक लिंग वह है जो 'अनुमेय' (जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है) के साथ संयुक्त है, तो जहाँ-जहाँ 'अनुमेय'

---

[1] 'व्याप्तिग्रह' पर 'तात्पर्यटीका' और श्री गंगेश रचित 'तत्वचिंतामणि' देखिए।

पाया जाता है वहाँ अनिवार्य रूप से पाया जाता है और जहाँ अनुमेय नहीं है वहाँ किसी भी दशा में नहीं पाया जाता। यह परिभाषा न्याय के द्वारा वर्णित प्रामाणिक हेतु के 'पक्ष सत्व', 'समक्ष सत्व' एवं 'विपक्ष सत्व' की परिभाषा के समान है। प्रशस्त-पाद ने एक छन्द का उदाहरण देते हुए पुनः कहा है कि यह व्याख्या कणाद (काश्यप) की व्याख्या के अनुरूप है। कणाद कहते हैं कि हम कार्य से कारण का अनुमान कर सकते है, कारण से कार्य का, और एक दूसरे में सम्बन्धित होने की अवस्था में एक से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं, अनुक्रम व्याप्ति या इसके विपरीत भी अनुमान कर सकते हैं (ix, II, 1 और 3 i 9) हम हेतु से सहज ही अनुमान कर सकते है क्योंकि इसका अनुमेय से वैध, निश्चित ('प्रसिद्धिपूर्वकत्व') सम्बन्ध है। जिस स्थान पर यह निश्चित वैध सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ अनुमेय में या तो हेतु का अभाव होगा, या उसके साथ किसी प्रकार की व्याप्ति नहीं होनी चाहिए (अप्रसिद्ध) अथवा यह हेतु संदिग्ध होना चाहिए। संक्षेप में हेतु का अनुमेय से 'प्रसिद्धपूर्वकत्व' सम्बन्ध होना चाहिए। जहाँ यह सम्बन्ध नहीं है वहाँ हेतु का अनुमेय में अभाव, 'अप्रसिद्धि' अथवा 'संदिग्धता' होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि यह गधा घोड़ा है क्योंकि इसके सींग हैं, तो यह सदोष तर्क होगा क्योंकि घोड़ा और गधा दोनों के ही सींग नहीं होते। पुनः, यदि मैं यह कहूं कि यह गाय है क्योंकि इसके सींग है तो यह भी सदोष होगा क्योंकि गाय और सींग की सहव्याप्ति नहीं है। पहला हेत्वाभास पक्ष सत्व और 'सपक्ष सत्व' दोनों का उदाहरण है क्योंकि न केवल 'पक्ष' (गधों) के सीग नहीं पाए जाते पर घोड़े के भी सींग नहीं होते। दूसरा उदाहरण 'विपक्ष सत्व' का है, क्योंकि जो गाय नहीं है उनके भी सींग होते हैं (जैसे, भैंस)। इस प्रकार श्री प्रशस्त-पाद, कणाद के दृष्टिकोण को ही अनुमोदित करते हैं। परन्तु प्रशस्तपाद का यह भी मत है कि अनुमान केवल कणाद द्वारा वर्णित वर्गों तक ही सीमित नहीं है। इसके अन्य भी कितने ही प्रकार हैं। यह तो केवल थोड़े से दृष्टान्त मात्र हैं। वह अनुमान प्रमाण को दो भागों में विभाजित करता है–पहला 'दृष्ट' और दूसरा सामान्यतो दृष्ट 'दृष्ट' (देखी हुई वस्तु में समानता का साम्य) वहाँ होता है जहाँ पहले देखी हुई वस्तु और इस समय जिस वस्तु के सम्बन्ध में कोई अनुमान किया जा रहा हैं उसका वर्ग एक ही हो। दृष्ट वस्तु और अनुमेय के साम्य के आधार पर अनुमान उसी अवस्था में सत्य होगा जहाँ वर्ग में समानता हो। उदाहरण के लिए यह देखकर कि केवल गाय के गले में ही लटकता हुआ मांस का थैला-सा 'सास्ना' होता है, मैं जहाँ कहीं ऐसी सास्ना देखूं वहाँ यह अनुमान करूँ कि यह गाय है। परन्तु जब दो विभिन्न वर्ग की वस्तुओं में किसी एक से गुण (सामान्य गुण) के आधार पर कोई निष्कर्ष निकाल कर अनुमान किया जाता है तो यह 'सामान्यतो दृष्ट' कहलाता है। उदाहरण के लिए यह देख कर कि किसान अपनी मेहनत का फल अच्छी फसल के रूप में प्राप्त करता है,

यह अनुमान करना कि इसी प्रकार यज्ञादि पौरोहित्य कर्म करने का फल भी उत्तम पारितोषिक के रूप में प्राप्त होगा (अर्थात् उन्हें स्वर्ग सुख मिलेगा)।

जब किसी विद्वान् के द्वारा कोई निष्कर्ष निश्चित कर लिया जाता है तो वह 'स्वनिश्चितार्थ' ऐसे लोगों के लाभ के लिए जो अज्ञानी हैं अथवा संशय में पड़े हैं, पाँच तर्क-वाक्यों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार पंच तर्क-वाक्यों में प्रस्तुत निष्कर्ष 'परार्थानुमान' कहलाता है। 'स्वार्थानुमान' और 'परार्थानुमान' का भेद जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने किया था। प्रशस्तपाद यद्यपि इन दोनों में कोई विशिष्ट भेद नहीं मानते पर यह स्वीकार करते हैं कि जिस वस्तु का अनुमान किया गया है उसे दूसरे को समझाने के लिए पाँच तर्क-वाक्यों में प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में इसे परार्थनुमान कह सकते हैं। लेकिन यह प्रशस्तपाद का कहीं कोई नवीन अभिमत नहीं है। कणाद ने भी (६ २) इसका उल्लेख किया है (अस्येदम् कार्य कारण सम्बन्धश्चावयवाद् भवति)।

न्याय दर्शन के अनुसार उपर्युक्त पाँच आधार वाक्य 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'दृष्टान्त', 'उपनय' और 'निगमन' है। यही वैशेषिक में 'प्रतिज्ञा', 'अपदेश', निदर्शन', 'अनुसंधान' और 'प्रत्यामनाय' कहलाते हैं। कणाद केवल 'अपदेश' का ही उल्लेख करते हैं अन्य आधार वाक्यों का कहीं नाम नहीं देते। वैशेषिक दर्शन में 'प्रतिज्ञा' न्याय के समान ही है और 'निदर्शन' दृष्टान्त से मिलता-जुलता है। पर अन्तिम दो पद अनुसंधान और 'प्रत्याम्नाय' एकदम भिन्न है। निदर्शन के दो प्रकार हैं—(१) भाव में साम्य। उदाहरण के लिए 'जिसमें गति है वह द्रव्य है जैसा तीर के उदाहरण में पाया जाता है।' (२) अभाव में साम्य। उदाहरण—जो द्रव्य नहीं है उसमें गति नहीं है जैसे—विश्व आत्मा।'[1]

---

[1] डा० विद्याभूषण का कथन है कि दिङ्नाग के पूर्व 'उदाहरण' एक परिचित तथ्य के रूप में स्पष्टीकरण के हेतु प्रस्तुत किया जाता था। जैसे—पर्वत अग्निमय है क्योंकि वह धूमाच्छादित है, जैसे रसोई होती है (उदाहरण)। असंग ने इसको अधिक तर्क संगत बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु दिङ्नाग ने इसे सार्वत्रिक तर्क-वाक्य का रूप दे दिया जो मुख्य पद और मध्यम पद के बीच स्थायी सम्बन्ध को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए—'पर्वत अग्निमय है, क्योंकि उस पर धुआँ है, जहाँ धुआँ होता है वह रसोई के समान अग्निमय होता है।' (इन्डियन लोजिक पृ० ६५-६६) यह सत्य है कि वात्स्यायन ने इसको अस्पष्ट उदाहरण के तौर पर प्रयोग किया है—'रसोई की तरह' (शब्दः उत्पत्ति धर्मकत्वाद नित्यः स्थाल्यादिवत्) लेकिन प्रशस्तपाद ने इसको सही रूप में प्रस्तुत किया है। यह स्पष्ट नहीं है कि प्रशस्तपाद ने इसे दिङ्नाग से लिया है अथवा दिङ्नाग इस प्रसंग में प्रशस्तपाद का ऋणी है।

इस प्रकार प्रशस्तपाद ने पांच तर्क वाक्यों और दृष्टान्त-दोषों की व्याख्या की है। वैशेषिक के पिछले दो पद परंपरागत पदों से इतने भिन्नहैं कि सम्भवतः प्रशस्तपाद ने इन्हें किन्हीं अन्य वैशेषिक ग्रन्थ से लिया होगा जो अब लुप्त हो गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन में न्याय से अलग अनुमान की समस्या पर स्वतंत्र-रूपेण विचार किया जा रहा था। प्रोफेसर कीथ और श्चेरबात्स्की के इस मत में भी कोई सार नहीं दिखाई देता कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के इन विचारों और तर्कों को लिया है क्योंकि प्रशस्तपाद स्वयं इस सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर कणाद का उदाहरण देते हैं। इस प्रकार 'निदर्शन' (दृष्टान्त) दोष के सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रशस्तपाद दिङ्नाग का ऋणी है जब तक यह सिद्ध नहीं कर दिया जाए कि दिङ्नाग निश्चित रूप से प्रशस्तपाद से पूर्व उत्पन्न हुए थे।[1] अनुमान में सबसे मुख्य भाग व्याप्ति के अस्तित्व और स्वरूप का विनिश्चयन है। वात्स्यायन का कथन है कि लिंग को देखकर हेतु (लिंग) और साध्य के सम्बन्ध के पूर्व ज्ञान की स्मृति का अनुमान किया जाता है। उद्योतकर शंका करते हैं कि वर्तमान में हेतु को देखकर अनुमान किया जाता है अथवा अनुमान का आधार साध्य और हेतु के सम्बन्ध की पूर्व स्मृति है। वात्स्यायन का उत्तर है कि दोनों ही अनुमान स्थापित करने में सहायता देते हैं किन्तु तुरन्त अनुमान तक पहुँचाने वाला 'लिंग' 'परामर्श' है। 'लिंगपरामर्श' का अर्थ 'पक्ष' में हेतु का एतत्कालीन दर्शन और फिर साध्य के साथ उस हेतु के सम्बन्ध की स्मृति है। अनुमान हेतु-सम्बन्ध की पूर्व-स्मृति मात्र से सम्भव नहीं होता। इसके लिए हेतु का (विनिश्चयन) निरूपण और उसके साध्य-सम्बन्ध की पूर्व स्मृति, दोनों आवश्यक हैं— 'स्मृत्यानुगृहीतो लिंग परामर्शः।' परन्तु व्याप्ति के स्वरूपादि के विषय में श्रीवात्स्यायन ने कोई चर्चा नहीं की है।

'तादात्म्य' और 'तदुत्पत्ति' का सिद्धान्त सम्भवतः बौद्ध दर्शन में धर्मकीर्ति ने पचलित किया होगा। धर्मकीर्ति का कथन है कि हेतु और साध्य में सम्बन्ध का मुख्य आधार यह है कि हेतु सत्वरूपेण या तो साध्य से समरूप होना चाहिए अथवा साध्य का प्रभाव (फल) होना चाहिए। जब तक इस तथ्य को नहीं समझा जाएगा तब तक भाव व अभाव के उदाहरण एकत्र करने से इस सम्बन्ध के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।[2] वाचस्पति इस मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि कारण-कार्य सम्बन्ध को इस दृष्टि से भिन्न रूप में नहीं देखा जा सकता। यदि 'कारणता' (कारणवादिता) का यही अर्थ है कि यह अपरिवर्तनीय तात्कालिक पूर्ववर्तिता है जैसे धुएँ के पूर्व अग्नि की पूर्ववर्तिता तो यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक अवस्था में धुआँ अग्नि के ही

---

[1] न्याय कंदली पृ० २००-२५५ और प्रशस्तपाद भाष्य।

[2] कार्य कारण भावद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् अविनाभावनियमो दर्शनान्न-ना दर्शनात्। तात्पर्य टीका, पृ० १०५।

कारण उत्पन्न हुआ था, और यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ था। जब तक यह निश्चित नहीं कर लिया जाता कि कोई अदृष्ट कारण नहीं है तब तक यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि धुआँ अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है। यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि कारणता का विनिश्चयन हो सकता है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि कार्य-कारण के साथ हुआ है, क्योंकि कारण सदैव कार्य से पूर्ववर्ती होता है। अग्नि के पश्चात् धूम्र दिखाई देता है अतः धूम्र को देखकर यही अनुमान लगाया जाएगा कि अग्नि पहले प्रज्वलित हुई होगी फिर धुआँ निकला होगा। इसके अतिरिक्त ऐसी कितनी ही घटनाएँ होती हैं जिनके सम्बन्ध में एक घटना से दूसरी घटना का अनुमान किया जा सकता है परन्तु उनमें न तो कारण-कार्य-सम्बन्ध होता है, न उनमें सत्य की समरूपता होती है अर्थात् किसी प्रकार का अन्तर्निहित साम्य नहीं होता है। उदाहरण के लिए आज के सूर्योदय के समय से कल के सूर्योदय के समय का अनुमान किया जा सकता है परन्तु यह धर्मकीर्ति के द्वारा निरूपित किसी विषय के अन्तर्गत नहीं आता। पुनः 'तादात्म्य' (समरूपता) के आधार पर किसी प्रकार का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक वस्तु से दूसरी वस्तु का अनुमान (नीम और वृक्ष) किया जाता है, परन्तु यदि दोनों में तादात्म्य (समरूपता एक ही होना) है तो फिर एक से दूसरे में अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार व्याप्ति के स्वरूप को 'तादात्म्य' अथवा 'तदुत्पत्ति' से निरूपित करना कठिन है। एक शंका यह भी की जाती है कि कुछ ऐसी अज्ञात परिस्थितियाँ या उपाधियाँ हो सकती हैं जिनके फलस्वरूप अनुमान की प्रामाणिकता में अन्तर आ जाए। श्री वाचस्पति का मत है कि यदि सूक्ष्म निरीक्षण और प्रेक्षण से किसी ऐसी 'उपाधि' का पता नहीं चलता तो यह मान लेना चाहिए कि ऐसा कोई दोष नहीं है और लिंग का साध्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है।

उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों ने कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए 'पंचकारणी' सिद्धान्त को अपनाया था। कारण सम्बन्ध प्रकट करने वाली पाँच उपाधियाँ इस प्रकार हैं–(१) न तो कारण ही दिखाई देता है और न कार्य ही दिखाई देता है अर्थात् कारण-कार्य दोनों का ही बोध नहीं होता (२) कारण स्पष्ट दिखाई देता हैं (३) तत्काल फल दिखाई देता है (४) कारण का लोप हो जाता है (५) तत्काल प्रभाव या फल का लोप हो जाता है। न्याय का मत है कि इस पंचकारणी-सिद्धान्त के आश्रय से भी कारण-कार्य-सम्बन्ध का सभी अवस्थाओं में निश्चित रूप से बिना किसी अपवाद के निश्चय करना सम्भव नहीं है तो फिर यह अधिक उचित होगा कि अनुमान को कारण-कार्य-सम्बन्ध की सीमाओं में न बांधकर जो स्वाभाविक सम्बन्ध है उसी के आधार पर अध्ययन किया जाए।

प्रारंभिक न्याय-ग्रन्थों में अनुमान तीन प्रकार के बताए गए हैं–(१) 'पूर्ववत्' कारण से कार्य (फल) का अनुमान है। जैसे काले घने बादलों को देखकर वर्षा का

अनुमान, (२) 'शेषवत्' कार्य अथवा फल के कारण का अनुमान है जैसे नदी में विशेष जल की वृद्धि और बाढ़ से उसके ऊपरी क्षेत्र में वर्षा का अनुमान। (३) सामान्यतोदृष्ट, जहाँ प्रत्यक्ष कारण-कार्य-संबंध नहीं पाया जाता है, उन सब अन्य अवस्थाओं में अनुमान को सामान्यतोदृष्ट-अनुमान कहते हैं। इन तीन प्रकार के अनुमानों के अतिरिक्त 'न्याय-मंजरी' एक और प्रकार के अनुमान 'परिशेषमान' का उल्लेख करती है। यह हास्यास्पद निष्कर्ष पर पहुँचने का नाम है। इसमें किसी भी वस्तु के लिए कोई भी अन्य मत प्रकट कर दिया जाता है। जैसे चैतन्य आत्मा का गुण है क्योंकि चैतन्य शरीर के अन्य किसी अंग में नहीं पाया जाता क्योंकि चैतन्य अन्य और किसी वस्तु में नहीं पाया जाता अतः यह निश्चित रूप से आत्मा का गुण होना चाहिए। इन सब प्रकारों में एक समानता पाई जाती है कि सभी में साध्य का अनुमान व्याप्ति के आधार पर किया जाता है जिसे व्याप्ति-नियम कहते हैं। नव्य न्याय शाखा में अनुमान के तीन प्रकारों की विशेष व्याख्या की गई है। नव्य न्याय के अनुसार ये भेद इस प्रकार हैं: (१) अन्वयव्यतिरेकी (२) केवलान्वयी (३) केवलव्यतिरेकी। 'अन्वय-व्यतिरेकी' उसे कहते हैं जहाँ अनेक अवस्थाओं में प्रेक्षण के द्वारा भाव में और अभाव में व्याप्ति नियम की एकरूपता पाई जाए। दूसरे शब्दों में, जहाँ लिंग है वहाँ लिंगिन् (साध्य) की उपस्थिति है। जहाँ लिंगिन् नहीं हैं वहाँ लिंग नहीं है। उदाहरण के लिए जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है (अन्वय), जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम्र भी नहीं है (व्यतिरेक)। अनुमान स्वयं के लिए (स्वार्थानुमान) या दूसरों को विश्वास दिलाने के लिए (परार्थानुमान) हो सकता है। दूसरी अवस्था में अनुमान की असंदिग्ध स्पष्टता के लिए, इसे पाँच अंगों में (अवयवों) में विभाजित करना पड़ता है—

(१) प्रतिज्ञा (यथा—पर्वत अग्निमय है)।
(२) हेतु (यथा—क्योंकि पर्वत पर धुआँ है)।
(३) उदाहरण (जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई में)।
(४) उपनय (इस पर्वत पर धुआँ है)।
(५) निगमन (अतः यह पर्वत अग्निमान् है)।

केवलान्वयी वह अनुमान है जहाँ किसी अभाव के दृष्टान्त में व्याप्ति सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए इस वस्तु का नाम है क्योंकि वह वस्तु ज्ञेय है—'इदंवाच्यम् प्रमेयत्वात्।' ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ कोई वस्तु ज्ञेय (जिसको जाना जाता है) न हो। हम ऐसा कोई दृष्टान्त दे नहीं सकते जहाँ कोई वस्तु ज्ञान का विषय न हो अथवा जिसमें 'प्रमेयत्व' न हो और जिसका नाम (वाच्यत्व) न हो। अतः सिद्ध है कि जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ वाच्यत्व होगा। यहाँ व्याप्ति का आधार भाव में समानता है। तीसरा अनुमान 'केवल-व्यतिरेकी' है। केवल-व्यतिरेकी अनुमान 'व्यतिरेक' साम्य पर आधारित है अर्थात् इसमें व्याप्ति, अभाव की समानता पर आश्रित है। इसमें भाव-साम्य सम्भव नहीं है अर्थात् भाव-स्थिति में व्याप्ति नहीं होती। सरल शब्दों में, यह

कहना उचित होगा कि इस अनुमान में व्याप्ति का आश्रय अनुपस्थिति अथवा निषेधात्मक स्थिति में है। जो वस्तु-विशेष की एकाकी (केवली) स्थिति के कारण है, उस वस्तु का विशेष गुण अन्यथा नहीं पाया जाता। अतः 'व्यतिरेक' की स्थिति भी केवली है। उदाहरण के लिए—पृथ्वी तत्त्व अन्य तत्त्वों से गन्ध का विशेष गुण होने के कारण भिन्न है, क्योंकि जो अन्य तत्त्वों से भिन्न नहीं है वह पृथ्वी तत्त्व नहीं है जैसे जल। यहाँ यह स्पष्ट है कि व्याप्ति निषेधात्मक स्थिति में है इस प्रकार हमारे अनुमान के आधार का एक ही उदाहरण है कि "पृथ्वी अन्य तत्त्वों से भिन्न है क्योंकि इसमें पृथ्वी तत्त्व के विशिष्ट गुण है।" यह अनुमान केवल वहीं कार्य में लिया जा सकता है जहाँ हम, एकमात्र वस्तु के विशिष्ट गुण के आधार पर अनुमान करते हैं क्योंकि उस प्रकार का गुण और किसी में पाया ही नहीं जाता, इसीलिए यह केवल 'व्यतिरेकी' कहलाता है।

उपमान और शब्द

न्याय-दर्शन के अनुसार तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। वैशेषिक दर्शन इसको स्वीकार नहीं करता। जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नहीं है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहचानना ही उपमान है। किसी व्यक्ति से यह सुनकर कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु के समान होती है, उस वस्तु को पुनः देखने पर उसे पहले न जानते हुए भी, उपमेय के आधार पर उसकी 'वाच्यता' या नामादि को निश्चित करना उपमान है। जैसे किसी नगर-निवासी ने कभी किसी जंगली गाय को नहीं देखा है। वह वन में जाकर वहाँ के किसी अरण्यवासी से पूछता है कि जंगली गाय ('गवय') कैसी होती है। वह बताता है कि वह गाय के समान ही होती है। तत्पश्चात् 'गवय' को देख कर वह निश्चित करता है कि यही 'गवय' होना चाहिए। अज्ञात को ज्ञात के उदाहरण से जानना ही उपमान है। यदि वनपाल किसी 'गवय' को प्रत्यक्ष ही किसी नगर-निवासी को दिखा कर कहता कि यह गवय है तब भी वह आसानी से उसे जान लेता पर फिर यह उपमान प्रमाण न रह कर 'शब्द' प्रमाण बन जाता। नैयायिकों का दृष्टिकोण वस्तुवादी है अतः वह यह स्वीकार नहीं करते कि सादृश्य केवल विचार के आधार पर आत्मनिष्ठ रूप से स्थापित कर किसी वस्तु को जाना जा सकता है। उनका मत है कि किसी तत्समान वस्तु को देखकर व उसके सम्बन्ध में संकेत, वर्णन आदि सुनकर जानने की क्रिया एक भिन्न अंग है और यही उपमान प्रमाण है।[1]

---

[1] 'उपमान' पर 'न्याय मंजरी' का मनन कीजिए। पुराना न्याय-मत यह है कि वनपाल के द्वारा गवय का जो वर्णन किया जाता है और जिसको सुनकर अज्ञानी प्राणी को गवय रूप जानना सम्भव हो वही उपमान प्रमाण है। उसे प्रत्यक्ष देखकर जानना,

'शब्द-प्रमाण' अथवा साक्ष्य वह ज्ञान है जो हम विश्वसनीय, सत्यवक्ता, श्रद्धेय एवं सम्माननीय व्यक्तियों के कथन (शब्द) के द्वारा प्राप्त करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कथन निश्चित ही प्रमाण स्वरूप है। वेदों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रामाणिक है क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेद का महत्व इसलिए है कि वे 'ईश्वर' के द्वारा दिया हुआ सत्य ज्ञान हैं। वैशेषिक शब्द को स्वयं में (अलग से) प्रमाण नहीं मानता। शब्द की प्रामाणिकता का आधार वैशेषिक के अनुसार 'अनुमान' है क्योंकि हम किसी आप्त पुरुष के कथन को सत्य मान कर यह अनुमान करते हैं कि उसका साक्ष्य उस पुरुष की आप्तता के कारण प्रामाणिक होना चाहिए।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' का स्वरूप

भारतीय दर्शन में 'अभाव' की स्थिति पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अभाव की व्याख्या और तत्संबंधी विभिन्न दृष्टिकोण बड़े रोचक हैं पर सभी मतों को प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध मीमांसक श्री कुमारिल[1] का मत है किसी वस्तु की स्थिति के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण नहीं होने पर (सत्परिच्छेदकम्) हम

यह अवयव, उपमान के लिए आवश्यक नहीं है। जब प्रशस्तपाद ने यह विवेचन किया कि 'उपमान' को 'आप्त-वचन' के रूप में स्वीकार करना चाहिए तब सम्भवतः यही दृष्टिकोण रहा होगा। उद्योतकर और वाचस्पति का मत है कि वनपाल के वर्णन मात्र से 'गवय' नाम को गवय के साथ नहीं जोड़ा जाता, परन्तु इसके अतिरिक्त समानता का प्रत्यक्ष दर्शन भी इस ज्ञान का अंग है। अतः उपमान में सादृश्य एवं वनपाल द्वारा दिए हुए संकेत की स्मृति दोनों ही सम्मिलित हैं। वात्स्यायन का क्या मन्तव्य था यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु दिङ्नाग के अनुसार उपमान का अर्थ सादृश्य अथवा वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान है। यह निश्चित है कि उपमान का तात्पर्य किसी नवीन वस्तु के साथ संज्ञा (नाम) सम्बन्ध स्थापित करना है या सरल शब्दों में कहा जाए तो किसी नवीन वस्तु को पहचान कर उसका निश्चित नाम रखना ही उपमान है—'समाख्या सम्बन्ध प्रतिपत्तिरूपमानार्थः' वात्स्यायन। जयन्त का मत है कि सादृश्य (समानता) के आधार पर हम किसी वस्तु को पहचान कर उसे निश्चित नाम देते हैं अतः वनपाल के निर्देशन को प्रत्यक्ष कारण नहीं माना जा सकता अतः यह 'शब्द' की परिभाषा में नहीं आता। प्रशस्त-पाद और 'न्याय मंजरी' पृ० २२०-२२, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति और जयन्त का मत 'उपमान' के सम्बन्ध में देखिए।

[1] श्री कुमारिल का 'अभाव' के सम्बन्ध में मत श्लोक-वार्तिक (पृ० ४७३-४९२) में देखिए।

उसका बोध एक विशेष अन्त दृष्टि (मानम्) के द्वारा करते हैं। कुमारिल और उनके अनुयायियों का कथन है कि अभाव का बोध प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव में इन्द्रियों और वस्तु का कोई सम्पर्क ही नहीं होता। यह सत्य है कि घड़े के अभाव की स्थिति में जब हम भूमि को देखते हैं तो वहाँ हम भूमि को और घड़े के अभाव दोनों को देखते हैं और जब नेत्र बन्द कर लेते हैं तो दोनों ही नहीं दिखाई देते। अतः यह कहा जा सकता है कि जब हम भूमि का प्रत्यक्ष करते हैं तो साथ ही घड़े के अभाव का भी प्रत्यक्ष बोध करते हैं। परन्तु जब हम किसी घड़े के अभाव का बोध करते हैं, तो वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय-संपर्क के द्वारा न कर, घड़े की स्मृति के आधार पर करते है। हम भूमि को देखते हैं, साथ ही घड़े की स्मृति हमारे मन में है। उस स्मृति को आधार न मिलने पर हम अभाव की कल्पना करते हैं। जैसे किसी स्थान पर कोई व्यक्ति बैठा हुआ है। वहाँ पर शेर नहीं है। उसको शेर के भाव-अभाव की कोई कल्पना नहीं है। संध्या को कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि आपने प्रातः इस स्थान पर शेर तो नहीं देखा। तब वह विचार करता है और उस स्थान को पुनः देखे बिना ही शेर के अभाव की कल्पना कर लेता है। इस बोध में शेर के अभाव की स्मृति की भी कोई विशेष क्रिया नहीं है। इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि यह बोध 'अनुमान' प्रमाण से भी नहीं होता क्योंकि यहाँ किसी प्रकार की व्याप्ति नहीं पाई जाती। भूमि अथवा घड़े की अप्रत्यक्षता में किसी प्रकार का हेतु, लिंग आदि का भी प्रश्न नहीं उठता। घड़े की अप्रत्यक्षता का सम्बन्ध घड़े से है, घड़े के अभाव से नहीं है। घड़े के अभाव में और उसके न देखे जाने में किसी प्रकार की व्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता। अतः अभाव का ज्ञान-बोध एक स्वतंत्र प्रक्रिया है।

लेकिन न्याय का मत है कि घड़े के अभाव का प्रत्यक्ष कि घड़ा नहीं है, प्रत्यक्ष की एकात्मक दृष्टि से होता है जैसे घड़े की भाव-स्थिति भी ऐसी एकात्मक दृष्टि से जानी जाती है जिसमें स्थिति के सारे अंगों का समावेश। जब हमको यह बोध होता है कि घड़ा है तो हम घड़ा भूमि आदि सारी स्थिति एक ही दृष्टि से हृदयंगम कर लेते हैं। जब भाव के सम्बन्ध में यह दृष्टि है तो अभाव के सम्बन्ध में अन्यथा कहना उचित नहीं लगता कि इस दूसरी स्थिति में हम केवल भूमि का प्रत्यक्ष करते हैं, घड़े के भाव के अभाव का कोई प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष बोध के लिए इन्द्रिय-सम्पर्क का सिद्धान्त 'भाव' की स्थिति के ही लिए है। वस्तु के न होने से इन्द्रिय-सम्पर्क का प्रश्न नहीं उठता। अभाव कोई स्थूल वस्तु नहीं है। इस सम्बन्ध में एक आक्षेप यह हो सकता है कि यदि अभाव के लिए इन्द्रिय-सम्पर्क की कोई आवश्यकता नहीं है तो कोई भी व्यक्ति सहज ही दूरस्थ वस्तुओं के अभाव की कल्पना कर सकता है कि वे दूरस्थ वस्तुएँ, जिनको वह नहीं देख रहा है, है ही नहीं, उनका अभाव है। इसके समाधान में कहा जाता है कि अभाव के बोध के लिए यह आवश्यक है कि हम उस स्थान और स्थिति

को देखें। हम वस्तु और उसके गुण को भिन्न जानते हैं, लेकिन गुण वस्तु के साथ ही देखे जा सकते हैं। उसी तरह अभाव भी भाव के स्थान के बोध के माध्यम से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार न्याय के अनुसार 'अभाव' का बोध भी भाव के बोध के समान ही होता है। 'अभाव' केवल शून्य या रिक्तता मात्र नहीं है। अभाव एक ऐसी निश्चयात्मक स्थिति है जिसका आधार भाव की स्थिति है और इसी आधार पर हम 'अभाव' का निश्चयात्मक बोध प्राप्त करते हैं।

बौद्ध दार्शनिक 'अभाव' की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि हम अभाव को 'स्थान' व 'काल' के प्रसंग में देखते है जैसे यह वस्तु इस स्थान पर इस समय नहीं है। पर उस प्रकार की बोध-ग्राह्यता के होने पर भी हम अभाव का, 'स्थान' व 'काल' के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते। अभाव का इसके 'प्रतियोगी' के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। 'प्रतियोगी' का अर्थ उस वस्तु से है जिसका अभाव है जैसे घड़े के अभाव में घड़ा 'प्रतियोगी' है। उक्त सम्बन्ध न मानने का कारण यह है कि जब प्रतियोगी है तो अभाव नहीं है। जब अभाव है तो प्रतियोगी नहीं है। इनमें 'विरोध' सम्बन्ध भी नहीं समझा जा सकता क्योंकि उस अवस्था में अभाव की स्थिति पूर्ववर्ती होनी चाहिए थी जो घड़े के भाव का विरोध करती। परन्तु यह विरोध जिसका कोई प्रतिफल नहीं है समझ में नहीं आता। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या यह कोई वस्तु-विशेष है या ऐसा पदार्थ है जो उत्पन्न होता है, यह ज्ञात है या अज्ञात ? असत् है या सत् ? पहली अवस्था (विकल्प) में यह अन्य वस्तुओं के समान ही होगा जिनका निश्चित अस्तित्व है। दूसरे विकल्प में यह शाश्वत, चिरस्थायी, अनादि अनन्त होगा जिसका किसी अभाव से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु प्रत्यक्षबोध न होने के अथवा किसी वस्तु के दृष्टिगत न होने के (अनुपलब्धि) के कई प्रकार हैं। यथा—(१) स्वभावानुपलब्धि (स्वाभाविक अप्रत्यक्षता) उदाहरण के लिए घड़ा नहीं है, अतः वह दिखाई नहीं देता। (२) 'कारणानुपलब्धि' (कारण प्रत्यक्ष न होना) जैसे—यहाँ धुआँ नहीं है क्योंकि यहाँ अग्नि नहीं है। (३) 'व्यापकानुपलब्धि' (जाति के प्रत्यक्ष न होने से वर्ग के न होने का निष्कर्ष) जैसे यहाँ कोई वृक्ष नहीं है अतः किसी चीड़ के वृक्ष के होने का प्रश्न नहीं उठता। (४) 'कार्यानुपलब्धि' (प्रभाव या फल का प्रत्यक्ष न होना) जैसे यहाँ धुआँ होने के कोई कारण नहीं है क्योंकि यहाँ धुआँ ही नहीं है। (५) 'स्वभावविरुद्धोपलब्धि' (विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तुओं का प्रत्यक्ष) जैसे यहाँ ठंड नहीं है क्योंकि यहाँ अग्नि है। (६) 'विरुद्धकार्योपलब्धि' (विरोधी प्रभावों का दिखाई देना) जैसे धुएँ के कारण यहाँ शीतस्पर्श नहीं है। (७) 'विरुद्धव्याप्तोपलब्धि' (व्याप्ति में विरोध का प्रत्यक्ष) जैसे—यह आवश्यक नहीं है कि भूत सदैव नष्ट ही हो जाएँ क्योंकि वह अन्य कारणों पर निर्भर है। (८) 'कार्यविरुद्धोपलब्धि' (प्रभाव में विरोध) जैसे—यहाँ अग्नि होने से

शीत उत्पन्न करने वाले कारण नहीं हैं। (९) 'व्यापक-विरुद्धोपलब्धि' (व्यापक लिंग में विरोध) अग्नि के कारण यहाँ हिम नहीं है। (१०) 'कारण विरुद्धोपलब्धि' (कारणों का विरोधी होना) जैसे—शीत के कारण कम्प नहीं है क्योंकि वह अग्नि के समीप है। (११) 'कारण विरुद्ध कार्योपलब्धि' (विरोधी कारणों का अभाव या कार्य) शीत से कम्पित मनुष्यों की भीड़ इस स्थान पर नहीं है, क्योंकि यह स्थान धुएँ से भरा हुआ है।[1]

बौद्ध दर्शन पुनः व्याख्या करता है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हम उपर्युक्त प्रकार के अभाव का बातचीत में व्यवहार करते हैं, परन्तु इस वार्तालाप के अभाव की सिद्धि नहीं होती, अभाव के बोध का कोई हेतु ही नहीं है—(हेतुर्नभाव सम्विद)। हम केवल यह कह सकते हैं कि कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जो अभावात्मक विशेषणों के प्रयोग के लिए अधिक उपर्युक्त अथवा योग्य हैं। लेकिन यह 'योग्यता' निश्चयात्मक, सत्-पक्षीय (अस्तिपक्षीय) है। जिसको हम साधारण प्रयोग में अप्रत्यक्ष (दृष्टिगत न होना) कहते है वह किसी स्थिति का निश्चित प्रत्यक्ष बोध है। अभाव का बोध इस प्रकार अभाव की स्थिति को सिद्ध नहीं करता, केवल यह प्रकट करता है कि वस्तु विशेष के भाव को देखना अवस्था, काल, स्थान आदि के प्रसंग में सम्भव नहीं हो सका है। यह केवल यह सिद्ध करता है कि कुछ इस प्रकार के प्रत्यक्ष बोध होते हैं जो अभाव की संज्ञा से स्पष्ट किए जा सकते हैं। भूमि में निश्चित प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम यह कहते हैं कि वहाँ पर घड़े का अभाव है "अनुपलंभः अभावम् व्यवहारयति।"

न्याय इसके उत्तर में कहता है कि भाव का प्रत्यक्ष उतना ही वास्तविक है जितना कि अभाव का। यह नहीं कहा जा सकता कि भाव का ही प्रत्यक्ष सत्य है अभाव का सत्य नहीं है। यह कहा जाता है कि भूमि पर घड़े के 'अप्रत्यक्ष' का अर्थ घड़े के बिना भूमि का देखा जाना है। इस दृष्टि में घड़े के अभाव का कोई प्रश्न नहीं है। न्याय प्रश्न करता है कि यह घड़े का 'भाव' भूमि ही है अथवा अन्यथा कुछ है, यदि घड़ा और भूमि का तादात्म्य है, दोनों एक ही हैं, तो घड़ा भूमि ही है। तब घड़े के होने पर भी हम उसके होने की आशा कर सकते हैं। यदि भूमि से अन्य कुछ है तो केवल नाम के ऊपर ही विवाद है क्योंकि इसे किसी भी नाम से पुकारा जाए, यह एक निश्चित भिन्न वर्ग है। फिर चाहे आप इसे घटहीन भूमि कहें या घटता के अभाव वाली भूमि कहें, कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि यहाँ एक निश्चित भिन्न वर्ग को स्वीकार कर लिया गया है। अभाव का भी भाव के समान ही प्रत्यक्ष होता है। भाव के प्रत्यक्ष बोध में भी भिन्न-भिन्न रंग, रूप आदि दिखाई देते हैं उसी प्रकार जिन वस्तुओं का अभाव है उनका भी प्रत्यक्ष स्वरूप भिन्न-भिन्न है। स्थान, काल आदि का सम्बन्ध अभाव के

---

[1] 'न्यायबिन्दु' पृ० ११ एवं 'न्याय-मंजरी' पृ० ५३-७ देखिए।

प्रसंग में दिखाई देता है वह तो केवल 'विशेष्य-विशेषण' सम्बन्ध है। अभाव और 'प्रतियोगी' का सम्बन्ध विरोधात्मक है क्योंकि जहाँ एक है वहाँ दूसरा नहीं हो सकता। 'वैशेषिक सूत्र' (IX, १.६) में अभाव की व्याख्या उसी प्रकार की गई जैसी कि प्रसिद्धि मीमांसक श्री कुमारिल ने की है यद्यपि वैशेषिक भाष्यकर्त्ताओं ने इनकी टीका अन्यथा करने का प्रयत्न किया है।[1]

वैशेषिक चार प्रकार के अभावों का उल्लेख करता है-

(१) 'प्रागभाव'-वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है। उदाहरण के लिए घट के निर्माण के पूर्व घट का अभाव।

(२) 'ध्वंसाभाव'-किसी वस्तु विशेष के ध्वंस या नाश होने के कारण अभाव जैसे घड़े को लकड़ी से फोड़े जाने पर उसका अभाव।

(३) 'अन्योन्याभाव'-पारस्परिक अथवा एक में दूसरे का अभाव जैसे घोड़े में गाय का अभाव है, गाय में घोड़े का अभाव है।

(४) 'अत्यन्ताभाव'-सदैव रहने वाला अभाव उदाहरण के लिए घड़े का एक स्थान पर होने से, उसका अन्य स्थान पर अभाव नहीं मिट सकता अर्थात् अन्य स्थान पर उसका अभाव सदैव रहेगा।[2]

मोक्षाकांक्षियों के लिए तर्क का महत्व

सम्भवतः न्याय दर्शन का प्रादुर्भाव तर्क और शास्त्रार्थ के युग में हुआ होगा। इस दर्शन में न केवल तर्क का विशिष्ट निरूपण किया गया है वरन् तत्सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण एवं प्रयोग भी इसमें पाया जाता है। उदाहरण के लिए

---

[1] प्रशस्तपाद का कथन है कि जिस प्रकार प्रभाव या फल के होने से कारण के अस्तित्व को जाना जाता है उसी प्रकार फल न होना कारण के न होने का चिह्न है। श्रीधर इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि किसी भी इन्द्रिय-विषयक वस्तु का अप्रत्यक्ष उसके अभाव का लिंग है। पर इससे संतुष्ट न होकर उन्होंने पुनः कहा है कि अभाव का भी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष बोध होता है। (भाववद अभावोऽपीन्द्रियग्रहणयोग्य)। अभाव के साथ ही इन्द्रियों का सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है और यह सम्पर्क ही अभाव के प्रत्यक्ष बोध की कारण सामग्री है-'अभावेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि अभाव ग्रहण सामग्री।' न्याय कंदली, पृ० २२५-३०।

[2] अभाव के न्याय और तर्क में अनेक रूप कार्य एवं कोण है जिनका वर्णन यहां सम्भव नहीं है।

यहाँ 'तर्क', 'निर्णय', 'वाद', 'जल्प', 'वितंडा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति', 'निग्रह' और 'स्थान' अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है।

किसी भी विषय के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए विचार-विमर्श करना ही तर्क है। अतः किसी एक तथ्य को सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं वही तर्क है। जब कभी किसी विषय में 'संशय' होता है तो उस संशय को दूर करने के लिए बुद्धि की जो वैचारिक प्रतिक्रिया होती है, वह तर्क का प्रारम्भ है। संशय को नष्ट करने के लिए तर्क का आश्रय लेना पड़ता है। जब दो विरोधी दल अपने मत के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं तो प्रत्येक 'वाद' कहलाता है जब विरोधी अपने विपक्षी को हराने के लिए चुभने वाले एवं मर्मभेदी प्रत्युत्तर देते हैं तो वह 'जल्प' कहलाता है। 'वितण्डा' वह 'जल्प' है जिसमें अपने पक्ष को पुष्ट करने की चिन्ता न करते हुए विरोधी को हराने की दृष्टि से, कटु आक्षेप एवं खंडनात्मक आलोचना की जाती है। 'हेत्वाभास' में 'हेतु' (कारण) का भ्रम होता है, वास्तव में वह हेतु नहीं होता। न्याय में पांच प्रकार के 'हेत्वाभास' का उल्लेख किया गया है—(१) सव्यभिचार (अस्पष्ट व अनियत) (२) विरुद्ध (विरोधी) (३) प्रकरण सम (समानार्थक) (४) साध्य सम (अपुष्ट या असिद्ध हेतु) (५) कालातीत (असामयिक)। सव्यभिचार हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ एक ही हेतु से विरोधी निष्कर्ष निकलते हैं जैसे शब्द शाश्वत हैं क्योंकि यह परमाणुओं की भाँति ही अमूर्त है, जो शाश्वत हैं, या शब्द अशाश्वत हैं क्योंकि यह बोध-चेतना के समान ही क्षणिक हैं। 'विरुद्ध' हेत्वाभास वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ कारण साध्य विषय का विरोधी होता है—उदाहरण के लिए घड़ा शाश्वत हैं क्योंकि यह उत्पन्न होता है। 'प्रकरणसम' वहाँ होता है जहाँ कारण साध्य को दूसरे रूप में प्रस्तुत कर देता है। उदाहरणार्थ—शब्द अशाश्वत हैं क्योंकि इनमें शाश्वत गुण नहीं है। साध्यसम में स्वयं कारण को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है जैसे छाया पदार्थ है क्योंकि इसमें गति होती है। परन्तु यहाँ यह सिद्ध करना आवश्यक है कि छाया में गति होती है या नहीं। कालातीत वह मिथ्या दृष्टांत या तुलना है जो समयानुकूल नहीं है। जहां समय की दृष्टि से तुलना अप्रासंगिक होती है वहाँ कालातीत हेत्वाभास होता है, जैसे यह कहा जाए कि शब्द शाश्वत हैं क्योंकि यह वर्ण के समान सम्पर्क से उत्पन्न होता है जैसे वर्ण, प्रकाश और वस्तु के संघात से उत्पन्न होता है इसी प्रकार शब्द लकड़ी और ढोल के संघात से उत्पन्न होता है अतः शाश्वत है। इस उदाहरण में तर्क-दोष इस प्रकार है कि प्रकाश के पड़ते ही वर्ण दिखाई देता है। यह वर्ण पहले से ही स्थित था और प्रकाश के सम्पर्क से दिखाई देने लगा। उधर शब्द की स्थिति भिन्न है। शब्द लकड़ी के द्वारा ढोल पर आघात किए जाने से उत्पन्न होता है अतः यह इस आघात के कारण उत्पन्न वस्तु है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नाश होती है अतः यह अशाश्वत है। वर्ण के समान इसकी पूर्व स्थिति नहीं है।

उत्तर न्याय 'सव्यभिचार' के तीन भेदों का उल्लेख करता है। (१) 'साधारण' पर्वत अग्निमय है क्योंकि यह ज्ञान की वस्तु है, परन्तु झील जो अग्नि से विपरीत है वह भी ज्ञान का विषय है। (२) 'असाधारण' (अत्यन्त न्यून) शब्द शाश्वत है क्योंकि इसमें शब्द की प्रकृति है, यह कारण नहीं हो सकता क्योंकि शब्द की प्रकृति शब्दके अतिरिक्त और कहीं नहीं पाई जाती। (३) 'अनुपसंहारिन्' (अनुनय) प्रत्येक वस्तु अस्थायी है क्योंकि सभी वस्तुएँ ज्ञान का विषय हैं। इसमें हेत्वाभास इस अर्थ में है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, अतः इसके विपरीत निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

'सत्प्रतिपक्ष' वह हेत्वाभास है जिसमें हेतु या कारण विरोधी होने के कारणविरोधी निष्कर्ष निकलता है जैसे शब्द शाश्वत है क्योंकि यह सुनाई देता है शब्द अशाश्वत है क्योंकि यह फल मात्र है। 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास भी तीन प्रकार का होता है। (१) 'आश्रयासिद्ध' आकाश-कमल सुगन्धित है क्योंकि यह भी अन्य कमल पुष्पों के समान है। इस उदाहरण में स्पष्ट है कि आकाश-कमल नाम की कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। (२) 'स्वरूपासिद्ध' शब्द गुण है क्योंकि वह दिखाई देता है। परन्तु इस उदाहरण में भी स्पष्ट है कि शब्द दिखाई नहीं देता। (३) 'व्याप्यत्वासिद्ध' यह हेत्वाभास वहां होता है जहां हेतु और कार्य में व्याप्ति स्थिर एवं अपरिवर्तनीय नहीं होती, उदाहरण—पर्वत पर धुआं है क्योंकि वहां अग्नि है। लेकिन कभी-कभी अग्नि धूम्रहीन भी हो सकती है जैसे लोहे के अग्नि-तप्तपिंड (गोले) में, केवल हरी लकड़ियों के जलाने पर ही सदैव धुआँ होता है अतः केवल हरी लकड़ी की अग्नि में ही धुएँ की अपरिवर्तनीय व्याप्ति है।

'बाधित' वह दोष है जहां ऐसा तर्क उपस्थित किया जाए जो प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध हो। जैसे, अग्नि तापहीन है क्योंकि यह पदार्थ है।

वैशेषिक द्वारा वर्णित हेत्वाभास की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। न्याय-मत के विपरीत श्री प्रशस्तपाद 'उदाहरण' नाम के दोष का भी उल्लेख करते हैं। श्री दिङ्नाग भी दृष्टान्त-दोष को मानते हैं जैसे शब्द शाश्वत हैं क्योंकि यह निराकार है, जो निराकार है जैसे अणु वह शाश्वत है। इस उदाहरण में दृष्टान्त-दोष है क्योंकि अणु निराकार नहीं है। श्री धर्मकीर्ति 'पक्ष' के दोष को भी मानते थे। परन्तु न्याय का मत यह था कि यदि हेतु के दोष से मुक्त रहा जाए तो उचित अनुमान पर पहुँचा जा सकता है अन्य सब दोष केवल पिष्टपेषण मात्र हैं। 'छल' केवल जीतने के लिए विरोधी पक्ष के तर्क की टेढ़ी-मेढ़ी व्याख्या करने को कहते हैं। 'जाति' विरोधी को हराने की दृष्टि से उल्टे-सीधे, झूठे विषय बिन्दुओं को बीच-बीच में प्रस्तुत करना और कभी एक पक्षीय, कभी दूसरे पक्ष के झूठे निष्कर्षों को आधार बनाकर तर्क करने को

कहते हैं। 'निग्रहस्थान' तर्क में वह बिन्दु है जहाँ विरोधी मत के तर्क के विरोधाभास, दोष आदि को स्पष्ट कर यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया जाता है विरोधी पक्ष सारहीन हैं और इस प्रकार विरोधी पक्ष की हार व पक्ष की जीत का सबके समक्ष निर्णय करने के लिए अन्तिम तर्क प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'न्याय मंजरी' में श्री जयन्त यह स्पष्ट करते हैं कि सात्विक पक्ष की रक्षा और शिष्यों के सामने विद्वानों को हतप्रभ होने को रोकने के लिए ही तर्क की विशद जानकारी आवश्यक है। दंभी और उद्दंड व्यक्ति कई बार विद्वानों को अपमानित करने की दृष्टि से शास्त्रार्थ करते हैं। इससे वचने के लिए ; ी तर्क की सब गहनताओं और सूक्ष्मताओं को समझने की आवश्यकता है। अतः जो धार्मिक व्यक्ति मोक्ष की जिज्ञासा में रत हैं उन्हें भी चाहिए कि तर्क का अध्ययन करें जिससे शिष्यों की श्रद्धा और ज्ञान में व्यर्थ व्यवधान और संशय उत्पन्न न हों। अतः 'न्याय-सूत्र' में मोक्ष के साधनों में तर्क और न्याय को भी विशिष्ट स्थान दिया गया है।[1]

आत्मा का सिद्धान्त

'धूर्त' चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते थे। उनका मत था कि चेतना और प्राण भौतिक एवं शारीरिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। यह एक भौतिक प्रक्रिया मात्र है। अन्य चार्वाकों में सुशिक्षित चार्वाक मुख्य हैं। उनके अनुसार आत्मा का अस्तित्व शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। अर्थात् आत्मा का अस्तित्व तो है पर शरीर के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, बौद्ध भी आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। नैयायिक दर्शन के सभी सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष अनुभव या तज्जनित अनुमान की कसौटी पर कसते थे। उनका मत था कि सुख, दुःख, आनन्द, चेतना और संकल्प आदि शरीर के या इन्द्रियों के गुण नहीं हो सकते, अतः इनसे भिन्न कोई अन्य वस्तु होनी चाहिए जिसके कारण हमको इन सबकी अनुभूति व प्रेरणा होती है। न्याय के अनुसार आत्मा का अस्तित्व केवल स्वचेतना के ऊपर ही निर्भर नहीं हो सकता जैसा कि मीमांसा का मत है। क्योंकि कभी कभी वह आत्म-चेतना मिथ्या भी हो सकती है, जैसे हम यह कहते हैं कि मैं श्वेत या काला हूं। पर यह निश्चित है कि आत्मा का कोई वर्ण नहीं हो सकता। अतः यह चेतना असत्य है। परन्तु हम आत्मा के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक अनुमान कर सकते हैं कि सुख-दुःख अनुभूति आदि जिसके अंग हैं वही आत्मा होनी चाहिए। ये सुख-दुःख अनुभूति आदि अनेक संघातों के कारण आत्मा में उत्पन्न होते हैं। परन्तु स्वयं आत्मा

---

[1] न्याय-मंजरी' पृ० ५८६-६५६ और तार्किकरक्षा (वरदराज), निष्कंटक (मल्लिनाथ) पृ० १८५ से आगे देखिए।

की उत्पत्ति या विनाश का कभी अनुभन नहीं हो पाया है अतः आत्मा शाश्वत प्रतीत होती है। यह शरीर के किसी विशेष अंग में केन्द्रीभूत नहीं है, यह सर्वव्यापक है 'विभु' है। यह शरीर के साथ नहीं चलती परन्तु सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर में इसके द्वारा सारी क्रिया सम्पादित होती है जिनके द्वारा इसे पहचाना जाता है। यह स्वयं चेतनाहीन है परन्तु उचित संस्थितियों में यह चेतनामय हो जाती है।[1]

जन्म के समय बच्चे अपने मुख के आकृतिभाव से सुख-दुःख की हर्ष, विषाद आदि को प्रकट करते हैं। यह भावना पूर्वजन्म की स्मृति के फलस्वरूप ही होनी चाहिए क्योंकि सद्योजात बालक में इस जन्म की संवेदनाओं की अनुभूति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस जन्म में कोई दुःखी है और कोई सुखी है, कोई आनन्द उठाता है और कोई कष्ट। यह सब अन्तर क्यों है ? इसका एकमात्र समाधान भी यही है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही इस जन्म के सुखादि निर्धारित होते हैं। अपने अपने कर्म के अनुसार ही इस जन्म में भोग-व्यवस्था होती है। इस विश्व में प्राणी-प्राणी के भोगादि में जो इतना अन्तर पाया जाता है उसके लिए कर्म की कल्पना ही तर्क-संगत प्रतीत होती है। यह कहना उचित नहीं होगा कि यह केवल भाग्य की बात है, एक संयोग मात्र है।

ईश्वर और मोक्ष

सांख्य, जैन, बौद्ध आदि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। न्याय ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। अनुमान के आधार पर न्याय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए उपर्युक्त दर्शनों के नास्तिकवाद का खंडन करता है। न्याय ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान का प्रयोग करता है।

जैन और अन्य नास्तिक यह कहते हैं कि संसार में वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती रहती हैं, परन्तु यह सारा विश्व कभी एक साथ उत्पन्न हुआ हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। यह संपूर्ण संसार कभी एक साथ उत्पन्न ही नहीं हुआ अतः यह किसी ऐसे कार्य या प्रभाव के रूप में नहीं माना जा सकता जिसका कोई कारण होना चाहिए। इसके विरुद्ध न्याय का मत है कि अन्य कार्यों के समान यह संसार भी कार्य रूप है। पृथ्वीतल में अनेक अन्तर्भौमिक परिवर्तन, भूमि स्खलन आदि होते रहते हैं। इस विनाशकारी प्रक्रिया से संसार नष्ट-भ्रष्ट होता रहता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संसार भी उत्पत्ति और विनाश के क्रम का एक अंग है। यह शाश्वत

---

[1] 'ज्ञानसमवाय निबंधनमेवात्मनश्चेतयितृत्वम्' आदि। —न्याय मंजरी पृ० ४३२।

नहीं है। यदि नास्तिक यह भी स्वीकार न करें, तो मानना ही पड़ेगा कि यह विश्व एक विशेष व्यवस्था और नियम के अनुसार संचालित होता है। परन्तु वे फिर यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि मनुष्य के द्वारा उत्पादन के क्रम और पद्धति में, जैसे घड़े के उत्पादन में, और प्रकृति की व्यवस्था और नियम में अन्तर है। मनुष्य द्वारा उत्पादन के क्रम में किसी उत्पादक की कल्पना की जा सकती है पर विश्व के व्यवस्था-क्रम ('सन्निवेश विशिष्टता') से किसी रचयिता या उत्पादक का अनुमान नहीं किया जा सकता। न्याय का तर्क है कि विश्व की व्यवस्था, क्रम और नियम व स्रष्टा के अस्तित्व के सम्बन्ध में सामान्य रूप में व्याप्ति देखना चाहिए, न विशेष अवस्था में, क्योंकि विशिष्ट अवस्था में प्रत्येक दशा में ऐसी विशिष्टता होगी जो सदैव सामान्य परिस्थितियों से भिन्न होगी। जैसे रसोई में जो अग्नि है वह वन की अग्नि से भिन्न है–दोनों की अपनी विशिष्टता है, पर इस विशिष्टता की ओर ध्यान न देते हुए सामान्य रूप में प्रत्येक अवस्था में हम अग्नि और धुएँ की व्याप्ति देखते हैं। इसी आधार पर विशिष्टता के होते हुए भी हम विश्व-सन्निवेश से, व्यवस्था, नियमन आदि से स्रष्टा की कल्पना सहज ही कर सकते हैं। वृक्षों के सम्बन्ध में नास्तिकों द्वारा कहा जाता है कि हम उनको नित्य-प्रति उगते हुए देखते हैं परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका कोई स्रष्टा नहीं है। अतः इस अनुमान में संदेह का कोई कारण नहीं है कि इस सृष्टि का कोई स्रष्टा है क्योंकि यह कार्य रूप है, इसमें विशेष व्यवस्था व क्रम है और यह निश्चित नियमों के अनुसार संचालित होती है। जिस प्रकार एक कुम्हार घड़ों को उत्पन्न करता है और यह जानता है कि उनका क्या उद्देश्य है, वे किस काम के लिए हैं, इसी प्रकार परमात्मा विश्व के उद्देश्य और कार्य का ज्ञाता है, वह सर्वज्ञ है, वह प्रत्येक समय प्रत्येक वस्तु को जानता है, उसे किसी प्रकार की स्मृति की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा को सब कुछ प्रत्यक्ष है, उसे मन-इन्द्रियों आदि की आवश्यकता नहीं है। वह सदैव आनन्दमय है। उसकी अनन्त इच्छा से मनुष्य के कर्मानुसार, सृष्टि का आदि-अन्त, प्रलयादि होते हैं। वही कर्त्ता, धर्ता और विधाता है, उसकी इच्छानुसार ही मनुष्य अपने कर्मों का फल सृष्टि के भिन्न-भिन्न कर्मों में भोगते हैं। हमारी आत्मा अमूर्त और शरीरहीन है, पर वह इच्छा से शरीर में अनेक परिवर्तन कर, बाह्य संसार पर भी इसके क्रिया-कलाप में प्रभाव डालती है, उसी प्रकार 'ईश्वर' भी शरीरहीन होते हुए भी, अपनी इच्छा से संसार को उत्पन्न करता है। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर के साथ शरीर का सम्बन्ध होना ही चाहिए तो यह परमाणविक प्रकृति ही उसका शरीर मानना चाहिए। इस प्रकार उसकी इच्छा मात्र से परमाणु-प्रकृति में स्पन्दन की क्रिया होने लगती है जिसके द्वारा परिवर्तन होता रहता है।[1]

---

[1] 'न्याय मंजरी' पृ० १९०-२०४। इसके अतिरिक्त 'ईश्वरानुमान' शिरोमणि रचित और उदयन द्वारा लिखी 'कुसुमांजलि' देखिए।

अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही नैयायिक भी संसार को घोर दुःखमय समझते थे। उनके अनुसार संसार में दुःख ही दुःख है, थोड़ा-थोड़ा आनन्द जो कुछ दिखाई भी देता है, उससे दुःख की अनुभूति और भी अधिक मुखर हो जाती है। इस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए संसार में प्रत्येक वस्तु दुःखमय दिखाई देती है–'सर्वम् दुःखम् विवेकिनः।' अतः बुद्धिमान् लोग सांसारिक सुखों से विरक्त रहने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि इन सुखों से अन्ततः दुःख ही मिलता है।

सांसारिक बन्धन 'मिथ्याज्ञान' के कारण है जिसके कारण मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि आदि को ही अपना 'आपा' समझ बैठता है, इसी को वह अपनी आत्मा या अपना अहं समझकर ममता के बंधन में फँस जाता है। परन्तु जब सत्य-ज्ञान का उदय होता है, जब षट् पदार्थों, प्रमाण, प्रमेय (ज्ञान के विषय) आदि का ज्ञान होकर विवेक जागृत होता है, तो मिथ्या ज्ञान स्वयमेव नष्ट हो जाता है। मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने के लिए इसके विरोधी पक्ष का मनन करना चाहिए जिसे 'प्रतिपक्ष-भावना' के नाम से संबोधित किया है। यह वस्तुओं के यथार्थ रूप का मनन है। जब हमें किसी वस्तु का मोह अथवा कोई सुख की तृष्णा आकर्षित करे, तब हमें सोचना चाहिए कि यह सुख वास्तव में दुःख का मूल है, इस प्रकार सत्य-ज्ञान का उदय होगा हम उसके मोह से छूट जाएँगे। मोह, तृष्णा और अज्ञान से मुक्त होने का यही मार्ग है। मोह-तृष्णा के विनाश के साथ ही वासना-प्रवृत्ति का भी नाश स्वयंमेव हो जाता है। इससे पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है और उसके साथ ही दुःख से मुक्ति प्राप्त होती है। मिथ्याज्ञान और तृष्णा के अभाव से कर्मो के बन्धन में मनुष्य लिप्त नहीं होता अर्थात् उसके कर्म उसे किसी बन्धन में नहीं बाँधते। जन्म, मरण से मुक्त होकर आत्मा, शान्त, गुणातीत अवस्था को प्राप्त होती है जिसमें व्यक्ति वीतराग हो जाता है। न्याय वैशेषिक के अनुसार मुक्ति न तो पूर्ण ज्ञान की स्थिति है न पूर्णानन्द की। यह वह गुणातीत अवस्था है जिसमें आत्मा अपनी आदि पवित्र, निर्मल, विकारहीन अवस्था में स्थित हो जाती है। कभी-कभी दुःख विहीन अवस्था को अर्थ-क्रम से पूर्णानन्द की अवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है परन्तु न्याय के अनुसार यह वास्तव में आत्मा की वह निष्क्रिय शान्त अवस्था है जब यह अपनी विकारहीन नैसर्गिक पवित्रता को प्राप्त करती है जिसमें किसी प्रकार के ज्ञान, आनन्द, सुख-दुःख, संकल्प आदि का स्थान ही नहीं रह जाता है।[1]

—∞—

---

[1] न्याय-मंजरी, पृ० ४९९-५३३।

अध्याय ९

मीमांसा दर्शन

तुलनात्मक विवेचन

जीवन की दैनिक अनुभूतियों के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक का दृष्टिकोण युक्ति-संगत, व्यावहारिक और बौद्धिक है। सांख्य के समान इसका दृष्टिकोण एकात्मक नहीं है कि हमारे अनुभव और बुद्धि का आधार कोई आदि प्रकृति हैं। काल, आकाश, चतुर्भूत (चारों तत्व), आत्मा आदि सभी को इस दर्शन ने स्थूल वस्तुओं के रूप में माना है। द्रव्यों में पाए जाने वाले गुण भी अपना अलग अस्तित्व रखते हैं पर इनको वस्तुओं अथवा द्रव्यों के साथ ही देखा जा सकता है। कर्म स्वयं एक अस्तित्व है, और इसी प्रकार जाति या वर्गत्व का भी एक अपना अस्तित्व है परन्तु इसकी व्याप्ति स्थूल द्रव्यों में है। 'ज्ञान' जो सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है आत्मा का गुण है। अनेक कारणों के योग से कार्य हुआ करता है। जैसे प्रकृति में अन्य सब कार्य कारण-संयोग से होते हैं उसी प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति भी कारण-योग से हुआ करती है। जैसे अनेक निमित्त, उपादान आदि कारणों से घड़े की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार इन्द्रिय, बुद्धि, विषय, आत्मा आदि के सम्पर्क और संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्याय के अनुसार आत्मा तत्त्व में ज्ञान की व्याप्ति होती है। द्रव्य का गुण, कर्म, जाति में सम्बन्ध भी दार्शनिक दृष्टिक से एक अपना महत्व रखता है क्योंकि इसके अस्तित्व को स्वीकार किए बिना हम किसी सिद्धान्त को सम्पूर्ण दृष्टि से नहीं देख सकते हैं।

सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सारे पदार्थ तीन गुणों से युक्त अनन्त तत्त्वों से बने हैं। इन तत्वों के अनेक विध योग से विभिन्न पदार्थों का निर्माण होता है। गुण, द्रव्य, कर्म में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि ये विविध गुण-संयुक्त तत्त्वों के विभिन्न संयोग के ही रूप हैं। प्रकृति-तत्वों में, द्रव्य, ज्ञान, संवेदना, कामना आदि बीज रूप में विद्यमान हैं। मूल प्रकृति में भूत-तत्त्वों के अनेक योग, संनिवेश प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं जिनसे अनेक पदार्थों का निर्माण होता रहता है पर इस निर्माण की प्रक्रिया में कुछ भी नया नहीं है जो पूर्व से ही कारण-प्रकृति में विद्यमान नहीं था। कारण-प्रकृति बीज रूप में समस्त सृष्टि के कार्य-रूप को अपने में धारण करती है। ज्ञान एक प्रकाश-पुंज मात्र है—यह ऐसा तत्व है जो वस्तुओं को प्रकाशित करता है परन्तु यह अन्य द्रव्यों के समान

ही एक द्रव्य है। सांख्य के अनुसार चित्-तत्त्व शुद्धइन्द्रियातीत है। यह इन्द्रियातीत चेतन तत्त्व, मनस्तत्त्व के सम्पर्क में आकर उसको प्रकाशित करता है, यह चित् ही मनस्तत्त्व साथ मिल कर व्यक्तिगत अनुभूतियों और संवेदनाओं की सृष्टि करता है।

न्याय की दृष्टि से ऐसे शुद्ध चित् की कल्पना जीवन के साधारण अनुभव से परे है। यह हमारे दैनिक सामान्य ज्ञान के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार का कोई चित्-तत्त्व हो सकता है। सांख्य ने भी इस चिद्रूप पुरुष की कल्पना को साधारण ज्ञान और अनुभव से परे माना है। इसे इन्द्रियातीत कहा है। सांख्य के अनुसार यह वह शाश्वत तत्त्व है जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति, विकास और लय होते हैं। संसार के नियमन और 'ऋत' के मूल स्रोत के रूप में पुरुष को देखा गया है। पुरुष और प्रकृति की कल्पना में पुरुष को शाश्वत, अपरिवर्तनीय ऐसे शुद्ध चेतन तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, जो जड़-परिवर्तन, बुद्धि का आधार और प्रकाशक है।

न्याय को भी आत्मा को सिद्ध करने के लिए इस तर्क का सहारा लेना पड़ा है कि ज्ञान गुण रूप है। गुण किसी द्रव्य में ही रह सकता है। गुण की व्याप्ति के लिए किसी न किसी प्रकार के तत्त्व की आवश्यकता है। इस युक्ति का आधार एक अन्य मान्यता है कि द्रव्य और गुण दोनों अलग पदार्थ हैं। गुण की यह प्रकृति है कि उसकी व्याप्ति किसी द्रव्य में ही हो सकती है। ज्ञान भी एक गुण है और अन्य गुणों के समान ही इसकी व्याप्ति भी किसी द्रव्य में होनी चाहिए अतः यह युक्ति-सम्मत है कि ज्ञान के आधार के रूप में आत्मा को स्वीकार किया जाए। आश्चर्य यह है कि किसी भी दर्शन ने हमारी सामान्य आत्मचेतना के आधार पर जिस ज्ञान का प्रवाह चलता रहता है उसका विश्लेषण करने का प्रयत्न नहीं किया और न इस चेतना-प्रवाह के आधार पर किसी नतीजे पर पहुँचने का यत्न किया। संभवतः सांख्य चितत्त्व के विश्लेषण के आधार पर इस दृष्टिकोण के अधिक निकट पहुँचा है, परन्तु इसने भी ज्ञान और चेतना को ऐसा पृथक् रूप दे दिया है जो साधारण बुद्धि और अनुभव से युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जहाँ सांख्य ने सामान्य दैनिक जीवन के अनुभव को छोड़ केवल कल्पना के आधार पर अपने मत का विवेचन किया है वहाँ न्याय ने केवल कुछ तर्क अनुमान के आधार पर प्रस्तुत किए हैं। इन तर्कों को जिन मूलभूत मान्यता से प्रारंभ किया गया है उसका स्वयं का कोई निश्चित आधार नहीं है। द्रव्य और गुण पृथक् हैं और गुण का आधार द्रव्य है, यह ऐसी धारणा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है जिसकी कोई पूर्व परीक्षा नहीं की गई है। इसे सामान्य अनुभव के रूप में स्वीकार कर ज्ञान और आत्मा के व्याप्ति सम्बन्ध को सिद्ध किया गया है। ऐसे निर्बल आधार पर इतने बड़े सिद्धान्त का निर्माण इसके महत्व को कुछ कम कर देता है। आवश्यकता इस बात की भी है कि जिस बुद्धि और चेतना से सतत् स्वयंमेव ज्ञान उत्पन्न होता रहता है उसको अधिक महत्व दिया जाता। इसकी प्रक्रियाओं का विशेष रूप से

विश्लेषण और विवेचन किया जाता और इसकी सतत् दैनिक अनुभूति को प्रामाणिक मान कर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचा जाता। इस दिशा में सर्वप्रथमप्रयास मीमांसा दर्शन ने किया। मीमांसा-सूत्रों की रचना महर्षि जैमिनी ने की है। इसका भाष्य श्री शबर ने किया है। परन्तु मीमांसा दर्शन को क्रमबद्ध युक्ति-युक्त ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय कुमारिल को है जो प्रभाकर के गुरु और श्री शंकराचार्य के पूर्ववर्ती थे।

मीमांसा साहित्य

भारत के ब्राह्मणों में यज्ञादि द्वारा उपासना और पूजा की परम्परा किस प्रकार प्रचलित हुई यह अभी भी शोध का विषय है परन्तु यह निश्चित है कि कर्मकांडीय पूजा-विधियों का प्रचार उत्तरोतर बढ़ता ही गया। यज्ञ की सफलता कर्मकांड के यथा-विधि सम्पन्न करने पर निर्भर थी, अतः इस पर विशेष बल दिया जाने लगा। इन विधियों की विधिवत शिक्षा शिष्य लोग प्रारम्भ में मौखिक रूप से ग्रहण करते थे। शनैः शनैः इन विधियों को स्मृति में रखने के लिए लिपिबद्ध किया जाने लगा। इस प्रकार स्मृति-साहित्य का जन्म हुआ। विधि और कर्मकांड पर अनेक शंकाएँ और विवाद भी होने लगे क्योंकि विद्वान् याज्ञिक और अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार कर्मकांड की परम्पराओं की व्याख्या और निदेशन करने लगे। अतः यह आवश्यक हो गया कि विधियों की युक्तियुक्त मीमांसा की जाए। यहाँ से मीमांसा साहित्य का सूत्रपात हुआ। मीमांसा का अर्थ ही युक्तियुक्त बौद्धिक विश्लेषण है। यह भी सम्भव है कि उस समय मीमांसा की भी अनेक शाखाएँ रही होंगी पर उस समय का अधिकांश मीमांसा-साहित्य लुप्त हो गया है। इस समय मीमांसा-दर्शन का आधार महर्षि जैमिनी कृत मीमांसा-सूत्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक शाखा विशेष के मन्तव्य का विधिवत संकलन है क्योंकि इसमें अनेक अन्य मतों के उद्धरण और उनकी आलोचना प्राप्त होती है। ये अन्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। यह भी कहना कठिन है कि महर्षि जैमिनी के मीमांसा-सूत्रों में कितना अंश अन्य दर्शन-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है और कितना उनकी मौलिक रचना है। लेकिन ये मीमांसा-सूत्र इतने विद्वत्ता-पूर्ण और प्रभावशाली ढंग से लिखे गए हैं कि पिछले २००० वर्षों से ये मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। ये सूत्र सम्भवतः ईसा से २०० वर्ष पूर्व लिखे गए थे। अनेक विद्वानों ने इन सूत्रों पर भाष्य लिखे हैं। 'न्याय रत्नाकर' में 'श्लोकवार्तिक' के दसवें श्लोक में श्री भर्तृमित्र के भाष्य का प्रसंग आता है। इसी प्रकार श्री भवदास, हरि और उपवर्ष ने भी मीमांसा-सूत्रों पर जो भाष्य लिखे हैं उनका उल्लेख 'प्रतिज्ञासूत्र' (श्री भवदास) और 'शास्त्र-दीपिका' (हरि और उपवर्ष) में मिलता है। सबसे प्रसिद्ध भाष्य शबर-भाष्य है जिसके लेखक शबर थे। सम्भव है ऊपर के भाष्यों में कुछ शबर-भाष्य से पूर्व लिखे गए हों। शबर-भाष्य के समय के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ हैं।

डा० गंगानाथ का मत है कि सम्भवतः शबर ५७ ई० पू० के आस-पास हुए होंगे क्योंकि एक श्लोक में ऐसा उल्लेख किया गया है कि श्री विक्रमादित्य क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न शबर-स्वामी के पुत्र थे। उत्तरकालीन मीमांसा-दर्शन पर लिखे ग्रन्थों का मुख्य आधार शबर-भाष्य ही रहा है। शबर-भाष्य पर भी एक प्रसिद्ध टीका लिखी गई है जिसके लेखक अज्ञात हैं। श्री प्रभाकर ने इस विशिष्ट टीकाकार को 'वार्तिक कार' नाम से उद्धृत किया है और कुमारिल ने केवल 'यथाहुः' (जैसा वे कहते हैं) कह कर उल्लेख किया है। डा० गंगानाथ झा का मत है कि श्री प्रभाकर की 'बृहती' नामक टीका का आधार वार्तिककार की शबर-भाष्य टीका है। श्री शालिकनाथ मिश्र ने प्रभाकर की 'बृहती' पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम 'ऋजुविमला' है। मीमांसा-दर्शन पर श्री प्रभाकर की (व्याख्या) सूक्तियों के संकलन के रूप में श्री मिश्र ने एक और ग्रन्थ लिखा है जो प्रभाकर-पंचिका के नाम से जाना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रभाकर जो निबन्धकार के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनके मत को 'गुरुमत' के रूप में जाना जाता है, श्री कुमारिल के शिष्य थे। कुमारिल भट्ट शंकर के समकालीन थे। इनका जन्म शंकर से कुछ पूर्व हुआ था। शंकर का समय सन् ७८८ ईसवी निश्चित किया गया है। श्री कुमारिल ने शबर-भाष्य के ऊपर स्वतंत्र दृष्टि से विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं, जो तीन भागों में विभाजित हैं। शबर-भाष्य के प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में दर्शन-सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है जो 'तर्कपाद' कहलाता है। श्री कुमारिल की प्रथम टीका तर्कपाद पर लिखी गई है जो 'श्लोकवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका का दूसरा भाग 'तंत्रवार्तिक' कहलाता है जो शबर-भाष्य की प्रथम पुस्तक के अवशिष्ट अध्यायों और दूसरी व तीसरी पुस्तक पर लिखा गया है। टीका का तीसरा भाग 'टुप टीका' नाम से जाना जाता है जिसमें शबर-भाष्य के शेष नौ भागों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं।[1] श्री कुमारिल को उनके उत्तरवर्ती विद्वानों ने भट्ट, भट्टपाद और वार्तिककार आदि नामों से पुकारा है। कुमारिल के पश्चात् मीमांसा-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् श्री मंडन मिश्र ने 'विधि विवेक' एवं 'मीमांसानुक्रमणि' नामक ग्रन्थों की रचना की। इसके साथ ही उन्होंने 'तन्त्रवार्तिक' पर भी एक टीका लिखी। अपने जीवन के उत्तरकाल में ये आचार्य शंकर के शास्त्रार्थ में पराजित हुए और इस प्रकार वेदान्त के अनुयायी बन गए। परन्तु कुमारिल के पश्चात् अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने मीमांसा-दर्शन पर सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं। श्री कुमारिल के अनुयायियों में सबसे प्रसिद्ध नवीं शताब्दी में उत्पन्न श्री पार्थसारथी मिश्र हैं जिन्होंने 'शास्त्रदीपिका' 'तन्त्ररत्न' और 'न्याय-रत्नमाला' की रचना की है। श्री सुचरित मिश्र ने 'काशिका' और श्री सोमेश्वर ने 'न्याय-सुधा' नामक ग्रन्थ लिखे।

---

[1] 'सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स' में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने यह मत प्रकट किया है कि कुमारिल शंकर से सम्भवतः दो पीढ़ी पूर्व हुए थे।

अपना दर्शन बहुत थोड़ा है जिसका स्थान स्थान से ग्रहण करना भी अत्यन्त कठिन है। श्री शबर ने भी दर्शन सम्बन्धी व्याख्या बहुत कम की है। जो व्याख्या की भी है वह अस्पष्ट है। कुमारिल और प्रभाकर के उल्लेखों से ही हमको वार्तिककार के मत का पता चलता है। अतः मीमांसा दर्शन के लिए हमारा मुख्य स्रोत कुमारिल और प्रभाकर की ही रचनाएँ हैं क्योंकि उनके पश्चात् इस दर्शन पर जो भी ग्रन्थ लिखे गए हैं वे टीका-टिप्पणी के रूप में ही लिखे गए है। अँग्रेजी में भी श्री गंगानाथ झा के अतिरिक्त और भी किसी ने इस दर्शन पर कोई प्रामाणिक रचना नहीं की है। श्री झा ने 'प्रभाकर-मीमांसा' नामक जो ग्रन्थ लिखा है उससे इस अध्याय को लिखने में बड़ी सहायता मिली है।

न्याय का 'परतःप्रामाण्य' सिद्धान्त और मीमांसा का 'स्वतः-प्रामाण्य' सिद्धान्त

मीमांसा-दर्शन का मुख्य आधारस्तम्भ ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य सिद्धान्त है। ज्ञान अपने आप स्वयं सिद्ध है इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मीमांसा के अनुसार केवल स्मृति के लिए प्रमाण की आवश्यकता हो सकती है क्योंकि पूर्वप्रसंग को पूर्णतया याद रखने में कहीं भूल हो सकती है परन्तु इसके अतिरिक्त किसी भी ज्ञान के विषय को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान अपनी सत्यता का स्वयं ही सत्यापन करता है। इसके लिए किसी अन्य बाह्य परिस्थिति अथवा बाह्य ज्ञान का आश्रय आवश्यक नहीं है। न्याय का मत है कि ज्ञान को स्वतः-प्रामाण्य मानने के पहले इस पर विचार करने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि कुछ परिस्थिति विशेष में हमें किसी वस्तु का स्वतः ज्ञान होता है, पर यह कहना कहाँ तक युक्ति-संगत है कि इस ज्ञान की सत्यता का प्रमाण यह स्वयं ही है। उदाहरण के लिए दृष्टि-सम्पर्क के द्वारा हमें नीले रंग का बोध होता है। परन्तु यह दृष्टि-संपर्क यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह सत्य है क्योंकि दृष्टि-सम्पर्क का उस ज्ञान से जो उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर ज्ञान मन का विषय है, आत्मपरक है, यह वस्तुपरक दृष्टि से कैसे सिद्ध कर सकता है कि जिस वस्तु के सम्बन्ध में नीलेपन का बोध हुआ है वह वास्तव में नीली है। नीलिमा-बोध के पश्चात् ऐसा कोई अन्य प्रत्यक्ष बोध नहीं होता जिससे यह कहा जा सके कि जो वस्तु मैंने देखी है वह वस्तुनिष्ठ रूप में नीली ही है। इस प्रकार किसी प्रकार के अन्य प्रत्यक्ष से इसकी सत्यता का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। प्रत्यक्ष की क्रिया अथवा इन्द्रिय-सम्पर्क से जो मन में ज्ञान उत्पन्न होता है वह कितना सत्य है, कितना प्रामाणिक है, इसका कोई साक्ष्य उस ज्ञान में नहीं होता। यदि ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से प्रामाणिकता और सत्यता स्थापित हो जाती तो फिर भ्रान्ति मिथ्यात्व आदि का

प्रश्न ही नहीं उठता। हम-मृग-मरीचिका को देख कर भी उसके सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं करते। परन्तु वास्तव में अनेक बार हम यह प्रश्न करते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष कहाँ तक सत्य है ? प्रत्यक्ष को प्रामाणिक मानने के लिए हम भविष्य के व्यावहारिक अनुभव का आश्रय लेते हैं। अर्थात् जो प्रत्यक्ष व्यवहार में अनुभव से सिद्ध होता है उसे ही प्रामाणिक मानते हैं। फिर ज्ञान का प्रत्येक अंग कुछ कारण संस्थिति पर निर्भर करता है। पूर्ववर्ती कारण और परिस्थितियों के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति न [illegible] ज्ञान की सत्यता का अर्थ यह है कि उस ज्ञान के प्रकाश में जो कार्य ि[illegible] के द्वारा हम तदनुसार व्यावहारिक सफलता प्राप्त कर सकें। जो ज्ञान [illegible] नुभव से सत्य सिद्ध हो वही प्रामाणिक है। हम मृग-मरीचिका क[illegible] त इसलिए कहते हैं कि इस ज्ञान के आधार पर गति करने से जल की प्र[illegible] सकती। जिस ज्ञान से ज्ञाता को फल प्राप्ति हो वही प्रामाणिक है वही 'अर्थक्रियाज्ञान' या 'फलज्ञान' है। इस प्रकार ज्ञान 'स्वतः प्रामाण्य' नहीं है। इसकी सत्यता 'सम्वाद' के द्वारा प्रमाणित होती है। यहाँ सम्वाद का अर्थ व्यावहारिक अनुभव के आधार पर सत्यता का परीक्षण है। इस परीक्षण के फल से, यदि प्राप्त ज्ञान का सामंजस्य है तो ज्ञान का व्यवहार से 'सम्वाद' (मेल) स्थापित होता है, अन्यथा नहीं।[1]

न्याय का यह प्रतिवाद इस संकल्पना पर आधारित है कि ज्ञान निश्चित वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों और उपाधियों से संलग्न कारण-समूह द्वारा होता है। इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके परीक्षण के लिए अथवा उसकी वैधता जानने के लिए तथ्यों से उसका सामंजस्य ज्ञात करना पड़ता है। लेकिन ज्ञान-उत्पत्ति का यह सिद्धान्त केवल एक संकल्पना मात्र है, क्योंकि मनुष्य के अनुभव से ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता जिससे यह कहा जा सके कि ज्ञान किन्हीं पूर्ववर्ती कारण समूह से उत्पन्न होता है। हम किसी वस्तु पर दृष्टि डालते हैं और तत्काल हम स्थूल वस्तुओं के स्वरूप को और तथ्यों को हृदयंगम करते हैं, उनसे अवगत हो जाते हैं। या यह कहना चाहिए कि इन्द्रिय-सम्पर्क होते ही हमें एक वस्तुपरक चेतना हो उठती है। ज्ञान स्थूल जगत् के तथ्यों को प्रकाशित करता है, उनके बारे में हमें तत्काल विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो जाती है। परन्तु इससे यह कहना कि स्थूल जगत् हम में किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करता है, अनुभवसिद्ध नहीं है, अतः यह एक कल्पित धारणा मात्र है। केवल ज्ञान की ही यह शक्ति है कि वह अन्य सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है, स्पष्ट करता है। ज्ञान संसार के अन्य कार्यों के समान कोई कार्य-विशेष या घटना-विशेष नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि पदार्थों के बाह्य योग से (घटनाक्रम से) हमको ज्ञान-बोध होता है तब हम भ्रान्ति के कारण ऐसा कहते हैं। क्योंकि जड़-संयोग ज्ञान का प्रेरक नहीं हो

---

[1] 'न्याय मंजरी' पृ० १६०-१७३ देखिए।

सकता। ज्ञान प्रकृति की घटना अथवा वस्तुओं को मन पर चित्रित कर देता है, परन्तु किसी भी अनुभव के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि प्रकृति की किसी क्रिया अथवा घटना से हम में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान के सम्बन्ध में कारण-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञान प्रकृति के सभी जड़-व्यापारों से भिन्न और उच्चतर है क्योंकि यह इस जड़-व्यापार को प्रकाशित करता है, इस व्यापार की व्याख्या प्रस्तुत करता है जिससे हम उसको समझ सकें। पदार्थों में या वस्तुओं में किसी प्रकार की वैधता का प्रश्न नहीं उठता। सत्यता अथवा वैधता पदार्थों की न होकर ज्ञान की हुआ करती है। हम सत्य एवं प्रामाणिक शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिए करते हैं, न कि पदार्थ के लिए। जब हम कहते हैं कि यह ज्ञान वस्तुनिष्ठ अनुभव से सत्य प्रतीत होता है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि पूर्वज्ञान के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह ज्ञान-बोध सत्य हैं। पूर्वज्ञान से प्रस्तुत ज्ञान की तुलना कर उनके साम्य के आधार पर हम वैधता की बात कहते हैं। कोई भी तथ्य अथवा घटना हम तक सीधी नहीं पहुँच सकती हम उसको बोधात्मक रूप में ज्ञान के द्वारा ग्रहण करते हैं। उसका ज्ञान न होने पर हमारे लिए उसका कोई वास्तविक अस्तित्व ही नहीं रहता। उसका सत्यापन और वैधता ज्ञान पर निर्भर है, ज्ञान के अतिरिक्त उसकी किसी वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सत्य है कि समय-समय पर अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में हमें भिन्न-भिन्न प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता है पर यह ज्ञान वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। ज्ञान के बिना हम किसी भी पदार्थ को जानने में असमर्थ रहते है। ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को प्रकाशित करता है, कभी-कभी एक ही वस्तु के ज्ञान-बोध में अन्तर होता है। ऐसा क्यों होता है यह कहना कठिन है। अनुभव केवल यही सिद्ध करता है कि ज्ञान से प्रकृति के पदार्थों का बोध होता है, परन्तु ऐसा क्यों होता है यह हमारे अनुभव की गति से परे है। लेकिन किसी भी अवस्था में ज्ञान अपने अस्तित्व के लिए प्रकृति की किसी भी घटना अथवा वस्तु पर निर्भर नहीं है, इसके विपरीत ज्ञान के द्वारा ही सारा घटनाक्रम प्रकाशित होता है। यही ज्ञान का 'स्वतः प्रामाण्य' है। जैसे ही ज्ञान की 'उत्पत्ति' होती है, हमको वस्तु-बोध होता है। ज्ञान की उत्पत्ति और वस्तु-बोध के बीच में और कोई ऐसी कड़ी या अवस्था नहीं है जिसके ऊपर ज्ञान वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए आश्रित हो। ज्ञान न केवल स्वतन्त्र रूप से उदय होता है पर यह अपने कार्य-क्षेत्र में भी स्वतन्त्र है जैसा कहा है "स्वकार्यकरणे स्वतः प्रामाण्यं ज्ञानस्य।" जब कभी किसी प्रकार के ज्ञान का उदय होता है, हम उसको सत्य मान कर तदनुसार 'प्रवृत्ति' करते हैं। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है हमारे मन में इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता, हम इसे प्रामाणिक मानते हैं। ज्ञान का उदय, वस्तु-बोध, वस्तु-स्थिति और बोधानुकूल प्रवृत्ति के निश्चयात्मक मन्तव्य के साथ ही होता है। परन्तु जब हमारा वस्तु-बोध भ्रान्तिमय होता है, तो उसके पश्चात् इस

संज्ञान का उदय होता है कि हमारा पहला बोध सम्भवतः सत्य नहीं था। इस प्रकार यह सम्भव है कि ज्ञान के उदय के पश्चात् हमारे अनुभव या अन्य प्रत्यक्ष से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हमारा पहला ज्ञान सत्य नहीं था, परन्तु जब तत्संबंधी ज्ञान पहली बार उदय होता है तो हम उसे सत्य और प्रामाणिक मानते हैं और उसी की प्रेरणा के अनुसार कर्म करते हैं। मीमांसा का स्पष्ट मंतव्य यही है कि ज्ञान का उदय इसकी प्रामाणिकता और सत्यता के समावेश के साथ होता है। यह हो सकता है कि फिर अन्य तथ्यों अथवा अनुभवों के आधार पर यह ज्ञान असत्य अथवा अवैध दिखाई पड़े (ज्ञानस्य प्रामाण्यम् स्वतः अप्रमाण्यम् परतः)। विपरीत अनुभव (बाधक ज्ञान) के कारण या इन्द्रिय दोष से (कारण दोष ज्ञान) जो बोध का एक समय हुआ है वह बाद को मिथ्या सिद्ध हो सकता है। इस उदित ज्ञान के सत्य को संदेह की दृष्टि से देखने का कोई कारण नहीं है विशेष रूप से जब किसी प्रकार का इन्द्रिय-दोष न हो और जब वह अनुभव से ही सत्य दिखाई देता हो। यहाँ स्मृति को कोई स्थान नहीं दिया गया है क्योंकि स्मृति स्वतन्त्र तत्व नहीं है। स्मृति किसी पूर्वानुभव पर निर्भर है। स्मृति के प्रसुप्त संस्कार स्वतंत्र रूप से उत्पन्न नहीं माने जा सकते। इनका आधार पूर्वोत्पन्न ज्ञान-बोध है।

प्रत्यक्ष (बोध) में ज्ञानेन्द्रियों का स्थान

न्याय-दर्शन में ज्ञान की उत्पत्ति का आधार इन्द्रिय-सम्पर्क माना गया है। मीमांसा का मत इससे एकदम भिन्न है। इसके अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति स्वयमेव होती है, यह किसी वस्तु पर आश्रित नहीं है। इस प्रकार इन्द्रिय-सम्पर्क से ज्ञान की उत्पत्ति को मीमांसा स्वीकार नहीं करता। पर यदि ऐसा है तो इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ज्ञान-बोध में इतनी विविधता क्यों होती है। साथ ही न्याय-दर्शन के इन्द्रिय-जनित ज्ञान के सिद्धान्त का विवेचन भी मीमांसा-दर्शन के दृष्टिकोण को समझने के लिए आवश्यक है। मीमांसा का मत है कि 'इन्द्रियों के सम्पर्क के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है' यह केवल अनुमान और कल्पना का विषय है। क्योंकि जब हमारे मन में किसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान होता है तो हम यह अनुमान लगाते हैं कि संभवतः इन्द्रियों की सहायता से ऐसा हुआ होगा। ज्ञान की उत्पत्ति के समय इन्द्रियों की क्रिया का कोई ध्यान नहीं होता। ज्ञान की उत्पत्ति सर्वथा स्वतन्त्र है, केवल एक ही उदाहरण ऐसा है जहाँ ज्ञान किसी अन्य पर आश्रित दिखाई देता है और वह भी तब जब वह किसी पूर्वज्ञान की स्मृति का आश्रय लेता है। अन्य अवस्थाओं में ज्ञान के उदय के पूर्व, ज्ञान को मूर्त रूप देने वाले किसी भौतिक संयोग का अथवा उनकी किसी प्रक्रिया का पता नहीं चलता। ज्ञान के उदय के पश्चात् जो भी इच्छा हो अनुमान किया जा सकता। सर्व-प्रथम हमको ज्ञान-बोध होता है। इस प्रकार इन्द्रियों का

विषय-वस्तु से सम्पर्क ज्ञान के उदय के लिए अनेक उपाधियों में से एक भले ही मान ली जाए परन्तु यह निश्चित है कि ज्ञान का बोध और उसकी प्रामाणिकता ज्ञान-बोध में ही निहित होती है। यह बोध तात्कालिक निश्चयात्मक, अनाश्रित, स्वतन्त्र और प्रत्यक्ष होता है।

श्री प्रभाकर ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति और अस्तित्व के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार इन इन्द्रियों के अस्तित्व की कल्पना की जाती है। हम देखते हैं कि वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारा बोध या संज्ञान एक समय और एक जैसा नहीं होता, विभिन्न क्षणों में होने वाले हमारे बोध में काफी विविधता होती है। यह संज्ञान आत्मा में होते हैं, अतः हम आत्मा को बोध का उपादान कारण (समवायि कारण) कह सकते हैं। पर इसके साथ ही अन्य विशिष्ट कारण अथवा संलग्न कारण भी होने चाहिए (असमवायि कारण) जिसके द्वारा बोध-विशेष की उत्पत्ति होती है। ऐसे अमूर्त कारण या तो उपादान कारण में ही निहित होते हैं अथवा उपादान कारण के हेतु में दिए होते हैं। जैसे कपड़े के सफेद रंग में, धागे का सफेद रंग, सफेदी का कारण है, साथ ही वह धागा वस्त्र का उपादान कारण भी है। इस प्रकार इस उपादान कारण में या इसके भी कारण में यह अमूर्त कारण निहित है। दूसरे उदाहरण में उपादान कारण में ही यह अमूर्त अथवा अपार्थिव कारण छिपा हुआ है जैसे अग्नि के ताप से नयी गन्ध की उत्पत्ति। यहाँ नयी गन्ध का अमूर्त कारण अग्नि-संस्पर्श है। यह उस गन्ध में ही निहित है जिसको तपाकर नयी गन्ध बनाई जाती है। आत्मा अनन्त है। आत्मा का कोई अन्य हेतु (कारण) नहीं है। इस धारणा को लेकर चलने में कोई हानि नहीं है कि संज्ञान (बोध) के (असमवयि) अमूर्त कारण की व्याप्ति आत्मा में ही होनी चाहिए और इस कारण यह कारण गुण रूप होना चाहिए। अर्थात् संज्ञानात्मक ज्ञानबोध आत्मा का गुण है। किसी भी शाश्वत अनन्त वस्तु में गुण की व्याप्ति किसी अन्य तत्त्व के सम्पर्क से ही हो सकती है। संज्ञान आत्मा का व्याप्ति (अर्जित) गुण है। यह व्याप्ति किसी अन्य तत्त्व के सम्पर्क से होनी चाहिए। अनन्त शाश्वत तत्त्व की व्याप्ति का हेतु भी अनन्त होना चाहिए। आत्मा में संज्ञान व्याप्ति है अतः इसकी उत्पत्ति किसी ऐसे ही तत्त्व के सम्पर्क से होनी चाहिए। अनन्त तत्त्व तीन हैं—समय, (काल), स्थान (आकाश) और परमाणु। इनमें से काल और आकाश सर्वव्यापक हैं, इनमें आत्मा का सम्पर्क सदैव ही रहता है। अतः परमाणु ही ऐसा तत्त्व है जिसके सम्पर्क से आत्मा में (गुणरूप) संज्ञान की समय समय पर उत्पत्ति भिन्न भिन्न रूप से हो सकती है। आत्मा के साथ सम्पर्क होने के कारण यह परमाणु ऐसा होना चाहिए जो शरीर में सदैव सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता हो। इस परमाणु तत्त्व को इच्छा-अनिच्छा की अनुभूति मानस के द्वारा ही होती है। परन्तु मानस स्वयं वर्ण, गन्ध आदि गुणों से रहित है और स्वतंत्र रूप से आत्मा को इनका संज्ञान नहीं करा सकता। अतः ऐसे अवयवों की आवश्यकता होगी जो इन

गुणों को ग्रहण करते हैं। वर्ण प्रकाश (तेजस्) का गुण है, इसको नेत्र ग्रहण करते हैं, गन्ध पृथ्वी तत्त्व का गुण है जिसे नासिका ग्रहण करती है, रस, जल, (अप) का गुण है और रसना ही इसे ग्रहण करने में समर्थ है। आकाश-तत्त्व से निर्मित कर्णेन्द्रिय है जो शब्द को ग्रहण करती है। अन्त में वायु के माध्यम से स्पर्श की अनुभूति होती है। त्वचा (त्वक्) स्पर्शेन्द्रिय है। इस प्रकार किसी भी संज्ञान से पूर्व चार सम्पर्क आवश्यक है। (१) ज्ञानेन्द्रियों का विषय-वस्तु से सम्पर्क, (२) ज्ञानेन्द्रियों का विषयवस्तु के गुणों से सम्पर्क, (३) मनस् का ज्ञानेन्द्रियों से सम्पर्क, (४) मनस् का आत्मा से संपर्क। प्रत्यक्ष के विषय तीन हैं—तत्त्व, गुण, जाति (वर्ग)। पार्थिव तत्त्व अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु हैं जिनको उनके महत् रूप में ही स्थूल पदार्थों के रूप में देखा जा सकता है। जब ये तत्त्व सूक्ष्म रूप के परमाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं, तब उनका बोध सम्भव नहीं है। गुणों की संज्ञा इस प्रकार है—रंगरूप (वर्ण), रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, आकार प्रकार, पृथकत्व, योग (युति), विभाजन, पूर्वत्व, पश्चता, सुख, दुःख, इच्छा, अनिच्छा और प्रवृत्ति।[1]

संज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञानेन्द्रियों के स्थान और उनकी विषय-वस्तु के सम्पर्क के सम्बन्ध में सम्भवतः कुमारिल भट्ट किसी निश्चित मंतव्य पर नहीं पहुँच पाए थे। उनके अनुसार इन्द्रियों के तीन ही रूप सम्भव हो सकते हैं। इन्द्रियों को या तो हम प्रवृत्ति के रूप में मान सकते हैं अथवा इन्द्रियों को हम ऐसी अन्तःशक्ति मान सकते हैं जो विषयों के वास्तविक सम्पर्क में आए बिना ही उनका बोध प्राप्त करती है, अथवा वे ऐसी शक्ति हैं जो पदार्थों के सम्पर्क में आती हैं और उनके बोध में एक उपाधि का कार्य करती हैं।[2] कुमारिल इस अन्तिम दृष्टिकोण को अधिक मान्य समझते थे।

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष बोध की दो अवस्थाएँ हैं। पहली निर्विकल्प प्रत्यक्ष है और दूसरी अवस्था

---

[1] 'प्रकरण पंजिका' पृ० ५२ देखिए। इसके अतिरिक्त डा० गंगानाथ रचित 'प्रभाकर-मीमांसा' पृ० ३५ देखिए।

[2] इस संदर्भ में 'श्लोकवार्तिक', 'प्रत्यक्षसूत्र', पृ० ४० और 'न्यायरत्नाकर' देखिए। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि न्याय की भाँति सांख्य यह नहीं मानता कि इन्द्रियां उनके विषयों को ग्रहण करने के लिए (प्राप्यकारित्व) उन तक जाती थीं परन्तु सांख्य का मत है कि इन्द्रियों में ऐसी विशेष शक्ति ('वृत्ति') है जिसके कारण दूरस्थ स्थानों तक पहुँचकर सूर्य, चन्द्र आदि तक को भी ग्रहण कर लेती हैं। इन्द्रियों की इस प्रकार की प्रवृत्ति है। इस 'वृत्ति' को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है, जिस पर पार्थसारथी ने आक्षेप करते हुए कहा है कि यह वृत्ति अन्य तत्त्व है ('तत्त्वान्तर')।

सविकल्प प्रत्यक्ष है। पहली अवस्था प्रत्यक्ष की वह प्रारम्भिक अवस्था है जब इन्द्रियाँ विषय के प्रथम सम्पर्क में आती हैं। इस अवस्था में वस्तुओं की केवल चेतना मात्र होती है। यह चेतना उसी प्रकार की होती है जैसे बालक को प्रथम दृष्टि में अपने आसपास के संसार की होती है। इसमें जाति या विशिष्ट गुणों के अन्तर का कोई स्थान नहीं होता।[1] कुमारिल भट्ट का मत है कि प्रत्यक्ष की यह निर्विकल्प अवस्था केवल 'आलोचना' मात्र है। यह दृष्टिकोण बौद्ध दृष्टिकोण से विशेष रूप से साम्य रखता है जिसके अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष को व्यक्ति-विशेष की दृष्टि से 'स्वलक्षण' माना जाता है। यह व्यक्तित्व बोध ही सत्य एवं वैध है अन्य सब काल्पनिक है, ऐसा बौद्ध मत है। परन्तु कुमारिल और प्रभाकर दोनों का ही मत है कि हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष में सामान्य और विशिष्ट दोनों को ही ग्रहण करते हैं परन्तु ये दोनों हमारे बोध-ज्ञान में स्पष्ट रूप इसलिए नहीं पाते कि पूर्व दृष्ट (पहले देखी हुई) वस्तुओं की स्मृति उस समय जागृत नहीं होती जिनकी तुलना से उनके विशिष्ट या सामान्य गुणों की तुलना कर उसे विशिष्ट नाम दे सकें। जब पूर्वदृष्ट वस्तु के आधार पर हम यह निश्चित कर लेते हैं कि इसके रूप गुण का साम्य उस विशिष्ट वस्तु से है, तब हम उसका वर्गीकरण कर उसे पहचान लेते हैं। जब तक अन्य देखी हुई वस्तुओं की स्मृति नहीं होती तब तक तत्सबंधी आधार सामग्री से तुलनात्मक विनिश्चयन का प्रश्न नहीं उठता; और इस प्रकार इस प्रथम अवस्था में दृष्ट वस्तु अस्पष्ट, निर्विकल्प रहती है। पर दूसरी अवस्था में स्वात्मा, पूर्व-संस्कार और स्मृति के आधार पर गुणों को जाँचकर सामान्य और विशिष्ट के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेती है, उसके रूप, नाम आदि का निश्चयन कर लेती है, यह निश्चय बोध ही 'सविकल्प प्रत्यक्ष' है। सविकल्प प्रत्यक्ष का आधार निर्विकल्प प्रत्यक्ष है परन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष भी अनेक ऐसे तथ्यों को प्रथम बार ग्रहण करता है जिनका बोध निर्विकल्प अवस्था में नहीं हो पाया था। अतः सविकल्प अवस्था में भी संज्ञान होता है और यह संज्ञान भी उतना ही वैध है जितना प्रथम अवस्था में उत्पन्न हुआ संज्ञान।[2] कुमारिल भी प्रभाकर के मत से सहमत हैं कि सविकल्प एवं निर्विकल्प ये दोनों ही प्रत्यक्ष वैध हैं।

जीव-विकास-विज्ञान (समस्या और तत्संबंधित प्रत्यक्ष-सिद्धान्त)

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष में अन्तर (भेद) का आधार एक दृष्टि से जाति का विनिश्चयन भी माना जा सकता है। अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जाति का बोध

---

[1] इस विषय में प्रस्तुत दृष्टिकोण की तुलना वैशेषिक दृष्टिकोण से कीजिए जिसकी व्याख्या श्रीधर ने की है।

[2] 'प्रभाकर पंचिका और 'शास्त्र दीपिका'।

नहीं होता केवल किसी वस्तु का सामान्य बोध होता है, जबकि सविकल्प प्रत्यक्ष में विशिष्ट गुणों के आधार पर जाति का निश्चय कर लिया जाता है। भारतीय दर्शन में 'जाति' की व्याख्या के पहले 'अवयव', 'अवयवी' पदों का विवेचन अपेक्षित है। 'स्वत: प्रामाण्यवाद' की व्याख्या करते हुए प्रभाकर कहते हैं कि किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसके प्रत्यक्ष-बोध में है। जिस वस्तु को अपनी चेतना में ग्रहण करते हैं उसे हम साम्य समझते हैं। उसकी स्थिति के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? इस प्रकार मनन करने से यह कहा जा सकता है कि जितने पार्थिव स्थूल पदार्थ हैं, उन सबका वास्तविक अस्तित्व है क्योंकि हम उनको प्रत्यक्ष देखते हैं। सूक्ष्म परमाणु उपादान कारण हैं और उनका योग (संयोग) 'असमवायि कारण' है। सूक्ष्म परमाणुओं के 'संयोग' के कारण ही अवयवी, अवयव से भिन्न होता है। यद्यपि अवयवी अवयवों के समवाय संयोग से निर्मित होता है पर संयोग के प्रकार से परमाणु निर्मित वस्तुएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती हैं। फिर यह आवश्यक नहीं होता कि संपूर्ण पदार्थ को समझने के भिन्न-भिन्न अवयवों को अलग-अलग समझा जाए। अवयवी (सम्पूर्ण) का प्रत्यक्ष अवयव से स्वतन्त्र है। श्री कुमारिल का मत है कि यह बहुत कुछ हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है कि हम एक वस्तु को भिन्न-भिन्न अवयवों के योग से बना हुआ देखते हैं अथवा उसको सम्पूर्ण अवयवी के रूप में देखते हैं। उनके मतानुसार अवयवी और अवयव वास्तव में एक ही है। जब हम एक वस्तु के भागों अथवा बनाने वाले हिस्सों पर विशेष दृष्टि डालते हैं तो वह वस्तु हमें अवयवों के संयोग के रूप में दिखाई देती है। परन्तु यदि हम उसी वस्तु को एक दृष्टि से देखते हैं, तो हमको वही वस्तु सम्पूर्ण अवयवी के रूप में दिखाई देती है जिसके कई भाग या संयोजक तत्व हो सकते हैं। उनका यह दृष्टिकोण 'श्लोकवार्तिक' और 'वनवाद' में स्पष्ट किया गया है।[1]

---

[1] सांख्य योग के अनुसार एक वस्तु सामान्य और विशेष का योग है ('सामान्यविशेष-समुदायो द्रव्यम्' व्यास-भाष्य १११-४४)। इस मत की पुष्टि में कहा है कि द्रव्य के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिति ऐसी नहीं हैं जिसमें द्रव्य के विशेपत्व अथवा सामान्यत्व की व्याप्ति हो। यहाँ तक न्याय ने माना है। संयोग दो प्रकार का हो सकता है एक सयोग ऐसा होता है जिसमें उसके भाग या अवयव दूर-दूर स्थित होते हैं (निरन्तरा हि तदावयवा:) उदाहरण के लिए जंगल लिया जा सकता है जिसमें उसके अवयव वृक्ष दूर-दूर होते हैं। दूसरे प्रकार के संयोग में अवयवों में कोई अन्तर या दूरी नहीं होती। वे एक दूसरे से संयुक्त होते हैं जिसे द्रव्य कहते हैं। (अयुत सिद्धावयव:) लेकिन द्रव्य में भी अवयवों से भिन्न अवयवी की कोई स्थिति नहीं है। इस द्रव्य में भी इसके भाग संयुक्त होते हैं। वे इस प्रकार जुड़े होते हैं कि उनके बीच किसी प्रकार की सन्धि नहीं दिखाई देती। श्री पंडिताशोकके

'जाति' में भी अनेक इकाइयां सम्मिलित हैं लेकिन यह 'अवयवी' से भिन्न हैं। जाति-गुण प्रत्येक इकाई या अवयव में पाए जाते हैं। अर्थात् जो वस्तु जिस जाति का अंग है, उस जाति के सारे गुण उस अवयव में निश्चित रूप से पाए जाते हैं–'व्यासज्य वृत्ति'। अवयवी की स्थिति से जाति की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जाति शाश्वत है। जाति-विशेष की एक इकाई के नष्ट होने से जाति नष्ट नहीं होती। यह अन्य इकाइयों में अवस्थित रहती है और एक इकाई नष्ट होने पर जाति की स्थिति पूर्ववत् रहती है। उदाहरण के लिए गाय एक जाति-विशेष है। एक गाय की मृत्यु से जाति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब जन्म होता है तो गाय के बछड़े में जाति गुणों की व्याप्ति स्वयमेव होती है और उसकी मृत्यु के पश्चात् यह जाति गुण का 'समवाय' उस इकाई में समाप्त हो जाता है। श्री प्रभाकर के अनुसार समवाय (व्याप्ति) स्वयं में अनन्त अस्तित्व नहीं है। यह जिस वस्तु में स्थित है, उसकी शाश्वत या अशाश्वत स्थिति के अनुसार स्थायी अथवा अस्थायी होती है। न्याय जाति को एक इकाई के रूप में स्वीकार करता है पर श्री प्रभाकर का कथन है कि जाति एक नहीं अनेक हैं। जाति पदार्थों की संख्या के समान ही संख्यातीत है। जब एक इकाई नष्ट हो जाती है, तब जाति गुण नष्ट नहीं होता और न वह किसी अन्य वस्तु में चला जाता है। उस वस्तु विशेष में भी वह नहीं रहता है, केवल उसका समवाय-सम्बन्ध (व्याप्ति सम्बन्ध) उस वस्तु में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार एक इकाई की उत्पत्ति अथवा समाप्ति से उस जाति-गुण का समवाय उत्पन्न हो जाता है या नष्ट हो जाता है। परन्तु जाति का वस्तुविशेष से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है जैसा कि न्याय का मत है। प्रभाकर के अनुसार जाति का बोध, वस्तुविशेष के उन गुणों का बोध है जो उसी प्रकार की वस्तुओं में पाए जाते हैं और जिनके आधार पर हम उस वस्तु को जाति विशेष की इकाई के रूप में देखते हैं। श्री प्रभाकर न्याय के उस मत

समान बौद्ध दर्शन भी अवयवी की भिन्न या स्वतंत्र स्थिति नहीं मानता। बौद्ध मतानुसार अणु-संयोग ही विशेष स्थान घेरने से अवयवी के रूप में दिखाई देता है परन्तु इसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। (परमाणवा इव हि पररूप देश परिहारेणोत्पन्ना: परस्पर सहिता अवभासमाना देश वितानवन्तो भवन्ति) इस प्रकार अवयवी कल्पना मात्र है जिसकी कोई स्थिति नहीं है। (देखिए 'अवयवी-निराकरण' सिक्स बुद्धिस्ट न्याय टैक्स्ट्स)। न्याय का मत है कि परमाणु अवयवहीन हैं, यह 'निरवयव' हैं। यह कहना उचित नहीं है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो हम परमाणु को देखते हैं। अवयवी के अस्तित्व को हम सम्पूर्ण रूप में देखते हैं, उसी प्रकार उसका बोध होता है और इस बोध को असत्य मानने का कोई कारण नहीं है। "अदुष्टकारणोद्भूत मनाविर्भूतबाधकम्, असंदिग्धञ्च विज्ञानं कथं मिथ्येति कथ्यते।"

—न्याय-मंजरी पृ० ५५०।

को नहीं मानते, जिसमें प्रत्येक जाति की अपनी 'सत्ता' स्वीकृत हुई है जो वस्तु विशेष से भिन्न और उच्च है, जो वस्तु से सीमित और संक्रमित नहीं है। श्री प्रभाकर का कथन है कि हम जाति-गुणों को इसीलिए पहचानते हैं कि हम उन गुणों को सर्व-निष्ठ रूप से जाति की सारी इकाइयों में देखते हैं। हम वस्तुओं को 'सत्' इसीलिए कहते हैं कि उनकी वही स्थिति है जिसे हम अपने अनुभव से स्पष्ट देखते हैं। परन्तु वस्तुओं से भिन्न हमारे व्यावहारिक अनुभव से किसी अन्य 'सत्ता' का बोध नहीं होता। जब हम यह कहते हैं कि यह वस्तु 'सत्' है तो हम यह नहीं कहते कि इसमें इस जाति की 'सत्ता' है। 'सत्ता' से हमारा अर्थ 'स्वरूप सत्ता' से है अर्थात् हम यह कहते हैं कि इसकी स्थिति इस रूप में है। इस प्रकार श्री प्रभाकर न्याय के इस दृष्टिकोण का खंडन करते हैं कि वस्तुओं के गुण विकृति-रहित (गुणों से भिन्न) शुद्ध रूप के बोध को प्रत्यक्ष कहा जाए। हम वस्तुओं की शुद्ध सत्ता को पहले देखते हैं, यही वास्तविक प्रत्यक्ष है ('सन्मात्र विषयम् प्रत्यक्षम्') इसके विपरीत प्रभाकर का मत है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण गुणों के सहित उसे देखते हैं। गुणों के अभाव में वस्तु की कोई स्थिति नहीं है। सम्पूर्ण गुणों के साथ वस्तु का संज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

श्री कुमारिल के अनुसार जाति वस्तुओं से पृथक नहीं है। जाति-बोध वस्तु-बोध के साथ ही होता है। जाति-बोध के लिए किसी अन्य बोध की अवस्था की आवश्यकता नहीं है। कुमारिल का दृष्टिकोण सांख्य-दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। सांख्य का मत है कि जब हम व्यक्ति-विशेष को व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखते हैं तो हमारी चेतना में व्यक्तित्व (रूप) अधिक स्पष्ट दिखाई देता है, जाति रूप उस समय अन्तर्हित (सुप्त) हो जाता है। पर जब हम उसी इकाई को या व्यक्ति को जाति के दृष्टिकोण से देखते हैं तो हमारी चेतना में जाति-गुणों का स्पष्ट भाव जागृत हो उठता है, उस समय व्यक्तित्व जाति-गुणों के आवरण में निगूढ़ (अन्तर्हित) हो जाता है। इस प्रकार यह केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर है कि हम एक ही वस्तु को जाति या व्यक्ति के रूप में देखते हैं। इसी मत के अनुरूप श्री कुमारिल कहते हैं कि गुणों की व्याप्ति या उनका समवाय-सम्बन्ध वस्तु से भिन्न नहीं हैं। गुणों का समवाय वस्तु का ही एक पक्ष है, उसी का ही एक रूप है ('अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः' श्लोक वार्तिक प्रत्यक्ष-सूत्र १४९,१५०)। कुमारिल प्रभाकर के इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि जाति का प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा होता है (तनैक बुद्धिनिग्राह्या जातिरिन्द्रियगोचरा)।

श्री प्रभाकर की व्याख्या के आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा-दर्शन कणादीय शाखा द्वारा मान्य 'विशेष' को भिन्न वर्ग के रूप में स्वीकार नहीं करता। शाश्वत व अनन्त वस्तुओं का एक अलग से विशेष वर्ग माना गया है परन्तु मीमांसा के अनुसार इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण गुणों के अन्तर से जैसे अन्य वस्तुओं को पृथक पृथक जानते हैं उसी प्रकार शाश्वत या स्थायी वस्तुओं के

भेद का भी बोध सहज हो सकता है, उसके लिए भिन्न वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है। परमाणुओं की संरचना भेद से, या परमाणु पृथक्त्व से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का भिन्न-भिन्न बोध होता है, यही बात उन वस्तुओं के लिए भी सही है जिसे कणाद 'विशेष' के वर्ग में रखना चाहते है।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों के संयोग से वस्तुविशेष का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष में ज्ञाता की स्थिति विशिष्ट है। ज्ञान चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष, ज्ञाता का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान के पीछे ज्ञाता का व्यक्तित्व अन्तर्हित होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार जो प्रत्यक्ष-बोध होता है वही ज्ञान है। ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान-बोध के प्रकार के आधार पर प्रमाणों का वर्गीकरण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के रूप में किया गया है। 'आत्म' तत्व में किसी वस्तु को प्रकाशित करने की अथवा उसका बोध कराने की (प्रकट करने की) शक्ति नहीं है क्योंकि यह स्वयं अथवा आत्मा की सुप्तावस्था में भी विद्यमान रहता है। परन्तु सोते समय हमें किसी प्रकार का संज्ञान (बोध) नहीं होता। केवल स्वप्नों की स्मृति से यह अवश्य सिद्ध होता है कि हमारा स्व सुप्तावस्था में स्वप्नों को देखकर उनका 'आकलन' करता रहा है। वास्तव में ज्ञान (संविद्) ही उत्पन्न होकर ज्ञाता रूपी आत्मा को और ज्ञेय को प्रकट करता है। सरल शब्दों में ज्ञान के द्वारा ही हम ज्ञेय और ज्ञाता के व्यक्तित्व को जान पाते हैं। ज्ञान के इस स्व-प्रकाशी गुण की आलोचना करते हुए ऐसी शंका की जाती है कि हमारा बोध (संज्ञान) उन वस्तुओं के अनुरूप ही होता है जिनका बोध होता है। जब दोनों एक रूप हैं तो हम यह भी कह सकते हैं कि उनमें कोई अन्तर नहीं है। वे एक ही हैं। मीमांसा इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट कहती है कि यदि ये दोनों एक ही होते तो हमको संज्ञान और जिस वस्तु का संज्ञान होता है (ज्ञेयवस्तु) भिन्न भिन्न नहीं प्रतीत होते। हमारी अनुभूति दोनों को स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् देखती है, हम यह अनुभव करते हैं कि ज्ञेय वस्तु का हमको संज्ञान होता है। संवेदन के (संज्ञानों) द्वारा हमारे 'स्व' के ऊपर वस्तु विशेष के धर्म (गुण) का संस्कार अंकित होकर 'स्व' को वस्तु विशेष के संदर्भ में सक्रिय कर देता है। अतः दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जिस वस्तु की ओर यह स्व प्रेरित होता है वह ही ज्ञेय वस्तु है जिसका हमें बोध होता है। संज्ञान का कोई रूप नहीं है यह कहना भी उचित नहीं होगा। वस्तुओं को प्रकाश में लाकर उनका बोध कराना ही संज्ञान-गुण है, यही उसका रूप है जिसके द्वारा हमें वस्तु बोध होता है। रूप-गुण वास्तव में वस्तुओं में ही होते हैं। इनका रूप-गुण वही है जिसे ज्ञान प्रकट करता है। यहाँ तक कि स्वप्न-बोध भी उन वस्तुओं

के सम्बन्ध में होता है जिनको हम पहले जानते हैं। अचेतन मन में स्थित इनके संस्कारों को, 'अदृष्ट' स्वप्नावस्था में पुनर्जीवित कर देता है। मनुष्य इन सक्रिय संस्कारों से स्वप्नावस्था में उतना ही कष्ट या आनन्द प्राप्त करता है जितना उसके प्रारब्ध में उसके पाप-पुण्यानुसार लिखा हुआ है। इस प्रकार अदृष्ट के द्वारा स्वप्नबोध में भी जो संज्ञानात्मक प्रक्रिया का संचालन होता है उसका आधार भी पूर्व संवेदना के (बोध) अनुसार गृहीत वस्तु-रूप ही होता है।

प्रभाकर मीमांसा के इस मत का भी खंडन करता है कि हमारे वस्तु-बोध का संज्ञान भी किसी अन्य संवेदन (संज्ञान) द्वारा होता है। श्री प्रभाकर का मत है कि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि हमको इस प्रकार के दोहरे संज्ञान की कोई अनुभूति नहीं होती। फिर यदि इसे मान लिया जाए तो उसी युक्ति से यह मानना पड़ेगा कि इस दूसरे संज्ञान के बोध के लिए किसी तीसरे संज्ञान की आवश्यकता है और फिर इसको जानने के लिए किसी चौथे संज्ञान की। इस प्रकार इस दूषित तर्क के चक्र का कहीं अन्त ही नहीं होगा। यदि इस संज्ञान के बोध के लिए किसी अन्य संज्ञान की आवश्यकता होगी तो फिर यह स्वतः प्रमाणित नहीं माना जा सकता। जब हमें संज्ञान के द्वारा किसी वस्तु का बोध होता है तो साथ ही हमें संज्ञान की भी अनुभूति होती है। वस्तु के प्रकाश में आते ही हम संज्ञान की उत्पत्ति का सहज ही अनुमान लगा लेते हैं। परन्तु यह अनुमान संज्ञान का न होकर संज्ञान की उत्पत्ति अथवा स्थिति का होता होता है। अनुमान के द्वारा हमें किसी वस्तु के होने का (भाव का) संकेत मिलता है, परन्तु उसके प्रत्यक्ष रूप का बोध नहीं हो सकता। स्वरूप का बोध केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है। श्री प्रभाकर इस सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करते है। वस्तु के प्रत्यक्ष को वे 'संवेद्यत्व' की संज्ञा देते हैं और वस्तु के ज्ञान को 'प्रमेयत्व' की। 'संवेद्यत्व' और 'प्रमेयत्व' में बड़ा अन्तर है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में हम अनुमान से यह जान सकते हैं कि ऐसी वस्तु होनी चाहिए या अमुक वस्तु है, यह वस्तु का प्रमेयत्व है। उसके वास्तविक रूप का अनुभव अनुमान से नहीं कर सकते, उसके लिए प्रत्यक्षबोध की या संवेद्यत्व की आवश्यकता है। इस प्रकार अनुमान हमारे संज्ञान की स्थिति का संकेतमात्र कर सकता है, वह संज्ञान के प्रत्यक्ष स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ है।[1]

श्री कुमारिल भी प्रभाकर से इस विषय में एक मत हैं कि प्रत्यक्ष-बोध किसी अन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। परन्तु कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्षदर्शी और प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु में एक सम्बन्ध होता है, जिसमें प्रत्यक्षदर्शी द्वारा सक्रियता से वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, वही संज्ञान है। यह मत श्री प्रभाकर के मत से भिन्न है

---

[1] डाक्टर गंगानाथ झा द्वारा रचित 'प्रभाकर-मीमांसा' का अवलोकन करिए।

जिसके अनुसार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक ही क्षण में प्रकट होकर प्रकाश में जाते हैं। यह 'त्रिपुटि प्रत्यक्ष सिद्धान्त' कहलाता है।[1]

भ्रान्ति-मनोविज्ञान

भारतीय दर्शन में भ्रान्ति सम्बन्धी मीमांसा का विशाल साहित्य पाया जाता है। सभी मतों के दार्शनिकों का यह प्रिय विषय रहा है। यहाँ मीमांसा-दर्शन के मत का विवेचन करते हुए यह शंका होती है कि यदि सारा संज्ञान स्वत: प्रमाणित है, यदि यह स्वयसिद्ध सत्य है, तो भ्रान्ति होने का क्या कारण है।

जैन दर्शन में भ्रान्ति मीमांसा 'सत्ख्याति' नाम से की गई है। इस विषय पर जैन दर्शन के प्रसंग में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। वैदिक दर्शन में जो भ्रान्ति की व्याख्या हुई है उसका विवेचन अगले अध्याय में प्रसंगानुसार किया जाएगा। इन दोनों दर्शनों को छोड़कर अन्य दर्शनों में भ्रान्ति के तीन सिद्धान्त पाए जाते है : (१) आत्मख्याति (२) विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति (३) अख्याति। 'विपरीतख्याति' को न्याय-वैशेषक और योग दर्शन ने स्वीकार किया है। 'आत्मख्याति' बौद्ध दर्शन में स्वीकृत है और 'अख्याति' सिद्धान्त सांख्य और मीमांसा ने प्रतिपादित किया है।

भारतीय दर्शन में बहुचर्चित भ्रान्ति का उदाहरण शुक्ति(सीप) में रजत (चाँदी) की भ्रान्ति का है। सीपी के टूटे हुए टुकड़े को देख कर सहज ही यह बोध होता है कि यह चाँदी का टुकड़ा पडा हुआ है। इस भ्रान्तिमय बोध का क्या कारण है इसका विवेचन करने का प्रयत्न प्रत्येक दर्शन ने किया है। इस तथ्य पर सभी एक मत हैं कि इस प्रकार की भ्रान्ति होती है। प्रश्न इस भ्रान्ति के मनोवैज्ञानिक पक्ष का है। आदर्शवादी बौद्ध दर्शन पार्थिव जगत् के स्थूल पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। पिछले अनन्त जन्मों के कर्मो के संचित संस्कारों के आधार पर ही वर्तमान जीवन में बाह्य जगत् का ज्ञानबोध होता है। 'स्वचित्' में ही सारे बोध का उदय होता है, यह बोध का प्रकट होना ही हमारे वर्तमान के प्रत्यक्ष का आधार है। झील में उठने वाली लहरों के समान ही हमारे मन में विज्ञान-प्रवृत्ति प्रकट होती है। परिस्थितियों के संयोग से उस काल विशेष में ऐसा बोध होता है जिसे हम सत्य मानते हैं और कभी ऐसा बोध होता है जिसे हम भ्रान्तिमय समझते हैं। ज्ञानोदय में इस बौद्ध दृष्टिकोण से बाह्य स्थूल जगत् का कोई महत्व नहीं है। तदनुसार यदि यह मान भी लिया जाए कि स्थूल जगत् की सत्ता है तो क्या कारण है कि कभी वस्तु का

---

[1] लोको साइटिटो, पृ० २६-२८।

प्रत्यक्ष सत्य कहा जाता है और कभी उसी का प्रत्यक्ष-बोध भ्रान्तिमय कहा जाता है। वास्तव में तथ्य यह है कि विज्ञान-प्रवृत्ति (विज्ञान का प्रवाह) के कारण ही दृश्य और द्रष्टा का उदय होता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही दोनों में एक सम्बन्ध स्थापित होता है। भ्रान्तिमय प्रत्यक्षबोध और सत्यबोध दोनों में ही यही मानसिक प्रक्रिया होती है। न्याय इस मत को स्वीकार नहीं करता। न्याय का मत है कि बाह्य परिस्थितियों की यदि कोई सत्ता नहीं है, यदि ज्ञान स्वयं में ही उदय होकर भ्रान्त कल्पना उत्पन्न कर देता है तो इस कल्पना का रूप यह होना चाहिए कि मैं चाँदी हूँ, न कि यह रजत है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का पहले ही खंडन किया जा चुका है कि सारा ज्ञान आत्मनिष्ठ है और इसे किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, कि बाह्य जगत् की कोई सत्ता नहीं है।

'विपरीतख्याति' अथवा 'अन्यथाख्याति' भ्रान्ति सिद्धान्त के अनुसार हमारी भ्रान्ति का कारण यह है कि हम वस्तु विशेष को उचित रूप से नहीं देख पाते। यह एक प्रकार से प्रेक्षण-दोष है। शुक्ति की चमक से और उसके रंगरूप के कारण चाँदी के टुकड़े का ध्यान आ जाता है। इस सहसा चाँदी के ध्यान का कारण यह है कि पहले चाँदी का टुकड़ा देखा हुआ है अतः चाँदी की भ्रान्ति शुक्ति में हो जाती है। इस भ्रान्ति में सीप के टुकड़े को हम एक वस्तु के रूप में देखते हैं क्योंकि सीप के रूप गुणों को हम नहीं देख पाते। दूसरी बात यह है कि जिसकी हमें भ्रान्ति होती है उसका वास्तविक अस्तित्व है। यद्यपि इस स्थान पर चाँदी विद्यमान नहीं है पर अन्य स्थान पर चाँदी नाम की वस्तु अवश्य है। दोष केवल इतना है कि पूर्व स्मृति के आधार पर हम सीप को अन्यथा रूप में पहचान कर उसे भ्रान्त रूप दे देते हैं यही भ्रान्ति 'अन्यथाख्याति' है। इसी को विपरीतख्याति कहते हैं क्योंकि हमने वस्तु को वास्तविक रूप में न देखकर विपरीत नाम दे दिया है।

उपर्युक्त भ्रान्ति में विशेष बात यह नहीं है कि हम वस्तु विशेष को पहचान नहीं पाए या उसमें कोई भेद नहीं कर पाते। विशिष्ट बात यह है कि हम को सीपी में चाँदी की भ्रान्ति होती है हम उसको निश्चयात्मक दृष्टि से मिथ्या रूप में देखते हैं, परन्तु जिस रूप में हम देखते हैं, वह अन्यत्र विद्यमान है, उसकी भी वास्तविक स्थिति है।

मीमांसा दर्शन के अख्याति-सिद्धान्त के अनुसार यह कहना उचित नहीं है कि हमको सीपी का बोध चाँदी की भाँति होता है क्योंकि हमारे इस प्रत्यक्ष के समय हमको सीपी नाम की वस्तु नहीं दिखाई देती है, न उसका किसी प्रकार का बोध होता है। हम सीपी (शुक्ति) के रूप गुण की विशेषताओं को नहीं देख पाते हैं, न उनका ध्यान ही आता है। अतः स्पष्ट तथ्य यह है कि हमको सीपी का कोई प्रत्यक्ष (बोध) ही नही होता। बुद्धि व मन की दुर्बलता के कारण हम चाँदी की तत्कालीन स्मृति, और

जो वस्तु (सीपी) देख रहे हैं, उनके रूप गुणों के अन्तर को नहीं समझ पाते। इस प्रकार हम पूर्व स्मृति को ही प्रत्यक्ष समझ कर तदनुसार सीपी के स्थान पर चाँदी को ही देख लेते हैं जो केवल स्मृति का प्रत्यक्ष है वस्तु का नहीं। इस प्रकार इस भ्रान्ति-मय प्रत्यक्ष के दो रूप सामने आते हैं, एक रूप जिसका आधार स्मृति है और दूसरा रूप जिसमें ग्राह्यता है। पूर्व वस्तु की स्मृति और प्रस्तुत वस्तु के प्रत्यक्ष में अन्तर है। इस अन्तर का ध्यान न रहने से ही भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इस भ्रान्ति में ग्राह्यता प्रस्तुत वस्तु की न होकर पूर्व स्मृति वस्तु की है। अतः जिस समय इस प्रकार चाँदी का बोध होता है, उस समय इस बोध को (प्रत्यक्ष को) प्रामाणिक समझा जाता है। अतः इस आधार पर ही ज्ञाता अपने प्रत्यक्ष के अनुसार काम करता है। वह इसको सत्य मान कर ही सीपी को उठाने के लिए तत्पर होता है। यही इस बात का द्योतक है कि ज्ञाता अपने प्रत्यक्ष को प्रामाणिक समझता है।

श्री कुमारिल भी प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित इस दृष्टिकोण को मान्य समझते हैं। उनका मन्तव्य है कि भ्रान्त प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष कर्त्ता के लिए उतना ही सत्य है जितना अन्य (सत्य) प्रत्यक्ष। फिर यदि किसी अन्य अनुभूति से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व ज्ञान असत्य था, तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। मीमांसा इस तथ्य को स्वीकार करती है कि किसी भी ज्ञान की सत्यता का पुनः परीक्षण किया जा सकता है और यदि किसी अन्य अनुभव के आधार पर वह अप्रामाणिक दिखाई देता है तो उसे अस्वीकार किया जा सकता है।[१] मीमांसा का एक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक संज्ञान उत्पत्ति के समय सत्य एवं प्रामाणिक होता है। उपर्युक्त दृष्टिकोण का आधार भी यही सिद्धान्त है। अख्याति-सिद्धान्त इस तथ्य को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है कि भ्रान्ति का कारण संज्ञान की असत्यता या अवैधता नहीं है। वास्तव में इसका कारण सही वस्तु की अग्राह्यता है, हम वास्तविक वस्तु को देख ही नहीं पाते, अतः यह स्थिति निषेधात्मक स्थिति है, जिसमें वस्तु विशेष का प्रत्यक्ष ही नहीं होता। यह स्थिति मन बुद्धि की निर्बलता के कारण उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस भ्रान्ति में संज्ञान के दो भाग पाए जाते हैं। एक भाग पूर्व स्मृति का है और दूसरा इस समय के प्रत्यक्ष का है। जहाँ संज्ञान में सन्देह होता है वहाँ मनुष्य यह प्रश्न करता है कि 'यह मनुष्य अथवा स्तंभ है।' यहाँ हमको केवल एक ऊँची वस्तु दिखाई देती है और उस प्रत्यक्ष है में किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं है। परन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब इस प्रत्यक्ष के कारण दो प्रकार की स्मृति का उदय होता है और इस प्रकार सन्देह उत्पन्न होता है। अतः यह स्पष्ट है कि संज्ञान में जितनी बोध-ग्राह्यता तत्काल होती है वह वैध होती है।

---

[१] 'प्रभाकर पंचिका', 'शास्त्रदीपिका' और 'श्लोकवार्तिका' सूत्र देखिए।

अनुमान

श्री शबर का कथन है कि जब हम दो वस्तुओं में किसी प्रकार का स्थायी सहसंबंध देखते हैं तो हम साधारणतया एक की उपस्थिति से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं। जब हम इस सम्बन्ध के आधार पर दूसरी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो इसको दर्शन शास्त्र में अनुमान प्रमाण कहते हैं। श्री कुमारिल का मन्तव्य है कि जब हम किन्हीं दो वस्तुओं को जिनका सदैव सहअस्तित्व पाया जाता है किसी तीसरे स्थान पर देखते हैं और जब उनका यह सहअस्तित्व स्वतंत्र और निरूपाधिक होता है, तो इस 'अनुमान' के द्वारा स्थान विशेष पर वस्तु विशेष का सत्य बोध कर सकते हैं। उदाहरण के लिए रसोई में अग्नि और धुएँ का सहअस्तित्व पाया जाता है अतः यहाँ धुएँ को देखकर यह उचित अनुमान किया जा सकता है कि रसोई में अग्नि जल रही है। जब दो वस्तुओं का सम्बन्ध अधिकांश अवस्थाओं में देखा जाता है तो हमारा अनुभव हमें तत्काल इस बोध की प्रेरणा देता है कि इस स्थान पर अमुक वस्तु होने से (धूम्र) 'व्याप्य' का व्यापक (अग्नि) अवश्य ही इस स्थान (पर्वत) पर होना चाहिए।

हमारे अनुभव के अनुसार दो वस्तुओं के अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। सहअस्तित्व में एक प्रकार वह है जब एक वस्तु के पृष्ठ में दूसरी वस्तु का अस्तित्व सदा ही देखा जाता है जैसे रोहिणी के साथ ही कृत्तिका नक्षत्र का उदय होता है, अथवा यह सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध हो सकता है जिसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। जाति और उपजाति में इसी प्रकार का एकात्मक सम्बन्ध पाया जाता है। संक्षेप में हमारा अनुभव उन वस्तुओं के सहसम्बन्ध की निश्चित निरपवाद धारणा के आधार पर यह मार्गदर्शन करता है कि जहाँ पर 'व्याप्य' या 'गमक' (धूम्र) है वहाँ पर पक्ष में (पर्वत पर) 'व्यापक' या 'गम्य' (अग्नि) अवश्य ही होना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सामान्य प्रस्ताव में व्याप्य की व्यापक में सर्वनिष्ठ व्याप्ति किसी अनुमान का कारण या आधार नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्वयं अनुमान का उदाहरण है। जैसे 'जहाँ जहाँ धुँआ पाया जाता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः) यह स्वयं अनुभव के आधार पर एक उदाहरण मात्र है। अनुमान में हमारी स्मृति किसी 'पक्ष' में (स्थान आदि) दो वस्तुओं के निरपवाद स्थायी सहअस्तित्व (धूम्र और अग्नि) का संकेत करती है। परन्तु यह स्थान अथवा पक्ष स्थायी सहव्याप्ति का सामान्य आधार मात्र है। इस प्रकार हम पक्ष में (पर्वत) व्याप्य (धूम्र) को देखकर 'व्यापक' (अग्नि) की स्थिति का अनुमान सहज ही करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में अनुमान का आधार प्रेषणविशेष हुआ करता है। सामान्य प्रस्ताव तो अनुमान के लिए केवल सिद्धान्त-वाक्य मात्र होता है। कुमारिल का मत है कि अनुमान में पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध ज्ञान होता है न कि

केवल साध्य मात्र का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए हम केवल मात्र अग्नि का अनुमान नहीं करते वरन् धूम्र के हेतु से पर्वत (पक्ष) पर अग्नि का अनुमान करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में अनुमान के द्वारा हमको नवीन बोध होता है। उपर्युक्त उदाहरण में अमुक पर्वत पर अग्नि है, यह नवीन बोध हमको होता है यद्यपि यह तथ्य हम पहले से जानते हैं कि जहाँ धुँआ होता है वहाँ अग्नि भी हुआ करती है।' (देश-कालाधिक्याद्युक्तम् गृहीत ग्राहित्वम् अनुमानस्य न्याय-रत्नाकर पृष्ठ ३६३)[1] ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि दो वस्तुओं के स्थायी सहसम्बन्ध के साथ साथ ही तीसरी वस्तु का भी ध्यान होना चाहिए जहाँ पर उपर्युक्त व्याप्ति पायी जाती है। साथ ही इस व्याप्ति की धारणा के लिए यह आवश्यक है कि अनेक उदाहरणों में इस प्रकार की व्याप्ति अनुभव के आधार पर पूर्वसिद्ध हो परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इस व्याप्ति के अपवादस्वरूप उदाहरणों का प्रेक्षण कर उनकी तालिका बनाई जाए जैसा कि बौद्ध दर्शन का मत है।[2]

पूर्वानुभव से हम यह सहज ही आशा करते है कि यहाँ गमक की स्थिति है अतः इस स्थान पर गम्य अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि पहले भी ऐसे स्थानों पर ऐसा प्रेक्षण किया गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ गमक और गम्य एकात्मक हैं वहाँ प्रत्येक दूसरे के लिए गमक का कार्य करता है अर्थात् एक वस्तु की स्थिति से दूसरे का अनुमान किया जा सकता है।

उपर्युक्त विषय में एक शंका यह उत्पन्न होती है कि यदि अनुमान व्याप्ति-संबंध की पूर्व स्मृति के आधार पर किया जाता है तो यह कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है क्योंकि स्मृति को स्वतः प्रमाणित नहीं माना गया है। श्री कुमारिल का मत है कि स्मृति अवैध नहीं है पर इसको प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे किसी नवीन ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। अनुमान से नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है अतः यह प्रमाण की श्रेणी में आता है। उपर्युक्त उदाहरण में हमें यह ज्ञान तो था कि जहाँ धुँआ होता है वहाँ अग्नि हुआ करती है परन्तु यह ज्ञान

---

[1] यह सम्भव है कि श्री कुमारिल ने उपर्युक्त मन्तव्य श्री दिङ्नाग के तर्क के आधार पर स्थिर किया हो। श्री दिङ्नाग का कथन है कि अनुमान के द्वारा न तो हम अग्नि का अनुमान करते हैं न हम अग्नि और पर्वत के सम्बन्ध का अनुमान करते हैं। वरन् हम अग्निमय पर्वत का अनुमान द्वारा नवीन संज्ञान प्राप्त करते हैं। देखिए विद्याभूषण रचित पुस्तक 'इंडियन लाजिक' पृ० सं० ८ एवं तात्पर्य-टीका पृ० १२०।

[2] श्री कुमारिल इस बौद्ध मत का विरोध करते हैं कि व्याप्ति का विनिश्चयन अपवाद के उदाहरणों से होता है कि कितनी अवस्थाओं में व्याप्ति विशेष का अपवाद पाया जाता है।

नहीं था कि अमुक पर्वत पर अग्नि है। गमक को देखकर यह अनुमान किया कि वहाँ (गम्य) अग्नि अवश्य होनी चाहिए। यह नवीन ज्ञान है जिसका हमको प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ है और जिसको हमने अनुमान से जाना है। यदि अग्नि स्वयमेव दिखाई दे जाए तो फिर यह अनुमान न रह कर प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा।

श्री कुमारिल और प्रभाकर के मतानुसार अनुमान की सिद्धि के लिए (परार्थानुमान) केवल तीन तर्क वाक्य पर्याप्त हैं : 'प्रतिज्ञा', 'हेतु' और 'दृष्टान्त'। इन तीन के द्वारा हम अनुमान को सहज ही किसी अन्य के समक्ष भी प्रमाणित कर सकते हैं।

कुमारिल के अनुसार अनुमान के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्षतो दष्ट सम्बन्ध और (२) सामान्यतो दृष्ट सम्बन्ध। पहले प्रकार में दो स्थूल वस्तुओं में स्थायी सम्बन्ध के आधार पर अनुमान किया जाता है। दूसरे प्रकार में अर्थात् 'सामान्यतो दृष्ट संबंध' में स्थूल वस्तुओं के सह-सम्बन्ध के स्थान पर दो सामान्य कल्पनाओं के आधार पर अनुमान किया जाता है। जैसे जहाँ स्थान परिवर्तन होता है वहाँ अवश्य कुछ गति हुआ करती है ऐसा देखा गया है। अतः सूर्य के स्थान-परिवर्तन के कारण यह अनुमान करना उचित है कि यह स्थान-परिवर्तन की पृष्ठभूमि में किसी प्रकार की गति अवश्य होनी चाहिए। अतः यह कहा जाता है कि अन्य सामान्य अनुमानों के समान ही उपर्युक्त अनुमान भी प्रामाणिक है।[1]

श्री प्रभाकर के अनुसार अनुमान के लिए दो वस्तुओं में स्थायी सम्बन्ध ही महत्वपूर्ण है, यह स्थायी सम्बन्ध कहाँ पाया जाता है इसकी विशेष अपेक्षा नहीं है। स्थान और काल केवल उन दो वस्तुओं के सम्बन्ध के विशेषण मात्र हैं। स्थान और काल से हमारे अनुमान की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हम जानते हैं कि जहाँ धुँआ है वहाँ अग्नि होनी चाहिए, अतः धुएँ को देखकर हम तत्काल अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। यहाँ किसी अन्य उपाधि की आवश्यकता नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त श्री प्रभाकर 'हेतु' के तर्क-दोष के साथ ही 'पक्ष', 'प्रतिज्ञा' और 'दृष्टान्त' के भी तर्क-दोषों की व्याख्या करते हैं और जिन्हें दृष्टान्ताभास की संज्ञा दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि मीमांसा के अनुमान सम्बन्धी स्थापना में बौद्ध दर्शन का भी

---

[1] श्लोक वार्तिक, न्याय रत्नाकर, शास्त्र दीपिका, युक्तिस्नेह-पूरिणी, सिद्धान्त चन्द्रिका नामक ग्रन्थों में अनुमान-मीमांसा देखिए।

[2] उपाधि के सम्बन्ध में श्री प्रभाकर ने कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है। जहाँ प्रयत्न करने पर भी कोई ऐसा अपवाद या उपाधि नहीं दिखाई देती जिससे हमारा अनुमान दूषित हो वहाँ मान लेना चाहिए कि कोई उपाधि नहीं है ('प्रयत्नेनान्विष्यमाणे औपाधिकत्वानवगमात्' प्रकरण-पंचिका पृ० ७१)।

पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। धूम के संज्ञान में अग्नि का संज्ञान स्वयमेव ही अन्तर्निहित है, अतः प्रभाकर के मतानुसार किसी अन्य अनुमान का स्थान नहीं रह जाता, परन्तु प्रभाकर इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रमाण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके द्वारा हमें किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति हो। जिससे हमें ज्ञान की ग्राह्यता हो, वही प्रमाण है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा ज्ञात वस्तु के सम्बन्ध में संज्ञान (बोध) प्राप्त होता है, वह प्रमाण ही है क्योंकि इससे हमको तथ्यविशेष का बोध होता है। तथ्य-ग्राह्यता ही प्रमाण है ऐसा उनका मत है।

उपमान, अर्थापत्ति

मीमांसा का उपमान सम्बन्धी दृष्टिकोण न्याय से थोड़ा भिन्न है। मीमांसा के अनुसार एक मनुष्य जिसने घर में या नगर में गाय देखी है वन में जाता है वहाँ वह 'गवय' (जंगली सांड) देखता है और 'गवय' के रूप गुण की गाय से तुलना करता है। यह गाय उस समय उसके समक्ष उपस्थित नहीं है। तुलना से वह गवय के और गाय के रूप-गुण में साम्य देखता है। गवय को गाय के अनुरूप गुणों वाला देखकर वह समझता है कि यह गाय के ही समान है। इस समानता का बोध ही उपमान है। गाय की उपमा में गवय को पहचानना ही उपमान प्रमाण है। यह अन्य प्रमाणों से भिन्न अपने आप में प्रमाण है। गवय के देखने के समय गाय उपस्थित नहीं थी। यह स्मृति भी नहीं है क्योंकि गाय देखने के समय गवय नहीं देखा गया था अतः दोनों के साम्य की स्मृति का प्रश्न नहीं उठता। अतः इसे स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रभाकर और कुमारिल में इस विषय में मतभेद हैं।

श्री कुमारिल साम्य को एक ऐसे गुण के रूप में मानते हैं जो कई वस्तुओं में एक से गुणों को स्पष्ट करता है। श्री प्रभाकर इसे एक विशिष्ट वर्ग के रूप में देखते हैं।

'अर्थापत्ति' प्रमाण का एक और वर्ग है जिसे मीमांसा ने स्वीकार किया है। जब हम यह जानते हैं कि देवदत्त नामक व्यक्ति जीवित है, और उसके घर पर उसे नहीं पाते, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह अवश्य ही कहीं अन्यत्र होगा। देवदत्त के अन्यत्र होने के बोध की यह विधि ही 'अर्थापत्ति-प्रमाण' है।

अर्थापत्ति-प्रमाण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में भी कुमारिल और प्रभाकर एकमत नहीं है। प्रभाकर का कथन है कि हम यह जानते हैं कि देवदत्त जीवित है। उसके पश्चात् हम उसके घर जाकर पता लगाते हैं और यह देखते हैं कि वह घर पर नहीं है। अतः इस तथ्य से हम सीधे ही इस अर्थ पर नहीं पहुँचते कि देवदत्त कहीं अन्यत्र होगा। उसकी अनुपस्थिति से सर्वप्रथम हमारे पूर्व ज्ञान पर सन्देह होता है कि कहीं ऐसा तो

नहीं है कि देवदत्त इस बीच में मर गया हो। इस सन्देह के पश्चात् हम यह प्रकल्पना करते हैं कि सम्भव है कि वह जीवित हो और किसी अन्य स्थान पर हो। इस प्रकार देवदत्त की अनुपस्थिति से पहले सन्देह और पुनः यह प्रकल्पना होती है कि वह कहीं अन्यत्र हो सकता है। अनुमान के सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। क्योंकि धूम्र की स्थिति का निश्चय करने के पश्चात् अग्नि का अनुमान भी निश्चयात्मक होता है। लेकिन घर में देवदत्त की अनुपस्थिति, उसके जीवित रहने के विषय में सन्देह उत्पन्न कर देता है और इससे उसके अन्यत्र होने की प्रकल्पना मात्र ही होती है।[1]

श्री कुमारिल प्रभाकर की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि यदि देवदत्त की घर में अनुपस्थिति होने में कोई सन्देह होता है तो यह अधिक अच्छा होगा कि उस सन्देह को यह मान कर मिटा लिया जाए कि देवदत्त मर गया। इस सन्देह को बनाए रखकर यह सोचना उचित नहीं होगा कि देवदत्त अन्यत्र होगा। सन्देह का कारण उसकी घर से अनुपस्थिति है, अतः इसी कारण घर से उसकी मृत्यु के सन्देह के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठता जिसमें यह पुनः प्रकल्पना की जाए कि वह अन्यत्र होगा। जो सन्देह का कारण है वही निवारण का कारण नहीं हो सकता। वास्तव में स्थिति दूसरी है। हमारे पूर्वज्ञान से या अन्य साधन से हम निश्चित रूप से जानते हैं कि देवदत्त जीवित है। अतः यदि 'वह घर पर नहीं है तो अन्यत्र होगा' यह प्रकल्पना बिना किसी सन्देह के उत्पन्न होती है। देवदत्त के जीवित होने और उसके घर पर न होने से जो विरोधात्मक स्थिति बनती है उससे मनमस्तिष्क तब तक संतुष्ट नहीं होता जब तक वह उस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता कि देवदत्त घर के बाहर कहीं अन्यत्र होगा। यही अर्थापत्ति है। यदि यह नहीं माना जाता तो फिर अनुमान-प्रमाण भी प्रकल्पना मात्र रह जाएगा क्योंकि हम जानते है कि जहाँ धुआँ होता है वहीं अग्नि होती है। हम पहाड़ी पर धुएँ को देखते है पर अग्नि को नहीं देखते। अत अग्नि का न होना भी सम्भव हो सकता है अर्थात् अग्नि के न होने में सन्देह होता है, अतः हम यह प्रकल्पना करते है कि अग्नि होनी चाहिए। यह तर्क उचित होता यदि धुएँ और अग्नि की सह व्याप्ति अनुमान के अतिरिक्त किसी प्रकार से जानी जा सकती, पर हम अनुमान से जानते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। अनुमान का कारण है कि यह व्याप्ति विशिष्ट उदाहरणों में ही देखी गई है। सामान्य प्रस्ताव के अभाव मे विशिष्ट उदाहरणों में भी कोई विरोधाभास दृष्टिगत नहीं होता। अतः इस विरोधाभास के अभाव में अर्थापत्ति की आवश्यकता नहीं होती जैसे कि पूर्व उदाहरण में विरोधाभास के कारण देवदत्त के अन्यत्र होने की बात मान्य समझी गई थी। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ अनुमान-प्रमाण ही मान्य होता

---

[1] प्रकरण-पंचिका पृ० ११३-५।

उनके वर्णन से होता है। यह वर्णन शब्दों से निर्मित वाक्यों के द्वारा किया जाता है। यदि हम शब्दों को भली भांति समझ कर विचारपूर्वक वर्णित विषय का मनन करें तो हम प्रत्यक्ष के अभाव में तद्विषयक जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। यही शब्द-प्रमाण है। ये शब्द मानवीय (पौरुषेय) और वैदिक दो प्रकार के हो सकते हैं। यदि मानवीय शब्द आप्त, सत्यवक्ता व्यक्ति के द्वारा कहे गए हैं, तो हम उनको प्रामाणिक मानते हैं। वैदिक शब्द स्वयमेव प्रामाणिक हैं। वाक्यों का अर्थ समझने के लिए शब्दों के अर्थ, उनका परस्पर सम्बन्ध जानना आवश्यक है। इसके लिए कोई अन्य प्रमाण सहायक नहीं हो सकता। वक्ता को जाने विना भी हम शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध, और उनके अर्थों का मनन कर वस्तुविशेष का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

श्री प्रभाकर का मत है कि सारे शब्द ध्वनि रूप हैं। इन ध्वनियों का मूल अक्षर हैं। अक्षर के अभाव में शब्द-ध्वनि सम्भव नहीं है। परन्तु अक्षर स्वयं में अर्थहीन हैं। जब अक्षर मिल कर शब्द की उत्पत्ति करते हैं तभी उसका कुछ अर्थ प्रकट होता है। परन्तु शब्द को उचित रूप से ग्रहण करने के लिए अक्षर-ध्वनि का आश्रय लेना पड़ता है। प्रत्येक अक्षर-ध्वनि की अपनी-अपनी ध्वनि-क्षमता है। एक अक्षर के उच्चारण के साथ हम उस ध्वनि को सुनकर हृदयंगम करते हैं और साथ ही उस ध्वनि का लोप होकर दूसरी अक्षर-ध्वनि का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार इन अक्षर-ध्वनियों से सम्पूर्ण शब्द का निर्माण होता है। इस शब्द की अपनी अर्थक्षमता है। शब्दों की क्षमता अक्षर-क्षमता पर निर्भर है। इस प्रकार मौखिक संज्ञान का कारण मूल अक्षर-क्षमता है। अक्षर-शक्ति ही सारे शब्द, अर्थ, संज्ञान का मूलाधार है। श्री कुमारिल और प्रभाकर इस विषय में एकमत हैं।

एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द की अपनी-अपनी अर्थक्षमता है। यह शब्द में मूलरूपेण विद्यमान है। यह क्षमता सुनने वाले की क्षमता पर निर्भर है। शब्द का अर्थ स्थायी है। श्रुति-क्षमता से अथवा सुनने वाले की अज्ञता से शब्द की अर्थ-शक्ति प्रभावित नहीं होती। सरल शब्दों में सुनने वाले के समझने से अथवा न समझने से शब्द की अपनी अर्थ-क्षमता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। मीमांसा के अनुसार शब्दों के अर्थ किसी मानवीय परम्परा के द्वारा प्रभावित नहीं होते अर्थात् शब्दों के अर्थ मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हैं।[1] परम्परा से व्यक्तिवाचक शब्दों का निर्माण हो सकता है। परन्तु अन्य शब्द और उनके अर्थ पहले से विद्यमान हैं। प्रत्येक शब्द की अपनी-अपनी अर्थक्षमता है। शब्द शाश्वत हैं। शब्द सदैव से विद्यमान

---

[1] न्याय के अनुसार सारे शब्दों का निर्माण परमात्मा द्वारा किया गया है और उसी प्रभु ने प्रत्येक शब्द की अर्थक्षमता निर्धारित की है, अर्थात् परमात्मा ने ही शब्द और उनके अर्थों का निर्माण किया है।

हैं। उनको प्रकट करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। मनुष्य जब इन शब्दों का उच्चारण करता है तो ये उस प्रयत्न के फलस्वरूप प्रकट होते हैं। न्याय का मत है कि मनुष्य के शब्द-उच्चारण के प्रयत्न के कारण शब्द की उत्पत्ति होती है। मीमांसा का मत है कि शब्द शाश्वत है और पहले से ही विद्यमान हैं। ये अनादि अनन्त हैं। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो यह शब्द हमारे माध्यम से श्रोता के लिए पुनः प्रकट होता है।

हम शब्दों के अर्थों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते हैं इसका उदाहरण देते हुए श्री प्रभाकर कहते हैं कि आदेशात्मक वाक्यों के द्वारा ही हमें अर्थों का उचित बोध होता है। कोई वरिष्ठ व्यक्ति जब किसी भृत्य को आज्ञा देता है कि जाओ, इस घोड़े को बांध दो। इस गाय को ले जाओ। तब बालक इस आज्ञा को सुनकर और भृत्य द्वारा उसके पालन किए जाने से यह समझ लेता है कि घोड़े का या गाय का क्या अर्थ है। इस प्रकार के शब्दों अर्थ, इस आज्ञार्थक वाक्य के अन्य अंशों के प्रसंग में स्पष्ट होते हैं। शब्दों का तात्पर्य अन्य वाक्यांशों के प्रसंग में ही समझा जा सकता है। वाक्य से पृथक्, शब्द का अर्थ नहीं समझा जा सकता है। इसको 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'गाम्' शब्द 'गो' (गाय) का कर्मकारक है। इस 'गाम्' (गाय को) से केवल इतना समझा जाता है कि गाय के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। परन्तु जब पूरा वाक्य 'गाम् आनय' कहा जाता है तो यह अर्थ स्पष्ट होता है कि 'गाय को लाओ'। परन्तु श्री कुमारिल का मत है कि शब्द स्वतंत्र रूप से सार्थक होते हैं। प्रत्येक शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। शब्दों से मिलकर वाक्य बनता है। शब्दों के समूह संयुक्त होकर वाक्य रूप में परिवर्तित हो प्रसंग के अनुसार अर्थमय होते हैं। यह शब्दों की स्वतंत्र अर्थसत्ता और उनके मेल से विशेष विचार कल्पना की उत्पत्ति ही 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है। इस प्रकार कुमारिल के मतानुसार 'गाम् आनय' में 'गाम्' का अर्थ स्पष्ट है कि यह 'गो' का कर्मकारक है और 'आनय' का अर्थ है 'लाओ'। दोनों शब्दों के मिलने से 'गाय लाओ' यह अर्थ स्पष्ट हो गया। यही मत न्याय का भी है। इसी को न्याय में भी 'अभिहितान्वयवाद' कहते हैं।[1]

---

[1] इस विषय में डा० गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकरमीमांसा' और श्री दासगुप्ता द्वारा लिखी 'स्टडी आफ पतंजलि' का परिशिष्ट देखिए। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि मीमांसा 'स्फोट' सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखती। स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार अक्षरों की ध्वनि के अतिरिक्त सम्पूर्ण शब्द का एक अपना 'स्फोट' होता है जिससे शब्द अपने स्वतंत्र रूप में प्रकट होता है। यह 'स्फोट' (शब्द प्राकट्य) क्रम से समाप्त होने वाली अक्षर ध्वनि से भिन्न है और सम्पूर्ण शब्द का ध्वन्यात्मक एकाकी रूप है।

अन्त में श्री प्रभाकर का मत है कि केवल वेद ही शब्द प्रमाण के रूप में माने जा सकते हैं। वेद मे भी केवल वे वाक्य शब्द-प्रमाण हैं जो आज्ञार्थक (आदेशात्मक) हैं। अन्य सभी स्थितियों में वक्ता की आप्तता और चरित्र के आधार पर ही शब्द प्रमाण की वैधता और सत्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु श्री कुमारिल सभी सच्चरित्र व श्रद्धेय पुरुषों के शब्दों को प्रामाणिक मानते हैं।

अनुपलब्धि प्रमाण

श्री कुमारिल उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त 'अनुपलब्धि' प्रमाण को पाँचवाँ प्रमाण मानते हैं। अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का न होना। जिस विषय की प्रत्यक्ष उपलब्धि न हो सके, अर्थात् जो वस्तु प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न पड़े वहाँ उस वस्तु की अनुपलब्धि है। वस्तु का यह अभाव जिस प्रमाण से जाना जाए वह अनुपलब्धि-प्रमाण है। उदाहरण के लिए कक्ष में घड़ा नहीं है। उस घड़े के अभाव को इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसके साथ इन्द्रिय सम्पर्क हो सके। कुछ लोगों का मत है कि यह अभाव अनुमान-प्रमाण से जाना जा सकता है। जब किसी वस्तु की स्थिति (भाव) होती है तो हमें उसका बोध दृश्य रूप में होता है, जब उसका अभाव होता है तो उसको नहीं देखा जा सकता। परन्तु कठिनाई यह है कि इस अनुमान के अभाव की और वस्तु के दृश्यमान न होने की पूर्वकल्पना की गई है। प्रश्न यह है कि इस अभाव को और इस अप्रत्यक्ष को किस प्रमाण से जाना जाए। ये दोनों स्वयं अपने ही लिए अनुमान के आधार पर हो सकते। अतः इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है।

किसी स्थान पर किसी भी वस्तु का अस्तित्व 'सद्रूप' (भाव) में अथवा 'असद्रूप' (अभाव) में, धनात्मक या ऋणात्मक सम्बन्ध में हुआ करता है। सरल शब्दों में स्थान विशेष पर किसी वस्तु का या तो भाव होता है या अभाव। यह भाव या अभाव उस स्थानविशेष के परिप्रेक्ष्य में होता है। जब किसी वस्तु का सद्रूप होता है तो हमारी इन्द्रियां उससे सम्पर्क कर उसका प्रत्यक्ष करती है। परन्तु वस्तु के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए मन की क्रिया भिन्न प्रकार से होती है जिसे हम अनुपलब्धि-प्रमाण कहते हैं। श्री प्रभाकर का मत है किसी स्थान विशेष पर किसी दृश्यमान वस्तु

अक्षर-ध्वनि का कार्य शब्द-स्फोट का आधार बनकर उसको प्रकट करना मात्र है। इस सम्बन्ध में वाचस्पति रचित—'तत्वबिन्दु', 'श्लोकवार्तिक' और 'प्रकरण-पंचिका' देखिए। 'अन्विताभिधान' सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए श्री शालिकनाथ रचित 'वाक्यार्थमातृका-वृत्ति' देखिए।

का अप्रत्यक्ष केवल रिक्त स्थान का प्रत्यक्ष है। अतः इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस रिक्त स्थान से क्या अर्थ है? यदि यह युक्ति दी जाती है कि घड़े के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए पूर्णरूपेण रिक्त स्थान होना चाहिए और यदि इस स्थान पर एक पत्थर पड़ा हुआ है तो घड़े के अभाव का बोध नहीं होना चाहिए। यदि रिक्त स्थान की परिभाषा यह की जाती है कि रिक्त स्थान वह स्थान है जहाँ घड़े का अभाव है तो फिर अभाव को एक भिन्न वर्ग के रूप में स्वतः ही स्वीकार कर लिया जाता है। यदि रिक्त स्थान के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिस क्षण में उस रिक्त स्थान को देखते हैं, उस क्षण में घड़े के होने का (भाव) का बोध नहीं होता तो भी हम घड़े के बोध के अभाव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। किसी भी दृष्टि से इस तथ्य को देखा जाए सभी प्रकार से हम घड़े के अभाव का या उसके ज्ञान के अभाव के अस्तित्व को अलग से स्वीकार करते हैं। इस अभाव को बाह्य दृष्टि से वस्तु का अभाव और आत्मनिष्ठ दृष्टि से उसके ज्ञान के अभाव के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। शंका के रूप में यह कहा जाता है कि पहले क्षण में हम केवल भूमि को देखते हैं, फिर दूसरे क्षण में हम घड़े के अभाव को देखते हैं। परन्तु भूमि को देखने से कोई अर्थ नहीं निकलता। इससे किसी प्रकार की रिक्तता का स्वयमेव बोध नहीं होता। भूमि के देखने से घड़े के न होने का संज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार यह कहना कि हम केवल भूमि को देखते हैं निरर्थक है जब तक कि हम यह न कहे कि अमुक् वस्तु इस स्थान पर नहीं है। यह वस्तु के अभाव की भावना हम में पहले से विद्यमान है जिसको हम भूमि के विशेषण के तौर पर प्रयोग करते हैं। यह अभाव की भावना किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि इन्द्रिय-विषयक पदार्थ के अप्रत्यक्ष से उस वस्तु के अभाव की कल्पना तत्काल उत्पन्न होती है, इस संज्ञान के लिए किसी अन्य अभाव की आवश्यकता नहीं है। यह केवल वर्तमान के लिए ही सत्य नहीं है वरन् भूतकाल में भी वस्तुओं के अभाव के लिए सत्य है। उदाहरणार्थ जब हम यह सोचते हैं कि यहाँ पर हमने उस समय घड़ा नहीं देखा था।

इस प्रकार इन्द्रियार्थ वस्तुओं के अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

आत्मा, परमात्मा और मोक्ष

मीमांसा-दर्शन शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकर करता है। आत्मा मन, बुद्धि और शरीर से भिन्न है। आत्मा शाश्वत व्यापक और अनेक हैं। प्रत्येक शरीरवान् प्राणी में भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं। श्री प्रभाकर का कथन है कि प्रत्येक संज्ञान में हमें आत्मा का बोध होता है क्योंकि बोध शरीर के द्वारा न होकर इस आत्मा के द्वारा ही होता है, यह बोधात्मक आत्म-भावना सदैव विद्यमान रहती है जिसके परिप्रेक्ष्य

में ही हम सारे संज्ञान और प्रत्यक्ष ग्रहण करते हैं। सच तो यह है कि यह तथ्य ही आत्मा का शरीर से भिन्न होने का प्रमाण भी है। परन्तु श्री कुमारिल इस विश्लेषण से सहमत नहीं है कि प्रत्येक संज्ञान में अपने 'स्व' या आत्मा की चेतना अवचेतना रूप से सन्निहित होती हैं। श्री कुमारिल का मत है कि हमें अपने आपका या आत्मा का प्रत्येक समय ध्यान रहता है। हम यह जानते हैं कि हम शरीरधारी प्राणी हैं। हमको अपने संज्ञान में अपने आपका और शरीर का दोनों का ध्यान रहता है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि हमारे बोध-ज्ञान में केवल आत्मा का भान होता है, शरीर की कोई चेतना नहीं रहती। सत्य यह है कि संकल्प-विकल्प, ज्ञान, सुख-दुःख, गति, स्पंदन आदि शरीर के नहीं आत्मा के अंग हैं क्योंकि मृत्यु के पश्चात् शरीर विद्यमान रहता है परन्तु ये सारी क्रिया और अनुभूतियां समाप्त हो जाती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व होना चाहिए जो सुखदुःखादि का अनुभव करता है। वह कोई भिन्न तत्व होना चाहिए जिसके कारण शरीर गति करता है। ज्ञान, संवेदना आदि को आत्मा सहज ही ग्रहण करती है, ये आत्मा के अंग है, शरीर के अंग के रूप में किसी को भी दिखाई नहीं देते। कारणवाद का यह साधारण सिद्धान्त है कि कारणतत्वों के गुण कार्य में भी दिखाई देते हैं। शरीर पृथ्वी तत्व से बना हुआ है। पृथ्वी तत्व में ज्ञानादि गुण नहीं हैं अतः शरीर में ज्ञानादि गुण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि शरीर से भिन्न कोई ज्ञान का माध्यम होता है। कभी-कभी यह शंका उपस्थित की जाती है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो यह कर्त्ता और गतिवान् कैसे हो सकती है। इसके समाधान में मीमांसादर्शन का मत है कि यह आत्मा क्रिया या गति को परमाणु-स्पंदन के रूप में स्वीकार नहीं करता। क्रिया या गति का आधार वह शक्ति है जो परमाणुओं को गति प्रदान करती है, अतः क्रिया या गति ऊर्जा है, परमाणु नहीं है। आत्मा ही वह ऊर्जा या शक्ति है जिससे शरीर में गति उत्पन्न होती है। आत्मा ही शरीर की प्रेरक शक्ति और कर्त्ता है। यह आत्मा इन्द्रियों से भी भिन्न है। इन्द्रिय-दोष होने पर भी शरीर के अन्य व्यापार यथावत् चलते रहते हैं। यदि आत्मा और इन्द्रियां एक ही होते तो इन्द्रियों के साथ ही शरीर की सारी क्रिया समाप्त हो जातीं। परन्तु ऐसा नहीं है अतः स्पष्ट है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

इसके पश्चात् यह शंका होती है कि आत्मा का बोध कैसे होता है। श्री प्रभाकर का मत है कि आत्मा ज्ञाता है। सम्पूर्ण ज्ञान-बोध आत्मा के द्वारा ग्रहण किया जाता है। ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेय के बिना सम्भव नहीं है। ज्ञेय की स्थिति से ही ज्ञाता को जाना जा सकता है। किसी भी पदार्थ का बोध ज्ञाता के अभाव में नहीं हो सकता। ज्ञाता से ज्ञेय, ज्ञेय से ज्ञाता का ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों प्रकाशित होते हैं। अतः इन तीनों का प्रत्यक्ष एक साथ होता है, यही

'त्रिपुटि प्रत्यक्ष' सिद्धान्त है जिसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है। ज्ञान की क्रिया का मुख्याधार आत्मा है पर साधारणतया कर्त्ता के रूप में प्रकट होता है। संज्ञान आत्मा नहीं है परन्तु आत्मा संज्ञान का वह अधिष्ठान है जो प्रत्येक संज्ञान में अहम् के रूप में सन्निहित रहता है और जिसके अभाव में कोई भी संज्ञान या बोध सम्भव नहीं है। गहरी निद्रा में (सुपुप्तावस्था) जब हम किसी पदार्थ को नहीं देखते है तो आत्मा का भी ध्यान नहीं जाता।

श्री कुमारिल का मत है कि हम आत्मा को अपने मन में देखते हैं। आत्मा शरीर से भिन्न मनुष्य की अहम्-चेतना का आधार है। अर्थात् यह 'मैं' शरीर से भिन्न कोई अन्य तत्व है। यह आत्मा ही हमारे चेतन और अवचेतन मन में अहम् के रूप में विद्यमान रहती है। आत्मा के इस बोध को श्री कुमारिल ने 'मानस-प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी है। श्री प्रभाकर ने कहा है कि आत्मा हीं ज्ञाता है और प्रत्येक वस्तु के संज्ञान के साथ ही आत्मा का बोध होता है। आत्मा और वस्तु दोनों ही ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। प्रत्येक बार जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस ज्ञान के प्रकाश में हम ज्ञाता रूप आत्मा को भी देखते हैं। उनके अनुसार यह सत्य है कि अहम् की पृष्ठभूमि में आत्मा का अस्तित्व छिपा हुआ है परन्तु आत्मा का ज्ञान वस्तु के ज्ञान के साथ नहीं होता। यह आत्मा प्रत्येक संज्ञान में ज्ञाता (कर्त्ता) के रूप में प्रकट नहीं होती। आत्मा का ज्ञान एक भिन्न मानसिक प्रक्रिया के द्वारा होता है। अहम्-चेतना के मनन और मन्थन से शरीर से भिन्न किसी तत्त्व का बोध होता है। आत्मा स्वयं अपने आपको प्रकाशित नहीं करती इस पर प्रभाकर और कुमारिल दोनों एकमत हैं। दोनों का मत है कि आत्मा 'स्वयं प्रकाश' नहीं है। यदि आत्मा स्वयं प्रकाश होती, तो हम गहरी निद्रा में भी इसके कार्य को देख पाते जब इन्द्रियादि का सारा व्यापार निष्पंद हो जाता है। गहरी निद्रा एक अचेतन अवस्था है जिसमें किसी प्रकार की चेतना और आनन्द का बोध नहीं होता। यदि यह आनन्द की अवस्था होती तो मनुष्य यह शिकायत नहीं करते कि असामयिक निद्रा ने हमको इस आनन्द से वंचित कर दिया। जब साधारणतया यह कहा जाता है कि मैं बड़े आनन्द से सोया तो उसका अर्थ यह होता है कि सोते समय कोई कष्ट नहीं हुआ। मनुष्य ऐसा भी कहते हैं कि मैं ऐसी गहरी नींद में सोया कि मुझे अपने आपका भी होश नहीं था। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा सुपुप्तावस्था में न अपने आपको प्रकाशित करती है न यह आनन्द की स्थिति होती है। आत्मा परमाणुवत् नहीं है क्योंकि हम एक साथ शरीर के भिन्न-भिन्न अंशों में संवेदनाओं का अनुभव करते हैं। यदि यह परमाणु के समान होती तो एक समय में एक ही स्थान पर हम संवेदना की अनुभूति करते। जैन मत के अनुसार आत्मा शरीर के अनुसार आकार वाली होती है और शरीर के आकार के अनुरूप बढ़ती-घटती है। परन्तु यह भी सत्य नहीं है। सत्य यह है कि आत्मा व्यापक

तत्त्व है, जैसा कि वेदों में वर्णित है। यह आत्मा भिन्न जीवों में भिन्न भिन्न होनी चाहिए अन्यथा सभी लोगों का दृष्टिकोण और अनुभूति एक ही प्रकार की होती।[1]

कुमारिल आत्मा को ज्ञान शक्ति[2] के रूप में देखते हैं। मन और इन्द्रियों की क्रिया से संज्ञान होता है। आत्मा का भी संज्ञान मन के द्वारा होता है। मोक्ष के बाद मन व इन्द्रियों की क्रिया समाप्त हो जाने के पश्चात् आत्मा शुद्ध ज्ञान-शक्ति के रूप में अव्यक्त अवस्था में रहती है। इस समय में यह सुख-दुःख, आनन्दादि सबसे परे होती है। वेदान्त दर्शन ने मोक्ष के पश्चात् आत्मा की स्थिति को आनन्दमय माना है परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि आनन्दादि मन-इन्द्रिय की क्रिया से उत्पन्न होते हैं। मोक्ष के पश्चात् आत्मा विशुद्ध ज्ञान-शक्ति के रूप में अवस्थित होती है। मोक्ष के संबंध में श्री प्रभाकर का भी यही मत है।

अच्छे बुरे कर्मों के कर्म फल का पूर्ण उपभोग कर मनुष्य जब 'काम्य कर्मों' का परित्याग कर देता है, जब निष्काम रूप से संध्यादि नित्यकर्म करता हुआ सारे फलदायक कर्मों से उपरत हो जाता है तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। नित्य कर्म वे हैं जिनके न करने से पाप का भागी होना पड़ता है, परन्तु जिनके निष्काम रूप से करने से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य जन्म-मरण रूप शरीर के बन्धन को छोड़कर मोक्ष गति प्राप्त करता है।

मीमांसा इस संसार के रचयिता या प्रलयकर्त्ता के रूप में परमात्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करता। यह संसार अनादि और अनन्त है। यह शाश्वत है, इसी प्रकार चल रहा है। प्राणियों की उत्पत्ति में परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जीवमात्र की उत्पत्ति, जनन-क्रिया के नियमों के अनुसार माता-पिता के द्वारा होती है। परमात्मा कोई बढई या लुहार नहीं है जो बैठकर इस संसार को गढ़ता रहता है। न्याय के अनुसार धर्म-अधर्म के लिए किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता है पर मीमांसा का मत है कि धर्म और अधर्म का सम्बन्ध मनुष्य से है न कि परमात्मा से। परमात्मा से धर्म-अधर्म का किसी प्रकार का भी 'समवाय' या संयोग नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति

---

[1] 'श्लोक वार्तिक' में आत्मवाद और शास्त्रदीपिका में आत्मवाद और मोक्षवाद देखिए।

[2] मीमांसा-दर्शन न्याय के समान सारी क्रियाओं को अणु-स्पंदन के रूप में (परिस्पन्द) स्वीकार नहीं करता। मीमांसा शक्ति को एक भिन्न रूप में मानते हुए सिद्ध करता है कि इस ऊर्जा के द्वारा ही सारी गति-क्रिया सम्पन्न होती है। आत्मा स्वयं शक्ति है। स्वयं गतिहीन रहते हुए शरीर को गति प्रदान करती है। जब कभी किसी प्रकार की क्रिया दिखाई देती है तो स्पष्ट है कि किसी प्रकार की ऊर्जा का वस्तु के साथ सम्बन्ध हुआ है। परन्तु न्याय किसी भी अतीन्द्रिय शक्ति या ऊर्जा के सिद्धान्त को नहीं मानता। न्याय के अनुसार सारी क्रिया का आधार परमाणविक परिस्पन्द है।

और प्रलय के लिए परमात्मा की दया या क्रूरता का कोई कारण प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसी तर्क से यदि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने प्राणियों को दया कर उत्पन्न किया तो जैन प्राणियों का अस्तित्व ही नहीं है इन पर दया किस प्रकार की, यह समझ में नहीं आता। फिर यदि परमात्मा स्वयं सृष्टिकर्त्ता है तो उसका भी कोई वास्तव में कर्त्ता होना चाहिए। सत्य यह है कि यह सृष्टि अनादि अनन्त है। न प्रलय होता है और न सृष्टि। संसार इसी प्रकार अनन्त काल से चला आ रहा है। वास्तव में न कोई सृष्टा है न सृष्टि, न सृष्टि-रचना होती है और न प्रलय।

मीमांसा-दर्शन और कर्म-कांड

मीमांसा-दर्शन मुख्यतया वैशेषिक दर्शन के भौतिक सिद्धान्तों को मान्य समझता है। सांख्य और वैशेषिक ही ऐसे हिन्दू-दर्शन हैं जिन्होंने अपने दर्शन में भौतिक सिद्धान्तों को मान्यता देते हुए उनकी विशद् व्याख्या की है। अन्य दर्शनों ने उनको साधारणतया यथावत् स्वीकार कर लिया है। कुमारिल और प्रभाकर ने भी प्राय: उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है। न्याय-वैशेषिक के दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रभाकर और कुमारिल दोनों ने ही मान लिया है जो कर्मकांड आदि के लिए बुद्धि-संगत भी प्रतीत होता है।

मीमांसा और न्याय में मुख्य सैद्धान्तिक अन्तर ज्ञान-सिद्धान्त के सम्बन्ध में है। मीमांसा का मत है कि वेद स्वत: प्रमाण है, इनके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेदों की प्रामाणिकता के लिए परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सारा ही ज्ञान स्वत: प्रमाणित और सत्य है, अत: वैदिक आदेश और व्यवस्था भी स्वत: सिद्ध, सत्य और प्रामाणिक हैं। धर्म का प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। धर्म कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा किया जा सके। वेदविहित ढंग से उसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मकांड आदि करने से धर्म की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार धर्म और अधर्म के ज्ञान के लिए शब्द-प्रमाण ही मुख्य आधार है। इसके अतिरिक्त उचित संज्ञान के लिए अन्य प्रमाणों की भी आवश्यकता है जिससे वेद-मंत्रों के अर्थ में जहां सन्देह है उनको ठीक रूप से समझा जा सके। सृष्टि और प्रलय के सिद्धान्त को भी मीमांसा-दर्शन ने इस भय से स्वीकार नहीं किया है कि इससे वेदों के शाश्वत अनादि होने के सिद्धान्त का खंडन होता है। यहां तक कि परमात्मा के अस्तित्व को भी इसी हेतु स्वीकार नहीं किया गया है।

इन विधियों (आदेशों) के तीन प्रकार हैं—(१) अपूर्व विधि, (२) नियम विधि, (३) परिसांख्य विधि। अपूर्व विधि वह आदेश या विधि है जिसका हमें कोई पूर्व-ज्ञान नहीं है और जिसे हम आदेश के कारण ही जान पाते हैं। उदाहरण के लिए, जब यह विधि बतलाई जाए कि अक्षतों को धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तो हमको इस आज्ञा से ही यह बोध होता है कि यह विधि आवश्यक है। 'नियम' विधि अनेक विकल्पों में एक निश्चित विधान स्थापित करती है। उदाहरण के लिए, धान का छिलका कई विधियों से उतारा जा सकता है, यहाँ तक कि नाखून से भी छीला जा सकता है, परन्तु नियम-विधि एक निश्चित ढंग बताती है कि धान को कूट कर साफ करो। नियम-विधि में जो आदेश दिया गया है उसको हम पहले से जानते हैं पर हम उसे कई विकल्पों में से एक के रूप में जानते हैं, अतः नियम-विधि इनमें से एक चुनने का निश्चित आदेश देती है। 'अपूर्व विधि' उस विधि का आदेश देती है जिसका हमको कोई पता ही नहीं था और यदि यह आदेश नहीं मिलता तो वह विधि सम्पन्न ही नहीं होती। परिसंख्या-विधि वह विधि है जो अनेक क्रियाओं में की जा सकती है, जिसकी हमको जानकारी है, पर जो निश्चित प्रसंग में ही करना उचित है। उदाहरण के लिए 'मैं रास को ग्रहण करता हूँ' (इमाम् अगृभ्नाम् रशनाम्) ऐसे अर्थ वाले मंत्र में किसी भी जानवर की रास को ग्रहण करने या पकड़ने का उल्लेख होता है, पर परिसंख्या विधि के अनुसार गधे की रास पकड़ना निषिद्ध है, या गधे की रास को पकड़ते हुए इस मंत्र का पढ़ना वर्जित है।

वैदिक मन्त्र-वाक्यों की व्याख्या करने के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं—(१) जब वैदिक मंत्रों के शब्द ऐसे हों कि उनको एकसाथ पढ़कर ही पूर्ण अर्थ की प्राप्ति होती है तो उनको एकसाथ पढ़ना और अर्थ करना उचित होता है। यदि अलग-अलग अर्धवाक्यों का अर्थ स्पष्ट हो जाता हो तो उनको मिलाना या एक दूसरे के अर्थ के लिए संयुक्त करना उचित नहीं है, यह दूसरा सिद्धान्त है। (२) उन वाक्यों को जो स्वयं में पूर्ण नहीं है, या आधे वाक्य हैं, उनके लिए उसके पूर्व वाले वाक्यों से प्रसंगानुसार पूरक शब्दों को व्यवहार में लाकर अर्थ करना चाहिए।

धर्म का आधार विधि-विहित वेद-व्याख्या है। वेदों के सारे मन्त्रों को विधि-संहिता के रूप में हृदयंगम करना चाहिए। वेदों के सारे मंत्र करणीय विधि के रूप में मानने चाहिए और इस आदेशात्मक दृष्टि से ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए। जिन मंत्रों के द्वारा देवी देवताओं की प्रशंसा और माहात्म्य कहा गया है वे इन देवताओं की स्तुति और अर्चना की विधि हैं। इस प्रकार जो भी मंत्र विधि की प्रशंसा या अन्य वर्णन के रूप (अर्थवादस) में मिलते हैं उनको भी विधि वाक्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उनको अवैदिक समझकर उनका परित्याग कर देना चाहिए। वेदों का महत्व इसी में है कि उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए धर्म को प्राप्त करें।

वैदिक विधि-विधान के अनुसार किए हुए यज्ञ के कारण एक अद्भुत-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शक्ति कर्म में अथवा कर्त्ता में सन्निहित होती है। इस शक्ति को ही 'अपूर्व' (जो पहले नहीं थी) कहते हैं। यह यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल देती है। इससे पुण्यों का संचय होता है और पुण्य-धर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है। यह 'अपूर्व' तब तक यज्ञकर्त्ता में निवास करता है जब तक उसका अभीप्सित फल उसे प्राप्त नहीं हो जाता।[1]

कुमारिल और शबर के ग्रन्थों में यज्ञादि अनुष्ठानों और उनकी विधि के सम्बन्ध में विशद् व्याख्या मिलती है, जिसका वर्णन करना दर्शन की दृष्टि से विशेष सार्थक नहीं होगा।

—∞—

[1] डाक्टर गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और श्री माधव-रचित न्याय-माला-विस्तार देखिए।

अध्याय १०

शंकर का वेदान्त दर्शन

तर्क की अपेक्षा दार्शनिक तर्क-बोध का महत्व

संस्कृत में 'प्रमाण' का अर्थ वह साधन है जिसके द्वारा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। 'प्रमाता' वह व्यक्ति है जो ज्ञान प्राप्त करता है। प्रमाण से जो प्राप्त होता है वह सत्य ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। यथार्थ ज्ञान के विषय को 'प्रमेय' कहते हैं। 'प्रामाण्य' प्राप्त ज्ञान की वैधता स्थापित करता है। प्राप्त ज्ञान यदि तथ्यों के आधार पर सत्य प्रतीत होता है तो वह ज्ञान वैध है। यथार्थता का दूसरा अर्थ है प्रमाता के मस्तिष्क में ज्ञान की यथार्थता का ज्ञान। ज्ञान की यथार्थता से कभी यह तात्पर्य भी लिया जाता है कि ज्ञान की विषय (प्रमेय) के साथ तदानुकूलता हो अथवा कभी-कभी यह अर्थ भी लिया जाता है कि—"मेरे विचार सत्य हैं।" यह अन्तर्विचार है। प्रमाता प्राप्त ज्ञान को यदि सत्य मानता है तो उसी के अनुसार सुख-दुःख के लिए या दुःख के निवारण के लिए कर्म करता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति जब कोई कर्म करता है तो वह अपने प्रत्यक्ष को वैध मानकर ही उस कर्म की ओर प्रेरित होता है। इसमें एक ओर मनोवैज्ञानिक अनुभव के विश्लेषण पर आश्रित (आधारित) एक ज्ञान-सिद्धान्त आता है, दूसरी ओर ज्ञान-सिद्धान्त के अनुरूप एक दार्शनिक स्थिति इंगित होती है। ज्ञान का प्रामाण्य किसमें रहता है—यह प्रश्न प्रमाण-शास्त्र व मनोविज्ञानशास्त्र की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु इसकी दार्शनिक महत्ता भी है। ज्ञान के प्रामाण्य में मनोवैज्ञानिक और (तत्वपरक) तात्विक मीमांसा दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। दार्शनिक संप्रदायों ने अपने-अपने ढंग से ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, प्रमाण आदि विषयों की विस्तृत व्याख्या की है। इस व्याख्या और विश्लेषण में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, यहाँ तक कि तर्कशास्त्र स्वयं में यह एक विषय बन गया है, परन्तु वे तर्क, विषय-वस्तु के ज्ञान के लिए साधन मात्र हैं। वास्तव में विशेष महत्व उन दार्शनिक तत्व-बिन्दुओं का है जिनको सिद्ध करने के लिए जटिल तर्कशास्त्र का आश्रय लिया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में भी वेदान्त-दर्शन के दृष्टिकोण और उनके 'प्रमाणवाद' का संक्षिप्त रूप से मनन करना अधिक उचित होगा। प्रमाणवाद का अर्थ ज्ञान-प्राप्ति के सिद्धान्त हैं जिन्हें विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने मतानुसार प्रस्तुत किया है।

तत्कालीन दार्शनिक स्थिति की समीक्षा

जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि में आचार्य शंकर द्वारा निरूपित वेदान्त दर्शन का उदय हुआ उसे ठीक रूप से समझना आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि की समीक्षा से विभिन्न दृष्टिकोणों के संदर्भ में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का मनन करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

तत्कालीन मुख्य दर्शनों में बौद्ध दर्शन का विशेष स्थान है। इसकी भी कई शाखाएँ अपने-अपने ढंग से धर्म और मोक्ष की व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं। सौत्रान्तिक बौद्धों का कथन है कि मनुष्य 'पुरुषार्थ' के द्वारा अपनी इच्छाओं और कामनाओं को पूरा करना चाहता है। 'सम्यग्ज्ञान' (सत्यज्ञान) के अभाव में यह पुरुषार्थ सम्भव नहीं है। यह पुरुषार्थ सम्यग्ज्ञान, जो व्यक्तियों के समक्ष वस्तुओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है, के बिना सम्भव नहीं है। ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जबकि हमें वस्तुओं की ठीक उसी रूप में प्राप्ति हो जिस रूप में हमने उनको देखा है। हमारे प्रत्यक्ष से हमको पदार्थों का बोध होता है। जहाँ तक प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का सम्बन्ध है वहाँ किसी प्रकार की आलोचना का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु हम सब यह जानना चाहते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष कहाँ तक सत्य है। हम कर्म करते हैं। यदि प्रत्यक्ष मिथ्या है या भ्रान्ति-पूर्ण है तो निश्चित है कि हमें तद्नुसार कर्म करने से इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होगी, अतः 'अर्थ प्रापकत्व' की कसौटी ही ज्ञान की वैधता को प्रमाणित कर सकती है। हमारा प्रत्यक्ष उसी दशा में 'अभ्रान्त' (सत्य) कहा जा सकता है जब प्रत्यक्ष के द्वारा अर्थ-प्राप्ति हो, जब हमारे संज्ञान और बाह्य-जगत् की वस्तुओं के तथ्यों में 'संवादकत्व' हो। तथ्यों और प्रत्यक्ष में साम्य होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जो प्रत्यक्ष वस्तुपरक है, जो केवल कल्पना पर आधारित नहीं है वही वैध सत्य (यथार्थ) कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि 'यही वह गाय है जिसको मैंने पहले देखा था' तब मैं एक ऐसी वस्तु देखता हूं जिसके भूरा वर्ण, चार पांव, पूँछ, सींग आदि हैं, किन्तु 'यह गाय कहलाती है' अथवा 'यह इतने वर्षों से जीवित है' यह तथ्य चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि यह ज्ञान चाक्षुप प्रत्यक्ष के विपय से उत्पन्न नही होता है। हमारी दृष्टि की यह सामर्थ्य नहीं है कि हम उसके द्वारा गाय के पूर्व अस्तित्व का प्रत्यक्ष कर सकें। संसार में सारी वस्तुएँ क्षणिक हैं। जिस वस्तु को मैं इस समय, इस क्षण में देख रहा हूं वह पहले नहीं थी, अतः यह नाम और स्थायित्व की भावना काल्पनिक है। यह ज्ञान 'कल्पना' (अभिलाप) का विपय है, अतः हमारा प्रत्यक्ष गाय के सम्बन्ध में उतने अंश तक सत्य है जहां तक 'अभिलाप' का समावेश नहीं होता। हमें चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, वह सत्य है परन्तु जहां 'कल्पनापोढ़' प्रसंग उत्पन्न होता है वहां स्पष्ट ही भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया हम अभिलाप या कल्पना को भी प्रत्यक्ष

अनुभव के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। वास्तव में हमारा प्रत्यक्ष 'निर्विकल्प' स्थिति तक सीमित है। 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' वह अवस्था है जब हम नाम आदि का निर्धारण नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार इस प्रत्यक्ष के द्वारा ही 'मनोविज्ञान' (सुख, दुःख का मानसिक बोध) का विनिश्चयन होता है। किसी विशेष क्षण में हम एक वस्तु को प्रत्यक्ष के द्वारा 'ग्राह्य' रूप में देखते हैं और फिर दूसरे क्षण में हम उसे बाह्य-जगत् में साधनों के द्वारा प्राप्त करने योग्य समझकर तदनुसार कार्य करते हैं। वास्तव में प्रत्यक्ष का विषय (प्रत्यक्षविषय)[1] वस्तु का अपने सहज रूप में (स्वलक्षण) दिखाई

---

[1] धर्मकीर्ति के 'स्वलक्षण' शब्द के अर्थ के बारे में मेरे आदरणीय मित्र प्रो. श्चेरबात्स्की और मेरे बीच कुछ मतभेद है। प्रो. साहब मानते हैं कि धर्मकीर्ति का यह मत है कि प्रत्यक्ष के क्षण में वस्तु का लक्षण लगभग शून्य रहता है। उन्होंने मुझे लिखा है—"आपके निर्वचन अनुसार स्वलक्षण से अभिप्राय है वह विषय (अथवा विज्ञानवादियों के शब्दों में प्रत्यय) जिसमें समस्त भूत और समस्त भविष्य निरस्त कर दिया गया है। मैं इसका विरोध नहीं करता पर मेरा यह कहना है कि यदि समस्त भूत और समस्त भविष्य हटा दिया जाता है तो क्या बचेगा? वर्तमान ही तो, और वर्तमान एक क्षण है अर्थात् कुछ नहीं......क्षण के विपरीत होता है क्षणसन्तान अथवा केवल सन्तान और प्रत्येक सन्तान में भूत और भविष्य क्षणों का एकीभाव या समन्वय होता है जो बुद्धि द्वारा निर्मित है (बुद्धि-निश्चय-कल्पना अध्यवसाय) घट के प्रत्यक्ष में कुछ ऐसा तत्व होता है (ऐन्द्रिय ज्ञान का एक क्षण) जिसे हमें घट के प्रत्यय से विभिन्न ही समझना चाहिए (क्योंकि वह हमेशा एक सन्तान के रूप में होता है और सदा विकल्पित ही होता है), और यदि हम पूर्णतः निरुपाधिक रूप में उस प्रत्यय को हटा देते हैं तो कोई ज्ञान नहीं बचता; क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितु मशक्यत्वात्। यही 'अवबोध के संश्लेषण' वाला (सिंथेसिस ऑव एप्रीहेन्शन) कान्ट का सिद्धांत है। इसलिए प्रत्यक्ष, ज्ञान का अनुभवातीत स्रोत है—क्योंकि इस दृष्टि से देखा जाय तो वह वस्तुतः कोई ज्ञान नहीं देता। यह प्रमाण असत्कल्प है। कान्ट का कहना है कि अन्तःप्रज्ञा (ऐन्द्रिय-ज्ञान-प्रत्यक्ष-कल्पनापोढ़) के तत्वों के बिना हमारे संज्ञान खोजने होंगे और बुद्धि (कल्पना-बुद्धि-समन्वय या संश्लेषण-एकीभाव) के बिना वे अंधे होंगे। आनुभाविक रूप से दोनों हमेशा संयुक्त होते हैं। ठीक यही धर्मकीर्ति का सिद्धांत है। जहाँ तक मैं उसे समझा हूं वह विज्ञानवादी है क्योंकि वह मानता है कि केवल विज्ञान ही संज्ञेय है परन्तु यथार्थ हमारे ज्ञान का एक असंज्ञेय आधार है। वह मानता है कि वह बाह्य है, यह अर्थ है, यह अर्थक्रियाक्षण है अर्थात् स्वलक्षण है। यही कारण है कि उसे कभी-कभी सौत्रांतिक भी कह दिया जाता है और उसके सिद्धांत को कभी-कभी सौत्रांतिक विज्ञानवाद कहा जाता है जो अश्वघोष और आर्य संग के विज्ञानवाद से विपरीत है

देना है। उस वस्तु को प्राप्त करने की कल्पना और प्राप्ति के साधन, प्रत्यक्ष का फल (प्रत्यक्षफल) हैं। 'प्रत्यक्षफल' में हम उस विषय के स्वरूप और उसको प्राप्त करने

जिसमें संज्ञान की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है। यदि घट, जैसा वह हमारी प्रतीति में स्थित है—स्वलक्षण और परमार्थसत् है तो विज्ञानवाद का क्या बनेगा? किन्तु उसके हिसाब से घट का प्रत्यक्ष, घट के शुद्ध प्रत्यय (जिसे वे शुद्ध कल्पना कहते हैं) से विभिन्न है, वह यथार्थ है, ऐन्द्रिय क्षण है, जो हमें ऐन्द्रिय ज्ञान द्वारा दिया जाता है। कान्ट के शब्दों में अपने आप में एक चीज (थिंग इन इटसेल्फ) भी एक क्षण ही है और शुद्ध इन्द्रिय का ऐन्द्रिय ज्ञान है जो शुद्ध तर्कबुद्धि से विभिन्न है। धर्मकीर्ति भी शुद्ध कल्पना और शुद्ध प्रत्यक्षम् को अलग-अलग मानते है। सबसे ज्यादा दिलचस्पी की चीज प्रत्यक्ष और अनुमान में बताया गया भेद है, प्रत्यक्ष क्षण से संतान की ओर ले जाता है और अनुमान सन्तान के क्षण की ओर लाता है; यही कारण है कि भ्रांत होने पर भी अनुमान प्रमाण है क्योंकि इसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष रूप से भी [क्षणतक अर्थक्रियाक्षणतक] पहुँच जाते हैं। यह प्रत्यक्ष रूप से भ्रांत है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रमाण, जबकि प्रत्यक्ष प्रत्यक्षतः प्रमाण है और अप्रत्यक्ष रूप से भ्रान्त है (असत्कल्प)।"

जहाँ तक प्रो. श्चेरबात्स्की द्वारा सन्दर्भित उद्धरणों का प्रश्न है मेरा उनसे कोई मतभेद नहीं है पर मेरी यह धारणा है कि वे इस सारे निर्वचन को कान्ट के सिद्धांतों के जरूरत से ज्यादा निकट ले जाने के चक्कर में पड़ गए हैं। जब मैं यह प्रत्यक्ष करता हूं कि 'यह नील है, तो इस प्रत्यक्ष के दो भाग होते हैं, ऐन्द्रिय ज्ञान का वास्तविक लक्षणात्मक तत्व और निश्चय। यहाँ तक मुझ में और श्चेरबात्स्की में ऐकमत्य है, लेकिन प्रो. श्चेरबात्स्की कहते हैं कि यह ऐन्द्रिक ज्ञान केवल एक क्षण है और शून्य है। मैं भी यह तो मानता हूं कि यह क्षण है लेकिन यह मानता हूं कि वह शून्य केवल इस मायने में है कि वह उतना निश्चयात्मक नहीं है जितना 'यह नील है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान। दूसरे क्षणों में होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान पहले क्षण के प्रत्यक्ष के बल पर उत्पन्न है (प्रत्यक्ष बलोत्पन्न न्या. टी. पृ० २०) परन्तु यह प्रत्यक्ष बल बाद के क्षणों के निश्चयात्मक ज्ञान के फल से नितांत रहित होकर निर्लक्षण नहीं हो जाता यद्यपि हम इसका लक्षण बता नहीं सकते, ज्योंही हम उसकी अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करते हैं, निश्चयात्मक ज्ञान के साथ सम्बद्ध संज्ञाएँ और दूसरे प्रत्यय उसके साथ जुड़ जाते हैं जो प्रत्यक्ष के क्षण के भाग नहीं है। इस प्रकार इसकी अपनी प्रकृति अलग ही है, अनूठी है अर्थात् स्वलक्षण। किन्तु यह अनूठी प्रकृति क्या है? इस पर धर्मकीर्ति का यह उत्तर है कि अनूठी प्रकृति से उसका तात्पर्य है विषय के वे विशिष्ट लक्षण जो उस विषय के निकट होने पर स्पष्ट दिखाई दे जाते हैं और दूर होने पर धुंधले हो जाते हैं

के साधनों की जानकारी करते हैं–'येन कृतेन अर्थः प्रापितो भवति'। इस प्रकार 'प्रमाण' प्राप्त ज्ञान का तथ्यों से ऐसा साम्य है जिसके आधार पर हम अपने प्रत्यक्ष को सत्य मानते हुए अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। पर यह दूसरी अवस्था जिसमें हम फल के साधन हेतु विचार और कर्म करते हैं, 'प्रमाण फल' है। यह प्रमाण नहीं है। यह अन्तिम अवस्था प्रमाण-फल है न कि प्रमाण जो कि वस्तु के निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है और जो दृष्टा की दृष्ट वस्तु के प्रति प्रवृत्ति को विनिश्चित करता है। प्रमाण का अर्थ केवल वस्तु का ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष है जिसमें हम केवल विषय को कल्पनाविहीन दृष्टि से देखते है और जिसके द्वारा देखने वाला (प्रत्यक्षकर्त्ता) उस विषय के सम्बन्ध में अपना मत निर्धारण करता है। इस प्रकार प्रमाण केवल नवीन ज्ञान (अनधिगताविगन्तृ) मात्र है, परन्तु उपर्युक्त व्याख्या से यह प्रमाणशास्त्रीय प्रश्न स्पष्ट नहीं

(यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्याम् प्रतिभासभेद स्तत् स्वलक्षणम् न्या० पृ० १ तथा न्या० टी० पृ० १६) इस प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान हमको विषय के विशिष्ट लक्षण का बोध, कराता है और इसका वही रूप होता है जो उस विषय का, यह 'नील' की अपने विशिष्ट रूप में मस्तिष्क में प्रतीति ही है और जब यह प्रतीति निश्चयात्मक और प्रत्ययात्मक प्रक्रिया से युक्त हो जाती है तो उसका फल होता है 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान। नीलसरूपम् प्रत्यक्षमनुभूयमानं नीलबोधरूप मवस्थाप्यते... नीलसारूप्यमस्य प्रमाणम् नीलविकल्पनरूपं त्वस्य प्रमाणफलं, न्या० टी० पृ० २२)। पदलेक्षण में नील का प्रतिभास होता है (नीलनिर्भासं हि विज्ञानम् न्या० टी० पृ० १९) और यह साक्षात् ज्ञान होता है (यत् किंचित् अर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्ष मुच्यते, न्या० टी० पृ० ७) और यह ज्ञान यथार्थ (परमार्थसत्) और वैध होता है। यह नील की प्रतीति 'यह नील हैं,' इस प्रकार के बोध से विभिन्न होती है (नील बोध न्या० टी० पृ० २२) जो प्रतीति का परिणाम होता है (प्रमाणफल) जो कि निश्चयात्मक प्रक्रिया (अध्यवसाय) से जुड़ने के कारण निकलता है और अशुद्ध माना जाता है क्योंकि उसमें उस तत्व के अलावा भी कुछ तत्व होते हैं जो प्रत्यक्ष के समय इन्द्रिय के सन्निकृष्ट होता है, इसलिए उसे विकल्प प्रत्यय कहा जाता है। इस प्रकार मेरे मत में स्वलक्षण का अभिप्राय हुआ–प्रत्यक्ष के क्षण में विषय अपने विशिष्ट लक्षण की प्रतीति और धर्मकीर्ति के अनुसार यही वह ज्ञान है जो प्रत्यक्ष में शुद्ध होता है और उसके बाद जो प्रत्यय बनता है वह विकल्प प्रत्यय अथवा प्रमाण-फल होता है। लेकिन यद्यपि यह फल विषय का ही परिणाम होता है फिर भी चूंकि वह अगले क्षणों से जन्मा होता है इसलिए पहले क्षण में जो प्रतिभास होता है उसकी शुद्ध स्थिति को वह नहीं पहुँचाता (क्षणस्य प्रापयितु मशक्यत्वात्–न्या० टी० पृ० १६)।

–न्या० टी० –न्यायबिन्दु टीका, न्या–न्यायाबिन्दु (पीटरसन संस्करण)।

होता कि बाह्य जगत् से ज्ञान क्योंकर उत्पन्न होता है अथवा यह ज्ञान क्या है। पार्थिव जगत् का ज्ञान की उत्पत्ति में क्या स्थान है ? ये सारे प्रश्न अस्पष्ट ही रह जाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के उपर्युक्त विवेचन से केवल यही स्पष्ट होता है कि हमारा ज्ञान तथ्यों के आधार पर सत्य है अथवा नहीं और इस ज्ञान का फल-प्राप्ति के लिए कितना महत्व है। ज्ञान बाह्य-जगत् से कितना सम्बद्ध है और बाह्य-जगत् का ज्ञान की उत्पत्ति और विनिश्चयन में क्या स्थान है, इसकी कोई मीमांसा नहीं की गई है।

योगाचार शाखा भी सौत्रान्तिक बौद्धों के समान ही अपने ज्ञान-सिद्धान्त में बाह्य जगत् को कोई महत्व नहीं देती है। इस शाखा का मत है कि हमारा सम्पर्क केवल ज्ञान से ही होता है। बाह्य-जगत् के सम्पर्क में हम ज्ञान के द्वारा ही आते हैं। हमारा बाह्य-जगत् से कोई सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। हम यह कहते हैं कि बाह्य-जगत् के प्रतिबिंब को हम अपने ज्ञान में पाते हैं। वेदना अनुभूति का आधार बाह्य-जगत् है, परन्तु यदि यह कह दिया जाए कि हमारे लिए केवल यह वेदना ही सत्य है तो क्या हानि है। हम किसी वस्तु के सम्पर्क में इस वेदनानुभूति के अभाव में नहीं आ सकते। ज्ञान के उदय के साथ ही बाह्य-जगत् की वस्तुओं का उदय होता है, अतः ज्ञान और वस्तु एक ही होनी चाहिए। वस्तु ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकती (सहोपलंभनियमात् अभेदो नीलतद्धियोः) ज्ञान का ही प्रतिबिंब बाह्य-जगत् है। हम स्वप्न में भी ज्ञान प्राप्त करते हैं और स्वप्न में किसी पार्थिव जगत् का अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार हमारे ज्ञान से भिन्न कोई पार्थिव जगत् नहीं है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि यदि पार्थिव जगत् नहीं है तो ज्ञान के इतने भिन्न-भिन्न स्वरूप कैसे उत्पन्न होते हैं। हमारे ज्ञान की अनुभूतियों की भिन्नता से हमको पार्थिव जगत् को मानना ही पड़ता है, परन्तु इस मत के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि पार्थिव जगत् की विभिन्न वस्तुओं में हमारे ज्ञान को अनन्तरूपेण प्रभावित और सुनिश्चित करने की अपार शक्ति है। यदि ऐसा है तो यह कहना पड़ेगा कि अनन्तकाल से जिस ज्ञान का प्रवाह हो रहा है, उस ज्ञान के पूर्व स्थित क्षणों की क्षमता द्वारा भविष्य के ज्ञान-क्रम का निर्धारण हो रहा है। यह क्षमता ज्ञान में ही निहित है, अतः पूर्व-ज्ञान की आन्तरिक विशिष्ट क्षमता उत्तरकालीन ज्ञान का आधार है। इस प्रकार केवल ज्ञान ही वास्तविक अस्तित्व है। यह पार्थिव जगत् मिथ्या है, यह ज्ञान का ही मायावी प्रतिबिंब है। अनादि 'वासना' के कारण ही हमें बाह्य पार्थिव जगत् का भ्रम होता है। पूर्वज्ञान से ही वर्तमान ज्ञान का विनिश्चयन होता है और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। सुख-दुःख आदि ऐसे गुण नहीं हैं जिनके लिए किसी स्थायी अस्तित्व की आवश्यकता हो। ये ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप है। इनको भ्रान्ति से आत्मा के गुण के रूप में मान लिया जाता है।

जब इन शब्दों का उच्चारण किया जाता है कि 'मैं किसी नीली वस्तु को देखता हूं' तो भ्रान्ति से किसी शाश्वत अस्तित्व की कल्पना करली जाती है जो नीली वस्तु का

द्रष्टा है, परन्तु यह वास्तव में ज्ञान का ही एक स्वरूप है। सारे संज्ञान क्षणिक हैं, परन्तु जब इस प्रकार का बोध-ज्ञान-प्रवाह चलता रहता है तो पहले क्षणों में हुई बोध-अनुभूति की स्मृति और स्मृति के आधार पर, पूर्वदृष्ट वस्तु के पुनर्बोध से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वस्तु पूर्ववत् है, स्थायी है, परन्तु वस्तु या ज्ञानक्षण (जो कुछ भी हो) का उत्पत्ति के उत्तरक्षण से नाश हो जाता है। वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, जो कुछ हमको बोध होता है वह केवल वस्तु का ज्ञान मात्र है। इस प्रकार वस्तु और ज्ञान को हम एक ही मान सकते हैं क्योंकि वस्तु के ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। ज्ञान-क्षण के नष्ट होने के साथ ही वस्तु का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाता या बोधकर्ता का भी कोई शाश्वत या स्थायी अस्तित्व नहीं है। संज्ञानात्मक प्रवाह के क्रम के कारण कभी-कभी व्यक्ति विशेष के स्थायित्व की भ्रान्ति होती है, परन्तु प्रत्येक बोध-क्षण का भिन्न अस्तित्व है। वह एक क्षण के लिए उत्पन्न होता है, और फिर नष्ट हो जाता है। संसार की सभी वस्तुएँ इन ज्ञान-क्षणों में ही निहित है, इनके साथ ही उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। वास्तव में न कोई ज्ञाता है, न ज्ञेय, न ज्ञान। यह सब इन्हीं ज्ञान-क्षणों में समाहित हैं।

इस प्रकार के बौद्ध आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार वस्तु-परक दृष्टिकोण का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। न्याय, सांख्य और मीमांसा दर्शन आत्मा और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करते हैं और अपने दर्शन में इनके पारस्परिक संबंध का विश्लेषण करने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दू दार्शनिकों की दृष्टि में ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता ही महत्वपूर्ण नहीं थी, प्रत्युत् ज्ञान का स्वरूप और जिस ढंग से यह अस्तित्व में आया, इन तथ्यों को भी महत्वपूर्ण माना गया।

न्याय के अनुसार प्रमाण वह है जिससे ज्ञान की सत्यता और निर्भ्रान्ति साधन का निर्णय होता है। सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन 'बोध' (वस्तुचेतना) और विशिष्ट कारण तत्व है (बोधाबोध स्वभाव)। इस प्रकार संज्ञानात्मक प्रक्रिया में प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में चक्षुरिन्द्रिय का वस्तुविशेष (घट) से सम्पर्क होने पर एक अनिश्चित चेतना का (घटत्व) उदय होता है जिसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। फिर अन्य कारण-तत्वों की निश्चित दृष्टि के आधार पर निश्चित ज्ञान हो जाता है कि यह घड़ा है। 'घटत्व' के 'विशेषण ज्ञान' से ही 'घट' की 'विशिष्ट बुद्धि' का उदय होता है। पहला क्षण निर्विकल्प अवस्था का और दूसरा सविकल्प ज्ञान का होता है।

अनुमान प्रमाण में 'लिंग' के आधार पर और उपमान में वस्तु-साम्य से ज्ञेय को जाना जाता है, परन्तु बौद्ध दर्शन में ज्ञान ही को प्रमाण माना जाता है। सत्य, ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि ज्ञान ही ज्ञेय वस्तु का सत्य स्वरूप है। बाह्य वस्तु के रूप के अनुरूप ही ज्ञान के रूप का होना ही उसकी सत्यता का प्रमाण है, अर्थात् जिस

बाह्य नीली वस्तु को हम देखते हैं वह ज्ञान के रूप में ही दिखाई देती है। उस वस्तु के नीलत्व (नीलिमा) का प्रमाण हमारा ज्ञान ही है। बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिससे हमारे ज्ञान का विनिश्चयन होता है, वह प्रमाण है और जब हम अपनी दृष्टि और व्यवहार का निश्चय इस ज्ञान के आधार पर करते हैं तो वह 'प्रमाण फल' कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में ज्ञान का महत्व बाह्य जगत् को ठीक-ठीक समझने और तद्नुसार अपने व्यवहार को निश्चित करने (अध्यवसाय) की दृष्टि से है।

इसके विपरीत न्याय-दर्शन ने इस तथ्य का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है। न्याय के अनुसार ज्ञान अन्य गुणों के समान हमारी आत्मा का गुण है। यह आत्मा से भिन्न है पर कारण-संयोग से उत्पन्न होकर आत्मा के साथ संयुक्त होता है, जैसे संसार में कारण-संयोग से वस्तुविशेष में विशेष गुणों का समावेश होता है। प्रमाण के द्वारा नए ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती (अनधिगताधिगन्तृ) जैसा कि बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है, परन्तु जब अनेक प्रमाणों के योग से हम नवीन अथवा पहले से पूर्वाधिगत (जाने हुए) ज्ञान को ग्रहण करते हैं। सरल शब्दों में, जिस प्रकार संसार में कारण-संयोग से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी कारण-सामग्री के योग और गति से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, 'आत्मा' और 'मनस्' मनस् और इन्द्रियों, इन्द्रियों और वस्तुओं के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्याय की इस दृष्टि में कई अस्पष्ट तत्व हैं। पार्थिव जगत् की घटनाओं और ज्ञान के अन्तर को समझाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। न्याय, वास्तव में ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, यह स्पष्ट नहीं कर सका है। इस ज्ञान का बाह्य जगत् से क्या सम्बन्ध है यह भी स्पष्ट नहीं है। न्याय के अनुसार सुख, दुःख, इच्छा आदि आत्मा के गुण हैं। आत्मा की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा वह तत्त्व है जो निर्गुण है। आत्मा का इस निर्गुण रूप में जानना प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इसका इसके गुणों के द्वारा ही अनुमान से जाना जा सकता है। गुणों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, परन्तु जैसे ही किसी नवीन वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, उसमें गुणों का समावेश हो जाता है। न्याय दर्शन में अनुमान प्रमाण पर विशेष आग्रह है। न्याय का सारा आधार तार्किक रहा है। सम्भवतः तर्क और अनुमान की विशिष्ट दृष्टि से ही दार्शनिक विश्लेषण करते हुए सारी मान्यताओं को स्थिर किया गया होगा। इस दृष्टि से आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुभूति का स्थान केवल इतना ही रह गया कि वह अनुमान से जाने तथ्यों का सत्यापन मात्र कर दे। तार्किक प्रत्यक्ष के सामने अनुभव का स्थान गौण हो गया, यह स्पष्ट है।[1]

उधर सांख्य ने ज्ञान और बाह्य घटनाओं के अन्तर को स्पष्ट रूप से स्वीकार

---

[1] 'न्याय मंजरी' में प्रमाण की व्याख्या देखिए।

किया है। बाह्य वस्तुओं का संस्कार एक विशेष सत्वपटल पर पड़ता है। इस सत्वपटल की विशेषता यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म पारभासक तत्त्व है जिस पर बाह्य जगत् की वस्तुओं की छाप अंकित हो जाती है। यह सूक्ष्म ज्ञान का ही अंग है। इस पारभासक सत्व में बाह्य जगत् की घटनाओं का निरन्तर बिम्ब पड़ता रहता है, अनेक रूप में परिवर्तित संस्कारित यह सूक्ष्म तत्त्व 'चित्' (पुरुष) द्वारा प्रकाशित होता है।

वह चेतन आत्म तत्त्व है जो पारभासक सत्व में प्रतिबिम्बित बाह्य घटनाओं को प्रकाशित कर उन्हें अर्थवान् करता है। शुद्ध चेतन 'पुरुष' से प्रकाशित बाह्य घटनाओं के बिंब, बुद्धि ग्रहण करती है। सरल शब्दों में अतीन्द्रिय चेतन 'पुरुष' की शक्ति से प्रकाशमान बाह्य वस्तुओं का स्वरूप, मानसपटल पर पडते हुए, बुद्धि के द्वारा ग्रहण किए हुए ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता (स्वत: प्रामाण्य एवं स्वत: अप्रामाण्यं) बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा भविष्य में ग्रहण किए बुद्धि-रूपों पर निर्भर करती हैं। ज्ञान का बुद्धिरूप ही प्रमाण है। प्रमाण के द्वारा 'प्रमा' तक पहुँचा जा सकता है, परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि प्रमाण (ज्ञान का साधन और क्रिया) 'पुरुष' के द्वारा प्रकाशित हो। 'पुरुष' का बुद्धि के साथ सम्पर्क अतीन्द्रिय है। सांख्य दर्शन में अलौकिक पुरुष के अभाव से ही प्रकृति की सारी गति उत्पन्न होती है। जड़ बुद्धि को चेतना देने वाली शक्ति भी यह 'पुरुष' है। सांख्य ने बाह्य जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया, उससे मन पर पड़ते हुए बिंबों को सहज रूप में समझा, मानस-पटल को विशिष्ट सत्व के रूप में देखते हुए यह व्याख्या की कि बाह्य जगत् की सारी घटनाओं और आकारों की प्रतिकृति इस सूक्ष्म पारभासक पटल पर अंकित हो जाती है, परन्तु जड़, प्रतिबिंब यदि बाहर अर्थहीन है तो अन्दर भी अर्थहीन है, जब तक किसी चेतन के प्रकाश में यह अर्थवान न हो। यह चेतन प्रकाश तत्त्व ही वह अलौकिक अतीन्द्रिय 'पुरुष' है जो भौतिक जगत् की स्थिति से भिन्न है। इस प्रकार ज्ञान-चेतना की उत्पत्ति का आधार भौतिक और अतीन्द्रिय दोनों ही हैं।

मीमांसाकार श्री प्रभाकर न्याय के इस मत से सहमत हैं कि ज्ञान का उदय इन्द्रियों के पार्थिव भौतिक जगत् के सम्पर्क में आने से होता है। पर साथ ही उनकी यह मान्यता है कि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों एक ही क्षण में प्रकट होते हैं। ज्ञान की यह क्षमता है कि वह अपने आपको प्रकट करने के साथ ही ज्ञाता और ज्ञेय को भी प्रकाशित करता है। क्योंकि वास्तव में ज्ञान ही वह वस्तु है जो संसार के सारे पदार्थों को प्रकट करती हैं, यही प्रमाण है जिसमें हम भौतिक पदार्थों को देखते और समझते हैं। इस दृष्टि से 'प्रमा' या 'प्रमिति' (ज्ञान) और 'प्रमाण' एक ही हैं, जिसके द्वारा हम घटना-क्रम को उचित संदर्भो में समझते हैं। कारण-सामग्री भी प्रमाण हो सकती है क्योंकि इसके द्वारा 'प्रमा' की प्राप्ति होती है। प्रमा अथवा सत्यज्ञान की कभी भी नवीन उत्पत्ति नहीं होती। सत्यविद्या सदैव से विद्यमान है, परन्तु परिस्थिति के

अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती है। ज्ञान का प्रामाण्य भौतिक वस्तुओं के प्रति निश्चित मंतव्य पर पहुँचना है, अर्थात् ज्ञान के उदय के साथ ही हम वस्तु विशेष के प्रति अपना मत निर्धारित कर लेते हैं और तदनुसार कार्य करते हैं। हम किसी अन्य प्रमाण की प्रतीक्षा नही करते। यही ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य है। निर्विकल्प ज्ञान वस्तु विशेष का सम्पूर्ण ज्ञान है। इसका अर्थ असंवेदनीय परिकल्पनात्मक अनिश्चित बोध नहीं है जैसाकि न्याय दर्शन ने माना है। सविकल्प ज्ञान तब होता है जब हम निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था में प्राप्त ज्ञान की पूर्व स्मृति का सम्बन्ध अन्य वस्तुओ से जोड़ते है तथा पुन: यह निश्चय करते हैं कि हमारा पूर्व ज्ञान सत्य है। यह निर्विकल्प और सविकल्प अवस्था प्रत्यक्ष का अंग हैं, और ज्ञान की प्रक्रिया में लगभग एक साथ ही कार्य करती हैं, यद्यपि इस विनिश्चयन के क्रम में निर्विकल्प अवस्था पहले और सविकल्प निर्विकल्प के पश्चात् कार्य करती है।[1]

सांख्य दर्शन के इस मत के अनुसार चेतना के दो अंग है, पहला, अतीन्द्रिय शुद्ध चित् और दूसरा, पार्थिव बुद्धि। श्री प्रभाकर ने सांख्य के इस मत को अस्वीकार करते हुए कहा है कि बोध चेतना एक ऐसी विलक्षण वस्तु है जो ज्ञेय और ज्ञाता को विद्युत् की तरह एक ही कौंध में प्रकट कर देती है। ज्ञान का प्रामाण्य बाह्य वस्तुओं को तदनुसार प्रदर्शित करने में (प्रदर्शकत्व) न होकर 'अनुभूति' के आधार पर कार्य-प्रेरणा में है। जब हम किसी प्राप्त ज्ञान के आधार पर निर्संशय एवं निश्चित मन से किसी कार्य को करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं तो यह निश्चित है कि उस ज्ञान को हम सत्य मानते हैं जो हमारी अनुभूति से हमको प्राप्त हुआ है। यही ज्ञान का प्रामाण्य है। ज्ञान स्वत: प्रकाशित स्वतंत्र सत्ता है जिसे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, परन्तु इस सम्बन्ध में श्री प्रभाकर ने कोई विशेष विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है कि ज्ञान अपने स्वत: प्रकाश्य स्वरूप से परे और क्या है?

कुमारिल भट्ट ज्ञान को एक ऐसी मानसिक क्रिया के रूप में देखते हैं जो भौतिक पदार्थों की चेतना या 'ज्ञातता' उत्पन्न करती है। ज्ञान को केवल इस मानसिक क्रिया के आधार पर ही अनुमान से जाना जा सकता है। ज्ञान को स्वयं को प्रत्यक्ष रूप में नहीं जाना जा सकता। ज्ञान वह गति या क्रिया है जिसमे बाह्य वस्तुओं को बोध-चेतना या 'ज्ञातता' होती है। यह गति या क्रिया जिससे ज्ञान का प्रवाह होता है केवल आणविक स्पन्दन नहीं है वरन् ऐसी अतीन्द्रिय क्रिया है जिसके फलस्वरूप

---

[1] सांख्य का मत है कि निर्विकल्प ज्ञान की अस्पष्ट अवस्था है। जब हम प्रथम बार किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्बन्ध में एक साधारण, सामान्य भावना मन में स्थापित करते हैं, पर दूसरे ही क्षण जब यह भावना स्पष्ट हो उठती है तब यह सविकल्प ज्ञान की अवस्था हो जाती है।

परमाणविक स्पन्दन सम्भव है। ज्ञान कारण-संयोग से उत्पन्न फल न होकर स्वयं एक क्रिया है। ये नैयायिक मत की गत्यात्मकता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका मत है कि मन में जब इच्छा इत्यादि का प्रादुर्भाव होता है तब ऐसे कारण उत्पन्न होते हैं जिनकी क्रिया से ज्ञान उत्पन्न होता है। पर कुमारिल इस कारण-संयोग के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान फल न होकर स्वयं एक क्रिया है। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल एक मत हैं। अनुभूति द्वारा जिस ज्ञान की उत्पत्ति के आधार पर पूर्वज्ञान के सत्यापन की बात अन्य दर्शनों द्वारा कही जाती है वह केवल उत्तरकालीन ज्ञान है और इससे पूर्व प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

अनुभव के आधार पर जिस पुनः प्राप्त ज्ञान के आधार पर पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना चाहते हैं उसमें और पहले प्राप्त ज्ञान में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। यदि पुनः प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक है तो पूर्व प्राप्त ज्ञान भी उतना ही प्रामाणिक है, अतः 'सम्वादी' या उसी विषय पर पुनः प्राप्त ज्ञान के प्रमाण के रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियों के सन्निवेश के साथ ही 'स्वात्म' की गति से जब कोई बोध होता है तो उसे ज्ञान कहते हैं।[2] आत्म चेतना की मानसिक प्रक्रिया से ही हम इस स्वात्म की गति का अनुभव करते हैं। कुमारिल ज्ञान को पार्थिव वस्तुनिष्ठ चेतना न मानते हुए एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यह ज्ञानरूपी मानसिक प्रक्रिया इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानी जा सकती है, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार कुमारिल इन्द्रियजन्य पार्थिव वस्तुनिष्ठ चेतना और ज्ञान की अतीन्द्रिय मानसिक क्रियात्मक स्थिति का स्पष्ट विश्लेषण करते हैं।

सांख्य मीमांसा और विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन की आदर्शवादी धारा के अनुसार हमारा वास्तविक सम्पर्क केवल ज्ञानतत्त्व से ही होता है। विज्ञानवादी तो पार्थिव जगत् की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, अतः ज्ञान के प्रामाण्य का कोई स्थान ही नहीं रहता। सांख्य बाह्य जगत् की भौतिक सत्ता को तो स्वीकार करता है परन्तु उसने 'प्रबुद्ध' 'चित्' और ज्ञान के विषय 'जगत्' इन दोनों में एक वैषम्य स्थापित कर दिया है। श्री प्रभाकर ने इस अन्त को अनदेखा किया तथा श्री अन्तर्दर्शन की इसी अभिव्यक्ति से संतुष्ट रहे कि ज्ञान एक ऐसी अद्भुत वस्तु है, जो ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों को एक साथ स्पष्ट करती है। श्री कुमारिल ने हमारे 'वस्तुबोध' की पृष्ठभूमि

---

[1] 'न्याय रत्नमाला' स्वतः प्रामाण्य निर्णय।

[2] प्रमाण के प्रसंग में 'न्याय मंजरी', प्रत्यक्ष प्रसंग में 'श्लोक वार्तिक' और श्री गागभट्ट रचित 'भट-चिन्तामणि' में प्रत्यक्ष की व्याख्या देखिए।

में एक अतीन्द्रिय मानसिक प्रक्रिया की कल्पना की है, परन्तु ज्ञान को स्वात्मा से भिन्न तत्त्व माना है।

परन्तु इस तथ्य को किसी ने भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया है कि ज्ञान का संबंध बाह्य जगत् की वस्तुओं से कैसे और किस प्रकार होता है। ज्ञान का विषय यह पार्थिव जगत् सत्य है या असत्य ? वास्तविक सत्य क्या है, इस विषय का कोई विश्लेषण नहीं मिलता। हमारा ज्ञान पार्थिव जगत् की वस्तुओं के अनुकूल है या नहीं, बाह्य तथ्यों के अनुसार हमारा ज्ञान प्रामाणिक माना जा सकता है अथवा नहीं, ज्ञान का उदय और सत्यापन किस प्रकार होता है, ऐसे विषयों पर ही विचार होता रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि वास्तविक सत्य क्या है ? वह क्या है जो इस भौतिक परिवर्तनशील जगत् का आधार है ? वह कौनसा सत्य है, वह कौनसा शाश्वत तत्त्व है जो हमारे सारे ज्ञान का आधार है ? इस चिरंतन परम सत्य की दार्शनिक जिज्ञासापूर्ण खोज ही हिन्दू-दर्शन का लक्ष्य रहा है।

वेदान्त साहित्य

'ब्रह्म-सूत्र' का रचना-काल निश्चित नहीं है, परन्तु इसके अन्तःसाक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना का समय उपर्युक्त दर्शनों के पश्चात् रहा होगा। इसमें सारे भारतीय दर्शनों की मीमांसा और उनका प्रत्याख्यान पाया जाता है, यहाँ तक कि शून्यवादी बौद्ध दर्शन का भी शांकर सिद्धान्तानुसार खंडन प्राप्त होता है। यह शून्यवादी बौद्ध दर्शन अन्य दर्शनों के यद्यपि पश्चात् प्रचलित हुआ है। 'ब्रह्म-सूत्र' की रचना सम्भवतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई होगी। श्री गौड़पाद ने लगभग सन् ७८० ईसवी में मांडूक्य उपनिषद् पर एक रचना की थी जिसका नाम 'मांडूक्य-कारिका' है। श्री गौड़पाद ने एकेश्वरवाद (ईश्वर एक है) के सिद्धान्त का पुनः स्थापन किया। श्री गौड़पाद के शिष्य श्री गोविन्दभगवत्पाद शंकर के गुरु थे। आचार्य शंकर का समय सन् ७८८ से ८२० ईसवी माना जाता है। शंकर का ब्रह्म-सूत्र भाष्य सबसे प्रसिद्ध भाष्य माना जाता है जिसमें वेदान्त के सिद्धान्तों का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया गया है और जो अनेक वेदान्तिक ग्रन्थों और टीका-साहित्य का आधार है। आचार्य शंकर के शिष्य आनन्दगिरि ने शांकरभाष्य पर 'न्याय-निर्णय' और श्री गोविन्दानन्द ने 'रत्न-प्रभा' नाम की टीका की रचना की। श्री वाचस्पति मिश्र (सन ८४१ ईसवी) ने 'भामती' टीका की रचना की। श्री अमलानन्द ने (१२४७-१२६०) इस पर 'कल्पतरु' टीका लिखी और इस 'कल्पतरु' पर कांची के श्री रंग राजाध्वरीन्द्र के पुत्र अप्पयदीक्षित (१५५०) ने 'कल्पतरु परिमल' नामक टीका की रचना की। शंकर के एक अन्य शिष्य श्री पद्मपाद ने, जिनको सनन्दन भी कहते है, 'पंचपादिका' नाम के भाष्य की रचना की। इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सम्पूर्ण

शांकर भाष्य का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा किन्तु चतुर्थ-सूत्र के पश्चात् यह यकाय समाप्त हो जाती है। श्री माधव (१३५०) ने 'शंकरविजय' में एक घटना का उल्ले किया है जिसके अनुसार श्री सुरेश्वर ने आचार्य शंकर से शंकर-भाष्य के ऊपर ए वार्तिक लिखने की आज्ञा प्राप्त की, परन्तु श्री शंकराचार्य के अन्य शिष्यों ने इसक विरोध किया। श्री सुरेश्वर मत-परिवर्तन के पूर्व प्रसिद्ध मीमांसा-दार्शनिक मंडन मिश्र के नाम से प्रख्यात थे। श्री शंकर से शास्त्रार्थ में हार कर फिर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। शंकर के शिष्यों के अनुसार श्री सुरेश्वर मीमांसा के पंडित और पूर्व-अनुयायी होने की दृष्टि से इस प्रकार की वार्तिक रचना करने के लिए उपयुक्त अधिकारी नहीं थे, अतः श्री सुरेश्वर ने निराश होकर 'नैष्कर्म्य सिद्धि' नाम के ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार एक और मनोरंजक घटना का उल्लेख आता है जिसमें श्री पद्मपाद के द्वारा लिखी हुई टीका का जब उनके चाचा ने द्वेष के कारण अग्नि-संस्कार कर दिया तो आचार्य शंकर ने स्मृति से इस टीका को पुनः बोलकर लिखवा दिया। पद्मपाद की इस टीका पर श्री प्रकाशत्मन् (१२००) ने एक अन्य टीका लिखी है जिसका नाम 'पंचपादिका-विवरण' है। इसके अतिरिक्त श्री अखंडानंद ने 'तत्त्वदीपन' की रचना की और उस पर प्रसिद्ध नृसिंहाश्रम मुनि ने (१५००) 'विवरणभाव प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी है। श्री अमलानन्द और श्री विद्या-सागर ने भी पंचपादिका पर 'पंचपादिका-दर्पण' और 'पंचपादिका-टीका' नाम की दो टीकाएँ लिखी हैं। इन सब टीकाओं में 'पंचपादिका-विवरण' सबसे प्रसिद्ध और विद्वतापूर्ण मानी जाती है। इस टीका पर विस्तृत प्रकाश डालने की दृष्टि से श्री विद्यारण्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवरण प्रमेय संग्रह'[1] की रचना की। श्री विद्यारण्य के सम्बन्ध में यह धारणा है कि श्री माधव (१३५०) का ही यह दूसरा नाम था। श्री विद्यारण्य ने वेदान्त के मुक्ति-सिद्धान्त का निरूपण करते हुए अन्य ग्रन्थ की रचना की है जिसका नाम 'जीवन्मुक्तिविवेक' है। श्री सुरेश्वर (८००) द्वारा रचित 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' सम्भवतः शांकरभाष्य पर सर्वप्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ है जो इस भाष्य पर विद्वता-पूर्ण प्रकाश डालता है। इस पुस्तक की विवेचना श्री ज्ञानोत्तम मिश्र ने एक अन्य ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। श्री विद्यारण्य ने पद्यबद्धरूप में 'पंचदशी' नाम के एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है जो वेदान्त पर उत्कृष्ट ग्रन्थ है। शंकराचार्य के प्रमुख उपदेशों का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री सर्वज्ञान मुनि (१०० ईसवी) ने भी एक अन्य पद्यबद्ध ग्रन्थ 'संक्षेप शारीरिक' की रचना की है। श्री रामतीर्थ ने उपर्युक्त पुस्तक की टीका लिखी है। श्री हर्ष (११९० ईसवी) ने वेदान्त न्याय पर एक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ खंडन-खंडखाद्य' नाम का प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की टीका श्री चित्सुख, जो हर्ष के शीघ्र पश्चात् प्रख्यात् हुए, ने लिखी है। इसके अतिरिक्त चित्सुख ने वेदान्त न्याय

---

[1] इण्डियन एन्टिक्वेरी १९१६ में श्री नरसिंहाचार्य ...

पर एक और ग्रन्थ 'तत्त्वदीपिका' की रचना की है जिसकी टीका 'नयनप्रसादिनी' श्री प्रत्यग्रूप ने लिखी है। श्री शंकर मिश्र और श्री रघुनाथ ने भी पूर्वोक्त ग्रन्थ 'खंडन खंड खाद्य' पर सुन्दर टीकाओं की रचना की है। वेदान्त के मुख्य तत्त्वों और ज्ञान-सिद्धान्त के ऊपर 'वेदान्त-परिभाषा' नामक ग्रन्थ रचना श्री धर्मराजा ध्वरीन्द्र (१५००) ने की है। इस पर इनके पुत्र श्री रामकृष्णध्वरीन्द्र ने 'शिखामणी' नामक टीका की रचना की है और श्री अमरदास ने 'मणिप्रभा' नाम की टीका लिखी है। इन दो टीकाओं सहित 'वेदान्त परिभाषा' से वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र के पश्चात् श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' नाम का प्रसिद्ध एवं अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है जो सम्भवत: वेदान्त पर लिखा सब से अन्तिम और महान् ग्रन्थ है। इस पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमश: 'गौड़ ब्रह्मानन्दी', 'विट्ठलेशोपाध्यायी' और 'सिद्धि-व्याख्या' है। श्री सदानन्द व्यास ने भी एक टीका लिखी है जिसका नाम 'अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तसार' है। श्री सदानन्द एक अन्य ग्रन्थ 'वेदान्तसार' की भी रचना की है। इस पर भी दो टीकाएँ 'सुबोधिनी' और 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' नाम से उपलब्ध हैं। श्री सदानन्द यति ने एक ग्रन्थ 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' नाम की रचना की है। यह पुस्तक 'अद्वैत सिद्धि' के समान विद्वत्तापूर्ण नहीं है परन्तु इसका अपना महत्त्व है, क्योंकि इसमें वेदान्त दर्शन के ऐसे स्थलों पर प्रकाश डाला गया है जो अन्यत्र नहीं पाए जाते हैं। श्री आनन्दबोध भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'न्याय प्रकरन्द' में 'माया' के सिद्धान्त पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। 'अज्ञान', 'चित्' और दृष्टि 'सृष्टिवाद' का विवेचन श्री प्रकाशानन्द ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावली' में बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार श्री अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तलेश' में अनेक विद्वान् लेखकों के मतों का सारांश और उनका विवेचन किया है। वेदान्त-दर्शन का संक्षिप्त विवेचन 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिका' और 'सिद्धान्ततत्त्व' में बड़ी सुन्दरता से किया गया है। वेदान्त न्याय के ऊपर श्री नृसिंहाश्रम मुनि रचित 'भेदाधिकार' भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इनके अतिरिक्त भी वेदान्त दर्शन पर अनेक ग्रन्थ पाए जाते हैं पर उपर्युक्त विवरण केवल महत्वपूर्ण ग्रन्थों का है जिनके आधार पर इस दर्शन को समझने में सहायता मिलती है और जिनके आधार पर प्रस्तुत अध्याय में वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है।

गौड़ पाद का वेदान्त दर्शन

ब्रह्म सूत्र में वर्णित वेदान्त दर्शन का तत्त्वनिरूपण शांकर भाष्य का कोई प्रसंग दिए बिना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। सम्भवत: ब्रह्म सूत्र पर कुछ टीकाएँ वैष्णवों ने

किसी भी दार्शनिक ने गौड़पाद से पूर्व नहीं किया ऐसा प्रतीत होता है। उपनिषदों के उत्तरकाल में द्वैतवादी भावना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था जैसाकि श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में प्रकट होता है। सांख्य का प्रादुर्भाव भी द्वैतवादी दर्शन से ही हुआ है यह स्पष्ट है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता आस्तिक विचारों के विद्वान् थे और शंकर की भाँति अद्वैतवादी नहीं थे। उपनिषद्कार मनीषियों के पश्चात् उपनिषदों की एकेश्वरवादी विचारधारा का निरूपण सम्भवतः आचार्य गौड़पाद ने ही सर्वप्रथम किया था। उन्होंने स्वयं भी किसी अन्य अद्वैतवादी ग्रन्थ या विद्वान् का वर्णन नहीं किया है। 'मांडूक्य कारिका' के अतिरिक्त अन्य कोई अद्वैतवादी उपनिषद् टीका इससे पूर्व नहीं पायी जाती। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में बादरायण का भी उल्लेख नहीं किया गया है। इन सबसे यह स्पष्ट है कि आचार्य गौड़पाद ही ऐकान्तिक अद्वैतवाद के प्रवर्तक प्रणेता थे। शंकर ने भी यही कहा है कि आचार्य गौड़पाद ने ही वेदों से अद्वैतवाद का ज्ञान प्राप्त कर इसका पुनः स्थापन किया है। श्री शंकर ने गौड़पाद की कारिका की टीका के अन्त में कहा है कि आचार्य गौड़पाद ने अपनी बुद्धि से वेदों के अथाह सागर का मन्थन कर भवसागर में डूबते हुए मनुष्यों की रक्षा के हेतु, वेदामृत प्राप्त किया जो देवों को भी दुर्लभ है, ऐसे महान् गुरु के चरणों मे मैं नमस्कार अर्पित करता हूं।[1] उपनिषदों और वेदों के इस ज्ञान की रक्षा के लिए आचार्य शंकर गौड़पाद की स्तुति करते हैं और बादरायण का कहीं भी उल्लेख नहीं करते, यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शंकराचार्य गौड़पाद के शिष्य गोविन्द के शिष्य थे, परन्तु उनका कथन है कि वे आचार्य गौड़पाद से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने गौड़पाद के अन्य शिष्यों की प्रकांड विद्या, बुद्धि, संयम आदि का भी उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर के शिष्यत्वकाल में आचार्य गौड़पाद जीवित होंगे। शंकर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है पर भंडारकर, पाठक और ड्यूसेन के परामर्श के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि उनका जन्म काल ७८८[2] ईसवी रहा होगा और यदि शंकर को आचार्य गौड़पाद ने पढ़ाया है तो वे सन् ८०० ईसवी तक जीवित रहे होंगे।

अतः यह स्पष्ट है कि गौड़पाद भी अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु आदि सारे महान् बौद्ध दार्शनिकों के पश्चात् हुए होंगे। उनकी कारिकाओं को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि वह बौद्ध धर्म से विशेष प्रभावित रहे होंगे। उनका विश्वास है

---

[1] 'गौडपाद कारिका' पर शंकरभाष्य का आनन्दाश्रम संस्करण पृ० २१८ देखिए।

[2] श्री तैलंग का मत है कि आचार्य शंकर आठवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए होंगे। श्री वेंकटेश का मत है कि वे सन् ८०५ से ८९७ तक रहे होंगे, क्योंकि उनको यह विश्वास नहीं होता कि शंकराचार्य केवल ३२ वर्ष तक ही जीवित रहे होंगे।

कि बौद्ध धर्म और उपनिषदीय धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है, सिद्धान्ततः दोनों एक समान ही हैं। उनकी कारिका के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में आचार्य गौड़पाद कहते है कि मैं उस महान् पुरुष की ('द्विपदांवरम्') की स्तुति करता हूं जिसने अपने 'सम्बुद्ध' ज्ञान से उस सत्य का अनुभव किया कि संसार में सारे दृष्ट 'धर्म' (अभास) इस शून्य आकाश (गगनोपमम्)[1] के समान है। पुनः वे कहते है कि मैं उस महान् सन्त की उपासना करता हूं जिसने यह उपदेश दिया है (देशिता) कि संसार के सारे संसर्गों से दूर रहने (असंपर्क होने) से ही मनुष्य का कल्याण है। इस संसार से लेशमात्र भी स्पर्श न रहे (अस्पर्श योग) इसमें ही मनुष्य का हित है। बौद्ध दर्शन से मेरा कहीं भी मतभेद नहीं है न मुझे इस दर्शन में किसी प्रकार का विरोध ही प्रतीत होता है (अविवादः-अविरुद्धश्च) कुछ लोग विवाद करते हैं कि उत्पत्ति सत् तत्वों की ही होती है। अन्य लोग कहते हैं कि केवल उन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो विद्यमान नहीं है। 'अभूत' अर्थात् जो नहीं है वही उत्पन्न (जातः) होता है। कुछ अन्य कहते है कि भूत और अभूत दोनों की उत्पत्ति नहीं है, केवल एकाकी अभूत अजात तत्त्व है ('अद्वयमजातिम्') मैं उनसे सहमत हूं जो कहते हैं कि संसार में कुछ भी 'जात' नहीं हैं।[2] उनकी कारिका के उन्नीसवें अध्याय में उन्होंने पुनः कहा है कि किसी प्रकार की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं है। कुछ भी जात नहीं हैं 'सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपितः'।

पुनः श्री गौड़पाद अपनी कारिका के चतुर्थ अध्याय के ४२वें श्लोक में कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने 'जाति' का कथन केवल 'वस्तुवादी' लोगों के लिए किया है जो यथार्थवाद की दृष्टि से इतने पीड़ित हैं कि 'अजात' अर्थात् अपने न होने की कल्पना से भी भयभीत हो जाते हैं। चतुर्थ अध्याय के ९०वें छन्द में उन्होंने 'अग्रयान' का उल्लेख किया है जो 'महायान' का नाम है और ९८वें और ९९वें छन्द में उन्होंने कहा है कि संसार में जो कुछ दिखाई देता है वह आभासमात्र है, भ्रांति है, माया है। इस तथ्य को मुक्त पुरुष एवं बुद्ध ही सर्वप्रथम जान पाते हैं। फिर वे अपनी कारिका को एक स्तोत्र के द्वारा समाप्त करते हैं जो सम्भवतः भगवान बुद्ध की स्तुति है।[3]

श्री गौड़पाद की कारिका के चार भाग हैं—(१) 'आगम' (शास्त्र) (२) 'वैतथ्य'

---

[1] लंकावतार पृष्ठ २९ से तुलना कीजिए। 'कथम् च गगनोपमम्'।

[2] गौड़पाद-कारिका चतुर्थ अध्याय का २, ४ (दूसरा चौथा श्लोक)।

[3] गौड़पाद-कारिका ४,१००१। श्री दास गुप्ता का कथन है कि अपने अनुवाद में उन्होंने शंकराचार्य के भाष्य का अवलम्बन नहीं किया है क्योंकि शंकराचार्य ने इन सभी स्थलों की व्याख्या हिन्दू-दर्शन की दृष्टि से करने का प्रयत्न किया है। अतः उन्होंने गौड़पाद की कारिका का जो अर्थ स्पष्ट दिखाई देता है उसी के अनुसार गौड़पाद के दर्शन का विवेचन किया है।

(अयथार्थता) (३) 'अद्वैत' (एकता) (४) 'अलात शान्ति' (जलते हुए अंगारों का शमन)। प्रथम भाग में मुख्यत: मांडूक्य उपनिषद् की व्याख्या है जिसके कारण इस ग्रन्थ को 'मांडूक्य-कारिका' कहते हैं। अन्य तीन भागों में श्री गौड़पाद ने अपने मत की स्थापना की है। इन भागों का मांडूक्य-उपनिषद् से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रथम भाग में श्री गौड़पाद ने आत्मा के तीन स्वरूपों का वर्णन किया है-(१) वह स्वरूप जब हम जाग्रत अवस्था में संसार की प्रत्याक्षानुभूति करते हैं। यह विश्व के सम्पर्क में आती हुई 'वैश्वानर आत्मा' है। दूसरा स्वरूप वह है, जब आत्मा स्वप्नावस्था में अनुभूति करती है। इस अवस्था में स्थूल विश्व से सम्पर्क विच्छेद हो जाता है परन्तु स्थूल शरीर से सम्पर्क रहता है यह 'तैजस आत्मा' है। (३) तीसरी अवस्था ('सुपुप्तिः') अवस्था है। आत्मा का यह स्वरूप उस अनुभूति का है जब सारे स्थूल सम्बन्धों का विच्छेद हो जाता है। यह वह आनन्दमय 'प्रज्ञावस्था' है जब किसी प्रकार का सविकल्पक ज्ञान नहीं रहता है, सारे सविकल्प ज्ञान का लोप होकर एक निर्विकल्प, शुद्ध चेतन, आनन्दमय स्थिति हो जाती है। यही आत्मा का 'प्राज्ञ' स्वरूप है। जो इन तीनों अवस्थाओं को जानता है वह सांसारिक कर्मानुभूतियों के बन्धन से मुक्त रहता है।

इसके पश्चात् गौड़पाद सृष्टि-रचना सम्बन्धी विभिन्न मतों का विवेचन करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह सृष्टि 'प्राण' से उत्पन्न हुई है। कुछ लोगों का मत है कि यह प्रकृति, (उत्पत्ति के आदि कारण) की 'विभूति' (प्रसारित रूप) है। अन्य लोगों का मत है कि यह सृष्टि 'स्वप्न' मात्र है, यह केवल 'माया' है। कुछ कहते हैं कि परमात्मा की इच्छामात्र से सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। एक मत है कि यह प्रकृति समय-समय पर उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। कुछ का मत है कि यह प्रभु की क्रीड़ामात्र है, कुछ कहते हैं कि यह केवल प्रभु का विलास है (क्रीड़ार्थम) क्योंकि प्रभु का ऐसा 'स्वभाव' है। उनमें किसी कामना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रभु तो पूर्णकाम हैं।

श्री गौड़पाद किसी भी पक्ष की ओर अपना मत प्रकट नहीं करते हैं। निष्पक्ष दृष्टि से व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि आत्मा का चतुर्थ स्वरूप 'अदृष्ट' (जो दिखाई नहीं देता) है। इसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है अतः यह सब व्यवहारों से परे (अव्यवहार्यम्) है। यह स्वरूप 'अग्राह्यम्' (जो ग्रहण नही किया जा सकता) लक्षणहीन (अलक्षण) कल्पनातीत (अचिन्त्यम्) वर्णनातीत (अव्यपदेश्य) सारभूत एकात्मा रूप (एकात्मप्रत्ययसार) और प्रपंचहीन अर्थात् जिनमें किसी प्रकार की सांसारिक विकृति या माया का निवास नहीं है (प्रपंचोपशम) शान्त (शान्तम्) कल्याणकारी (शिवम्) और एक (अद्वैत) है।[1] कारिका के द्वितीय अध्याय में श्री

[1] इसकी तुलना नागार्जुन की प्रथम कारिका में वर्णित 'प्रपंचोपशमम् शिवम्' से कीजिए।

गौड़पाद कहते हैं कि संसार को स्वप्नवत् कहने से यह अर्थ है कि यह सारा संसार अयथार्थ है, इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। यदि इस संसारी माया (प्रपंच) का कोई अस्तित्व होता तो इसका अन्त भी होता, परन्तु यह केवल भ्रान्ति-मात्र है। केवल एक परमात्मा का ही अस्तित्व है, यही यथार्थ शाश्वत तत्व है, वही (परमार्थतः) परम अर्थ है। जिस प्रपंच का न आदि था, न अन्त है, उसके वर्तमान का प्रश्न ही नहीं उठता। पर हमारे अज्ञान से यह माया रूपी संसार सत्य दिखाई देता है। यह माया हमारे मन में उत्पन्न होती है और वहीं समाप्त हो जाती है। जिसका आदि और अन्त है वह निश्चित ही असत् है। जिस प्रकार हम स्वप्न में देखी वस्तुओं को उस क्षण में सत्य मान लेते हैं उसी प्रकार हम वाह्य जगत् के दृश्यों और अनुभूतियों को कुछ देर के लिए सत्य मान कर भय, आशा आदि के संसार में जीने लगते है, पर दोनों ही असत्य, कल्पनात्मक मायामय स्थितियां हैं। जो कुछ मन में कल्पना करते हैं अर्थात् जो स्वरूप हम अपने मन में स्थापित कर लेते हैं वही हम प्रत्यक्ष के क्षणों में वाह्य जगत् में देखने लगते हैं। बाह्य पदार्थों को हम दो क्षणों का अस्तित्व कह सकते हैं। एक क्षण वह जब हम उनको देखना प्रारम्भ करते हैं और दूसरा क्षण वह जब हम उनको देखते हैं। परन्तु यह सब हमारी अपनी कल्पना है। यथार्थ दृष्टि से किसी भी वस्तु का वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

जिस प्रकार अन्धार में रज्जु सर्प के समान दिखाई देती है उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा अपने स्वयं के स्वरूप को अनेक भ्रान्त रूपों में देखती है और पुनः बाह्य स्थितियों की भ्रान्त कल्पना करती है। वास्तविक सत्य यह है कि न उत्पत्ति है और न विनाश। (न निरोधो, न चोत्पत्तिः) न कोई बन्धन में है, न किसी प्रकार का बन्धन है, न मुक्त होने का प्रयत्न करने वाला कोई व्यक्ति है, न कोई मुक्त होना चाहता है। यह सब माया ही है।[1] मनुष्य का मन अस्तित्वहीन (अभूत) सत् (अस्तित्व) की कल्पना में परम आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। एकता की भावना से सुख का

'अनिरोधम् अनुत्पादम् अनुच्छेदम् अशेपवतम् अनेकार्थम् अनानार्थमनागमम् अनिर्गमम् यः प्रतीत्यसमुत्पादम् प्रपंचोपशमम् शिवम् देश्यामास संबुद्धस्तम् वन्दे वदतम् वरम्।" श्री नागार्जुन रचित 'निर्वाणपरीक्षा' अध्याय के इस कथन से तुलना कीजिए—

पूर्वोपलम्भोपशमः प्रपंचोपशमः शिवः न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन-देशितः।

सम्भवतः, बौद्ध दार्शनिकों ने सर्वप्रथम 'प्रपंचोपशमम् शिवम्' वाक्य का प्रयोग किया है।

[1] नागार्जुन कारिका, माध्यमिकवृत्ति, बी. टी. एस. पृ० तीन पर देखिए 'अनिरोध-मनुस्वादम्"।

अनुभव करता है। एक या अनेक की सारी कल्पना असत्य है, 'अद्वय' की कल्पना भी भ्रान्ति है अर्थात् केवल कल्पनातीत एक सत्ता ही सत्य है। न अनेकता है, न पृथक्त्व है न अपृथक्त्व है, जैसा कहा है–'न नानेदम् न पृथक् नापृथक्'[1] वे साधु सन्त जो राग द्वेष, भय आदि से मुक्त हो गए हैं जो क्रोधादि से उपरत हो गए हैं जो वेदों के गहनतम ज्ञान को समाहित कर बन्धनमुक्त हो गए हैं, वे उसे कल्पनातीत, माया प्रपंच से निवृत्त, शान्त स्थिति के रूप में देखते हैं जिसमें सारे स्वरों का उपशमन हो गया है (निर्विकल्पः प्रपंचोपशमः) वही अद्वितीय एकत्व है।[2]

तीसरे अध्याय में गौड़पात कहते हैं कि सत्य 'आकाश' के समान है। जिस प्रकार हम आकाश को कल्पना से जन्म, मरण आदि में, शरीरों में, सभी स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं परन्तु वह सर्वत्र एक रूप आकाश तत्त्व ही है, उसी प्रकार सत्य भी सर्वव्यापक अभिन्न तत्त्व है। 'माया' के कारण ही एक अद्वैत अनेक रूप में दिखाई देता है। जो कुछ भिन्न-भिन्न द्वैत रूप दिखाई देता है वह स्वप्न का फल है, मनुष्य दिवास्वप्न देखता हुआ अनेक कल्पनाएँ करता है जिसका यथार्थ कुछ भी नहीं है। जन्म, मृत्यु, अनेकरूपता सब माया का प्रपंच है।[3] सत्य अमर है, इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। पर स्वभावतः शाश्वत अपरिवर्तनशील है। सत्य का जन्म और मरण नहीं है। स्वप्न में अनेक मनोकल्पनाएँ होती हैं उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में एक सत्य अनेक दिखाई देता है परन्तु जब मन की वृत्ति शान्त होती है तब सब भय, दुःख आदि की समाप्ति होकर सब प्रपंचों का अन्त हो जाता है। यही मन की शाश्वत अवस्था है। सारी वस्तुओं और प्रपंचों को दुःख स्वरूप मानकर ('दुःखं सर्वम् अनुस्मृत्या') सारी कामनाओं और वासनाओं आदि का परित्याग करना उचित है। यह चिन्तन करना चाहिए कि न किसी वस्तु का जन्म होता है और न मरण।

---

[1] "माध्यमिक वृत्ति" बी. टी. एस. पृ० ३ में इस वाक्य से तुलना कीजिए–'अनेकार्थम् अनानार्थम्' आदि।

[2] लंकावतार सूत्र' पृ० ७८ 'अद्वयसंसार परिनिर्वाणवत् सर्व धर्मः तस्मात् तर्हि महामते शून्यतानुत्पादाद्वयनिः स्वभाव लक्षणे योगः करणियः'। पुनः पृ० ८, ४६ पर देखिए पदुत स्वचित्र विपयविकल्प अदृष्ट्या नवबोधनात् विज्ञानानाम्, स्वचित दृश्यमात्रा-नवतारेण महामते बालपृथग्जनाः भावाभावस्वभावपरमार्थ दृष्टि द्वयवादिने भवन्ति।

[3] नागार्जुन कारिका (बी.टी-एस.)पृ० १९६ से तुलना कीजिए–'आकाशम शशशृंगश्च वन्ध्याया पुत्रइव च असन्तश्चाभिः व्यजयन्ते तथाभावेन कल्पना'। और इसके समकक्ष गौड़पाद कारिका तीसरे अध्याय का २८वाँ छन्द देखिए–

असतो मायया जन्म तत्वतो नैव जायते।
वन्ध्या पुत्रो न तत्त्वेन मायाय वापि जायते॥

यह सब माया का प्रपंच मात्र है। सारी कामनाओं और वासनाओं को छोड़ कर चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहिए। शान्तमना होकर, उस महान् अद्वैत के साथ मन एवं हृदय को 'लय' करने का यत्न करना चाहिए। सुखादि की कामना का परित्याग कर, निर्विषय, विरक्त, स्थिर चित्त होने से प्रपंच और माया का लोप हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है। फिर मनुष्य 'सर्वज्ञ' हो जाता है, तब उसे कुछ भी जानने की इच्छा और आवश्यकता नहीं रहती।

'अलात शान्ति' नामक चतुर्थ अध्याय में श्री गौड़पाद इस अन्तिम स्थिति का पुनः वर्णन करते हैं।[1] संसार में सारे 'धर्म' (सत्व आभास) यथावत् रहते हैं।[2] इनका नाश नहीं होता। इनके जन्म और मरण का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसकी वास्तविक स्थिति ही नहीं है उसका ह्रास या विनाश कैसे हो सकता है। इस प्रकार अनेक तर्कों को उपस्थित करते हुए श्री गौडपाद कहते हैं कि जो कारण को कार्य रूप समझते हैं अर्थात् जो यह कहते हैं कि प्रत्येक कार्य बीजरूपेण कारण में निहित है वे कारण को अजन्मा ('अज') कैसे मान सकते हैं? क्योंकि निश्चित ही उनके तर्क के अनुसार इस प्रकार कारण की उत्पत्ति होती है। जो जन्म लेने के कारण परिवर्तनशील है, वह शाश्वत नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि वस्तुओं का प्रादुर्भाव उस तत्व से होता है जिसकी स्वयं की कोई उत्पत्ति नहीं है तो इसका भी हमको संसार में अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता। इस हेतु और फल के अनन्त दूषित चक्र का कहीं अन्त नहीं दिखाई देता। हेतु के बिना फल नहीं हो सकता। फल के बिना हेतु नहीं हो सकता। किसी भी अर्थ में विचार किया जाए, यह स्पष्ट है कि अपने आप 'स्वभावतः' हेतु या फल कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जिसका कोई प्रारम्भ नहीं है, जो अनादि है, उसकी जन्म की कल्पना भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। सारा अनुभव (प्रज्ञप्ति) किसी न किसी कारण पर निर्भर प्रतीत होता है। कारण के बिना न किसी प्रकार का अनुभव सम्भव होगा न किसी प्रकार का सुख या दुःख ('संक्लेश')। जब हम इस कार्य-कारण-क्रम की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमको यह अनुभव होता है कि ये एक दूसरे पर निर्भर है, परन्तु जब हम यह खोजते हैं कि सत्य क्या है, तो हमको लगता है कि ये सब कारण मिथ्या हैं। हमारा मन (चित्) किसी भी वस्तु के सम्पर्क में ही नहीं आता, क्योंकि किसी भी वस्तु का

---

[1] 'अलात शान्ति' शब्द भी बौद्ध दर्शन से लिया गया है। नागार्जुन कारिका (बी. टी. एस) पृ० २०६ देखिए जिसमें 'शतक' से एक श्लोक का उद्धरण दिया गया है।

[2] 'धर्म' शब्द भी 'आभास' या अस्तित्व के अर्थ में बौद्ध दर्शन का है। हिन्दू दर्शन में इसका अर्थ जैमिनी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–'चोदनालक्षणः अर्थः धर्मः'। वेदों के आदेश से धर्म निश्चित होता है।

अस्तित्व हीं नहीं है। यह सब मन में वस्तुओं का कल्पनात्मक आभास मात्र है जो अनेक रूपों में अन्तर्मन में ही तरंगायित होता रहता है। इस अन्तर्मन से वाहर कुछ नहीं है। हम सारी भौतिक सृष्टि अपने मन में ही कल्पना के आधार पर करते रहते हैं। यह सारी उत्पत्ति शून्य में ही (स्वे) प्रतिस्थापित है। यह सब असत्य है। जो अजात, अजन्मा है, उसे हम जात रूप में देखते हैं, यह निश्चित ही भ्रान्ति है क्योंकि स्वभावतः जो अजात है वह अपने स्वभाव को नहीं बदल सकता। तत्वतः सत्य यह है कि उत्पत्ति की स्थिति ही नहीं है। संसार की सारी वस्तुएँ उस 'मायाहस्ती' के समान असत्य है जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इनका अस्तित्व उतनी ही देर के लिए है जितनी देर वे हमारे अनुभव में स्थिर दिखाई देती हैं। जैसे ही उनका चित्र-रूप हमारे मन से हटता है, उनकी कल्पना का भी लोप हो जाता है। परन्तु वह एक (विज्ञान) पूर्ण ज्ञान मय तत्व है न वह उत्पन्न होता है और न गति करता है, न चलता है और न किसी प्रकार का रूप ही धारण करता है। उसका कोई स्थूल रूप ही नहीं है, वह शान्त ('शान्तम्) अवस्तुरूप (अवस्तुत्व) है। यह 'विज्ञान' ही मूल सत्य तत्व है। जिस प्रकार जलते हुए अंगार को हम स्पन्दन करता देखते हैं परन्तु वास्तव में उसकी कोई गति नहीं होती इसी प्रकार हमारी चेतना का स्पन्दन गतिशील (स्पन्दिता) दिखाई देता है। सारी कल्पना के रूप इस चेतना पर प्रति-स्थापित कर दिए जाते हैं, यद्यपि चेतना में इन कल्पनाओं का का कोई वास्तविक रूप नहीं होता। चेतना और इन काल्पनिक आभासों में कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है। 'द्रव्य' का कारण 'द्रव्य' ही हो सकता है और जो द्रव्य नहीं है उसका कारण अद्रव्य होना चाहिए। परन्तु यह (माया) आभास न द्रव्य है न अद्रव्य। अतः यह न चित् से उत्पन्न हो सकता है न चित् इस माया से उत्पन्न हो सकता है। इस कारण-कार्य के विचार से ही इस काल्पनिक संसार की उत्पत्ति होती है, जैसे ही इस कल्पना का अन्त हो जाता है संसार की भी समाप्ति हो जाती है। मनुष्य स्वयं ही इस जाल को बुनकर उसमें फँसा रहता है। हम प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी अन्य वस्तु के प्रसंग में करते हैं, इस आपेक्षिक कल्पना से भी सिद्ध है कि किसी भी वस्तु का अपना कोई 'शाश्वत' स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वस्तुओं का जब 'उत्पाद' ही नहीं होता तो 'उच्छेद' या विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता। सारे धर्म (आभास) काल्पनिक है अतः मायामय हैं। सारी वस्तुएँ मानों इन्द्रजाल के समान जादू से उत्पन्न हुई हैं। जैसे ही यह इन्द्रजाल टूय कि सारी वस्तुओं का तमाशा समाप्त हो जाता है। जैसे स्वप्न या इन्द्रजाल में मनुष्य उत्पन्न होते हुए मरते हुए दिखाई देते हैं पर वास्तविक रूप मे उनकी कोई स्थिति नहीं है। जिसकी स्थिति काल्पनिक एवं आपेक्षिक है (कल्पित संवृत्ति) उनकी कोई 'पारमार्थिक' वास्तविक स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि जिसका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर है उसका अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं हो सकता। यह सब निर्बुद्धि व मूर्ख मनुष्यों के मन की प्रवंचना मात्र है जो इस प्रकार सोचते है कि वस्तुओं का

अस्तित्व है, अस्तित्व है भी, नहीं भी है, किसी प्रकार का अस्तित्व ही नहीं है आदि। जो तत्व को जानते हैं उन्हें यह स्पष्ट है कि यह सब माया मात्र है। शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

उपर्युक्त विचार-प्रवाह से यह स्पष्ट सा दिखाई देता है कि यह विचार-धारा बौद्ध दर्शन में नागार्जुन रचित कारिकाओं के 'माध्यमिक' दर्शन से और 'लंकावतार' में वर्णित विज्ञानवादी दर्शन से उद्धृत है। श्री गौड़पाद ने विज्ञानवादी और शून्यवादी दर्शन के विचारों का मन्थन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मूलतः यह उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान से ही उत्पन्न हैं। गौड़पाद हिन्दू थे या बौद्ध—यह प्रश्न अनावश्यक है। यह निश्चित है कि बुद्ध एवं वे सिद्धान्त जिन्हें वे स्वमत के रूप में समझते थे, के प्रति गौड़पाद का सर्वाधिक आदर था। उपनिषदों में वर्णित महान् परम आत्मा के ही स्वरूप को बौद्ध दर्शन में अवर्णनीय, अनिर्वचनीय, अरूप विज्ञान' के रूप में देखा गया है जो महाशून्य के समान सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार आचार्य गौड़पाद ने उपनिषदों के अध्ययन की प्रेरणा उत्पन्न कर वैदिक और औपनिषदीय सत्यों की पुनः स्थापना करने का प्रयत्न किया है। आचार्य गौड़पाद के इस दृष्टिकोण को परिवर्तित कर उपनिषदों के सत्य के परीक्षण और स्थापन का कार्य उनके विद्वान् शिष्य शंकर ने पूर्ण करने का संकल्प किया। आचार्य शंकर पर अपने गुरु गोविन्दाचार्य से भी अधिक श्री गौड़पाद का प्रभाव था और वे चाहते थे कि आचार्य गौड़पाद के द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-दर्शन का प्रसार सारे भारत में किया जाए। अपने इस संकल्प में वे कहाँ तक सफल हुए यह अगले पृष्ठों से स्पष्ट होगा।

आचार्य शंकर (७८८-८२०) और वेदान्त

वेदान्त दर्शन की आधार-भूमि उपनिषदों में वर्णित तत्त्व माना जाता है जिसको श्री बादरायण ने 'ब्रह्म-सूत्र' में सार रूप में सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वैदिक साहित्य में उपनिषद् सबसे अन्त में आते हैं अतः उपनिषदों के दर्शन को 'उत्तर मीमांसा' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। आचार्य जैमिनी ने 'पूर्व मीमांसा-सूत्र' की रचना की है जो वेदों और 'ब्राह्मणों' की मीमांसा है। इस प्रकार पूर्व मीमांसा दर्शन और उत्तर मीमांसा दर्शन वैदिक साहित्य के दो भाग हो गए हैं। उत्तर मीमांसा दर्शन का ही सारांश श्री बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में वर्णित किया है। इन ब्रह्मसूत्रों की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है परन्तु आचार्य शंकर का भाष्य सबसे अधिक विद्वता-पूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है। आचार्य शंकर के महान् व्यक्तित्व के कारण भी शांकरभाष्य ने प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया है। श्री शंकराचार्य के भाष्य और उनके द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन की ऐसी मान्यता है कि हम जब कभी वेदान्त दर्शन की चर्चा करते है तो उससे शंकराचार्य के वेदान्त का ही अर्थ लिया जाता है।

अर्थात् शांकरमत वेदान्त दर्शन का समानार्थक सा बन गया है। यदि अन्य किसी व्याख्या का प्रसंग आता है तो हम साधारणतया उन आचार्यों का नाम जोड़ देते हैं जो उस विशिष्ट मतांग के प्रवर्तक हैं जैसे रामानुजमत अथवा वल्लभमत आदि। प्रस्तुत अध्याय में शंकर और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र और दस उपनिषदों पर भाष्य लिखें हैं। कई स्थानों पर इनके अर्थ जटिल दिखाई देते हैं, पर उनके शिष्य और अनुयायियों द्वारा भी शांकर भाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। ये सभी अनुयायी इस बात का आग्रह रखते हैं कि हमने शंकर के विचारों का यथातथ्य अनुमोदन किया है। अतः इस अध्याय में इस सारे साहित्य के आधार पर शांकर वेदान्त की व्याख्या की गई है।

हिन्दू दर्शन के अन्य अंगों का आधार केवल वे सूत्र हैं जिनके द्वारा मत विशेष की स्थापना की गई है जैसे जैमिनी-सूत्र, न्याय-सूत्र आदि। परन्तु वेदान्त दर्शन का मूल आधार वेद और उपनिषद् माने गए हैं। सूत्र केवल उन वेद और उपनिषद् के उपदेशों का क्रम बद्ध सारांश मात्र हैं। सूत्रों के द्वारा वैदिक दर्शन को व्यवस्थित ढग पर सूक्ष्म रूपेण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। श्री शंकराचार्य ने कभी भी किसी विशेष दर्शन के प्रणेता होने का दावा नहीं किया है। उनका मत है कि वेद और उपनिषदों में वर्णित ज्ञान-दर्शन का ही निरूपण श्री बादरायण के ब्रह्मसूत्र में किया गया है और इसी दर्शन को उन्होंने हिन्दू मात्र के समक्ष प्रस्तुत किया है जो सभी हिन्दुओं को मान्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई मीमांसा दर्शन के दृष्टिकोण से भी आती है जो ये मानते थे कि वैदिक साहित्य दर्शन न होकर धार्मिक आचरण और अनुष्ठान के आदेश हैं जिनमें किसी प्रकार के ऊहापोह अथवा तर्क का स्थान ही नहीं है। श्री शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों में अवश्य ही कर्मकांड की व्यवस्था आदेशात्मक ढंग पर दी हुई है, पर यह सारे वैदिक साहित्य के लिए सत्य नहीं है। अन्य भागों में और उपनिषदों मे अद्वैत परमात्मा के महान् स्वरूप का निदर्शन किया गया है जिसके अध्ययन से बुद्धिमान् लोग सहज ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है। कर्मकांड और निषेधात्मक व्यवस्था साधारण व्यक्तियों के लिए हैं जो एक विषय से दूसरे विषय की ओर इन्द्रियानन्द की खोज मे दौडते फिरते है। जिनका ध्येय परमात्मा के सत्य स्वरूप को जानने का है, जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है और जो ब्रह्म के शाश्वत, अनन्तिम, अद्वितीय शुद्ध, प्रबुद्ध रूप को जानना चाहते है उनको उपनिषदों और वेदों का अध्ययन श्रेयस्कर है। श्री शंकराचार्य ने कभी भी तर्कादि का आश्रय लेकर अपने मत या दर्शन की स्थापना करने का प्रयत्न नहीं किया। उनका ध्येय सदैव उपनिषदों के ज्ञान और दर्शन की स्थापना और उसका युक्ति संगत प्रतिपादन रहा है। जहाँ कहीं भी उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में किसी भी मत में उनको सन्देह दिखाई दिया, उन्होंने उसको

मिटाने का प्रयत्न किया है। केवल इस निमित्त ही उन्होंने अन्य मतों का खंडन किया है कि यह ब्रह्म-ज्ञान सर्वमान्य हो। अपने इस ब्रह्म ज्ञान की स्थापना उन्होंने न केवल 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य द्वारा ही की प्रत्युत् इस निमित्त उन्होने उपनिषदों पर भी विद्वत्तापूर्ण भाष्य प्रस्तुत किए हैं। उनके मतानुसार सारे उपनिषदों में एक ही आस्तिक दर्शन पाया जाता है जिसमें एक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन और उस तक पहुँचने का मार्ग-निर्देश किया गया है। उनके शिष्यों ने भी अनन्य भक्ति से अपने गुरुदेव के मत का अक्षरशः प्रतिपादन करने का यत्न किया है। जो स्थल श्री शंकराचार्य ने केवल संकेत मात्र देकर छोड़ दिए हैं उनकी पूर्ण व्याख्या उनके शिष्यों ने की है। इन सब ग्रन्थों में यह सिद्ध किया गया है कि न्यायादि दर्शन भ्रान्तिपूर्ण और आत्मविरोधी हैं। सांख्य में वर्णित महत्, प्रकृति आदि का उल्लेख किसी भी उपनिषद् या वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता है। श्री शंकराचार्य के शिष्यों ने वेदान्त दर्शन की ज्ञान मीमांसा का भी विस्तृत विवेचन किया है जिसमें माया, ब्रह्म और संसार के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव, युक्ति और तर्क से कहीं भी हम ब्रह्म दर्शन में कोई विरोधाभास नहीं देखते। हमारा तर्क केवल उपनिषदों के ज्ञान को समझने और ब्रह्म को जानने के लिए ही प्रयुक्त होना चाहिए। तर्क-शास्त्र को केवल तर्क के लिए नियोजित करना व्यर्थ का श्रम है। उपनिषत्प्रकाशित सत्य को स्वीकार करने हेतु मस्तिष्क को ग्रहणशील बनाना ही तर्क का सच्चा प्रयोजन एवं कार्य है। उपनिषत्सम्मत सिद्धान्तों के उन्मूलन एवं विरोध के लिए तर्क का उपयोग करना तर्क का विनाश करना है। न्याय और तर्क का उपयोग ब्रह्म-दर्शन और ब्रह्म-ज्ञान के निमित्त ही होना चाहिए।

संस्कृत में श्री शंकराचार्य की अनेक जीवनियाँ लिखी गई हैं। इनमें 'शंकर दिग्विजय', 'शंकर विजय विलास' और 'शंकरजय' प्रसिद्ध हैं। यह निश्चित सा ही है कि उनका जन्म मलाबार प्रान्त में सन् ७०० से ६०० ईसवी में हुआ होगा। उनके पिता शिवगुरु तैतिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। श्री शंकर के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ और किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे भगवान् शंकर के अवतार थे। वे आठ वर्ष की अवस्था में साधु हो गए और आचार्य गोविन्द के शिष्य बने। आचार्य गोविन्द नर्मदा नदी के किनारे किसी पहाड़ की गुफा में निवास करते थे। इस आश्रम में रहकर श्री शंकर ने अपने गुरु से दीक्षा ली और पुनः वाराणासी होते हुए बदरिकाश्रम चले गए। कहा जाता है कि उन्होंने ब्रह्मसूत्र का भाष्य केवल बारह वर्ष की अवस्था में लिखा था। दस उपनिषदों पर भाष्य इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य के पश्चात् ही लिखे गए होंगे। पुनः वाराणासी आकर श्री शंकर ने अखिल भारतवर्ष में वेदान्त मत का प्रचलन और अन्य अवैदिक मतों का खंडन करने का संकल्प किया। इस हेतु वे सर्वप्रथम कुमारिल के पास गए। कहते हैं उस समय श्री कुमारिल मृत्युशय्या पर थे, अतः उन्होंने शंकर को अपने शिष्य मंडन मिश्र से

शास्त्रार्थ करने की आज्ञा दी। आचार्य शंकर ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर वेदान्त की दीक्षा दी और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। श्री मंडन मिश्र ने साथ ही साधु आश्रम भी स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् श्री शंकराचार्य भारत भर में भ्रमण करते हुए वेदान्त दर्शन की पुष्टि और स्थापना में संलग्न हो गए। अनेक नैयायिकों और तर्काचार्यों को शास्त्रार्थ में हराकर उन्होंने वेदान्त मत के सत्य स्वरूप का निरूपण किया। भारत के धार्मिक जीवन में श्री शंकराचार्य का अपना अत्यन्त विशिष्ट स्थान है।

इस प्रकार शंकराचार्य ने आचार्य गौड़पाद द्वारा प्रतिपादित इस मत की स्थापना की कि इस संसार में केवल ब्रह्म की ही स्थिति है। उपनिषदों और ब्रह्म-सूत्र में केवल अद्वैत ब्रह्म का ही उपदेश प्राप्त होता है। अपने सारे भाष्यों में उन्होंने इसी मत की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है।[1] ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सर्वत्र ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य पाद किसी प्रचलित द्वैतधारा का खंडन करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो आंशिक रूप में सांख्य की सृष्टि-रचना-सिद्धान्त को मानते हुए प्रकृति और परमात्मा इन दोनों के अस्तित्व को भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार करती हैं। ब्रह्मसूत्र के किसी अन्य भाष्य में इस अद्वैतवादी सिद्धान्त को ब्रह्मसूत्र के उद्धरणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया होगा क्योंकि आचार्य शंकर स्थान-स्थान पर यह सिद्ध करते हैं कि उपर्युक्त उद्धरणों में वाक्य विच्छेद उचित ढंग से नहीं किया गया है। एक स्थान पर शंकराचार्य स्पष्ट रूप से ऐसा कहते हैं कि अन्य लोग ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं जिससे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन भ्रान्तियों को नष्ट करने के लिए और जो आत्मा परमात्मा के एकत्व को नहीं मानते हैं (आत्मैकत्व) उनके मत का खंडन करने के लिए ही मैं अपना 'शारीरक' भाष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ।[2] इन अन्य भाष्यों के सम्बन्ध में श्री रामानुज के ग्रन्थों के उद्धरणों से कुछ जानकारी प्राप्त होती है। श्री रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य की भूमिका में लिखा है कि उनके पूर्व अनेक विद्वानों ने आचार्य बोधायन के ब्रह्मसूत्र-भाष्य का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया किया है। मैं आचार्य बोधायन के परम्परागत मत के आधार पर ही ब्रह्मसूत्र की व्याख्या कर रहा हूं। इसी प्रकार 'वेदार्थ-संग्रह' नामक ग्रन्थ में आचार्य रामानुज ने वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वानों में बोधायन, टंक, गुहदेव, कपर्दिन, भारुचि का उल्लेख किया है और द्राविड़ाचार्य का नाम भाष्यकार के रूप में उद्धृत किया है। छान्दोग्य उपनिषद् (३, १०, ४) के भाष्य में जहाँ इस उपनिषद् मे सृष्टि-रचना-सिद्धान्त की

---

[1] श्री शंकराचार्य के मुख्य ग्रन्थों में, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, वृहदारण्यक और छान्दोग्य की टीकाएँ और 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य सम्मिलित हैं।

[2] ब्रह्मसूत्र पर शंकर-भाष्य १ १११ १६।

व्याख्या की गई है, वहाँ 'विष्णु-पुराण' के सृष्टि रचना-सिद्धान्त से उपर्युक्त सिद्धान्तों के विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि उपर्युक्त विषय में 'आचार्य' का ऐसा मत है। (अत्रोक्तः परिहारः आचार्यैः) श्री आनन्दगिरी का कथन है कि यहाँ शंकर का संकेत श्री द्रविडाचार्य की ओर है। रामानुज के भाष्य मे यह प्रकट होता है कि द्रविड़ाचार्य द्वैतवादी थे और शंकर के उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि द्रविड़ाचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् का भाष्य भी लिखा था।

वादरायण रचित 'ब्रह्मसूत्र' पर जितने भी भाष्य मिलते हैं उनमे यह प्रकट होता है कि लगभग सभी मत इस ग्रन्थ को उपनिषदों के सार के रूप में स्वीकार करते थे। परन्तु इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए अपने मत के अनुसार विभिन्न मंतव्य प्रकट करते हुए इस विषय पर मतभेद प्रस्तुत किया जाता था कि सूत्र विशेष उपनिषद् के किस श्लोक या छंद के प्रसंग में लिखा गया है अथवा उसका विशिष्ट अर्थ या भावार्थ क्या है। यह ब्रह्मसूत्र चार भागों में विभक्त है। इन चार 'अध्यायों' को पुनः चार-चार 'पादों' (उप अध्याय) में विभक्त किया गया है। प्रत्येक 'पाद' को फिर कई 'अधिकरणों' में (व्याख्या के विषय) विभाजित किया गया है। अनेक सूत्रों से मिलकर एक अधिकरण बनता है। इन सूत्रों में प्रस्तुत विषय पर अनेक प्रश्न और व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं और तत्सम्बन्धी तर्कादि दिए गए हैं जिसके आधार पर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँच जाता है। शंकर के अनुसार दूसरे भाग के प्रथम चार पदों को छोड़कर शेष सभी सूत्र उपनिषद् के श्लोकों और छन्दों की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। श्री शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त-दर्शन की पुष्टि करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। एक ब्रह्म ही एकमात्र शाश्वत तत्त्व है। दूसरी पुस्तक के प्रथम पाद में सांख्य के दृष्टिकोण की कुछ कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। पुनः इस दूसरे भाग के दूसरे पाद में सांख्य, योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन, भागवत और शैव मत का खंडन किया गया है। प्रथम चार सूत्रों के भाष्य और इन दो पादों में हमें शंकर के अद्वैत दर्शन का स्वरूप स्पष्ट होता है। अद्वैत वेदान्त के मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण दूसरे अध्याय के इन्हीं दो पादों की टीका में विशेष रूप से किया गया है। शंकराचार्य के दर्शन में तर्क का महत्व केवल यही है कि यह हमें शास्त्रों के अध्ययन और उनके यथातथ्य अर्थों को समझने में सहायक होता है। वास्तविक सत्य केवल तर्क से नहीं ज्ञात हो सकता। जो अधिक कुशल तार्किक है वह सहज ही एक तथ्य को सत्य के रूप में प्रमाणित कर देता है। फिर उसी सत्य को दूसरा तार्किक अपनी विद्वता से असत्य प्रमाणित कर देता है। अतः सत्य केवल तर्क से नहीं जाना जा सकता। शाश्वत मूल्यों और एक सत्यज्ञान के लिए वेद-उपनिषद् का अध्ययन आवश्यक है। शंकर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनकी उपनिषदों की व्याख्या युक्तिसंगत और बौद्धिक अनुभव के अनुकूल

है। जो ज्ञान अनुभव से युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता, उसे मान्य नहीं कहा जा सकता। उपनिषद् सत्य का भंडार है पर उनका मनन करने के लिए जिस सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, वह दृष्टि भी शंकराचार्य ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, ऐसा उनका अभिमत है। वह किसी स्वतंत्र दर्शन की स्थापना करने का आग्रह नहीं रखते। उनका ध्येय केवल इतना ही है कि उपनिषदों की बौद्धिक और यौक्तिक व्याख्या प्रस्तुत की जाए जिससे उपनिषदों के सत्य को अनुभव के आधार पर सर्व साधारण और विद्वज्जन स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सकें। शास्त्र और उपनिषद् ही अन्ततोगत्वा प्रामाणिक और मान्य हैं, किसी भी प्रामाणिकता का आधार तर्क नहीं हो सकता, वह तो केवल साधन मात्र है।

इन्द्रिय, शरीर और विषयों के साथ हम अपने आपको इतना एकरस कर लेते हैं कि हम शरीर और आत्मा के रहस्य को समझ ही नहीं पाते।

माया के कारण हम समझते हैं कि सुख दुःख आदि की अनुभूति हमारी आत्मा को होती है जो शरीर से भिन्न है। हम आत्मा और शरीर को एक ही मान लेते हैं। आत्मा शुद्ध प्रबुद्ध, चित् रूप है, यह सर्वदा आनन्दमय है। सत्, चित्, आनन्द रूप आत्मा सदैव निर्लिप्त और एकरस रहती है। माया के कारण अनादि भ्रान्ति से ग्रसित हम अपने आप को इन्द्रियादि शरीर से पृथक् नहीं कर पाते हैं। जो केवल छाया के समान है, उसको सत्य मानकर अपने मन में ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। यह सारा विश्व मायामय है। इसको उपनिषद्, शास्त्रादि ने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, इसके लिए किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु शास्त्र-सम्मत है उसमें तर्क का कोई स्थान ही नहीं है। यदि आत्मा ही एक मात्र सत्य और शाश्वत व्यापक तत्व है तो अन्य सब असत्य होना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब माया है।

मीमांसा-दर्शन का मत है कि वेद कर्मकांड का आदेश देते हैं। अतः उपनिषद् भी धार्मिक कर्मों का निर्देशन करते हैं क्योंकि उपनिषद् वेदों का ही अंग है। उपनिषदों में ब्रह्म की मीमांसा इस हेतु की गई है कि उसकी विधिवत् उपासना की जाए। ब्रह्म को परम आत्मा के समान समझ कर उसकी उपासना और ध्यान करना चाहिए, ऐसा आदेश समझना चाहिए। शंकराचार्य इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। उनका कथन है कि उपनिषदों में अन्तिम सत्य का निरूपण किया गया है। ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है। जिसने इस सत्य को सम्यग रूप से जान लिया है, उसे अन्य किसी कर्मकांड की आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः ही पूर्णकाम प्रबुद्ध और शान्त हो जाता है। जिसने सत्य का दर्शन कर लिया है उसे फिर किस कर्म की आवश्यकता रह जाती है। कर्मकांड, नियमादि बन्धन उन लोगों के लिए हैं जो निम्न श्रेणी में हैं, जिन्होंने पूर्णज्ञान प्राप्त नहीं किया है, जो जिज्ञासु रूप में अभी ज्ञान के निम्न सोपानों में भटक रहे हैं।

जिन्हें किसी भौतिक या दैविक सुख की आकांक्षा नहीं है, जिनकी तृष्णा का लोप हो गया है, जो कर्मकांड आदि की स्थिति से ऊपर उठकर वीतराग, उपरत हो चुके हैं, ऐसे प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए उपनिषद् का ज्ञानकांड है। भगवद्गीता की टीका में भी श्री शंकराचार्य ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि कर्म का आधार कामना है। किसी कामना से प्रेरित होकर मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है। जब मनुष्य कामना के वशीभूत होकर यज्ञादि कर्मकांड करता है, तो उसकी दृष्टि से किसी फल की प्राप्ति की ओर रहती है। वेदों की आज्ञा मानकर नियमादि का पालन और अन्य कर्मों में भी यही कामना प्रेरक शक्ति होती है। मनुष्य इस अवस्था में कर्म के चक्र में व्यथित रहता है। जैसे ही मनुष्य इस कर्म-मार्ग का परित्याग कर और ऊपर उठता है, वह ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होता है। सारी कामनाओं का परित्याग कर, निष्काम, वीतराग होकर केवल ब्रह्म को जानने की इच्छा रखता हुआ उपनिषदों और वेदों के अध्ययन से सत्य को जान कर व्यक्ति स्वयं ही मोक्ष की ओर उन्मुख हो उठता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए ही वेदान्त का मनन श्रेयस्कर है। जो वेदान्त का अध्ययन करना चाहते हैं उनमें निम्न गुण होने आवश्यक है—

(१) नित्यानित्य वस्तुविवेक—शाश्वत और क्षणिक मूल्यों का अन्तर जानने की बुद्धि (२) 'इहामुत्रफल भोगविराग'—सांसारिक और पारलौकिक फलों के भोगों के प्रति उदासीन वृत्ति; (३) शम दमादिसाधन सम्पत्शम (शान्तमना) दम, संयम, त्याग, ध्यान, धैर्य और श्रद्धा की सम्पदा की प्राप्ति (४) 'मुमुक्षत्व'—मोक्ष की उत्कट अभिलाषा। जो व्यक्ति इन गुणों से विभूषित है वही सच्चे अर्थ में वेद, उपनिषद् के पठन-पाठन का अधिकार है। जैसे ही मुमुक्षु को आत्मा और परमात्मा का रहस्य स्पष्ट होकर यह सत्य ज्ञान प्राप्त होता है कि एक ब्रह्म ही सारे संसार में विद्यमान है, आत्मा ही परमात्मा है, ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या माया है, वैसे ही उसे सही अर्थों में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वह वीतकाम होकर चिदानन्द में लीन हो जाता है, किसी कर्मकांड यज्ञादि की उसे अपेक्षा ही नहीं रहती। इस प्रकार 'ज्ञान' और 'कर्म' के मार्ग भिन्न-भिन्न (अधिकारिन) प्रकार के व्यक्तियों के लिए हैं। अपनी योग्यता के अनुसार ही वे ज्ञान मार्ग या कर्ममार्ग के अधिकारी बनते हैं। यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म के मार्ग को एक साथ संयोजित (ज्ञान-कर्म-समुच्चयभाव:) भी नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही व्यक्ति दोनों मार्गों का अधिकारी नहीं बन सकता। आचार्य गौड़पाद और शंकर के वेदान्त दर्शन में यही अन्तर है कि श्री शंकराचार्य ने आचार्य गौड़पाद के दर्शन से बौद्ध विचारों का पूर्णरूपेण परिष्कार कर प्राचीन उपनिषदों की सुव्यवस्थित, यौक्तिक व्याख्या के आधार पर वेदान्त दर्शन की स्थापना की है। आचार्य गौड़पाद को कई विद्वान् 'प्रच्छन्न बौद्ध' (छिपा हुआ बौद्ध) मानते थे परन्तु उनके विचारों का हिन्दू वेदान्त दर्शन पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। यह कहना

अनुचित नहीं होगा कि उनके शिष्य शंकर और शंकराचार्य की शिष्य-परम्परा के द्वारा जिस शुद्ध वेदान्त दर्शन की स्थापना की गई है, उसके आदि स्रोत आचार्य गौड़पाद ही थे। इस अध्याय में जिस वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है वह शंकराचार्य की शिष्यपरम्परा के द्वारा प्रवर्तित और प्रस्थापित वेदान्त दर्शन है जो इस समय तक एक निश्चित सुबद्ध रूप को प्राप्त कर चुका है और जिसके अभाव में वेदान्त दर्शन को पूर्ण रूपेण समझना कठिन होगा। यह उत्तर वेदान्त शंकराचार्य के सिद्धान्तों से कहीं भी भिन्न नहीं है। केवल जिन प्रश्नों को शंकराचार्य ने स्पष्ट नहीं किया है, उन सबको उनके शिष्यों के द्वारा विद्वत्तापूर्वक स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में श्री शंकराचार्य ने वेदान्त के जिन मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण किया है उनकी चर्चा की गई है।

शंकर के अनुसार सारी सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश का आदि कारण ब्रह्म है। नाना रूपों में, अनेक नामों से जो कुछ यहाँ हम देखते हैं उन सबका आदि मूल वह ब्रह्म ही है। स्थान, काल, हेतु की अपेक्षा से नानाविध इस कल्पनातीत सृष्टि का ओर-छोर नहीं दिखाई देता। अनेक प्रकार के व्यक्ति, अनेक प्राणी यहाँ अनेक प्रकार के फलों का भोग करते हुए दिखाई देते हैं। उनको देखकर बुद्धि विस्मित और स्तभित रह जाती है। इस सारे संसार का सृष्टा पालक और संहारकर्त्ता वही एक ब्रह्म है।[1]

ब्रह्म की स्थिति और अस्तित्व के सम्बन्ध में शंकर का कथन है कि यह सारा संसार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है पर ब्रह्म किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न नहीं हुआ है अन्यथा इस दूषित चक्र का कोई अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था हो जाएगी। उपनिषदों के आधार पर यह विश्व किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, वह अन्य तत्व ब्रह्म ही हो सकता है। पुनः यह सारा विश्व एक विशिष्ट व्यवस्था-क्रम में बंधा हुआ है। कोई चेतन, ज्ञानमय शक्ति इस संसार का संचालन करती है वह ब्रह्म ही है। इसके अतिरिक्त हममें से प्रत्येक की ज्ञान-चेतना के रूप में ब्रह्म विद्यमान है। हमारी आत्मा के रूप में ब्रह्म सारे प्राणियों में ज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करता है। जिस चेतना से हम वस्तुओं को जानते हैं, उनका संज्ञान प्राप्त करते हैं वह भी ब्रह्म का रूप है। जो वस्तुएँ ज्ञात की जाती है वे भी ब्रह्म की शक्ति से प्रकाशित होती हैं। वह संज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञेय और ज्ञान और ज्ञाता रूपी आत्मा के रूप में स्थित है। वही 'साक्षी' है, उसको जब हम नहीं मानते तब भी वह उस निषेध में नहीं मानने वाली आत्मा के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है। वही सारभूत तत्व है, वही संसार में व्यापक एक आत्मा है।

शंकर के अनुसार ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप है। यह ब्रह्म-तत्व ही आत्मा के

---

[1] शंकर-भाष्य १.१.२। इसके अतिरिक्त ड्यूसेन महोदय का सिस्टम आफ वेदान्त भी देखिए।

रूप में हमारे शरीर में विद्यमान है। जागृत अवस्था में अनेक मायामय अनुभूतियों में हम विचरण करते रहते हैं। हमारा अहम् प्रत्येक अनुभूति के साथ यह अनुभव करता है कि मैं ऐसा कर रहा हूं, मैं यह सुख-दुःख भोग कर रहा हूं। परन्तु जब हम गहरी निद्रा में, सुषुप्त अवस्था में, होते हैं तो हमारी आत्मा का शरीर और बाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस अवस्था में आंशिक रूप से उस निर्मल आनन्द की स्थिति का आभास प्राप्त करते हैं जो ब्रह्मानन्द की स्थिति है। परन्तु प्राणिमात्र अपने भिन्न-भिन्न (नानाविध) रूपों में मायामात्र है। इन सबके अन्दर जो सत्, चित्, आनन्द तत्व व्याप्त है, वही सत्य ब्रह्म तत्व है।

सारी सृष्टि माया है, परन्तु इस संसार को मायारूपी सृष्टि के रूप में देखकर हम कह सकते हैं कि सम्भवतः ईश्वर ने इस संसार को केवल क्रीड़ारूपेण अपने आनन्द के लिए बनाया है। जिस दृष्टि से हम सबका अस्तित्व है और इस विश्व का अस्तित्व दिखाई देता है उस दृष्टि से हम सृष्टा का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ने ही इस संसार को बनाया है, वही सृष्टिकर्त्ता है। परन्तु यदि सृष्टि का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, तो किसी सृष्टिकर्त्ता के भी अस्तित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। सत्य दृष्टि से न सृष्टि का अस्तित्व है न सृष्टिकर्त्ता का। ब्रह्म जो महान् आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित है, वही इस विश्व का 'उपादान कारण (तत्वरूप हेतु) और वही 'निमित्त कारण' (कर्त्तारूप) है। कारण-कार्य में कोई भेद नहीं है। यह कार्य रूपी संसार मायामय है। यह ब्रह्म की माया का प्रसार है, माया व्याप्ति के मूल में ब्रह्म अवस्थित है। नाम, रूप, भेद से अनेक वस्तुएँ दिखाई देती हैं, पर तत्वरूपेण उनमें कोई अन्तर नहीं है। मिट्टी से चाहे घड़ा बनाया जाए, या कोई अन्य पात्र। सभी पात्रों में मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मिट्टी की स्थाली और घड़े में 'नामरूप' का ही अन्तर है। यह विश्व ब्रह्म रूप है, अतः यही कार्य रूपेण अनेक 'नामरूपों' में अवस्थित होता है। यह उसका 'व्यावहारिक' अस्तित्व है, परन्तु कारण रूप में वह अपने सत्य स्वरूप 'पारमार्थिक' रूप में शाश्वत ब्रह्म के रूप में स्थित है।[1]

वेदान्त दर्शन के मुख्य तत्व

शंकर वेदान्त का मुख्य तत्व अद्वैतवाद है। प्राणिमात्र में जो भिन्न-भिन्न आत्मा

---

[1] ब्रह्म-सूत्र के शांकर-भाष्य के मुख्य तत्वों का श्री डयूसेन महोदय ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम आफ वेदान्त' में बड़े सुन्दर ढंग से निरूपण किया है अतः उस सबकी यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। श्री शंकराचार्य के अनुयायियों के दृष्टिकोण को विशेष रूप से ध्यान में रखकर, वेदान्त दर्शन की व्याख्या इन पृष्ठों में की गई हैं।

दिखाई देती है, वह एक ही आत्मा है। यह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है। अन्य सब मिथ्या है। प्राणियों से भिन्न जो पार्थिव जगत् है, वह भी असत्य है। आत्मा ही सत्य रूप है। सारे मानसिक और भौतिक व्यापार क्षणिक हैं। अन्य सारे दर्शन जीवन में वस्तु सत्य को खोजते हुए पार्थिव जगत् में हमारे व्यवहार के हेतु प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करते हैं। उनकी दृष्टि वस्तुवादी और संसार की व्यावहारिक मर्यादाओं से सीमित है। परन्तु वेदान्त इस दृश्यमान जगत् को कोई महत्व न देते हुए इसे माया प्रतिबिंब मानकर उस मूल तत्व की ओर दृष्टिपात करता है जिससे यह सारा संसार प्रतिभासित हो रहा है। वेदान्त उस अन्तिम सत्य को खोजता है जो इस अनेकविध, सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल में अवस्थित है। श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए वेदान्त के एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'महाकाव्य' में कहा है, 'हे श्वेत केतु तत्वमसि'। तुममें ही वह महान् निहित है। तुम ही वह सत्य हो। तुम ही आत्मा और ब्रह्म हो। 'तत् त्वम् असि' वेदान्त का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य बन गया है। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्यज्ञान है। क्योंकि जैसे ही यह ज्ञान हो जाएगा, संसार की माया का स्वयंमेव ही लोप हो जाएगा। इस ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य इधर उधर भटकता फिरता है। परन्तु जब तक मन में वासनाओं और तृष्णा का आवेग शान्त नहीं होता, हम इस महान् सत्य को सच्चे अर्थों में ग्रहण नहीं कर पाते। शुद्ध चित्त होकर जब आत्मा मोक्ष की इच्छा से अन्तिम सत्य को खोजती है तब गुरु दीक्षा देता है कि तुम ही वह महान् सत्य हो (तत्वमसि)। इस दीक्षा से वह स्वयं उस सत्य के साथ आत्मसात् कर एकनिष्ठ हो जाता है। सत्, चित्, आनन्द रूप में रमता हुआ निर्धूम प्रकाश के समान जाज्वल्यमान हो उठता है। सारी अविद्या, ममत्व आदि का नाश हो जाता है। साधारण संज्ञान, मेरा-तेरा आदि का कोई महत्व ही नहीं रहता। यह संसार एक इन्द्रजाल के समान प्रतिबिंब रूप दिखाई देता हैं। माया के बन्धन स्वयंमेव अलग हो जाते हैं। वह केवल ज्ञानी होकर निर्द्वंद विचरण करता है।

अन्य भारतीय दर्शनों की यह मान्यता है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के अनन्तर सांसारिक सुख-दुःख आदि अनुभूतियों से ऊपर उठकर सारे सकल्प-विकल्पों के ऊहापोह का परित्याग कर वीतराग हो शुद्ध, निर्मल, आनन्दमय स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ मूल कल्पना यह है कि कर्मों के बन्धन से छूटकर मनुष्य वासनादि के जंजाल से मुक्त होकर, एक ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ सांसारिक पार्थिव व्यापार का उसके लिए कोई महत्व नहीं है। वह वीतकाम, निर्बन्ध सत्ता होकर सारे सांसारिक जंजाल से मुक्ति पा जाता है। उसने धर्मादि आचरण से अपने सारे सांसारिक बन्धनों का क्षय कर दिया है। वह परमहंस पद प्राप्त कर निर्बन्ध हो गया है। उस आनन्द मय स्थिति में उसे पार्थिव जगत् से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं है। पर अन्य सारे प्राणी इस पार्थिव जगत् के बन्धन से उसी प्रकार बंधे हुए अनेक कर्म करते रहते हैं।

पुराने कर्मों के भार से दबे हुए, आत्मा के स्वरूप को न जानते हुए, तृष्णा के जाल में फँस कर मनुष्य अनेक कर्म करता रहता है। इस प्रकार इस संसार की गति चलती रहती है। मुक्ति का अर्थ अपने आपको इस संसार के बन्धनों से मुक्त करना माना जाता है जिसमें मनुष्य अपने मन में ही अनेक प्रकार के कष्ट पाता रहता है। न्याय वैशेपिक और मीमासा मुक्ति की इस शुद्ध निर्मल स्थिति को अचेतन स्थिति मानते हैं और सांख्य एवं योग इसे पूर्ण शुद्ध, निर्मल 'चित्' स्थिति मानते हैं।

परन्तु वेदान्त का मत यह है कि इस पार्थिव जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह केवल भ्रान्त कल्पना मात्र है। यह केवल उस क्षण तक रहता है जब तक हमको सत्य ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म के स्वरूप का सही ज्ञान होते ही इस सांसारिक माया का लोप हो जाता है। माया संसार की समाप्ति का कारण यह नहीं है कि हम अपने आपको संसार से विरक्त कर लेते हैं, अथवा इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु इसलिए कि इस पार्थिव व्यापार का कोई सत्याधार नहीं है। अनादि काल से चली आती हमारी संसार सम्बन्धी कल्पनाओं के पीछे कोई आधार ही नहीं है। ये भ्रांति मात्र कल्पनाएँ हैं। हमको न अपने सम्बन्ध में कुछ पता है, न इस संसार के सम्बन्ध में। जो कुछ साधारण दृष्टि और अनुभव से हमको दिखाई देता है उसको ही हम सत्य मानकर अपने दैनिक कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह सत्य है कि इस सारे दृश्यमान् जगत् में एक व्यवस्था और क्रम दिखाई देता है। परन्तु यह व्यवस्थित नियमित संसार यदि हमारी अनुभूति के आधार पर सत्य दिखाई देता है तो यह सत्य एक आपेक्षित सत्य है। हमारी इन्द्रियानुभूति ही इस सत्य का आधार है। सीपी के टुकड़े को देखकर मनुष्य उसे अनेक बार चाँदी का टुकड़ा मान लेता है और उसे उठाने को भागता है। पर जैसे ही उसे सत्य-बोध होता है कि यह चाँदी का टुकड़ा न होकर सीपी मात्र है, वह उसे छोड़कर चल देता है। फिर वह पुन: भ्रम में नहीं पड़ता। इसी प्रकार मनुष्य सत्यज्ञान के पूर्व संसार को सत्य समझ कर इसकी ओर दौड़ता है पर जैसे ही भ्रान्ति का लोप होता है वह सत्य को जानकर इससे विमुख हो जाता है। चाँदी के टुकड़े की भ्रान्ति कुछ क्षणों के लिए प्रामाणिक दिखाई देती है। वह जीवन के अन्य तथ्यों की तरह हृदय में अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प आशादि उत्पन्न करती है। इस पार्थिव सत्य से प्रेरित मनुष्य कर्म के लिए उद्यत होता है, परन्तु जब वह उसको हाथ में उठाता है, उसे वास्तविक सत्य का पता चलता है। वह तत्काल उसे दूर फेंक देता है उसके हृदय में फिर किसी प्रकार का मोह उस शुक्ति-खंड की ओर नहीं रहता। अतः उपनिपद् का कथन है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, भ्रान्ति है। जो इस एक सत्य को छोड़कर अनेक प्रपंचों में फँसता है उसे दुःख और निराशा ही प्राप्त होती है। द्विधाओं में फँसा मन ब्रह्म से विमुख हो जाता है।

अन्य दर्शनों का मत है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी संसार इसी प्रकार

चलता रहेगा। हमारे लिए इस संसार का अस्तित्व इसलिए नहीं रहता कि हम इन्द्रिय-जगत् से दूर हो जाते हैं। जब इन्द्रियों का कार्य-क्षेत्र समाप्त हो जाता है तो मोक्ष के अनन्तर हमारे लिए संसार का अस्तित्व नहीं रहता। सांख्य दर्शन में मोक्ष प्राप्त 'पुरुष' शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाता है। बुद्धि तत्व 'पुरुष' से अलग होकर प्रकृति में लय हो जाता है। मीमांसा और न्याय दर्शन में मोक्ष की स्थिति में आत्मा का मन से विच्छेद हो जाता है, परन्तु वेदान्त की स्थिति भिन्न है। जिसने ब्रह्म को पा लिया है, जिसने इस महान् सत्य का दर्शन कर लिया है, उसके लिए इस सांसारिक माया का मिथ्या रूप स्वयमेव समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ से ही इस माया-संसार का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। परन्तु हम अनादि काल से चली आ रही मिथ्या भ्रान्ति के कारण संसार को सत्य मान लेते हैं। जो सत्य है, उसे हम सत्य रूप में ग्रहण कर सकते हैं, पर जो असत्य है, मिथ्या है, वह सत्य के समक्ष ठहर ही नहीं सकता। जब सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है, तो माया का लोप हो जाता है। उपनिषदों में कहा है कि सत्य एक ही हो सकता है, अनेक सत्य नहीं हो सकते। ब्रह्म ही एक सत्य है। शंकराचार्य ने इस अनेक का अर्थ ब्रह्मेतर अन्य सारी वस्तुओं के रूप में किया है, अतः इन सबको मिथ्या और असत्य माना है। क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और सब असत्य, माया, भ्रान्ति है, अतः इस एक सत्य को ग्रहण करने से माया का लोप हो जाता है। परन्तु एक शंका यह होती है कि माया और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, माया ब्रह्म से कैसे संलग्न हो जाती है। वेदान्त इस शंका को वैध नहीं मानता है। यह सारहीन प्रश्न है, क्योंकि ब्रह्म का माया से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। व्यक्ति अथवा ब्रह्मांड रूपी समष्टि के किसी भी प्रसंग में किसी भी काल में माया का ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं सोचा जा सकता। माया की उत्पत्ति से, अथवा किसी भी भ्रान्त कल्पना से सत्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। माया का अस्तित्व 'अविद्या' में है। सत्यज्ञान के उदय होने पर 'अविद्या' का लोप हो जाता है। जब तक भ्रान्ति रहती है, 'अविद्या' के कारण यह सब प्रपंच का आभास वास्तविक सा प्रतीत होता है। सत्यज्ञान के उदय के साथ ही यह आभास स्वप्नवत् दूर हो जाता है। इस संसार का अस्तित्व केवल 'प्रातीतिक सत्ता' है, जब तक हम माया भ्रान्ति से ग्रसित रहते हैं, यह संसार सत्य प्रतीत होता है। माया का रूप विचित्र है। यह साधारण तर्क के परे है। इसका भाव है अथवा अभाव, यह कहना भी कठिन है। माया है, या नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता (तत्वान्यत्वाभ्याम निर्वचनीया)। स्वप्न के समान ही, हमारी सारी इन्द्रियानुभूति के आधार के रूप में यह माया सत्य प्रतीत होती है। इसका अस्तित्व हमारे प्रत्यक्ष में निहित है। इस प्रत्यक्ष के आधार पर यह अस्तित्व सत्य दिखाई देता है। परन्तु हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनन्तर इसका कोई अस्तित्व नहीं है। अर्थात् हमारी मिथ्या दृष्टि से जो कुछ हमें दिखाई देता है, इस दृश्याभास के परे इसका कोई स्वतंत्र आधार या अस्तित्व नहीं है। जैसे स्वप्न का सत्य उस क्षण तक ही

वास्तविक प्रतीत होता है, जब तक वह स्वप्न् भंग नहीं होता, इसी प्रकार हमारी मोह निद्रा का यह दृश्यमान् जगत् भी उस समय तक सत्य रहता है जब तक हम इस निद्रा में मग्न रहते हैं। यदि इस मिथ्या प्रत्यक्ष और संज्ञान का कोई अर्थ है तो वह भी उतना ही असत्य है, इस असत्य माया से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं होता। ब्रह्म परम सत्य है। सत्य का असत्य से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म माया से परे हैं। माया शून्य है, ब्रह्म यथार्थ है। यथार्थ शून्य-रिक्तता से कभी भी प्रभावित नहीं हो सकता। इस संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब शून्य के समान हैं। ब्रह्म ही मनन करने योग्य एक मात्र सत्य है।

जगत् प्रपंच का मिथ्या रूप

यह सारा संसार मिथ्या है। यह माया का रूप है। इस मिथ्या संसार का रूप भी अनिश्चित है। यह प्रपंच कालापेक्षा से 'सत्' और 'असत्' दोनों ही है। काल की दृष्टि से यह संसार असत् है क्योंकि इसका अस्तित्व शाश्वत नहीं है। इसका स्वरूप तब तक ही दिखाई देता है जब तक सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता। सत्य ज्ञान के पश्चात् यह 'तुच्छ' प्रतीत होने लगता है। फिर इसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। यह जगत् प्रपंच 'सत्' भी है। यह सत् इस अर्थ में है कि जब तक मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व है, यह संसार वास्तविक दिखाई देता है। अतः अज्ञान के क्षणों तक यह यथार्थ के रूप में प्रतिभासित होता है। परन्तु क्योंकि इसकी सत्ता सभी काल में सत्य नहीं है, यह शाश्वत सत्ता नहीं है, अतः यह 'असत्' है। जब यथार्थ को इसके सत्यरूप में जान लिया तो जो असत्य है उसका स्वयंमेव लोप हो जाता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संसार न कभी था, न है, न आगे कभी रहेगा। मिथ्या दृष्टि से जो सत् प्रतीत होता है, सत्य दृष्टि से वही भ्रान्ति के रूप में दिखाई देता है। जैसे शुक्ति में रजत का आभास होता है तो हम रजत की सत्ता को सत्य मान कर तद्नुसार कर्म करते हैं परन्तु भ्रान्ति-निवारण के साथ ही हम समझ जाते हैं कि 'रजत' (चांदी) खंड न कभी था, न है, न रहेगा। ब्रह्मानुभूति के साथ ही संसार की निस्सारता का अनुभव होने लगता है। जैसे ही इस ज्ञान का उदय होता है कि संसार मिथ्या है, हमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा पूर्वज्ञान भी मिथ्या है। यह संसार असत् है, इसके सम्बन्ध में हमारी कल्पना भी असत् है। संसार माया है। परन्तु माया का भी स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है। माया और ब्रह्म दो वस्तुएँ नहीं हैं। अद्वैत ब्रह्म की ही शाश्वत स्थिति है। इस माया की विचित्रता यह है कि यह 'सत्' के साथ स्थित दिखाई देती है। परन्तु इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। संसार की सत्ता हमको सत् रूप में दिखाई देती है, यही माया है। सत्य वह है जो सब काल में, सभी स्थितियों में, सत्य हो। जो किसी भी समय में प्रमाणों से असत्य सिद्ध न हो। एक

वस्तु को हम सत्य तब तक ही मानते हैं जब तक उसको कोई अन्यथा सिद्ध न कर दे, परन्तु क्योंकि ज्ञान के उदय से यह संसार मायामय प्रतीत होता है, अतः इसे सत् नहीं कहा जा सकता।[1] ब्रह्म ही इस संसार में एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वही अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप समझना आवश्यक है। मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी हम किसी सत्य पर नहीं पहुँच सकते। सत्य स्वयं अपनी सत्ता से स्थित है, इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नहीं है। माया असत्य है, माया के मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नहीं होता। सत्यज्ञान से संसार की निस्सारता, मिथ्या ज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सबका स्वयंमेव बोध हो जाता है।

ब्रह्म की सत्ता के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, ब्रह्म स्वयं प्रकाशित ('स्वप्रकाश') है। इसका कोई रूप नहीं है। अतः यह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। हम जिन वस्तुओं को, भावनाओं आदि को अपने ज्ञान से ग्रहण करते हैं वह 'दृश्य' की संज्ञा से जाना जाता है। 'ब्रह्म' स्वयं 'दृश्य' न होकर 'द्रष्टा' है। चित् वृत्ति के क्षेत्र में आकर सारी वस्तुएँ हमारे संज्ञान द्वारा ग्राह्य होती हैं। कोई भी पदार्थ स्वयं अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता। जब हम अपनी चित्तवृत्ति को वस्तु विशेष की ओर केन्द्रित करते है तो वह हमारे ज्ञान का विषय बन जाती हैं। ब्रह्म को भी जब तक हम उपनिषदों में वर्णित विषय के रूप में देखते हैं, हम इसे इसी प्रकार जानते हैं। परन्तु जब वह अपने सत्य स्वरूप में देखा जाता है, तो वह साधारण वस्तुओं से पृथक् दिखाई देता है। अपने शुद्ध स्वरूप में वह निराकार, निर्गुण, स्वप्रकाशी एवं द्रष्टा के रूप में स्थित है। ब्रह्म का कोई रूप नहीं है। 'दृश्यता' की कल्पना में 'जड़त्व' की भावना निहित है। जिसे हम देखते है उसका भौतिक आधार होना चाहिए। इस 'जड़त्व' से निश्चित है कि वह वस्तु स्वयं प्रकाशित नहीं है, यह उसका 'अनात्मत्व' है, इसमें ही उसका 'अज्ञानत्व' निहित है। अर्थात् हमारे ज्ञान-क्षेत्र के सारे पदार्थ जड़ एवं किसी अन्य ज्ञान से प्रकाशित हैं, वे स्वयं अपने आपसे प्रकाशित नहीं हैं, क्योंकि उनमें स्वयं में अपने आपको प्रकाशित करने की शक्ति नहीं है। हमारा ज्ञान मिथ्या है, अतः उस ज्ञान-क्षेत्र से प्रकाशित सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। शुक्ति में रजत की भावना जैसे असत्य है उसी प्रकार हमारे ज्ञान का तात्कालिक रूप भी असत्य है। परन्तु यह ज्ञान जब शाश्वत तत्व के रूप में स्थित होता है, तब शाश्वत सत्य का दर्शन करता है। शुद्ध ज्ञान पर माया का ऐसा प्रभाव होता है कि वह सीमित क्षणिक 'परिच्छिन्न' पदार्थों को यथार्थ का रूप देकर मोहाविष्ट हो स्वयं सीमित हो जाता है। परन्तु ज्ञान निस्सीम है, अनन्त है, शाश्वत है। वह वस्तु-काल की सीमाओं से बंधा

---

[1] 'अद्वैत सिद्धि' और 'मिथ्यात्वनिरुक्ति' पुस्तक देखिए।

हुआ नहीं है। ज्ञान सर्वत्र स्थित है, सभी वस्तुओं में सभी कालों में प्रवाहित होता रहता है। इस शुद्ध ज्ञान रूप में जड़ वस्तुओं का निक्षेप माया के कारण होने से मिथ्या संसार की कल्पना सत् दिखाई देने लगतीहै। जैसा कहा है कि 'घटादिकम् सदर्थे कल्पितम्, प्रत्येकम् तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्'। अतः ब्रह्म से भिन्न यह संसार मिथ्या है। ब्रह्म वह उपादान कारण है जिसमें इस सारी माया का निक्षेप किया गया है। ब्रह्म ही सत्य है, यह संसार प्रपंच ब्रह्म से प्रकट, ब्रह्म में अत्यन्त भाव से स्थापित मिथ्या परिभास मात्र है। 'चित्सुख' में कहा गया है, 'उपादान निष्ठा त्यन्ताभावप्रतियोगित्व लक्षणमिथ्यात्व सिद्धिः। एक ब्रह्म ही सत्य है,जगत् मिथ्या है।

इस दृश्यमान् जगत् (सांसारिक प्रपंच) का स्वरूप

यह सांसारिक प्रपंच माया है, हमारे मन की भ्रान्ति है। परन्तु यह भ्रान्ति शुक्ति (सीपी) में रजत की भ्रान्ति से भिन्न है। शुक्ति में रजत की भ्रान्ति 'प्रातिभासिकी' भ्रान्ति है जो कुछ समय पश्चात् हमारे अन्य अनुभव से असत्य सिद्ध हो जाती है। परन्तु इस सांसारिक भ्रान्ति का इस संसार में अन्त नहीं होता, हमारा सारा व्यवहार इस भ्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही होता है। अतः इस भ्रान्ति को 'व्यावहारिकी' भ्रान्ति कहते हैं। जब तक ब्रह्म सम्बन्धी सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता हम इस संसार को ही सत्य मान कर तद्नुकूल आचरण करते हैं। अनादि काल से चले आते हुए अनादि सामूहिक अनुभव से यह भ्रान्ति और भी अधिक घनीभूत हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य का एक सा ही अनुभव होने से हम सब संसार को यथार्थ के रूप में देखने लगते हैं। परन्तु सत्य ज्ञान होने पर एक समय ऐसा आता है जब सांसारिक प्रपंचों का हमारे निकट कोई अर्थ नहीं रहता। यह सब तुच्छ दिखाई देने लगता है। तब हम सहज ही यह कह उठते हैं कि यथार्थ की दृष्टि से उस संसार का कोई महत्व नहीं है, यह अवास्तविक है। फिर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब केवल एक सामूहिक भ्रान्ति मात्र है। वेदान्त के इस मत के सम्बन्ध में एक शंका यह उत्पन्न होती है कि जब हम संसार को 'सत्व' रूप में अपने सामने स्पष्ट रूप से देखते है तो हम इसकी यथार्थता को अस्वीकार किस प्रकार कर सकते हैं। वेदान्त इस शंका का समाधान करते हुए उत्तर देता है कि सत्य इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। इन्द्रिय-ज्ञान का क्षेत्र सीमित है। न इसे हम सम्यक् ज्ञान का विषय कह सकते हैं क्योंकि उस महान् सत्य को जाने बिना सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शाश्वत सत्य, अपरिवर्तनीय स्वतंत्र और सर्वोपरि होना चाहिए। इस सत्य को इन्द्रियों के अनुभव से नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियाँ अनुभूति का माध्यम हैं पर उस अनुभूति की प्रामाणिकता उनके क्षेत्र से बाहर है। जो कुछ हम इन्द्रियों के माध्यम से देखते हैं वह केवल दृश्यमात्र है और यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी पुनः दृष्टि से जो अभी देखा है वह ऐसा ही दिखाई देगा। इन सब

इन्द्रिय-विषयों के मध्य में कभी-कभी सत्य, प्रकाश की अद्‌भुत चमक के समान एक क्षण के लिए कौंध जाता है। हमारी चेतना में एक क्षण के लिए जिस सत्य की चमक दिखाई देती है वही संसार का आधार है। यह 'सत्' ही वह सत्ता है जो सारे संसार के सभी भौतिक-अभौतिक तत्वों में सूत्र रूपेण निहित है। यह वही 'अधिष्ठान' है जिस पर इस दृश्यमान् जगत् की स्थिति है। इस सत् पर ही संसार की अवस्थिति है। यही सारे कार्यो में अनन्त धारा के रूप में प्रवाहित होता रहता है। अतः जिसकी वास्तविक सत्ता है वह यह 'सत्' है, इसके अनेक स्वरूपों का कोई महत्व नहीं है। सारी भौतिक घटनाओं एवं दृश्यों के भीतर यह सत् ही शाश्वत सूत्र है (एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीतिः)। न्याय का कथन है कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके सत्‌रूप को प्रकट करता है परन्तु न्याय का यह मत सत्य नहीं है। वस्तुओं का अस्तित्व एक आभास मात्र नहीं है। इस सारे आभास का आधार एक ही सत् तत्व है। इस सारी भ्रान्ति और माया का 'अधिष्ठान' यह 'सत्' है जो सर्वत्र व्यापक है। सारे आभास में इसी की स्थिति है। यह 'सत्' भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न नहीं है। एक ही सत् भिन्न-भिन्न रूप में सब में व्याप्त है। जो कुछ हमें दिखाई देता है उसे यदि प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सत्य मानने का विचार भी किया जाए तो हमको यह सोचना पड़ेगा कि हमारा प्रत्यक्ष कितना विश्वसनीय है। अनेक बार बुद्धि द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जो प्रत्यक्ष हमको सत्य दिखाई देता है वह वास्तविकता से अत्यन्त दूर है। उदाहरण के लिए साधारण दृष्टि से सूर्य को देखकर हम समझते हैं कि यह एक लघु पिंड है पर हमारा यह प्रत्यक्ष कितना भ्रान्तिमय है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। अतः हमारा प्रत्यक्ष अनुभव प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। संसार को हम यथार्थ मान कर यह सोच सकते थे कि इससे परे और कुछ नहीं है, यही सत्य है जो हमारे प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। परन्तु श्रुति और अनुमान का संकेत इससे भिन्न है। बुद्धि से भी यह जाना जाता है कि प्रत्यक्ष सदैव सत्य ही नहीं होता। यह भी सत्य है कि हम अपने सारे व्यवहार के लिए अपने प्रत्यक्ष पर निर्भर हैं, उसी के 'उपजीव्य' हैं। परन्तु हमारी निर्भरता (उपजीव्यता) प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता सिद्ध नही कर सकती। किसी वस्तु की वैधता उसकी 'परीक्षा' पर निर्भर करती है। विवेचन और विश्लेषण से हम यह अध्ययन करते है कि हमारे विश्वासों का आधार कहाँ तक सत्य है। यह भी सही है कि सभी व्यक्तियों के साक्ष्य से इस जगत् की सत्ता और स्थिति स्पष्ट प्रकट होती है। हमारे प्रत्यक्ष के आधार पर हम जो कर्म करते हैं उसके प्रतिफल से भी सांसारिक व्यापार की वैधता सिद्ध होती है। वेदान्त भी इसे अस्वीकार नहीं करता कि सांसारिक व्यापार की स्थिति है। वेदान्त का मत यह है कि यह व्यापार शाश्वत नहीं है। एक समय ऐसा आता है जब यह व्यापार अर्थहीन हो जाता है। यह नाशवान है। सांसारिक वस्तुओं की उपादेयता और अनुभूति हमारे किसी अन्य अनुभव के आधार पर मिथ्या सिद्ध हो जाती है। मुक्त पुरुष के

लिए यह संसार माया मात्र दिखाई देता है। ब्रह्मज्ञानी के लिए यह सारा संसार निरर्थक प्रवंचना मात्र है जो स्वयं असत्य है और जो सत्य को देखने में व्यवधान स्वरूप है। अतः स्पष्ट है कि हमारे प्रत्यक्ष से वेदान्त दर्शन के इस मत का कि संसार मिथ्या है, माया मात्र है, खंडन नहीं हो सकता। शास्त्रोपनिषद् सभी एक मत है कि हमारे प्रत्यक्ष से जो नानाविध संसार दिखाई देता है वह शाश्वत सत्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य दृष्टिकोण से भी यह संसार असत्य दिखाई देता है। ज्ञान चेतना ('दृक्') और इस चेतना की विषय वस्तुओं ('दृश्य') में भी कोई वास्तविक सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। हमारी चेतना के द्वारा वस्तु विशेष एक क्षण के लिए प्रकाशित हो उठती है जिससे उस वस्तु का संज्ञान प्राप्त होता है। अतः ज्ञान चेतना के इस सहसा प्रकाश की कौंध में ही हम सब वस्तुओं को देखते हैं। परन्तु चेतना और इसके क्षेत्र की वस्तुओं में कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। न तो इन दोनों में कोई 'संयोग' सम्बन्ध है न 'समवाय' सम्बन्ध है। अर्थात् पहले सम्बन्ध में इन दोनों वस्तुओं का योग होना चाहिए और दूसरे (समवाय) में व्याप्ति। पर इन दोनों सम्बन्धों के अतिरिक्त हमें और किसी सम्बन्ध का पता नहीं चलता। संसार की सारी वस्तुओं में यही दो सम्बन्ध पाए जाते हैं।

हम कहते हैं कि अमुक वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है। ज्ञान की इस विषयात्मकता (वस्तुनिष्ठता) से क्या अर्थ है। इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि वस्तु विशेष में मीमांसा की 'ज्ञानता' के समान कोई विशेष गुण या प्रभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि ऐसा कोई गुण या प्रभाव देखने में नहीं आया। प्रभाकर की भाँति हम यह भी नहीं कह सकते कि विषयात्मकता से व्यावहारिक अर्थ (उपादेयता) का बोध होता है क्योंकि कई वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको हम देखते हैं पर वे हमारे किसी अर्थ की नहीं होती। उदाहरण के लिए आकाश हमारी ज्ञान-चेतना का विषय है पर हमारे लिए उपादेय नहीं है। इसी तरह हम यह भी नहीं कह सकते कि यह विषय-वस्तु हमारे विचारों की उत्प्रेरक है अथवा 'ज्ञान-कारण' है। क्योंकि यह व्याख्या उन वस्तुओं के लिए सत्य हो सकती है जिनको हम इस समय देखते हैं। परन्तु अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो हमारी ज्ञान-चेतना से पूर्व काल से स्थित हैं। अतः जो वस्तु तत्काल ज्ञान-चेतना के क्षेत्र में नहीं आती वह ज्ञान-कारण नहीं हो सकती। वस्तुओं की इस अभिदृश्यता (वस्तुनिष्ठता) से यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि ये वस्तुएँ ज्ञान-चेतना पर अपना बिंब प्रक्षेप करती हैं, और इसलिए यह ज्ञान का विषय मानी जाती हैं। यह उन वस्तुओं के लिए तो सत्य हो सकता है जो हमारे तत्काल प्रत्यक्ष का विषय हैं, परन्तु जो वस्तुएँ अनुमान से जानी जाती हैं उनके विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। अनुमान की विषय-वस्तुएँ बहुत दूर होने के कारण हमारी चेतना को अपने बिंब-प्रक्षेप से प्रभावित नहीं कर सकती। इस प्रकार हम किसी भी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें हमारी समझ में

नहीं आता कि हमारे ज्ञान का इन बाह्य वस्तुओं से किस प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध हो सकता है। अतः इन सबको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि संसार स्वप्न में दिखाई देने वाले प्रतिबिंब के समान आभास मात्र है, ऐसी ऐन्द्रजालिक माया है जो दिखाई देती है, पर जो वास्तव में सारहीन, निःस्वत्व है।

यद्यपि यह सारा संसार और इस बाह्य जगत् की वस्तुएँ माया मात्र हैं फिर भी वस्तु विशेष के प्रकाश में आने के लिए हमारी चित्तवृत्तियाँ उस ओर प्रवाहित होनी चाहिए जिसके द्वारा उस वस्तु से इन्द्रिय-सम्पर्क स्थापित होता है। सरल शब्दों में हमारी इन्द्रियाँ उस वस्तु को ग्रहण करती हैं जिस ओर उस क्षण में हमारी वृत्ति का झुकाव होता है। यदि ऐसा ही है तो फिर शंका यह उठती है कि हम इन सब वस्तुओं और इस बाह्य जगत् को वास्तविक क्यों नहीं मान लेते। जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों के द्वारा स्थूल रूप से ग्रहण की जाती हैं, उनकी 'सत्' स्थिति होनी ही चाहिए। वेदान्त का उत्तर जटिल है। वेदान्त का कथन है कि ससार की सारी वस्तुएँ सत् का प्रतिबिंब मात्र हैं। सत् है परन्तु यह सारे माया जगत् के अधिष्ठान के रूप में है। इस सत् के ऊपर मायामय आभास की स्थिति है। यह आभास या माया हर समय विद्यमान है। इसके किस अंग को क्षण विशेष में दिखाई देना है यह हमारी चित्वृत्ति पर निर्भर करता है। जिस प्रकार जिस काल जैसी हमारा वृत्ति होती है, उसी वृत्ति के अनुरूप हमें माया का स्वरूप प्रतिभाषित होने लगता है। यह इस प्रकार प्रकाशित होता है जैसे किसी दीपक के प्रकाश में अन्धकार दूर होकर किसी वस्तु का सम्पूर्ण रूप दिखने लगता है। यह दृश्य सदैव ही क्यों नहीं दिखाई देता ? वेदान्त का उत्तर है कि यद्यपि यह मायामय रूप सदैव स्थित है परन्तु यह अज्ञान के आवरण से छिपा हुआ है। हमारे अज्ञान के आवरण के हटते ही सत् पर आक्षिप्त माया रूप दिखाई देने लगता है। चित् वृत्ति के नियोजित करने पर तद्विषयक ज्ञान का प्रकाश एकदम फैलकर इस आवरण को हटा देता है और वस्तु दिखाई देने लगती है। इस प्रकार हमारी ज्ञान-चेतना एक ऐसे प्रकाश के रूप में स्थित है जो सदैव प्रज्वलित रहता है, इसका क्रमिक उदय नहीं होता। हमारी चित्वृत्ति के माध्यम से यह प्रकाश वस्तु विशेष को प्रकाशित करता है। जब शुक्ति खंड में रजत की भ्रान्ति होती है तो 'दोष' न वस्तु का है, न नेत्र का है और न अन्य किसी तत्व का है। सारा दोष हमारी वृत्ति का है जिससे हम प्रत्येक चमकने वाली शुक्ति को रजत के रूप में देखने लगते हैं। इस भ्रान्ति में, हमारी भ्रान्ति का आधार (अधिष्ठान) चित् है, जो सीपी में चाँदी को देखता है। अतः भ्रान्ति का कारण हमारा अज्ञान (अज्ञान) है, उचित संज्ञान के द्वारा हम सीपी को सीपी के रूप में देखते हैं। अतः भ्रान्ति का विषय विषय-वस्तु न होकर उसका ज्ञान है। विषय-वस्तु अर्थात् शुक्ति के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, वह ज्यों का त्यों है। हमारे मन में भ्रान्ति तद्विषयक ज्ञान के कारण

अभिभूत हो जाते हैं। संसार के वाह्य आवरण के नीचे जो एक सत् रूप व्याप्त है, हम उसको भी न देख कर केवल उसके अनेकविध वाह्य माया रूपों को देख कर उन्हीं को सत्य मानकर व्यवहार करते हैं। हमारी पार्थिव चेतना में ब्रह्म का सत् स्वरूप भी प्रकट नहीं हो पाता। जब हम यह कहते हैं कि यह घड़ा है तो 'यह' जिस 'सत्' को प्रकट करता है वह सत् का वाह्य रूप है। सत् एक है। यह एक ही सत् वाह्य प्रपंच के अनेक रूपों में दिखाई देता है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप को न जानने के कारण ही भ्रान्ति हुआ करती है।

पुनः यह कहा जाता है कि जब यह जगत् हमारे सारे व्यावहारिक कर्मों के लिए पर्याप्त है और जब अन्य किसी वस्तु की इस संसार से परे आवश्यकता नहीं है, इसको ही यथार्थ मानना चाहिए। फिर इस संसार को ही सत् समझना उचित है। वेदान्त का कथन है कि बहुधा भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष से भी अनेक व्यावहारिक क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। जैसे रस्सी को जब हम सर्प के रूप में देखते हैं तो उससे वैसा ही भय लगता है, जैसाकि वास्तविक साँप को देख कर लगता है। स्वप्नों को देखकर हम दुःख और सुख का अनुभव करते हैं। कभी-कभी स्वप्न के भय से हम जड़ीभूत हो जाते हैं, परन्तु हम इनको यथार्थ के रूप में कदापि स्वीकार नहीं करते हैं। अनादिकाल से संचित संस्कारों के कारण भ्रान्ति उत्पन्न होती रहती है। जैसे हमारी जाग्रत अवस्था में अनुभूत प्रत्यक्ष के अन्तर्मन पर पड़े संस्कारों से स्वप्नों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार हमारे संस्कारों का निर्माण होता है और तद्नुकूल इस जन्म में हमारी भोगानुभूति का विनिश्चयन होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने कर्मों के अनुसार ही इस संसार में उसके अनुभूति-क्षेत्र का निर्माण होता है। एक व्यक्ति के संस्कारों से दूसरे व्यक्ति का अनुभूति-क्षेत्र अथवा भाग का विनिश्चयन नहीं हो सकता। परन्तु यह भोगानुभूति उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार स्वप्नानुभूति मिथ्या होती है। परन्तु साथ ही इस दृश्यमान् जगत् की अनुभूति को हम केवल व्यक्तिनिष्ठ स्वानुभूति नहीं कह सकते। मनुष्य के अपने व्यक्तिगत संज्ञान के पूर्व भी इस प्रकृति का प्रवाह अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है जिसका हमको स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। हमारे अपने अस्तित्व से अथवा अनुभूति से इस प्रकृति-प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सांसारिक प्रपंच इसी प्रकार युगों से चला आ रहा है (स्वेन अध्यस्तस्य संस्कारस्य वियदाद्य ध्यासजनकत्वोपपत्ते: तत्प्रतीत्यभावेपि तदध्यासस्य पूर्वम् सत्वात् कृत्स्नस्यापि व्यवहारिक पदार्थस्य अज्ञात सत्त्वाभ्युपगमात्)।

कभी कभी यह शंका भी की जाती है कि अधिष्ठान (भूमि) और भ्रान्त कल्पना की वस्तु में सादृश्य होने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे सीपी (अधिष्ठान) और कल्पना-वस्तु चाँदी में सादृश्य होने से भ्रान्ति होती है। परन्तु अधिष्ठान रूप ब्रह्म और सांसारिक प्रपंच में कोई साम्य या सादृश्य नहं है अतः भ्रान्ति का कोई प्रश्न

नहीं उठता। लेकिन वेदान्त का उत्तर है कि भ्रान्ति केवल सादृश्य के ही कारण नहीं अन्य दोषों से भी भ्रान्ति हो जाती है। जैसे पित्त के आधिक्य से श्वेत शंख पीला दिखाई देता है। सादृश्य के कारण वस्तु विशेष की पूर्व स्मृति के संस्कार मन में स्पष्ट हो उठते हैं और इस प्रकार भ्रान्ति उत्पन्न होती है, परन्तु सादृश्य के अतिरिक्त भी अन्य कारणों से पूर्व संस्कारों की स्मृति जाग्रत हो जाती है। कभी-कभी 'अदृष्ट' से भी मनुष्य माया में फँसता है। यह अदृश्ट पूर्व जन्म के शुभ-अशुभ कर्मों के कारण बनता है। इस 'अदृष्ट' को हम साधारण दृष्टि से नहीं देख पाते। साधारण भ्रान्ति के लिए किसी दोष की आवश्यकता है, परन्तु इस सांसारिक माया-भ्रान्ति के लिए किसी दोष की अपेक्षा नहीं है क्योंकि अनादि-अनन्त काल से इसी प्रकार चली आ रही है और इसका 'एकमात्र कारण 'अविद्या' है जिससे हम सांसारिक माया-मोह में फँस कर ब्रह्म के वस्तविक सत् रूप को माया के आवरण में नहीं देख पाते। ब्रह्म ही वह अधिष्ठान है जिस पर माया का अवलम्ब है। माया-संसार में भी वही ब्रह्म अपने तेज स्वरूप में स्थित इस माया-रूप को प्रतिभासित कर रहा है। माया के आवरण में भी वह स्वप्रकाशित ब्रह्म ही सारी माया के प्रत्यक्ष का कारण और आधार है। इस आधार (अधिष्ठान) को इसके सत्य स्वरूप में देखने के लिए चित्वृत्ति पर से अविद्या का आवरण हटाने की आवश्यकता है। जैसे ही इस सारे संसार के अधिष्ठान सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का दर्शन होता है, माया स्वयमेव नष्ट हो जाती है। तेजस्वी स्वयं प्रकाशित परमब्रह्म को जैसे ही हम उसके सत्य स्वरूप में प्राप्त करते हैं वैसे ही माया का लोप हो जाता है।

अज्ञान की परिभाषा

सारी माया-भ्रान्ति का कारण अज्ञान है। यह अज्ञान अनादि है, यह भावरूप (जिसकी स्थिति है,) परन्तु ज्ञान के द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। अज्ञान के लिए कहा है 'अनादि भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।' समयापेक्षा से जितनी वस्तुएँ सादि (जिनका प्रादुर्भाव होता है) हैं, उन सबमें यह अनादि अज्ञान प्रकट होता है। सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान-अंधकार के आवरण से आवृत्त हैं। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। अज्ञान 'चित्' का ही अभावात्मक रूप है और चित् के समान ही अनादि है। अज्ञान चित् से संपृक्त है। जहाँ ज्ञान नहीं है वहाँ अज्ञान है, 'चित्' की स्थिति अनादि अनन्त है। 'अज्ञान' भी चित् का ही अन्यथा रूप है। यह भावरूप है। 'भाव' यहाँ अभाव का विलोम न होकर अभाव से भिन्नता सूचित करता है। (अभावविलक्षणत्व मात्रम् विविक्षितम्)। परन्तु अज्ञान की स्थिति अन्य पार्थिव वस्तुओं की स्थिति से भिन्न है। अज्ञान को भावरूप में कहने का कारण एकमात्र यह है कि यह अभाव नहीं है। परन्तु साधारण भौतिक वस्तु के

एक शंका यह उत्पन्न होती है कि 'मैं नहीं जानता' से किसी अनिश्चित 'अज्ञान' का अर्थ है, तात्पर्य यह है कि मुझे अमुक वस्तु का 'ज्ञान' नहीं है। यहां 'ज्ञान' के 'अभाव' से अर्थ है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वेदान्त का कथन है कि 'अभाव' में एक निश्चित भाव है। यह किसी निश्चित वस्तु के अभाव का द्योतक है। अतः 'अभाव' शब्द किसी वस्तु विशेष के गुण धर्म को ध्यान में रखते हुए, उसके न होने का परिचायक है। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' या मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं है तो उससे अर्थ एक अनिश्चित, वस्तु हीन अज्ञान से है जिससे किसी विशेष वस्तु के अभाव की संकल्पना नहीं होती। साथ ही यह अनिश्चित अज्ञान भावरूप भी है, क्योंकि 'अभाव' नहीं है। अभाव रूप न होने से 'भावत्व' स्पष्ट है। परन्तु यह 'भावत्व' अन्य पार्थिव वस्तुओं के 'भावत्व' से भिन्न है क्योंकि यह अज्ञान-भाव केवल एक अनिश्चित, गुण-रूप विहीन न जानने की कल्पना है। अभाव का अर्थ सभी वस्तुओं के (सर्व साधारण) अभाव से न होकर विशिष्ट वस्तु के अभाव से हुआ करता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि अभाव से अर्थ सामान्य अभाव से है तो भूमि पर घड़ा होते हुए भी हमको उसका अभाव मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। अतः विशिष्ट वस्तु के अभाव का अर्थ किसी सर्व सामान्य अभाव से नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सामान्य अभाव-कल्पना विशिष्ट वस्तु से सम्बन्धित न होने से हमारी चेतना ग्रहण नहीं कर सकती। किसी भी अभाव की चेतना 'उपलब्धि' के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी निश्चित वस्तु के अभाव की द्योतक होनी चाहिए। अतः सामान्य अभाव में विशिष्ट ज्ञान का कोई अर्थ नहीं रहता। सामान्य अभाव से अर्थ होगा किसी भी वस्तु का ज्ञान न होना। परन्तु 'अज्ञान' इससे भिन्न है। किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी' अज्ञान' स्थित रहसकता है। अनेक वस्तुओं को जानते हुए भी 'अज्ञान' स्थिर रहता है। इस दृष्टि से यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' तो यह एक विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष (उपलब्धि) है जो अनिश्चितता अथवा अज्ञान का सूचक है। हमारा यह भी अनुभव है कि हम यह जान कर कि इस विषय में हमको निश्चित रूप से अज्ञान है, हम उस अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अज्ञान का प्रत्यक्ष 'अभाव' के प्रत्यक्ष से भिन्न हैं। हमारी प्रत्यक्ष-चेतना (साक्षी चैतन्य) कुछ इस प्रकार की है कि यह ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण करती है, दोनों को ही उनके अनेक रूपों में समझने में समर्थ है। हमारी चित्तवृत्ति जब एक दिशा में प्रेरित होती है तो हम उस वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसे 'वृत्तिज्ञान' कह सकते हैं। 'वृत्तिज्ञान' अज्ञान का विरोधी है। हमारे चैतन्यमन में जो सभी वस्तुओं का प्रत्यक्षकर्त्ता (साक्षी चैतन्य) है ऐसी विशिष्टता है कि वह सारे 'भाव' को निश्चित ज्ञानात्मक रूप में अथवा अनिश्चित अज्ञान के रूप में ग्रहण करता है। परन्तु यह 'अभाव' को समझने में असमर्थ है, क्योंकि 'अभाव' प्रत्यक्ष नहीं है। 'अभाव' में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष

है, पर एक अन्य प्रत्यक्ष है। किसी वस्तु का ज्ञानभाव उस वस्तु के भौतिक अस्तित्व का परिचायक है। उसका विरोधी अभाव उस वस्तु विशेष के न होने का सूचक है। अतः यह भावना कि मुझे कुछ पता नहीं है, इससे भिन्न प्रकार की अवस्था का प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष है, जो जाग्रत और सुषुप्त दोनों अवस्थाओं में अज्ञान का संज्ञान कराता है।

'अज्ञान' की उपस्थिति का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि जब हम किसी विशेष संदर्भ में उस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जिसके बारे में हमने पहले यह कहा था कि हमको इस सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है, तो उस अज्ञान का निवारण हो जाता है। जैसे अंधकार में प्रकाश की किरण प्रकट होती है उसी प्रकार अज्ञान अन्धकार के आवरण को हटाने वाले ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है।[1] इसके अतिरिक्त अज्ञान के कारण ही माया की उत्पत्ति होती है। अज्ञान ही सारी भ्रान्ति का आधार है, अज्ञान ही माया तत्त्व है। ब्रह्म को हम माया-तत्त्व नहीं कह सकते, क्योंकि वह शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अनन्त तत्त्व है। इस अज्ञान के कारण ही वह हमको अपने सत्, चित्, आनन्द रूप में प्रकट नहीं हो पाता। यदि अज्ञान नहीं होता, तो हमको वह सदैव ही प्रत्यक्ष दिखाई देता। यह अज्ञान हमको अपनी 'साक्षी-चेतना' से, जिससे हम सभी सांसारिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, दिखाई देता है। यह 'साक्षी चेतना' हमारे शुद्ध 'चित्' से भिन्न है। शुद्ध 'चित्' रूप 'अविद्या' के कारण 'साक्षीचेतना' के रूप में प्रकट होता है जिससे हम संसार के माया-व्यापार का प्रत्यक्ष करते रहते हैं। जैसे ही इस अविद्या का नाश होता है, शुद्ध चित् रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

'अज्ञान' 'अहंकार' और 'अन्तःकरण' की संस्थिति और कार्य

'अज्ञान' का आधार 'चित्' है। 'चित्' प्रकाशमय है। जब शुद्ध चित् रूप मनुष्य की चित्तवृत्तियों द्वारा धारण किया जाता है तो अज्ञान का विनाश हो जाता है। इसके पूर्व चित् अज्ञान के आवरण में छिपा रहता है। अज्ञान का अधिष्ठान शुद्ध चित् रूप है, माया से अभिभूत 'अहम्' या 'मैं' के पीछे जो 'चित्' है, वह स्वयं अज्ञान से उत्पन्न होता है। अर्थात् अहम्-भावना अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु वाचस्पति मिश्र का कथन है कि शुद्ध चेतन रूप अज्ञान का आधार नहीं है। अज्ञान का आधार 'जीव' है। श्री माधवाचार्य इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करते हुए कहते हैं कि अज्ञान के कारण जीव के द्वारा चिन्मय रूप को देखने में बाधा पहुँचती है अतः वे इसे 'चत्'

---

[1] इस प्रसंग में 'पंचपादिका-विवरण', 'तत्त्वदीपन' और 'अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ देखिए।

लिए किसी अन्य अस्तित्व की अपेक्षा नहीं है। उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि भेद किसी अन्य वस्तु का गुण नहीं हो सकता। हमारे वस्तु के प्रत्यक्ष में भेद का कोई स्थान नहीं है।

भेद की दूसरी व्याख्या 'अन्योन्याभाव' है जिसमें यह कहा जाता है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। जब यह कहा जाता है कि घड़े का वस्त्र में अभाव है या वस्त्र का घड़े में अभाव है तो इसका अर्थ यह है कि पहले वस्त्र का घड़े में या घड़े का वस्त्र में भाव होना चाहिए और इस भाव की अब अनुपस्थिति होने से यह अभाव कहा जा रहा है और फिर अभाव से यह भेद उत्पन्न हुआ है। यदि वस्त्र में घड़े का भाव है, वस्त्र का घड़े में होना पाया जाता है अथवा घड़े में वस्त्र का निवास है तो इसका अर्थ होगा कि घड़े और वस्त्र का एक ही रूप है, दोनों एक ही हैं, दोनों में अस्तित्व-साम्य है। यदि यह कहा जाता है कि दोनों में तादात्म्य है, दोनों में अस्तित्व-साम्य है, तो भेद रूप का विवेचन कठिन है, उन दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। यदि 'अन्योन्याभाव' का अर्थ वस्त्र में घटत्व का अभाव या घट में पटत्व का अभाव है तो कठिनाई यह है कि घटत्व में ऐसा कोई गुण नहीं है जिसका घट से भेद माना जा सके और न पटत्व में ऐसा गुण है जिसे घटत्व के समरूप माना जा सके। यदि हम पटत्व और घटत्व में समरूपता मानते हैं तो हम यह भी कह सकते हैं कि वस्त्र में वस्त्रत्व नहीं है घट में घटत्व नहीं है, जो एक विचित्र विरोधात्मक उक्ति होगी।

भेद की तीसरे प्रकार की व्याख्या 'वैधर्म्य' है। वैधर्म्य से यह समझा जाता है कि वस्तु विशेष के गुण-धर्म में भिन्नता (अपसृति) है। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह गुण-धर्म की विषमता इस प्रकार की है कि यह अन्य वस्तु से इसके स्वाभाविक अन्तर को प्रकट करती है। क्या घट का वैधर्म्य, वस्त्र के वैधर्म्य से अन्तर प्रकट करता है ? यदि यह सत्य है तो प्रत्येक वस्तु के लिए अनन्त वैधर्म्य गुण चाहिए, जो इसे अन्य वस्तुओं से अलग करते हैं, और फिर उस दूसरी वस्तु के लिए भी उसी क्रम में भेद के प्रतीक अनन्त वैधर्म्य गुण चाहिए, इस प्रकार इस क्रम का भी एक दूषित चक्र स्थापित हो जाएगा। यदि यह कहा जाता है कि घट और वस्त्र के वैधर्म्य गुण एक ही हैं तो फिर तादात्म्य के कारण दोनों में भेद की कोई स्थिति ही नहीं उठती। यदि यह कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप स्वयमेव ही दूसरी वस्तु से भेद का परिचायक है क्योंकि प्रत्येक वस्तु दूसरे से भिन्न है और दूसरे को स्वतः ही पृथक् कर देती है तो ये वस्तुएँ भेदरहित होकर 'निःस्वरूप' (आधार हीन) हो जाएगी। यदि इसके विपरीत यह कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप से अर्थ उस 'स्वरूप विशेष' से है जो दूसरी वस्तुओं से विभेद का द्योतक है, तो इस विशेष स्वरूप के अभाव में स्वाभाविक स्वरूप एक रूप या अनन्य दिखाई देना चाहिए। इसी प्रकार हम 'पृथक्त्व' के विवेचन से भी इसी निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि पृथक्त्व नाम का भी कोई

गुण नहीं है जिसके आधार पर हम वस्तुओं के भेद को स्पष्ट कर सकें। पृथक्त्व के सम्बन्ध में भी हमको यह विचार करना पड़ेगा कि यह पृथक्त्व एक ही वस्तु में पाया जाता है या भिन्न वस्तुओं में पाया जाता है। यह पृथक्त्व वस्तु में निवास करता है या उसके बाहर। यह वस्तु से समरूप है या भिन्न रूप है ? इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि भेद का भेद पाना इतना सरल नहीं है जैसा प्रथम दृष्टि से प्रतीत होता है। इस प्रकार का सूक्ष्म तर्क भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम 'कथावत्थु' के प्रथम अध्यायों में पाया जाता है। पाणिनि के 'महाभाष्य' में पतंजलि ने इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है। परन्तु इसका विस्तृत प्रयोग सर्वप्रथम श्री नागार्जुन ने किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संसार में सभी कुछ निस्सार, क्रम, व्यवस्था हीन है जिसके बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सभी वस्तुओं में एक ऐसा विरोधाभास है कि किसी भी वस्तु में कोई तथ्य नहीं है। सभी मिथ्या है और यह सब विश्व एक महाशून्य के अलावा और कुछ नहीं है। श्री शंकराचार्य ने न्याय और बौद्ध दर्शन का खंडन करने के लिए इस तर्क पद्धति का आंशिक रूप से प्रयोग किया था परन्तु श्री हर्ष ने उस पद्धति का पूर्णरूपेण प्रयोग कर अपने मार्मिक, सूक्ष्म तर्क से न्यायादि दर्शनों की सारी मान्यताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि दर्शन के आधार पर जिन वस्तुओं की परिभाषा दी जाती है और जिनको महत्व दिया जाता है उनके सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे है या नही है। इस प्रकार न्याय की मान्यताओं के खंडन से यह सिद्ध कर दिया गया कि जिन वस्तुओं को हम सत्य मानते हैं, वे सत्य का आभास मात्र हैं, उनकी कोई वास्तविक स्थिति है ही नहीं। वेदान्त को इससे बड़ी सहायता मिली। वेदान्त ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यही यथार्थ है। संसार का सारा ही व्यापार आभास मात्र है, यह हमें व्यवहार में सत्य दिखाई देता है पर वास्तव में यह सब अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है जिसका अस्तित्व किसी तर्क की कसौटी पर सिद्ध नहीं हो सकता। तर्क की दृष्टि से माया भी 'अनिर्वचनीय' है। इस सारे प्रपंच को किसी भी प्रकार किसी भी परिभाषा में बांधना कठिन है, क्योंकि जो आभास मात्र है उसका कोई भी सत् स्वरूप तर्क से सिद्ध करना असम्भव है। श्री हर्ष के पश्चात् चित्सुख ने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने हर्ष का अनुसरण किया। इस प्रकार वेदान्त दर्शन ने जहाँ एक ओर शून्यवाद का आश्रय लिया, वहाँ दूसरी ओर विज्ञानवाद का आश्रय लेकर यह स्थापना की कि ज्ञान स्वप्रकाशित तत्त्व है और अन्त में आत्मा या 'चित्' ही अन्तिम ज्योतिर्मय सत्य रूप है।

कारण-सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन सतत परिवर्तित होने वाले घटनाक्रम का मनन करते हुए यह

विवेचन करता है कि उस परिवर्तन का प्रत्येक क्षण में घटने वाली अनेक क्रियाओं का मूल कारण कहाँ छिपा हुआ है ? अन्य दर्शनों में प्रत्येक घटना को किसी पूर्व कारण से सम्बद्ध किया है। कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। कार्य विशेष की पृष्ठभूमि में अपरिवर्तनीय, निरूपाधिक कारण-संयोग अवश्य रहता है, जिसके अभाव में कोई भी कार्य सम्भव नहीं है। परन्तु वेदान्त दर्शन के लिए इतनी व्याख्या पर्याप्त नहीं है क्योंकि इससे यह समझ में नहीं आता कि एक विशिष्ट कारण-संयोग से कार्य विशेष कैसे सम्भव होता है। यह कारण-कार्य-संयोग क्यों कर होता है यह जानने की आवश्यकता है। साधारण दृष्टि से जो कारण किसी कार्य का दिखाई देता है, वह उस सीमा तक ठीक है कि एक कारण-सामग्री से एक कार्य-विशेष सम्पन्न हो जाता है। अतः हम केवल ऊपरी दृष्टि से कारण-कार्य के युग्मों से संतोष कर लेते हैं। परन्तु हम यह जानना चाहते हैं कि वह मूल कारण कौनसा है जिससे घटादि की उत्पत्ति होती है। यदि हम केवल दृश्यमान जगत् के स्थूल रूप से दिखाई देने वाले कारण से संतोष कर लेते हैं, तो फिर प्रत्येक घटनाक्रम के पीछे कुछ स्थूल रूप से जो साधारण कारण-संयोग दिखाई देता है वह पर्याप्त है। परन्तु इससे तो दार्शनिक दृष्टि से कोई प्रगति नहीं होती। न्याय की दृष्टि से इतना ही पर्याप्त हो सकता है परन्तु हमारे मूल प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता कि इस कारण-कार्य की सम्भावनाओं की पृष्ठभूमि में क्या है। न्याय-दृष्टि में काल की अपेक्षा से कारण का पूर्ववर्ती होना आवश्यक है। परन्तु न्याय के अनुसार काल सतत प्रवाहशील है, निरन्तर गतिमान् काल में कहीं व्यवधान नहीं है। काल का पूर्ववर्ती और अनुवर्ती होना घटना-क्रम की अपेक्षा से ही है। घटना के अभाव में काल के अनुवर्ती होने की कल्पना कठिन है। पुनः समय का पौर्वापर्य और अनुक्रम में घटनाक्रम की अपेक्षा होने से इनमें 'अन्योन्याश्रय' भाव है। अतः इनमें से किसी को भी स्वतंत्र रूप में नही देखा जा सकता। जो किसी अन्य पर निर्भर है वह स्वतन्त्र कारण के रूप में नहीं माना जा सकता। किसी कार्य के लिए दूसरी (शर्त) उपाधि निरपवादिता अथवा अपरिवर्तनीयता है। यदि इस अपरिवर्तनशीलता से अर्थ किसी वस्तु की कार्य से पूर्व निरपवाद रूप से पूर्ववर्तिता है तो फिर यह घटना भी युक्ति संगत होनी चाहिए कि धोबी के घर अग्नि का कारण अथवा धूम्र का कारण वेशोखनन्दन (गर्दभरान) होना चाहिए क्योंकि वह वहाँ निरपवाद रूप में उपस्थित रहता है। यदि इससे ऐसी पूर्ववर्तिता से अर्थ है जिसके द्वारा कार्य की सम्पन्नता में सहायता मिलती है तो यह समझना कठिन है कि ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है, क्योंकि केवल पूर्ववर्तिता ही बोधगम्य वस्तु दिखाई देती है। यदि इस अपरिवर्तनीयता से उस वस्तु की ओर संकेत किया जाता है जिसके उपस्थित रहने से कार्य होता है तो यह भी निरर्थक प्रतीत होता है। जैसे केवल बीज के होने से पौधा नहीं हो सकता। पुनः यदि यह कहा जाता है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति उसी दशा में हो सकती है जब उसके सहयोगी साधन (सहकारीकरण) भी उसके साथ हों

तो भी यह समझ में नहीं आता कि कारण से क्या अर्थ है। यदि अनेक कारणों से कार्य होता है, तो फिर किसी एक कारण से कार्य के होने और न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा मूल कारण है जिसके होने से कार्य अवश्य सम्पन्न होता है और न होने से नहीं होता। जहां अनेक कारणों से कोई कार्य होता है तब यह भी कहना कठिन है कि प्रत्येक कारण विशेष का कोई अपना विशिष्ट फल होता है (वात्स्यायन और न्याय मंजरी) क्योंकि मृत्तिका से ही एक ही प्रकार के घड़ा, स्थाली, पात्र आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। अब यदि कारण की परिभाषा से कारण-संयोग का उल्लेख किया जाता है, तो यह भी समझ में नहीं आता कि कारण-संयोग से क्या अर्थ है ? इस संयोग से अर्थ कारण-सामग्री से है या उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु से है ? यदि इसका अर्थ कारण-सामग्री से है तो यह सामग्री संसार में सदैव ही उपस्थित है अतः फल होता ही रहना चाहिए। यदि इसका अर्थ किसी अन्य तत्त्व से है तो वह भी सदैव उपस्थित रहने से फल होता ही रहना चाहिए। 'सामग्री' का अर्थ यदि कारण समूह की फल से पूर्ववर्ती अन्तिम क्रिया है तो कारण-सामग्री से इस क्रिया का सम्बन्ध समझ में नहीं आता। यदि क्रिया या गति क्यों होती है यह भी विचारणीय है। यदि कार्य विशेष इस क्रिया से ही होता है तो फिर कारण-सामग्री की कल्पना का कोई अर्थ नहीं रहता। यदि यह कहा जाता है कि कारण वह है जिससे कोई कार्य निश्चित रूप से होता है तो यह अवश्यंभावी कारण-वादिता भी तर्कसंगत दिखाई नहीं देती। इस प्रकार इस कारण-कार्य-शृंखला से हम किसी भी ऐसे सिद्धान्त का पता नहीं लगा सकते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस सिद्धान्त के अनुसार कोई कार्य सिद्ध होता है। यह सारा कार्यरूप जगत् माया रूप है जिसका कोई निश्चित युक्ति-संगत कारण नहीं खोजा जा सकता। इसकी उत्पत्ति अज्ञान से है, अतः यह सब अनिश्चित आभास मात्र है। यह सब प्रपंच एक दिवास्वप्न के समान लोप हो जाएगा। इस सारे सांसारिक प्रपंच का एक ही आधार-भूत मूल कारण वह ज्योतिर्मय सत् चित् ब्रह्म है जिसके ऊपर इस समस्त माया का न्याय होने से यह सत् दिखाई देने लगता है। वही इस प्रकृति का आदिकारण है जो हमारे अनुभवों की पृष्ठभूमि के रूप में अवस्थित है। अज्ञान अविद्या के कारण यह सारा माया-संसार हमारे अनुभव में सत रूप दिखाई देता है परन्तु यह भ्रान्ति मात्र है। मिट्टी के पात्रों के अनेक रूप होते हैं, पर सभी पात्रों में एक मिट्टी ही मूल तत्व है, वही एक सत् है जो नाना प्रकार के पात्रों में समान रूप से विद्यमान है, अन्य सब रूप, बाह्य आभास मात्र हैं, असत् हैं। उसी प्रकार ब्रह्म ही एक मात्र सत् रूप है जो सारे माया-रूपों का सांसारिक प्रपंच और दृश्यमान् जगत् का आधार तत्व है। अन्य सब केवल मिथ्या रूप हैं जिसे भ्रान्ति के कारण वास्तविक मान कर जीव जीवन भर भ्रमित होता रहता है।

इस एक मूल कारण के सारे दृश्याभासों और प्रपंचों में स्थित होने के सिद्धान्त

को 'विवर्त्तवाद' कहते हैं। यह सांख्य के 'परिणामवाद' से भिन्न है। परिणामवाद में कार्य को सूक्ष्म कारण के महत् विकास के रूप में माना गया है। इसमें कारण अपनी प्राथमिक अवस्था में बीज रूपेण अवस्थित रहता है, इसका विकास कार्य रूप में सम्पन्न होता है, यह कार्यरूप ही विभवरूप कारण का क्षमता रूप है। जब किसी कारण के द्वारा कारण रूप से भिन्न फल होता है यह 'विवर्त' कहा जाता है। जब कारण से तदनुरूप परिणाम निकलता है तो उसे 'परिणाम' संज्ञा दी जाती है जैसा इस उक्ति से स्पष्ट है—"कारणस्वलक्षणान्यथाभाव: परिणाम: तद्विलक्षणेविवर्त्त:" या "वस्तुनस्तत्स-मसत्ताकोऽन्यथाभाव: परिणाम: तद्विषमसत्ताक: विवर्त्त:।" वेदान्त का न्याय के कारण-कार्य-सिद्धान्त से उतना ही विरोध है जितना कि सांख्य के परिणामवादी कारण सिद्धान्त से। वेदान्त का कथन है कि गति, विकास, स्वरूप, विभव और वास्तविकता आदि तत्व तर्क से कहीं भी नहीं ठहरते, केवल शब्द मात्र रह जाते हैं, इन शब्दों से इस माया-प्रकृति के दृश्यमान् रूप का ही बोध होता है, इससे इस सांसारिक प्रपंच के कारण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ये सारे सिद्धान्त जो कुछ इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है केवल उसकी ही व्याख्या करते हैं। सत्य यह है कि यद्यपि यह सांसारिक प्रपंच और इसका कारण एक ही नहीं है, परन्तु कारण के अभाव में इस सारे प्रपंच को किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता, कारण के अर्थों में ही यह सारा प्रपंच अर्थवान् है, अन्यथा यह सब अर्थहीन है—तदभेदम् विनैव, तद्व्यतिरेकेण दुर्वचम् कार्य्यम् विवर्त्त:।

ब्रह्म और संसार के इस सम्बन्ध के प्रकाश में वेदान्त दर्शन के अनेक विद्वान् सांसारिक माया के कारण की व्याख्या करते हुए कभी अविद्या-अज्ञान का विशेष विवेचन करते हैं तो कभी ब्रह्म का अथवा कभी इन दोनों को ही समान रूप से महत्व-पूर्ण मानकर दोनों पर बल देते हैं। 'संक्षेप-शारीरक' के प्रसिद्ध लेखक 'सर्वज्ञात्ममुनि' और उनके अनुयायी ब्रह्म को इस प्रपंच का उपादान कारण मानते हैं। श्री प्रकाशात्मन् अखंडानन्द और श्री माधवाचार्य का मत है कि माया (में स्थित) ब्रह्म अर्थात् जिससे माया का प्रादुर्भाव होता है वह 'ईश्वर' इस संसार का आदि कारण है। अर्थात् संसार की उत्पत्ति ब्रह्म अपनी माया के साथ करता है और यह रूप ईश्वर रूप कहलाता है। यह संसार ईश्वर में स्थित माया का परिणाम है, ईश्वर स्वयं विवर्त्त-कारण-तत्व है। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि माया वह है जो सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है, अविद्या माया का वह अंश है जो जीव को भ्रमित करती है। यह सारा सांसारिक प्रपंच माया-निर्मित है और व्यक्ति के मन मस्तिष्क को उत्पन्न करने वाली अविद्या है जिसमें जीव उपादान कारण है। सरल शब्दों में 'अविद्या' की जीव के संदर्भ में वही स्थिति है जो माया की इस प्रपंच के संदर्भ में है। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर और उसकी माया जीव को ही दिखाई देती है, अत: यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम जीव को ही अविद्या-अज्ञान से आच्छादित मानकर यह स्वीकार करें कि ईश्वर और

माया की अभिव्यक्ति जीव के लिए ही होती है। अन्य लोगों का मत है कि ब्रह्म और माया दोनों को ही कारण मानना चाहिए, ब्रह्म शाश्वत कारण उपादान है और माया वह तत्व है जो परिणाम के रूप मे प्रकट होती है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि इस सांसारिक आभास का कारण माया-ब्रह्म ही है। माया सहकारी कारण है और ब्रह्म मूल कारण है। माया के कारण ही जीव को ब्रह्म सांसारिक आभास के रूप में दिखाई देता है। 'वेदान्त सिद्धान्त' ग्रन्थ में श्री प्रकाशानन्द ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म शुद्ध चेतन रूप है। वह माया से प्रभावित नहीं होता। वह न माया रूप मे प्रकट होता है, न कारण रूप ही धारण करता है। वह इस संसार से परे शुद्ध प्रबुद्ध रूप है। संसार कारण केवल माया है। यही उपादान है और यही निमित्त। यह सांसारिक प्रपञ्च माया से ही निर्मित और प्रेरित है।

वेदान्त के इन सारे मतों से एक बात स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही अपरिवर्तनीय, शाश्वत आदि कारण है। उसके अनन्तर अन्य सब कार्य, प्रपंच, क्षणिक, अनिर्वचनीय, माया मात्र है। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग अद्भुत क्षमता और दैविक शक्ति के रूप में हुआ है। अथर्ववेद में उस शब्द का प्रयोग संसार में निहित रहस्य को विशेष रूप से प्रकट करने के लिए कई बार किया गया है। उसके पश्चात् यह रहस्य के साथ जादू के अर्थ में प्रयोग में आने लगा। बृहदारण्यक, प्रश्न और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग जादू के रूप में किया गया है। प्राचीन पाली ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रवंचना के अर्थ में किया गया है। बुद्ध-कोष ने इसका ऐन्द्रजालिक शक्ति के अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु श्री नागार्जुन रचित 'लंकावतार' में इसका अर्थ भ्रान्ति, आभास के रूप में किया गया है। श्री शंकर ने इसका प्रयोग माया के प्रस्तुत अर्थ में किया है, इसे सृष्टि की उत्पादिका सहकारी कारण-शक्ति और प्रपंच-सृष्टि दोनों ही रूपों में माना गया है। हिन्दू लेखकों में सर्व प्रथम श्री गौड़पाद ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि संसार की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। यह माया मात्र है। जब परम सत्य का ज्ञान हो जाता है तो इस माया का स्वयमेव लोप हो जाता है क्योंकि यह अस्तित्व हीन प्रवचनामात्र है, यह सत्य के प्रकाश में जल के बुदबुद की भाँति समाप्त हो जाती है। श्री गौड़पाद ने ही यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जाग्रतावस्था में दिखाई देने वाली संसार की सारी वस्तुएँ स्वप्नवत् हैं। यह एक स्वप्न संसार है जिसमें कुछ भी सारमय नहीं है। आत्मा ही द्रष्टा और दृश्य है। माया के कारण इस संसार की स्थिति केवल आत्मा में है। यह आत्मा ही मूल तत्त्व है। यही सत् है और अन्य सब द्वैत मिथ्या है। क्योंकि केवल आत्मा ही सत् है, अतः अन्य सारे अनुभव भी मिथ्या हैं। शंकराचार्य श्री गौड़पाद के शिष्य गोविन्द के पट्ट शिष्य थे। उन्होंने गौड़पाद के दर्शन का विकास कर अपने 'ब्रह्मसूत्र' के

भाष्य में इन सिद्धान्तों का विशद विवेचन प्रस्तुत कर वेदान्त दर्शन की स्थापना की, जो अब तक के विकसित वेदान्त दर्शन का मूल है।

वेदान्त का प्रत्यक्ष और अनुमान-सिद्धान्त[1]

'प्रमा' (यथार्थज्ञान) का साधन प्रमाण है। प्रमाण से सिद्ध होता है कि हमारा ज्ञान कितना सत्य है। यदि प्रमाण की परिभाषा में स्मृति को स्थान न दिया जावे तो प्रमाण वह साधन है जिससे नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है अथवा यह कह सकते हैं कि प्रमाण से 'अनधिगत' (जो पहले से प्राप्त नहीं किया गया है) ज्ञान की प्राप्ति होती है। वेदान्त में 'प्रमा' का अर्थ वह सत्य ज्ञान है जिसको किसी भी अनुभव से असत्य नहीं जाना गया है अथवा जिसका खंडन नहीं किया गया है—(अबाधितार्थ विषय ज्ञानत्व) प्रमा में स्मृति को सम्मिलित नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में यह शंका की जाती है कि जब हम किसी वस्तु को एक क्षण विशेष में देखते हैं तो अन्य क्षणों में प्रथम क्षण के प्रत्यक्ष की रूप कल्पना की स्मृति बनी रहती है और उसके आधार पर ही हम प्रत्यक्ष दर्शन के प्रसंग में उस ज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रमा में स्मृति सम्मिलित नहीं है। वेदान्त का समाधान यह है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में हमारी मनोवृत्ति, जब तक हम उस वस्तु को देखते हैं, एक सी ही रहती है, जब तक इस मनोवृत्ति की स्थिति में अन्तर नहीं आता, हम यह नहीं कह सकते कि प्रत्येक क्षण का प्रत्यक्ष भिन्न है और दूसरा क्षण पहले क्षण के प्रत्यक्ष का बिम्ब मात्र है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति एक पुस्तक को दो क्षणों के लिए देखता है, तो इन दोनों क्षणों में उसकी मनोदशा एक सी ही रहती है अतः वह एक ही मनोदशा से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष को आत्मसात् करता है। इस प्रकार जब तक विषय-वस्तु का परिवर्तन नहीं होता, मनोदशा में कोई अन्तर नहीं आता। इस प्रत्यक्ष की क्रिया में समय के प्रवाह का भी अवचेतन मन में ध्यान रहता है पर उससे प्रत्यक्ष पर कोई

---

[1] धर्मराजाध्वरीन्द्र और उनके पुत्र श्री रामकृष्ण ने वेदान्त दर्शन में अनुमान और प्रत्यक्ष के सिद्धान्त की स्थापना की। ये सिद्धान्त वेदान्त दर्शन के मतानुकूल हैं। प्रारम्भ में वेदान्त विद्वान् संसार को माया, भ्रान्ति सिद्ध करने पर ही विशेष बल देते रहे और इसको युक्ति संगत सम्पूर्ण दर्शन बनाने का प्रयत्न नहीं किया। अनुमान सिद्धान्त के प्रतिपादन में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने मीमांसा-दर्शन का आश्रय लिया है। अर्थापत्ति, शब्द, उपमान, अनुपलब्धि आदि की व्याख्या और इनको वेदान्त में सम्मिलित करने के लिए भी धर्मराजाध्वरीन्द्र मीमांसा दर्शन के आभारी हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र के पूर्व भी वेदान्ती विद्वान् मीमांसा का ही अनुसरण करते थे।

प्रभाव नहीं पड़ता। इस सारे काल में मनोवृत्ति एक सी ही रहती है अतः प्रमा में स्मृति का कोई स्थान नहीं रहता। जब तक उस परम ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता इस बाह्य जगत् की सारी वस्तुओं के अबाधित अनिधगत ज्ञान को प्रमा के रूप में मान्य समझना चाहिए।

जब इन्द्रियों के माध्यम से 'अन्तःकरण' (मन) का सम्पर्क बाह्य वस्तुओं से होता है तो मन उसी ओर प्रवृत्त हो जाता है और उस वस्तु के बिम्बरूप को ग्रहण कर लेता है, इस मनोदशा को 'वृत्ति' कहते हैं। विषय के अनुकूल ही 'वृत्ति' का निर्माण होता है।[1] अन्तःकरण जब किसी विषय को तदनुकूल वृत्ति द्वारा ग्रहण करता है तो तत्संबंधी अज्ञान दूर हो जाता है। जो वस्तु उस समय तक अज्ञान-अन्धकार में छिपी हुई थी वह अब 'चित्' के द्वारा प्रकाशित होकर स्पष्ट दिखाई देने लगती है। अज्ञान स्वयं ही सांसारिक वस्तुओं की सृष्टि कर उनको विशिष्ट 'आवरण' से ढक देता है। यह प्रपंच अज्ञान की 'विक्षेप' शक्ति का प्रतीक है और अन्धकार अज्ञान का आवरण है जिससे यह सृष्टि ढकी रहती है। वस्तु प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति वस्तु विशेष की ओर आकर्षित होकर उसके रूप को ग्रहण करती है। इस वृत्ति के द्वारा 'चित्' का प्रकाश विषय-वस्तु पर केन्द्रित होकर उसे प्रकाशित कर देता है और इस प्रकार अज्ञानावरण को दूर कर देता है। यथार्थ में बाह्यान्तर कुछ भी नहीं है, पर अज्ञान की माया के कारण अनेक जीव, स्थान, काल आदि से आवृत्त भौतिक प्रपंच-जगत् वास्तविक दिखाई देता है और यह जगत् भी पुनः अज्ञान आवरण से इस प्रकार ढका रहता है कि इसके प्रत्यक्ष के लिए भी इन्द्रियों को आत्मस्थ 'चित्' का आश्रय लेना पड़ता है, जिसके प्रकाश के अभाव में बाह्य जगत् की कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देती। इस प्रकार आत्मपरक दृष्टि से प्रत्यक्ष आत्म-चेतना का वस्तु-चेतना से अभेद होने पर होता है। अर्थात् जब तक आत्म चेतना, बाह्य चेतना के साथ संयोग नहीं करती और इस प्रकार इन्द्रिय विषयों का तदनुकूल चित्तवृत्ति के द्वारा ग्रहण नहीं करती वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इस संयोग का अर्थ यह है कि द्रष्टा की आत्म-चेतना और बहिर्चेतना में कोई भेद नहीं रहता—तत्तदिन्द्रिययोग्यविषया वच्छिन्न चैतन्याभिन्नत्वम् तत्तदाकार विषयावच्छिन्न ज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्। अन्तःकरण में स्थित ज्ञान-चेतना को 'जीवसाक्षी' कहते हैं जो 'चित्' में स्थित प्रत्यक्ष कर्त्ता तत्व है।

वेदान्त के अनुसार निश्चित पूर्व 'संस्कार' के आधार पर दो वस्तुओं में 'व्याप्ति ज्ञान' के द्वारा जब किसी वस्तु के बारे में निर्णय किया जाता है तो वह अनुमान प्रमाण है। उदाहरण के लिए हमारे पूर्व संस्कार से यह ज्ञात है कि धूम-अग्नि में व्याप्ति-सम्बन्ध है। अतः जब पहाड़ी पर धुँआ दिखाई देता है तो अवचेतन मन में स्थित इस व्याप्ति-ज्ञान का संस्कार स्पष्ट हो उठता है और यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि पर्वत पर अग्नि होनी चाहिए। यह अनुमान पर्वत और धूम के प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर है। व्याप्ति ज्ञान से केवल धूम का अग्नि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सह व्याप्ति की कल्पना या ज्ञान का आधार यह है कि उक्त सम्बन्ध में कभी भी अपवाद (व्यभिचार ज्ञान) नहीं पाया जाता। इस अव्यभिचारी व्याप्ति का दर्शन मुख्य तथा व्यक्तिगत और आत्मपरक होने से, पुनः अनेक उदाहरणों के द्वारा इस व्याप्ति कल्पना की पुष्टि की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जैसा कहा है—भूयोदर्शनम् सकृद्दर्शनम् वेति विशेषो नादरणीयः। वेदान्त के अनुसार यदि अपवाद नहीं तो एक ही उदाहरण में व्याप्ति का पाया जाना पर्याप्त है। यह व्याप्ति एक घटना में देखी गई है या शताधिक उदाहरणों में पायी जाती है इसका कोई महत्त्व नहीं है। व्याप्ति का दो वस्तुओं के भाव में पाया जाना ही वेदान्त के लिए मान्य और अभीष्ट है। अतः वेदान्त केवल 'अन्वय व्याप्ति' को ही स्वीकार करता है जिसमें दो वस्तुओं के भाव में व्याप्ति पायी जाती है, न्याय की 'अन्वय व्यतिरेकी', 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' व्याप्ति को वेदान्त निरर्थक और अमान्य समझता है। वेदान्त किसी भी पूर्ण प्रमाण के लिए न्याय के पाँच तर्क वाक्यों के स्थान पर तीन ही तर्क वाक्य पर्याप्त समझता है। उदाहरण के लिए (१) प्रतिज्ञा-पर्वत पर अग्नि है (२) हेतु—क्योंकि पर्वत पर धूम है (३) दृष्टान्त जैसे रसोई में धूम अग्नि के साथ पाया जाता है।[1] क्योंकि वेदान्त अनुमान के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त समझता है, अतः इसका मत है कि जिस प्रकार सीपी में चांदी का आभास मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म के अतिरिक्त सारा संसार मिथ्या है। उसके लिए किसी अन्य उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। यह एक ही दृष्टांत संसार की मिथ्या निस्सारता के लिए पर्याप्त है:—ब्रह्मभिन्नम् सर्वम्मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् यदेम् तदेवम् यथा शुक्तिरूप्यम्। उपर्युक्त अनुमान में पहला आधार वाक्य है:-[2] ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है—(२) दृष्टान्त—जैसे शुक्ति में रजत का आभास मात्र है, परन्तु शुक्ति से भिन्न यह रजत मिथ्या निस्सार है।

---

[1] वेदान्त केवल तीन आधार वाक्य मानता है। ये तीन या तो 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', और उदाहरण होने चाहिए या उदाहरण, उपमय, निगमन होने चाहिए। न्याय पाँच भाग करता है—'प्रतिज्ञा' 'हेतु' 'उदाहरण', 'उपमय', 'निगमन'।

[2] वेदान्त दर्शन में, उपमान, अर्थापत्ति, शब्द और अनुपलब्धि मीमांसा के ही समान है, अतः उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा, जीव, ईश्वर, एकजीववाद और दृष्टि-सृष्टि-वाद

सत्य के लिए कई बार कहा गया है कि यह 'स्वयंप्रकाश' है। यह अपने आप ही प्रकाशित है। इसका अर्थ यह है कि इसको जानने का प्रयत्न करना आवश्यक नहीं है, यह सदैव ही हमारे सामने रहता है—अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्वम्। अतः वेदान्त के अनुसार 'स्वयं प्रकाश' का अर्थ है कि यह हमारी अनुभूति चेतना में सदैव स्वतः विद्यमान रहता है, इसको जानने के लिए चेतना के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। कुछ वस्तुएँ चेतना के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले पदार्थ कहे जाते हैं, इससे उन वस्तुओं के इस गुण की ओर सकेत होता है कि उनमे चेतना के द्वारा ग्राह्य किए जाने की योग्यता है। यह योग्यता किसी समय किसी वस्तु में उपस्थित या अनुपस्थित हो सकती है। अतः यह वस्तु, इसकी उत्पत्ति या प्रकृति के लिए किसी अन्य तत्व पर निर्भर है। परन्तु अनुभूति-चेतना (चित्) एक ऐसी वस्तु है जो अपने प्राकट्य के लिए किसी अन्य पर निर्भर नही है। प्रत्युत् प्रत्येक वस्तु को स्वयं प्रकाशित करती है। संसार के सारे पदार्थ इस 'अनुभूति' के द्वारा ही जाने जाते हैं। यदि इस अनुभूति-चेतना के ज्ञान के लिए किसी अन्य चेतना की आवश्यकता हो तो उस चेतना के लिए किसी तीसरी अनुभूति चेतना की आवश्यकता होगी और इस क्रम का कही अन्त नहीं होगा जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। यदि यह अनुभूति चेतना वस्तु को देखने के समय (जब हम इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं) प्रकट न हो तो हमको यह सन्देह होगा कि हमारा वस्तु-प्रत्यक्ष सही है अथवा नहीं। सरल शब्दों में जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, हमारे अंतर्मन में यह बात स्पष्ट रूप से रहती है कि हम अपनी अनुभूति-चेतना से इस वस्तु विशेष का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार हमारी अनुभूति अपने आप को स्वयमेव प्रकट करती हुई सारे सांसारिक अनुभवों को प्रतिभाषित करती रहती है। यही हमारी अनुभूति-चेतना (चित्) का स्वप्रकाशित रूप है। यह उस दृष्टिकोण से भिन्न है जिसमें चेतना का अनुमान वस्तुओं की 'ज्ञानता' से किया जाता है।

वेदान्त का कथन है कि इस स्वप्रकाशित चेतना (चित्) और आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है। यह 'चित्' ही आत्मा है जो सारी अनुभूतियों का केन्द्र है। यह आत्मा सारी वस्तुओं को प्रकाशित करती है। यह स्वयं किसी ज्ञान का विषय नहीं है। किसी को भी अपनी आत्मा के होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। सारी ज्ञान वृत्तियों में आत्मा का बोध निश्चित रूप से उपस्थित रहता है। जिसे हम आत्मा का बोध कहते हैं वह सांसारिक दृष्टि से आत्मा का अहम् रूप का बोध मात्र है। यह अहं ही हमारे नश्वर शरीर में आत्मरूप में जाना जाता है। शुद्ध चेतन महान् आत्मा सारे विश्व में एकरूपेण स्थित है, यह सर्वव्यापक विश्वात्मा के रूप में अवस्थित है। जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सांसारिक अनुभूतियों का विषय बनती है तो

यह जीवात्मा कहलाती है। यह जीवात्मा ही सारे सांसारिक अनुभवों को अनुभूति-चेतना के रूप में ग्रहण करता है परन्तु यह आत्मा का केवल शरीरस्थित रूप है। जिस प्रकार 'ईश्वर', ब्रह्म अथवा परम आत्मा का प्रकृत रूप है उसी प्रकार जीव आत्मा का प्रकृत रूप है। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो माया के साथ सारे संसार का निर्माण कर उसमें स्थित है। माया के दो रूप हैं, एक वह जो संसार की उत्पत्ति (विक्षेप) करता है और दूसरा वह जो अज्ञान के द्वारा आवृत (आवरणरूप) करता है। शुद्ध चित् रूप ब्रह्म, माया के साथ इस प्रपंच के मध्य 'ईश्वर' के रूप में स्थित होता है और यही अविद्या के साथ जीव रूप में शरीर में स्थित होता है। माया 'अज्ञान' का शुद्ध सृष्टि-कर्त्ता रूप है और अविद्या विकृत अनुभूतिपरक जीव रूप है।

ब्रह्म और माया के सम्बन्धों की व्याख्या वेदान्त ने 'उपाधि' या प्रतिबिम्ब रूप और 'अवच्छेद' कल्पना से भी की है। प्रतिबिम्ब कल्पना की व्याख्या करते हुए वेदान्त का कथन है कि सूर्य आकाश में अपने शुद्ध रूप में चमकता है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब अनेक प्रकार के जल में पड़ता है। जल के शुद्ध, अशुद्ध आलोड़ित होने से सूर्य के बिम्ब में अनेक परिवर्तन, और अनुरूपता, अशुद्धि आदि उत्पन्न होती हैं परन्तु इससे सूर्य की अपनी शाश्वत प्रभा प्रभावित नहीं होती। सूर्य के एक होते हुए भी, अलग अलग स्थानों में इसके अनेक प्रकार के बिम्ब दिखाई देते हैं जो माध्यम की शुद्धता अशुद्धता के अनुसार उनकी प्रकृति के अनुकूल होते हैं। यही प्रकृत रूप है। ये रूप असत्य और अयथार्थ है, फिर भी सत्य प्रतीत होता है।

दूसरी कल्पना घटाकाश-प्रकोष्ठाकाश रूप है। एक ही आकाश घड़े में और प्रकोष्ठ में स्थित है। घड़े या कक्ष में स्थित होने से आकाश के रूप में कोई अन्तर नहीं होता। वास्तव में आकाश निस्सीम, असीम, ('अवच्छिन्न') अविच्छिन्न है, फिर भी घड़े में या कमरे में, इसको हम सीमित कल्पना से देखते हैं। जब तक घटपात्र है इसमें आकाश सीमित रहता है, यह कमरे में सीमित आकाश से भी भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु घटपात्र के समाप्त होते ही यह घटाकाश, महाकाया में लीन हो जाता है।

प्रतिबिम्ब वादी वेदान्तियों में श्री नृसिंहाश्रम मुनि के अनुयायियों का मत है कि जब शुद्ध 'चित्' माया में अवस्थित होकर प्रकट होता है तो वह 'ईश्वर' रूप कहलाता है। वही चित् अविद्या के सम्पर्क में व्यक्ति या जीवरूप में प्रकट होता है। श्री सर्व-ज्ञात्म माया और अविद्या में कोई भेद नहीं मानते। उनका मत है कि जब 'चित्' सारी अविद्या के कारण रूप में स्थित होता है तो वह ईश्वर रूप धारण करता है। अविद्या से उत्पन्न अन्तःकरण में जब चित् रूप प्रतिभासित होता है तब वह जीव रूप में दिखाई देता है।

जीव आत्मा का वह स्वरूप है जो अहं रूप में सारी सांसारिक अनुभूतियों आदि का भोग करता है। जीव के तीन स्वरूप हैं। सुषुप्ति अवस्था में, अन्तःकरण का

कार्य समाप्त हो जाता है, अहंरूप निश्चल हो जाता है, तब यह स्थिति 'प्राज्ञ' या 'आनन्दमय' अवस्था कहलाती है। स्वप्नावस्था में जो सूक्ष्म शरीर के साथ संयुक्त रहता है, इस स्थिति में यह जीव की 'तैजस' अवस्था कही जाती है। जब मनुष्य जाग्रत अवस्था में रहता है तब उसकी आत्मा का सम्बन्ध सारे स्थूल जगत् से रहता है, इस अवस्था में आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों के सम्पर्क में रहती है अतः यह 'विश्व' रूप कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा अपने शुद्ध में 'ब्रह्म' माया के सम्पर्क में 'ईश्वर', सूक्ष्म प्रकृतितत्व में स्थित होकर, 'हिरण्यगर्भ', और स्थूल जगत् में नियन्ता रूप मे स्थित 'विराट पुरुष' कहलाती है।

अविद्या से आवृत 'जीव' 'पारमार्थिक' (सत्) संज्ञा से जाना जाता है, जब यही जीव अहम् और इन्द्रियों के सम्पर्क से अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होता है तो 'व्यावहारिक' (प्रकृत) और स्वप्नावस्था में स्वप्नात्मा रूप में 'प्रातिभाषिक' (माया) कहलाता है।

श्री प्रकाशात्मा का मत है जीव अज्ञान में स्थित ईश्वर का ही स्वरूप है। माया के सम्पर्क में ब्रह्मचित् ही ईश्वर कहलाता है, पुनः अज्ञान रूप में 'जीव' कहलाता है। वास्तव में जीव ईश्वर से भिन्न और कोई ब्रह्म चैतन्य नहीं है, जब जीव अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाता है तो वही ब्रह्म रूप हो जाता है।

जो जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध को अवच्छेद कल्पना में देखते हैं उनका मत है कि प्रतिबिम्ब केवल उन वस्तुओं का ही सम्भव है जिनका कोई वर्ण या रूप हो। अतः जीव 'चित्' का अन्तःकरण द्वारा सीमित (अवच्छिन्न) रूप है। ईश्वर वह रूप है जो अन्तःकरण की सीमा से परे है। जीव के अनेक रूप अनेक अन्तःकरणों के कारण हैं। ये अन्तःकरण घट घट में व्याप्त जीव के अनेक रूप हैं जो जीव रूप में ईश्वर जाने जाते हैं। जीव सीमित रूप है, चित् सर्वव्यापक रूप है। परम सत्य केवल सत् चित् ब्रह्म है, यही वेदान्त दर्शन का मुख्य तत्व है। अनेक वेदान्ती विद्वानों ने जीव, संसार, ईश्वर आदि की अनेक रूप में कल्पना की है, परन्तु उन सब में यही विचारधारा पायी जाती है कि संसार माया रूप भ्रान्तिमात्र है, ब्रह्म ही सत्य है, वही चित् है, वही आनन्द है।

वेदान्त में एक धारा एकजीववाद है। जिसके अनुसार सारे संसार में एक ही जीव और एक ही शरीर है। अनेक शरीर और अनेक जीव, एक भ्रान्त कल्पना के कारण दिखाई देते हैं। जब तक वह परम जीव सांसारिक अनुभूति-बन्धन में बँधा रहेगा, ये स्वप्न जीव और स्वप्न संसार इसी प्रकार चलते रहेंगे। जैसे यह सारा संसार और अनेक जीव स्वप्नवत् हैं, उसी प्रकार दुःख से मुक्ति की कल्पना या मोक्ष भी स्वप्नवत् है, न संसार है, न मोक्ष। एक विश्वजीव ही परम शाश्वत तत्व है, उस एक जीवपिंड के अनन्तर और कुछ भी सत्य नहीं है। यही 'एकजीव' सिद्धान्त है।

कुछ अन्य वेदान्तियों का मत है कि संसार में प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी भ्रान्ति-कल्पना स्वयं उत्पन्न करता है, एक ही भ्रान्ति सबके लिए सत्य नहीं है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी अपनी कल्पना है, उसी के अनुसार वह संसार को इसके मिथ्या रूप में देखता है। वास्तव में संसार में पार्थिव, भौतिक रूप में कुछ भी अवस्थित नहीं है। जैसे अन्धकार में रज्जु सर्प को देखकर मनुष्य भयभीत होकर इधर उधर भागते हुए अपने अपने भ्रान्ति-भय का अपनी कल्पना के अनुसार कथन करते हैं, परन्तु वास्तव में न कोई सर्प है न भय का कारण। परन्तु प्रत्येक की भय-कल्पना अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार है। इसी प्रकार संसार में प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी कल्पना और दृष्टि के अनुसार अपनी माया-सृष्टि की उत्पत्ति करता हुआ अपनी कल्पनाओं के अनुसार अपनी अनुभूतियों और सुख-दुःखादि की सृष्टि करता रहता है। वास्तव में कोई पार्थिव, भौतिक जगत् नाम की वस्तु ही नहीं है। सारी सृष्टि अपने मन की ही है। मनुष्य अपने प्रत्यक्ष के साथ ही अपनी भ्रान्ति की सृष्टि कर लेता है। यह सिद्धान्त 'दृष्टि-सृष्टिवाद', सिद्धान्त कहलाता है। साधारण वेदान्त के मत के अनुसार वस्तुओं का पार्थिव अस्तित्व है जिनको हम इन्द्रियानुभूति के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं और यह पार्थिव जगत् अनुभवों की सामान्य भूमि है, अर्थात् अनुभवों का आधार एक सा है। यद्यपि यह सारे अनुभव अज्ञान के कारण होते हैं परन्तु अनुभवों के मूल इन्द्रियों द्वारा देखे जाने वाले पार्थिव पदार्थ है। ये भौतिक पदार्थ ही वे आधार हैं जिनको इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष देखा जाता है और जिनकी अनुभूति सभी जीवों को होती इसके विपरीत दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्त का मत यह है कि वस्तुवादी पार्थिव जगत् का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इस सारे जगत् की सृष्टि अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मनुष्य स्वयं कर लेता है। इस वाद की अपनी कोई वस्तुवादी ज्ञान मीमांसा नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव उसकी अविद्या के अनुसार होता है और पूर्व संस्कार भी इसी अविद्या के रूप हैं। यह वाद बौद्ध धर्म के 'विज्ञान-बाद' से अधिक साम्य रखता है अन्तर केवल इतना है कि बौद्ध दर्शन किसी शाश्वत तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता और वेदान्त परम ब्रह्म की शाश्वत स्थिति में विश्वास करता है, हमारा क्षणिक और भ्रान्तिमय सांसारिक प्रत्यक्ष का कारण माया है जो ब्रह्म के सत्य रूप को अपने आवरण में छिपाए रहती है।

अज्ञान मानसिक और भौतिक घटनाक्रम अज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। अज्ञान के स्वरूप को समझना कठित है। अज्ञान को हम अपनी चेतना के सूक्ष रूप से जानते हैं परन्तु इसको शब्दों में प्रकट करना कठिन प्रतीत होता है। इसीलिए इसको अनिर्वचनीय कहा है। वेदान्त का कथन है कि यह जानते हुए भी कि तर्क और युक्ति के आधार पर सभी सांसारिक कल्पनाएँ निर्मूल और आधारहीन सिद्ध हो जाती हैं, यह निश्चित करना अत्यन्त जटिल है कि अज्ञान को किस प्रकार वर्णित किया जाए।

अनादि काल से हम भ्रान्त कल्पनाओं के कारण स्वप्रकाशित सत् तत्व को नहीं देख पाते। हम वाह्य स्वरूपों और प्रकृति आदि के चक्र में पड़कर उनमें छिपे हुए सत्य को दृष्टिगत नहीं करते। ससार में उत्पन्न नाना रूप और पार्थिव पदार्थों का प्रत्यक्ष भी हम अज्ञान के कारण सत् रूप में कर बैठते है। हमारा अज्ञान हमें असत् को सत् और सत् को असत् रूप में देखने को वाध्य कर देता है। जैसे मिट्टी से वने अनेक पात्रों में, मिट्टी ही स्थायी सत् रूप है, अन्य आकृतियाँ मृत्तिका के ही अनेक रूप हैं, इसी प्रकार स्वप्रकाशित ब्रह्म के ही सत् तत्व से सांसारिक प्रपंच की स्थिति है। कठिनाई यह है कि ब्रह्म को भी हम अज्ञान के अनेक रूपों के माध्यम से ही देख पाते हैं। सारे विश्व में एक ही शाश्वत सत् स्थिति और अस्तित्व है, वही महान् सत् है और वह ब्रह्म है। अज्ञान का अनस्तित्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अज्ञान का अभाव नहीं है। परन्तु अज्ञान का भाव होते हुए भी एक सत् की अपेक्षा से अज्ञान का अस्तित्व असत् हैं। सत् जव अज्ञान को प्रकाशित करता है, तो उसका अर्थ यह है कि हम असत् को देख पाते हैं और उसके स्वरूप को समझ कर यह अनुभव करते हैं कि हम इन असत् अज्ञान रूपों को ही सत् मान बैठे हैं। यह अज्ञान शुद्ध चित् के सम्पर्क में आकर ही स्पष्ट होता है जो इस 'चित्' को अमृत करता हुआ उसी के प्रकाश से दिखाई देता है। अतः 'चित्' रूप आत्मा की सहायता के अभाव में जव हम अज्ञान को जानने का प्रयत्न करते हैं तो कठिनाई यह होती है कि हमारे ज्ञान का आधार सांसारिक माया है, और ज्ञान के अभाव में अज्ञान को जानना असम्भव है। अतः हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हमारी सारी मायानुभूति में अज्ञान का एक विशिष्ट स्थान हैं अथवा यह कहना चाहिए कि हमारी सारी काल्पनिक पार्थिव अनुभूतियों का आधार यह अज्ञान है। यदि अज्ञान की असत्ता है तो यह सत्ता रूप में कभी भी प्रकट नहीं होना चाहिए और यदि इसकी कोई सत्ता नहीं है तो यह सत्ता सदैव रहनी चाहिए जिसके कारण अज्ञान की समाप्ति की कल्पना अनुचित होगी। अतः अज्ञान के लिए कहा गया है कि तत्वान्य तत्वाभ्याम् अनिर्वाच्य, जिसका अर्थ है कि अज्ञान तत्व या अतत्व के रूप में अवर्णनीय है। यह अज्ञान सत् है क्योंकि यह हमारी सांसारिक अनुभूतियों का आधार है। पुनः इसके अनेक स्वरूपों का कोई तार्किक युक्ति-संगत वास्तविक आधार नहीं है, इसके सारे स्वरूप भ्रान्त कल्पना-रूप और क्षणिक प्रकृति हैं, अतः अपनी ही प्रकृति के अनुसार यह असत् है। इस असत् रूप के प्रकाश में ही दृष्टिसृष्टिवाद ने कहा है कि हमारे अनुभव अविद्या के कारण हैं, इनका कोई सर्वनिष्ठ पार्थिव आधार नहीं है। इस मत को वेदान्त सिद्धान्ततः स्वीकार करता हुआ कहता है कि यह सत्य है परन्तु सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से (प्रतिकर्म व्यवस्था) हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि हमारी सारी अनुभूतियों की सामान्य आधारभूमि के रूप में पार्थिव जगत् की स्थिति है। इसी 'व्यवस्था' के आधार पर हम वेदान्त दर्शन की दृष्टि से हमारी अनुभूतियों की क्रिया को समझने का प्रयत्न करेंगे।

चित् के तीन स्वरूप हैं–प्रथम विश्वव्याप्त परम आत्म रूप है जो शुद्ध बुद्ध चित् रूप है। द्वितीय जीव या आत्मा रूप है जो शरीर में विद्यमान सीमित रूप है, जो 'जीवसाक्षी' के रूप में प्रत्यक्षकर्त्ता है, जो संज्ञान का केन्द्र है, जिसमें ज्ञान-शक्ति निहित है। तीसरा स्वरूप अन्तःकरण या मन है जो हमारे अन्तर में अविद्या का केन्द्र है। जिस प्रकार वाह्य संसार में सारा पार्थिव जगत् अविद्या का स्वरूप है उसी प्रकार अन्तःकरण अविद्या का आधार है। अन्तःकरण या मन की अविद्यात्मक स्थिति, मनोदशा या मनोवृत्ति कहलाती है। अन्तःकरण हमारे इस जीवन के और पूर्व के जन्मों के संस्कारों को भी धारण करता है। अज्ञान-वृत्तियों की यह विशेषता है कि शुद्ध चित् रूप पर इनका ('अध्यास') न्यास इसी रूप में हो सकता है। इस रूप में ही ये जीवात्मा की विभिन्न साक्षी चेतना के रूप में पहचानी जा सकती हैं। अज्ञान चित् को छिपाए रहता है। चित् के द्वारा ही अज्ञान का ज्ञान और विनाश होता है। सरल शब्दों में यह कहना उचित होगा कि अन्तःकरण या मन की विभिन्न वृत्तियों का उदय हमारे अज्ञान रूपी विकार से उत्पन्न होता है। अविद्या-अज्ञान की वृत्तियों के कारण ही हम संसार के पार्थिव प्रपंच के सम्पर्क में आते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति को जब हम वस्तु विशेष पर केन्द्रित करते हैं तो वह वृत्ति शरीर से मानों बाह्य जगत् में आकर (शरीर मध्यात्) वस्तु अनुरूप चेतना का निर्माण करती है, यह चेतना सदैव प्रकाशित चित् के रूप में उस वस्तु को प्रकाशित कर प्रकट करती है और इस प्रकार जीवात्मा उसको प्रकाशित भी करती है। चेतना के इस प्रकाश से उस वस्तु विशेष का अज्ञानावरण हट जाता है। उदाहरण के लिए इस अविद्याजनित संसार में घड़ा पार्थिव रूप में स्थित है। परन्तु जीवात्मा को उसका कोई बोध नहीं है अतः वह अज्ञानावरण से आवृत है। मनोवृत्ति को यदि घड़े की ओर केन्द्रित किया जाता है या हमारी वृत्ति घड़े की ओर चलायमान होती है तो इस वृत्ति के घड़े पर केन्द्रित होने से वह वृत्ति इस घड़े के रूप को ग्रहण कर 'चित्' रूप जीवात्मा से सम्पर्क करती है। चित् उस वृत्ति के रूप को प्रकाशित कर घड़े को ज्ञान रूप में ग्रहण करता है। अतः चित् के प्रकाश में घड़े के अज्ञान का आवरण निरावृत्त हो जाता है। इस सारे पार्थिव जगत् की पृष्ठभूमि में एक सत् ब्रह्म के रूप में स्थित है। ब्रह्मचित् का पार्थिव सत् रूप अन्तर्चित् के साथ सम्पर्क में आकर ज्ञान के प्रकाश में इन सारी वृत्तियों के माध्यम से पार्थिव वस्तुओं को प्रकट करता है। परन्तु अविद्या के कारण हम बाह्य जगत् के अधिष्ठान के रूप में स्थित और प्रवाहित मूल सत् का दर्शन नहीं करते। परन्तु पार्थिव जगत् के प्रत्यक्ष में भी आन्तरिक दृष्टि से हम चित् के तीन रूप देखते हैं; प्रथम–सारे पार्थिव जगत् की पृष्ठ भूमि में स्थित चित्‌रूप (२) जीवात्मा या प्रमाता (व्यक्ति) में स्थित चित् रूप (३) अन्तःकरण की वृत्तियों में वृत्ति-चेतना के रूप में स्थित चित् रूप। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष-प्रमा' (प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त सत्यज्ञान) स्वयं चित् है जो वृत्तियों के माध्यम से प्रवाहित होकर बाह्य पार्थिव जगत् में अन्तर्धारा के रूप में

अवस्थित होकर महान् चित् के द्वारा प्रकाशित इस प्रपंच का दर्शन करती है। अन्तोगत्वा तीनों चित् एक महान् शुद्ध ब्रह्म के माया रूप हैं।

वेदान्त में 'प्रमा' का अर्थ 'अबाधित' जिसका खंडन नहीं किया गया है) ज्ञान की प्राप्ति है। प्राप्त ज्ञान की सत्यता उसी समय तक है जब तक इसको असत् सिद्ध नहीं किया जाता है। इस प्रकार यह सांसारिक आभास जो इस समय सत्य प्रतीत होता हैं, ब्रह्म की सत्यता के बोध होने पर मिथ्या दिखाई दे सकता है। एक मात्र शाश्वत सत्य वह ही है जिसको कभी भी मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस सारे सांसारिक ज्ञान की वैधता की एक ही कसौटी है कि किसी समय यह सारा संसार असार हमें निःसत्व तो नहीं दिखाई देने लगेगा। इस दृष्टि से ब्रह्म ही इस संसार में स्थायी सत्य है। ब्रह्मज्ञान होते ही यह सारा संसार मिथ्या दिखाई देने लगता है।

हमें सुख-दुःख की आन्तरिक अनुभूति भी हमारे अन्तःकरण की वृत्तियों को आत्मा के समरूप मानने के कारण होती है। अन्तःकरण की वृत्ति को आत्मारूप मानकर हम कहते हैं कि 'मैं प्रसन्न हूं' या 'मैं दुःखी हूं'। जब तक मनोवृत्ति एक सी ही स्थिति में रहती है, हमको उस वस्तु या उस भावना-वृत्ति के परिवर्तन के साथ हमारी अनुभूति में भी परिवर्तन हो जाता है। वेदान्त का मत है कि प्रत्यक्ष और अनुमान हमारी मनोवृत्ति के दो रूप हैं। वह इन दोनों को भिन्न 'जाति' के रूप में नहीं मानते है। जब मैं यह कहता हूं कि पर्वत पर अग्नि है, तो इस अनुमान में मेरा अन्तःकरण पर्वत और धूम्र को प्रत्यक्ष रूप में देखता है और इनके सम्पर्क में आकर इस रूप को ग्रहण करता है, परन्तु वह अग्नि को प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखता अतः मेरी मनोवृत्ति अपने दूसरे रूप में अग्नि का अनुमान करती है। इस प्रकार दोनों ही एक ही वृत्ति की दो दशाएँ हैं जिनमें चित्रूप निहित है। पार्थिव बाह्य जगत् के चित् का जब अन्तर्मन के चित् से तादात्म्य होता है तब यह भाव उत्पन्न होता है। इस तादात्म्य का अर्थ यह है कि वस्तु और व्यक्ति में हमारी वृत्ति एक ही 'सत्य' का दर्शन करती है। अनुमान का 'सत्य' हमारी अन्तःकरण की प्रत्यक्ष-चेतना में पूर्व संस्कार के आधार पर परोक्ष रूप मे देखा जाता है। इस प्रकार मनोवृत्ति के द्वारा किसी सत्य को आत्मसात् करना ही प्रत्यक्ष है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा उस वस्तु को भौतिक रूप मे देखा जाता है अथवा दूरस्थ होने से वृत्ति-सम्पर्क किसी अन्य प्रकार से होता है। उदाहरण के लिए यदि देवदत्त नाम के व्यक्ति को पहले देखा जा चुका है और यदि कोई व्यक्ति शब्दो के द्वारा यह प्रकट करता है कि 'यह वही देवदत्त है' तो अन्तःकरण की वृत्ति का शब्दो के साथ देवदत्त पर केन्द्रित होने से, यह देवदत्त का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार शब्द-ज्ञान भी वेदान्त के अनुसार उस वस्तु का स्पष्ट प्रत्यक्ष है। इस वाक्य के द्वारा जिस देवदत्त की बात कही गई है, उसमें और पहले देखे हुए देवदत्त की कल्पना में अन्य कोई विशिष्ट ज्ञान के योग न होने से देवदत्त में इसे

'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' माना जाता है क्योंकि इन शब्दों के द्वारा कि 'यह देवदत्त है', अन्य किसी विचार का प्रश्न नहीं है और इस वाक्य से एक ही सम्पूर्ण कल्पना होती है। इसी प्रकार जब गुरु यह कहता है कि 'तुम ब्रह्म हो' तो इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'सविकल्प' नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से इस वाक्य के दो भाग हैं जिनको एक संयोजक के द्वारा संयुक्त किया गया है, परन्तु तात्पर्य दृष्टि से दोनों का तादात्म्य रूप स्थापित किया गया है। अतः यह निर्विकल्प सत्य है। वेदान्त-दृष्टि प्रत्यक्ष में निर्विकल्प, सविकल्प भेद नहीं मानती, केवल शब्द-प्रत्यक्ष में निर्विकल्प, सविकल्प का अन्तर स्वीकार करती है। निर्विकल्प के लिए यह आवश्यक है कि वाक्य के द्वारा एक ही तथ्य का उल्लेख होना चाहिए, एकत्ववाची वाक्य ही निर्विकल्प है, अनेक कल्पनाओं या तथ्यों को प्रकाशित करने से वाक्य सविकल्प कहलाता है, उदाहरण के के लिए राजपुरुष आ रहा है ('राजपुरुषः आगच्छति'), इस वाक्य में दो तथ्यों पर प्रकाश डाला है, पहला राजपुरुष और दूसरी उसके आने की कल्पना पर, अतः यह 'सविकल्प' है।[1]

वेदान्त कुमारिल के षट् प्रमाणों को स्वीकार करता है और मीमांसा की भाँति ज्ञान को 'स्वतः प्रामाण्य' मानता है। वेदान्त की दृष्टि से भी ज्ञान के किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वयं ही वैध है। परन्तु मीमांसा और वेदान्त की दृष्टि से से प्रमा (ज्ञान) के अर्थों में थोड़ा अन्तर है। मीमांसा में प्रमा वह है जो हमें किसी कर्म की ओर प्रेरित करती है और उसका प्रामाण्य इसी में है कि हम किसी ज्ञान को प्राप्त कर उसे सत्य मान कर तदनुकूल कर्म करते है। जब तक तदनुकूल कर्म करने से हमारा ज्ञान मिथ्या सिद्ध नहीं होता हम उस ज्ञान को प्रामाणिक मानते है। वेदान्त में प्रमा का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं माना गया है। प्रमा वह है जो 'अबाधित' है, जिसे किसी ने असत्य सिद्ध नहीं किया है। मीमांसा के स्वतः प्रामाण्य की परिभाषा के साथ वेदान्त ने एक और उपाधि (शर्त) जोड़ दी है। वेदान्त के अनुसार वही ज्ञान सत्य और प्रामाणिक है जो अबाधित है और जो किसी दोष से दूषित नहीं है, अर्थात् यदि इन्द्रिय-दोष से कोई ज्ञान दूषित हो जाता है तो वह किसी के द्वारा असत्य सिद्ध नहीं किए जाने पर भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। पर इस शर्त (उपाधि) के अतिरिक्त वेदान्त न्याय के समान किसी अन्य उपाधि को महत्व नहीं देता। न्याय-दृष्टि से निश्चित परिस्थिति और उपाधि के अनुकूल होने पर ही ज्ञान की सत्यता को स्वीकार किया जा सकता है। न्याय ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करता। वेदान्त ने बीच का मार्ग चुना है। किसी बाह्य उपाधि के मानने से ज्ञान स्वतः प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। दोष की उपाधि को स्वीकार करने से यह शंका की जाती है कि यदि 'दोष न हो' इस उपाधि को माना जाता है

---

[1] वेदान्त-परिभाषा' और 'शिखामणि' देखिए।

तो फिर ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य नहीं रहता। वेदान्त का उत्तर है कि यह उपाधि निषेधात्मक है। अतः इसका भाव नहीं माना जा सकता। दोष का अभाव निश्चित स्वीकारात्मक उपाधि नहीं है और इस अभाव की दृष्टि से ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य में कोई अन्तर नहीं आता। वेदान्त के लिए यह मार्ग उसके दर्शन की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक हो गया था। वेदान्त यह नहीं कह सकता था कि शुद्ध 'चित्' जो ज्ञान चैतन्य में प्रतिभासित होता है उसको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है, न वह यह कह सकता था कि सारे भौतिक स्वरूपों का ज्ञान वैध है। ऐसा कहने से यह सारा जगत् जिसे वह माया का आभास मात्र मानता है सत्य और वैध माना जायेगा। अतः वेदान्त ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा कि हमारा सारा भौतिक ज्ञान अवैध और असत्य है क्योंकि यह ज्ञान अविद्या-दोष से उत्पन्न होता है। साधारण क्षेत्र में भी वही ज्ञान सत्य और प्रामाण्य है जो किसी इन्द्रियादि-दोष से मुक्त हो। यदि दोष का अभाव हो तो अन्य और कोई कारण नहीं है जो हमारे ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को और उसकी सत्यता को अमान्य ठहरा सके।[1]

वेदान्त का भ्रान्ति सिद्धान्त

पूर्व अध्यायों में मीमांसा के इस मत का अध्ययन कर चुके हैं कि ज्ञान सत्य है। इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान इसीलिए प्रामाणिक है कि वह ज्ञान है—'यथार्थः सर्वे विवादस्पदी भूताः प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात्।' भ्रान्ति के सम्बन्ध में मीमांसा का कथन है कि देखी हुई वस्तु (शुक्ति) और जिस वस्तु की स्मृति के उदय होने से (रजत खंड) भ्रान्ति होती है, उनके भेद को न देखने के कारण भ्रान्ति होती है। यह भ्रान्ति तब तक सत्य रहती है जब तक कि प्रत्यक्षकर्त्ता सीपी को चाँदी के रूप में उठाने को प्रस्तुत नहीं होता। जैसे ही वह उस सीपी को उठाता है, उसकी भ्रान्ति दूर हो जाती है। वेदान्त इस दृष्टिकोण का विरोधी है। उसका कथन है कि इस भेद के अप्रत्यक्ष से क्या अर्थ है। जिस वस्तु की स्मृति है उसके भिन्नत्व को न देखने से क्या तात्पर्य है। यदि यह कहा जाता है कि दोनों के असम्बन्धित होने के अप्रत्यक्ष से अर्थ है (अर्थात् इस तथ्य को नहीं देखा गया कि इसका चाँदी से कोई सम्बन्ध नहीं है) तो यह केवल अभाव का प्रत्यक्ष है जो दोनों पक्षों में समान है और मीमांसा में अभाव का अर्थ स्पष्ट रूप से उस 'भूमि' का भाव है जिस पर अभाव माना जाता है। उदाहरणार्थ 'घड़े का भूमि पर अभाव है' का अर्थ भूमि की उपस्थिति है। यदि इन दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है तो इससे अर्थ केवल इतना होगा कि

---

[1] 'स्वतः प्रामाण्य' पर 'वेदान्त परिभाषा', 'शिखामणि', 'मणिप्रभा' और 'चित्सुख' नामक ग्रन्थ देखिये।

'चाँदी' और 'यह' है। यदि यह मान भी लिया जाए कि इन दोनों वस्तुओं के भेद को परिलक्षित नहीं किया गया तो इस निषेधात्मक स्थिति से कोई भी मनुष्य किसी प्रकार की कर्मप्रेरणा ग्रहण नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाता है कि यह प्रत्यक्ष दोषपूर्ण था, या सामान्य प्रत्यक्ष था जिसके कारण ठीक से समझ में नहीं आ सका कि यह चादी है या सीपी, तो भी इस ऊपरी साम्य से कोई व्यक्ति उसको चाँदी समझ कर कार्य नहीं करने लगता। जैसे यदि कोई व्यक्ति 'गवय' (जंगली गाय) को देखता है वह यह सोचता है कि इसका साम्य गाय से है, परन्तु ऐसा सोच कर वह गवय के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता है जैसा कि गाय के साथ करता है। इस प्रकार मीमांसा के मत को किसी भीदृष्टि से देखा जाए यह तर्क-सम्मत नहीं दिखाई देता।[1] वेदान्त का मत है कि भ्रान्ति केवल आत्मपरक कल्पना नहीं है। भ्रान्ति उसी प्रकार वास्तविक घटना है जैसे वाह्य वस्तुओं का पार्थिव अस्तित्व है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि भ्रान्ति इन्द्रियादि-दोष से उत्पन्न होती है और वाह्य जगत् ऐसे किसी विशिष्ट दोष से उत्पन्न न होकर अविद्या-दोष से उत्पन्न होता है। वेदान्त के मतानुसार भ्रान्ति के क्रम में सर्व-प्रथम इन्द्रिय-दोष के कारण उपस्थित वस्तु के सम्बन्ध में 'यह है' 'मनोवृत्ति का उदय होता है। पुनः मनोवृत्ति में और वस्तु में 'चित्' प्रति-भासित होता है। इस 'चित्', के साथ संलग्न अविद्या में आन्दोलन होता है जिसका कारण वृत्तिदोष है। इस अविद्या की क्रिया और पूर्व स्मृति के संस्कार के संयोग से चाँदी का आभास होने लगता है इस प्रकार इन दो स्पष्ट क्रियाओं में एक मनोवृत्ति में चाँदी के रूप का पूर्व संस्कार के कारण उदय और दूसरा वास्तविक रजत खण्ड की माया-सृष्टि, इन दोनों का बोध 'साक्षी' चैतन्य' (वह चित जो प्रत्यक्ष कर्त्ता है।) को होता है। इन दोनों भिन्न क्रियाओं का आधार एक ही है ('यह' होने से हमको एक ही वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान-भ्रान्ति होती है इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि प्रत्येक चाँदी की भ्रान्ति की दशा में एक रजत-खण्ड की ऐसी 'माया-सृष्टि' होती है जिसका हम शब्दों में सहज वर्णन नहीं कर सकते, जिसे वेदान्त ने स्वयं 'अनिर्वचनीय' कहा है। वेदान्त के अनुसार 'सत्' के तीन रूप हैं–प्रथम 'पारमार्थिक सत्' है जो शाश्वत, संपूर्ण, सर्वोपरि 'सत्' है। दूसरा 'व्यावहारिक सत्' है जो हमारे नित्य प्रति के सांसारिक व्यवहार का सत् है और तीसरा 'प्रातिभासिक सत्' है जिसकी स्थिति हमारी तात्कालिक भ्रान्ति में है 'व्यावहारिक', 'सत्', जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक हमारे सारे कर्मों में व्यवहार रूप में सत्य प्रतीत होता है। मनुष्य परम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के पूर्व ही इस व्यावहारिक अनुभूति की निस्सारता का अनुभव करता है। 'प्रातिभासिक सत्' अल्पकाल के लिए होता है क्योंकि इसका दोष हमारे साधारण व्यवहार-जगत् के

[1] इस विषय पर 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' और 'न्यायमकरन्द' 'अख्याति'–खण्डन प्रसंग में देखिए।

अनुभवों में ही प्रकट होता है। यह इन्द्रियादि दोष से उत्पन्न प्रतिभास-मात्र है। जैसे व्यावहारिक जगत् अविद्या का भौतिक परिणाम है और हमारे मानसिक आत्मपरक कल्पना का विष न होकर पहले से ही स्थित है इसी प्रकार दोष के कारण शुक्ति में चांदी की भ्रान्त सत्ता है अविद्या का 'परिणाम' है। इस भ्रान्ति में अविद्या और इन्द्रिय-दोष के परिणाम स्वरूप रजत-खण्ड की 'अनिर्वचनीय' 'माया-सृष्टि' होती है। इस भ्रान्ति की पृष्ठभूमि में अन्तःकरण का अविद्या-दोष से वृत्ति परिवर्तन है। अविद्या दोष के परिणामस्वरूप ही यह भ्रान्ति होती है।

'चित्' की दृष्टि से यह भ्रान्ति केवल 'विवर्त्त' है और अविद्या की दृष्टि से 'परिणाम' है। विवर्त्त में कार्य अथवा फल कारण के स्वरूप में भिन्न होता है जैसे कारण रूप चित् भ्रान्ति (माया) से भिन्न है। परिणाम में कारण और कार्य का आन्तरिक तत्त्व एक ही होता है। अतः अविद्या तत्त्व के अनुरूप ही रजत का माया-प्रत्यक्ष है। एक शंका यहाँ पर उत्पन्न होती है कि यदि अन्तःकरण की दोष-वृत्ति की पृष्ठभूमि में स्थित 'चित्' के रजत खण्ड की भ्रान्ति सत्ता में स्थित चित् के संयोग के कारण उत्पन्न होती है तो इसका स्वरूप 'अहम्' पूर्ण होना चाहिए अर्थात् तब भ्रान्ति यह होनी चाहिए कि 'मैं भी रजत-खण्ड हूँ' जैसे हम यह कहते हैं कि 'मैं सुखी हूँ' या 'मैं दुखी हूँ' वेदान्त इसके उत्तर में यह समाधान प्रस्तुत करता है कि पूर्व संस्कार का स्मृति आधार 'यह चांदी है' यह कल्पना है परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'मैं प्रसन्न हूँ' तब अहं-वृत्ति के संयोग में प्रसन्नता का अनुभव किया जाता है, यहाँ पूर्व-वृत्ति संस्कार का रूप अहंपूर्ण है अतः अहं के प्रसंग में 'चित्' कार्यशील होता है। 'यह चांदी है' इस पूर्व-कल्पना वृत्ति-संस्कार में 'इदम्' रूप पर संस्कार आधारित है, अत. दोनों अवस्थाओं में यद्यपि चित् का संयोग एक ही है, पर संस्कार के अनुसार अनुभूति का प्रसंग 'अहं और 'इदम्' से भिन्न है।

ही अनुभूति का क्रम समाप्त हो जाता है। यह इन स्वप्नानुभूतियों से निवृत्ति है। यह हो सकता है कि जो कुछ स्वप्न में देखा गया है उसका संस्कार स्मृति में स्थित हो परन्तु अनुभव क्रम की समाप्ति हो जाती है। 'निवृत्ति' 'बाध' से भिन्न है। जिस सीपी को हम चाँदी के भ्रान्ति रूप में देख रहे थे, जब उसके सही रूप का ज्ञान हो जाता है तो वह भ्रान्ति की समाप्ति हो जाती है। यह भ्रांन्ति की समाप्ति ही 'बाध' कहलाती है। जब हम सीपी को चाँदी के रूप में देखते हैं तो हम चाँदी को सत् रूप में देखते हैं अर्थात् चाँदी ही दिखाई देने लगती है। चाँदी के लिए यह 'सत्' भावना भ्रान्ति नहीं है, यद्यपि चाँदी का अस्तित्व भ्रान्ति सृष्टि है। इस प्रत्यक्ष में शुक्ति का 'सत्' चांदी के 'सत्' में परिवर्तित होकर हमको शुक्ति पर आधारित चाँदी की भ्रान्ति के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार चांदी की भ्रान्ति में दो भ्रान्तियां निहित हैं। पहली अकथनीय चांदी की उत्पत्ति है–(अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति) और दूसरी भ्रान्ति सीपी की सत् स्थिति का इस 'अनिर्वचनीय' रजत-खण्ड में न्यास या आरोपण है। इस आरोपण से हमने उस अनिर्वचनीय रजत-कल्पना को सत् रूप प्रदान कर दिया जो वास्तव में शुक्ति का सत् रूप है। यही न्याय की 'अन्यथा ख्याति' है जिसको वेदान्त भी स्वीकार करता है। वेदान्त का कथन है कि जब इन्द्रियों के समक्ष दो भिन्न वस्तुएँ उपस्थित हों और जब एक के गुणों का दूसरी वस्तु मे भ्रान्त प्रत्यक्ष किया जाए तो यह भ्रान्ति, 'अन्यथा ख्याति' भ्रान्ति कहलाती है। उदाहरण के लिए यदि एक स्फटिक (मणि) और जपा-पुष्प एक स्थान पर उपस्थित हों और यदि कोई यह कहता है कि लाल स्फटिक रखा है तो यह 'अन्यथा ख्याति' होगी। परन्तु यदि एक वस्तु मेरी इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित है और अन्य नहीं है और फिर यदि उस वस्तु की भ्रान्ति होती है तो यह 'अनिर्वचनीय ख्याति' कहलाती है। वेदान्त की दृष्टि से 'अन्यथा ख्याति' की कल्पना भी आवश्यक है, क्योंकि वेदान्त के अनुसार ससार के सत् की कल्पना का आधार ब्रह्म है जो शाश्वत सत् है और जो हमारे जीव चित् में सदैव हमारी सांसारिक अनुभूतियों को प्रकाशित करता है। अतः ब्रह्म के सत् को हम ससार में स्थापित कर इस माया जगत् को सत्य मान लेते हैं। इस प्रकार यह सांसारिक प्रपंच केवल मायाभास है, इस आभास में हम सत् ब्रह्म के गुणों को आरोपित कर देते हैं। यह ब्रह्म के गुणारोपण की संसार में 'अन्यथा ख्याति' है। इस सारे विश्व में एक ब्रह्म ही सत्य और शाश्वत तत्त्व है।

वेदान्त का नीति-शास्त्र और मोक्ष-सिद्धान्त

वेदान्त के अनुसार जब योग्य पात्र अपने गुरु से यह दीक्षा प्राप्त कर लेता है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम ही वह ब्रह्म हो' तो उसे मोक्ष-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह संसार निस्सार और थोथा दिखाई देने लगता है। वेदान्त के अध्ययन के लिए पात्रता-प्राप्ति के पूर्व निम्न गुणों की आवश्यकता है प्रथम, जिसने वैदिक साहित्य, कोष,

व्याकरण आदि सारे उपांगों सहित वेदों का अध्ययन किया हो। द्वितीय, जो पूर्वजन्मों में और इस जन्म में प्रार्थना, उपासना आदि 'नित्यकर्म' करता रहा हो। इसके साथ ही सोलह संस्कार आदि 'नैमित्तिक कर्मों' को भी यथाविधि करता रहा हो। जिसने अपनी स्वार्थमयी भावना पर विजय प्राप्त कर ली हो और जिसे स्वर्ग की भी कामना न रह गई हो। अतः जिसने सारे 'काम्यकर्मों' का भी परित्याग कर दिया हो। जिसने साथ ही 'निषिद्ध कर्मों' जैसे हिंसादि विचारों को भी अपने मन से निकाल दिया हो, जिससे उसका चित्त शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मो के बन्धन में मुक्त हो गया हो। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मो से कर्म-बन्धन की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार जिसने अपने मन को उपर्युक्त चर्या से पवित्र कर लिया हो और जिसने निम्न चार गुणों को धारणा कर लिया हो, वही वेदान्त साधना का अधिकारी पात्र माना जाता है। ये चार गुण इस प्रकार हैं:—(१) शाश्वत और अशाश्वत (क्षणिक) का पूर्ण ज्ञान (२) इस पृथ्वी और स्वर्ग के सुखों की कामना का परित्याग (३) सारे सुखों के प्रति वितृष्णा और विराग तथा सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा (४) इन्द्रियों का संयम जिससे इन्द्रियाँ केवल सत्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त हों—(दम)। इसके पश्चात् उसको चाहिए कि वह 'उपरपि' का अभ्यास कर पुनः प्रवृत्त न हो। उपरति के साथ वह 'तितिक्षा' का अभ्यास करे (कष्ट-सहिष्णुता), जिससे उसे सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट पीड़ित न करे। सत्य ज्ञान के प्रति निष्ठा और गुरु और उपनिषदों में श्रद्धा रखता हुआ मोक्ष की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर उपनिषदों का 'श्रवण' अध्ययन और मनन (विचार) करे। इस प्रकार जीवन व्यतीत करता हुआ पुनः, निदिध्यासन' की ओर प्रवृत्त हो जिसमें ध्यान-योग के द्वारा सारे संसार में एक ब्रह्म की व्याप्ति के महान् सत्य को हृदयंगम कर ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न करता रहे। अर्थात् यह विचार करे कि ब्रह्म के अनन्तर इस संसार में कुछ नहीं है, ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अपने आपको सुसज्जित करे। वेदान्त योग की क्रिया में उन सारे तत्वों को स्वीकार करता है जो (सांख्य) योग में आवश्यक है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य-योग में 'पुरुष' और प्रकृति के भेद को समझ पाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप को सत्य मान कर उसकी अनुभूति से मोक्ष-प्राप्ति होती है। जिसने 'अहं ब्रह्मास्मि'[1] का अनुभव कर लिया उसे फिर और कुछ जानने को नहीं रहता वह संसार के सारे माया-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। वेदान्त का मत है कि श्रेय की प्राप्ति के हेतु वैदिक आदेशों का पालन कर कर्मकांड में प्रवृत्त होना साधारण मनुष्यों के लिए उचित है। वाचस्पति मिश्र का सिद्धान्त है कि वैदिक कर्मादेशों के पालन से सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य में पात्रता की वृद्धि होती है परन्तु उच्चतम लक्ष्य और श्रेय उपनिषदों की महान् शिक्षा के अनुसार सत्य-ज्ञान

---

[1] 'वेदान्त सार' और 'अद्वैत-ब्रह्म सिद्धि' देखिए।

को प्राप्त कर जीव का ब्रह्मानन्द में लीन होना है। प्रकाशात्म और उनके अनुयायियों का मत है कि वैदिक कर्मों के करने से न केवल पात्रता में वृद्धि होती है परन्तु सत्गुरु की कृपा प्राप्त होती है और साधना के मार्ग की सारी बाधाओं का अन्त हो जाता है।

अज्ञान के अल्प स्वरूप साधारण ज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान के उदय के साथ अज्ञान का मूल नाश हो जाता है। यद्यपि ब्रह्म ज्ञान का उदय भी इसकी प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान की एक अवस्था है परन्तु वह इतना विलक्षण है कि जब उसका उदय होता है तो ज्ञान की वह स्थिति भी जिसमें ब्रह्मज्ञान उदित होता है (और जो वृत्ति होने के कारण स्वयं अज्ञान का ही स्वरूप है) उसके द्वारा नष्ट हो जाता है। जब वह स्थिति नष्ट हो जाती है तो अनंत और असीम शुद्ध ब्रह्म ज्ञान अपने पूर्ण प्रकाश में चमकने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि जिस प्रकार एक काष्ठ खंड में सद्भूत अग्नि पहले सारे नगर को जलाती है और फिर उस काष्ठ खंड को भी जला देती है उसी प्रकार अन्तिम ज्ञान-स्थिति में प्रकट हुआ ब्रह्मज्ञान समस्त मायामय दृष्य प्रतिभासों को तो नष्ट कर ही देता है, अन्त में उस अन्तिम ज्ञान स्थिति को भी नष्ट कर देता है।[1]

मुक्ति की अवस्था वह होती है जिसमें विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का प्रकाश अखंड चित्, सत् और आनन्द के घन रूप में विलक्षण रूप से चमकने लगता है और समस्त ज्ञान माया और भ्रम की तरह विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार इस प्रपंच की सारी सत्ता उस एक अखण्ड सत्ता का ही प्रतिफलन है उसी प्रकार सारे आनन्द भी उसी चरम आनन्द के स्वरूप हैं जिसका कुछ आभास हमें स्वप्न-रहित गहरी निद्रा से हो सकता है। ब्रह्म की सत्ता अन्य दृश्य सत्ताओं से पृथक् और अमूर्त धारणा मात्र नहीं है जैसा कि नैयायिकों की सत्ता (जाति के अर्थ में) होती है किन्तु वह यथार्थ और वास्तविक सत्ता है जो शुद्ध चित् और आनन्द के साथ अपने पूर्णत्व में प्रतिभासित होती है। सत् ही शुद्ध चित् और शुद्ध आनन्द है। अब, मुक्ति के समय अविद्या कहाँ जाती है इस प्रश्न का उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना यह कि अविद्या कैसे प्रकट हुई और प्रपंच में कैसे व्याप्त है ? यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि अनिर्वचनीय अविद्या का उद्भव स्थिति और विनाश भी अनिर्वचनीय है। वेदान्त की मान्यता है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है, यदि व्यक्ति के पूर्वार्णित कर्म बचे रहें। अतः मुक्त व्यक्ति भी सामान्य साधक की भाँति चलता फिरता रह सकता है, किन्तु वह मोक्ष प्राप्त कर चुकने के कारण नए कर्मों में लिप्त नहीं होता ज्यों ही पूर्व कर्मों के फल पूर्ण होकर समाप्त हो जाते हैं त्योंही उसका शरीर भी मुक्त हो जाता है और उसके बाद उसका आगे जन्म नहीं होता क्योंकि चरम ज्ञान के उदय के कारण उसके अनादि पूर्व जन्मों के सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं, वह किसी भी

---

[1] सिद्धान्तलेश।

मायात्मक ज्ञान में लिप्त नहीं होता जिससे कि उसमें कोई ज्ञान कर्म या भावना पैदा हो सके, ऐसे व्यक्ति को जीवन मुक्त कहा जाता है अर्थात् जीते हुए भी मुक्त। उसके लिए समस्त प्रपंच समाप्त समझना चाहिए। वह स्वत: प्रकाश आत्मज्ञान स्वरूप हो जाता है और उस स्थिति में अन्य समस्त स्थितियां विलीन (विलुप्त) हो जाती हैं।[1]

वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शन शाखायें

वेदान्त न्याय के बिल्कुल विपरीत दिशा में जाने वाला दर्शन है और वह सशक्त तर्कवादों द्वारा उसका खण्डन करता है, स्वयं शंकर अपने वेदान्त का आरम्भ न्याय दर्शन के सिद्धान्तों में विरोध और असंगतीय बताते हुए करते हैं जैसे कारण-सिद्धान्त, अणुवाद, समवाय सम्बन्ध, जाति का सिद्धान्त इत्यादि।[2] उसके अनुयायियों ने और भी बढ़ चढ़ कर न्याय का खंडन किया जैसा कि श्री हर्ष, चित्सुख, मधुसूदन इत्यादि के तर्कों में देखा जा सकता है। मीमांसा से इसका विभेद इस बात से स्पष्ट है कि इसने न्याय वैशेषिक के पदार्थ स्वीकार किए हैं किन्तु इसमें मीमांसा के प्रमाण (अनुपात, उपमिति, अर्थापत्ति, शब्द तथा अनुपलब्धियों) के यों मान लिए गए हैं। ज्ञान के स्वतन्त्र प्रामाण्य और स्वत: प्रकाश होने के सिद्धान्त का जो वेदान्त ने माना है, मीमांसा भी समर्थन करती है। किन्तु कर्मकांड के बारे में मीमांसा से इसका मतभेद है और इस बात पर वेदान्त में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है कि वेद-विहित कर्मकाण्ड केवल सामान्य व्यक्तियों के लिए हैं किन्तु उनके स्तर से ऊपर उठे हुए व्यक्तियों के लिए वैदिक कर्मकांड की आवश्यकता नहीं क्योंकि उन्हें चरम, ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए, कर्मकांड तो तब तक ही आवश्यक हैं जब तक, इन सबसे परे, ज्ञान कांड का स्वाध्याय और वेदांत-विद्या की साधना में व्यक्ति नहीं लग जाता।

सांख्य और योग के साथ वेदान्त का अधिक निकट सम्बन्ध है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वेदान्त में आत्म-शुद्धि इत्यादि वे सभी साधन स्वीकार किए हैं जो योग ने बतलाए थे। वेदान्त और सांख्य में यह मुख्य अन्तर है कि सांख्य के अनुसार जगत् के कारणभूत तत्व, पुरुषों के समान, वास्तविक हैं। बाद में जाकर वेदान्त ने भी सांख्य के समान यह मान लिया कि वह अनेक जगह माया को सत्व, रज और तम, इन तीन गुणों से बनी मानता है।

वेदान्त ने यह भी माना कि इन तीन तत्वों के कारण माया के विभिन्न स्वरूप बन जाते हैं। वह ईश्वर को शुद्ध सत्व से बना चैतन्य मानता है। किन्तु वेदान्त में सत्व, रज और तम गुणों के रूप में माने गए है, सांख्य की तरह तत्वों के रूप में नहीं।

---

[1] देखें, पंचदशी।

[2] देखें, शंकर द्वारा न्यायमत का खंडन, शांकर भाष्य ११-२।